स्वसंवेदन

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-८००००४

स्वसंवेदन

लेखक
महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

अनुवादक
पं० हंसकुमार तिवारी

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग
पटना-८०००४

प्रकाशक :
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग
पटना-८००००४

© बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

संस्करण : प्रथम, विक्रमाब्द २०४०; शकाब्द १९०५; खृष्टाब्द १९८३

संशोधित मूल्य

~~मूल्य : ४०.०० (चालीस रुपये मात्र)~~ 50/-

मुद्रक :
श्रीकृष्णचन्द्र बिश्नोई
रोहित प्रिंटिंग वर्क्स
लंगरटोली, पटना-८००००४

प्रकाशकीय वक्तव्य

हमें सन्तोष ही नहीं, प्रत्युत हर्ष भी है कि हम स्वर्गीय **महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराजजी** के प्रज्ञालोक की सहज उपलब्धियों को हिन्दी में ग्रन्थाकार प्रकाशित कर पा रहे हैं। मूल बँगला से इसका हिन्दी-अनुवाद यशस्वी बँगला-हिन्दी-अनुवादक **पं० हंसकुमार तिवारी** ने किया था। परन्तु, हमें दुःख है कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन न तो मूल-लेखक कविराजजी के और न हिन्दी-अनुवादक के ही जीवन-काल में हो सका।

तन्त्र एवं आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में स्व० कविराजजी का लेखन अतुलनीय माना जाता है और सम्भवतः इसीसे उनके हिन्दी-ग्रन्थ इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं लोकप्रिय हैं। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् को उनके बहुलांश साहित्य के प्रकाशन का सुअवसर प्राप्त हुआ है। हम आशा करते हैं कि 'स्वसंवेदन' न केवल उनके पूर्वप्रकाशित ग्रन्थों के समान, बल्कि अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय होगा। हम यह भी आशा करते हैं कि इस ग्रन्थ से पाठकों को अधिकाधिक आध्यात्मिक सम्प्रेरण तथा मार्गदर्शन मिलेगा और इससे हमारे राष्ट्र के आध्यात्मिक अधिकोष की अधिकाधिक वृद्धि-समृद्धि होगी। आध्यात्म भारतीय संस्कृति की मूल एवं सर्वोपरि निधि है। दुःख है कि सम्प्रति उसका विकास नहीं, बल्कि ह्रास ही परिलक्षित होता है, जिसके कारण, राष्ट्र में करुणा के स्थान पर क्रूरता की वृद्धि हो रही है। किन्तु, क्रूरता का निवारण करुणा से ही सम्भव है, जिसके लिए करुणामय परमात्मशक्ति का स्मरण उत्प्रेरक तथा सहायक सिद्ध होगा और हमारे राष्ट्रजन अपने प्रेय को श्रेय से सन्तुलित एवं नियन्त्रित करने की दिशा में प्रवृत्त होंगे। स्वर्गीय लेखक तथा अनुवादक के प्रति और तत्परतापूर्ण मुद्रण के लिए मुद्रक के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करना हम अपना कर्त्तव्य मानते हैं। इस संक्षिप्त निवेदन के साथ हम इस ग्रन्थ को सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

मेष-संक्रान्ति, सं० २०४० वि०
दिनांक १४-४-८३

रामदयाल पाण्डेय
उपाध्यक्ष-सह-निदेशक

दो शब्द

साधना और तत्त्वविषयक जो नाना जिज्ञासाएँ अपने ही अन्तर में समय-समय जँगती रहती थीं, 'स्वसंवेदन' उन्हीं पर अवलम्बित आचार्यप्रवर **म० म० पं० गोपीनाथ कविराज** के प्रज्ञालोक की सहज उपलब्धियाँ हैं। गूढ तत्त्व की ये अमूल्य निधियाँ उनकी नितान्त निजी सम्पदा थीं। अपने आध्यात्मिक मार्ग की सुगमता के लिए वह इनका व्यवहार करते थे, इसलिए अपने सुदीर्घ जीवन-काल में इस सम्पदा को उन्होंने बड़े जतन से सँजोकर रखा था। जीवन के अन्तिम दिनों में लोगों के एकान्त आग्रह और अनुरोध से जिज्ञासुओं के उपयोग के लिए उन्होंने इनके प्रकाशन की अनुमति दी।

सन् १९१८ ई० में दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् गूढ ज्ञान की ये किरणें उनके चित्त में बोधरूप में उदित होती थीं। आचार्यप्रवर के भास्वर चित्ताकाश में जब जिस रूप में इस दिव्य आलोक का विकीरण हुआ; उन्होंने उसी समय ठीक उसी रूप में हू-ब-हू उन्हें लिपिबद्ध करके रख लिया। क्योंकि, यह स्वतः स्फूर्त ज्ञान अन्तर की वस्तु है, बाहर से सँजोई गई वस्तु नहीं। अतएव, बोधरूप ऐसी वाणियाँ क्षणजन्मा होती हैं। कभी किसी गूढ विषय पर संशय-भरी चिन्ता के तीव्र हो उठने से वे अकस्मात् ही स्फुरित हो उठती हैं। और, यदि उसी समय उन्हें स्मृति-कोष में संरक्षित करने की चेष्टा न की जाय, तो भाफ की तरह विलीन हो जाती हैं, फिर से उन्हें पकड़ सकने का कोई उपाय नहीं रह जाता।

इस कोटि की रचनाओं को प्राचीन ऋषियों ने विवेक-वाणी की आख्या दी है। ये रचनाएँ शुद्ध विकल्पात्मक हैं। ये विवेकज वाणियाँ कल्पना-राज्य की वस्तु हैं, किन्तु अशुद्ध नहीं; शुद्ध कल्पना, जिसे शास्त्र में शुद्ध विकल्प कहा गया है। शुद्ध विकल्प निर्विकल्पक पद का पथ-प्रदर्शक है। भावराज्य में इस पथ के अनुसरणकारी साधकों के लिए ये उपयोगी हैं। लेकिन, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि विवेकोत्तर सब ज्ञान ही सबके लिए आवश्यक है। जिनमें विशेष किसी विषय के लिए संशय नहीं उत्पन्न हुआ, उस विषय के समाधान-स्वरूप ज्ञान की आवश्यकता उसे तत्काल नहीं भी हो सकती है। फिर भी, साधकों के लिए ये उपयोगी ही होंगी। यद्यपि यह ज्ञान गूढ है और इसका बहुत-सा अंश दुर्बोध्य भी लग सकता है, तथापि गहरे पानी पैठनेवाले जिज्ञासुओं को दुर्लभ मोती के लिए निराश नहीं होना पड़ेगा।

अनुवादक

विषय-क्रम

प्रथम खण्ड

				पृष्ठ-संख्या
पहला अध्याय	: पंचामृतविद्या	....	....	१—१५२
दूसरा अध्याय	: अवरोह-क्रम	....	....	१५३—१६४
तीसरा अध्याय	: उपासना-तत्त्व	....	....	१६५—१७७
चौथा अध्याय	: पितृलोक	....	....	१७८—१७९
पाँचवाँ अध्याय	: आत्मदर्शन	....	....	१८०—१९३
छठा अध्याय	: गीता में जीवन का लक्ष्य	....	....	१९४—२०४
सातवाँ अध्याय	: कुल-कुण्डलिनी	....	....	२०५—२२१
आठवाँ अध्याय	: अनुग्रह	....	....	२२२—२२३
नवाँ अध्याय	: विश्वास	....	....	२२४—२३०
दसवाँ अध्याय	: जपतत्त्व	....	....	२३१—२४९
ग्यारहवाँ अध्याय	: स्थिति-क्रिया	....	....	२५०—२६२
	द्वितीय खण्ड	....	....	२६५—३८१

पंचामृतविद्या

१७.१.३६

भोग्य	पाकशक्ति में मन्थन-व्यापार	सार वायु और असार वायु		सार को कौन ग्रहण करता है	असार कहाँ जाता है	मध्यस्थ कहाँ रहता है
अन्न	पाक	प्रथम अमृत	प्रथम विष	अन्नकोष	मल-मूत्र-रूप में बाहर हो जाता है, यही स्थूल का रोग-निदान है	गैस होकर स्थूल में रहता है
प्राण	प्राणन	प्राण ओजः दूसरा अमृत	अपान दूसरा विष	प्राण कोष		गैस होकर प्राण में रहता है संस्कार
मन	मनन	संकल्प तीसरा अमृत	विकल्प तीसरा विष	मनःकोष		गैस होकर मन में रहता है संस्कार
विज्ञान	बोधन निश्चय	अनुकूल ज्ञान चतुर्थ अमृत	प्रतिकूल ज्ञान चतुर्थ विष	विज्ञान-कोष		
आनन्द	मोदन	असार* नहीं		आनन्द-कोष		यहाँ गैस नहीं होती

१८.१.३६

ज्ञान पाकर निर्वाण नहीं लेना—उद्देश्य जगत् का काल लौटा देना है। जगत् का कल्याण। निर्वाण नहीं लेने से अपना उपादान सर्वत्र बिखरेगा ही। उससे साधारण atmosphere अच्छा होगा ही। महापुरुष का जीवित रहना ही मंगल है।

[१]

३१.१.३६

आँखों की जैसे पलकें हैं, वैसे ही सभी इन्द्रियों और रन्ध्रों की हैं। उस पलक को बन्द करने से बाहरी रूप आदि भीतर नहीं प्रवेश कर सकते। सभी द्वारों को यदि

* जो सार है, वही पाँचवाँ अमृत है। जो भोग करता है, वही प्रकृत भोक्ता है। इस भोग में तृप्ति है। तृप्ति होने से ही उदासीन।

बन्द कर दिया जाय, तो बाहरी जगत्—इन्द्रियगोचर जगत्—ज्ञान के क्षेत्र में प्रकाशित नहीं होता। उस स्थिति में चारों ओर अँधेरा होता है—यही तमोमय आकाश है।

यह प्रत्याहार का पूर्वाभास है। क्योंकि, अन्तःशक्तियों की प्रवणता तब भी बाहर की ओर रहती है, किन्तु द्वार के बन्द होने या आवरणवश बाहर से योग नहीं हो सकता।

इसके बाद शक्तियों की अन्तर्मुखता आवश्यक है। उससे सारी रश्मियाँ एक स्थान पर एकीभूत होती हैं। यही प्रत्याहार है।

इसके बाद सूर्योदय होता है—अन्तर का आकाश आलोकित होता है। यही अन्तरंग योग या ध्यानादि का पूर्वाभास है।

पूरा अन्तराकाश आलोकित न होकर खण्ड-रूप से केवल ज्योतिः या ज्योतिर्मय रूप का आविर्भाव भी हो सकता है। वैसी स्थिति में क्रमशः चारों ओर का अँधेरा उस ज्योति में खो जायगा। केवल वही रूप या ज्योति ही दृश्य के रूप में रहेगी—अँधेरा नहीं रहेगा। अथवा अन्तराकाश यदि आलोकित हुआ हो और उसमें जरा रूप का स्फुरण हुआ हो, तो चारों ओर का प्रकाश उस रूप में मिल जायगा। केवल वह रूप या ज्योति ही रहेगी (दृश्य रूप में)।

यही ध्येय वस्तु है। चित्त तब एकाग्र रहता है। यह स्थायी हो जाय, तो सम्प्रज्ञात समाधि होती है। यह ध्येय = मन का ही आकार है। जब यह भी नहीं रहता, तभी चैतन्य समाधि होती है। मन जिसमें लीन होता है, वही चैतन्य ही रहता है।

लेकिन, वह ज्योति या रूप कहाँ से फूटता है? वह किसका परिणाम है? वही बीज या मन्त्र या शब्द है। यह शब्द चिदाकाश की तरंग है। इसका आश्रय लिये विना मन निवृत्त नहीं होता—इसी से त्राण होता है। इसीलिए, यह मन्त्र है। दूसरे किसी प्रकार से निवृत्त होने पर भी मन लौट आता है।

....शब्द मन....

चिदाकाश के एक मेरु से शब्द उठता है। दूसरे मेरु से मन फूटता है। इसलिए, मन और शब्द वास्तव में एक ही हैं। दोनों में भेद-प्रतीति है, भेदमय या द्वन्द्वमय जगत् का आविर्भाव होता है। दोनों में एकता होने से ही शब्द भी नहीं रहता, मन भी नहीं रहता। मात्र चिदाकाश ही रहता है।

नाना प्रकार के उपाय से शब्द और मन का अभेद सिद्ध होता है। आत्मा के चेतनांश से फूटता है मन। जड-अंश से फूटता है शब्द : या फिर इसके विपरीत। इसीलिए दोनों दोनों को चाहते हैं। इसीलिए शब्द के विना मन की तृप्ति या पूर्णता या स्थिरता या शान्ति नहीं होती। शब्द भी मन पर पूरी तरह अधिकार न कर सके, तो पूर्णता-लाभ नहीं करता।

चरम अवस्था में दोनों ही विलीन होते हैं—केवल आत्मा ही रहती है। सहस्रार की ओर से मन की धारा उतरती आती है। मूलाधार की ओर से शब्द की धारा

उठती है। मन की धारा जब पूर्णतया मूलाधार के नीचे निरुद्ध होगी, उसी प्रकार शब्द की धारा पूर्ण रूप से सहस्रार में निरुद्ध होगी, तो एक ही अद्वय सत्ता रहेगी। प्रपंच जाता रहेगा।

[२]

हम विशुद्ध ज्ञान नहीं पाते। हमारा ज्ञान अनुकूल या प्रतिकूल होता है। जो तटस्थ ज्ञान है, वह भी वास्तव में तटस्थ नहीं है। थोड़ा घनीभूत हो, तो वह भी अनुकूल या प्रतिकूल प्रतीत होगा। जैसे, सूक्ष्म शब्द निरन्तर होता रहता है, लेकिन हम समझ नहीं सकते। फलस्वरूप, हम चाहे शब्दहीन मन से सोचें, पर वह शब्दहीन नहीं है।

सत्ता का आत्मप्रकाश ही ज्ञान है।

ज्ञान जिस कारण से अनुकूल या प्रतिकूल होता है, वह सत्ता में ही रहता है। सत्ता में ज्ञान अनुस्यूत है—उसके साथ अनुकूलता और प्रतिकूलता भी अनुस्यूत है। अभिव्यक्ति के साथ-साथ उपलब्धि होती है। यह उपलब्धि ही भोग है। अव्यक्त अवस्था में भोग नहीं होता। परन्तु, सुख-दुःख तब भी रहता है। किन्तु, वह सुख-दुःख बोध नहीं होता—इसलिए वह भोग नहीं।

जो भोग होता है, वह स्थूल फल है
और जो भोग नहीं होता, वह सूक्ष्म बीज—

यह बीज ही कर्मपदवाच्य है। बीज की ही परिणति है फल—दोनों वस्तुतः अभिन्न हैं। भोग में चूंकि सुख और दुःख, यह विरुद्ध भाव है, इसीलिए बीज में भी वह है। यही पुण्य और पाप है। अतएव, पाप-पुण्य ही अभिव्यक्त अवस्था में सुख-दुःखरूप धारण करता है। अथवा अव्यक्त दुःख-सुख का नाम ही पाप-पुण्य है।

कोई दुःख का अनुभव करता है। मैं यदि उसके साथ तादात्म्य-लाभ करूँ (बोधपूर्वक), तो मैं भी उस दुःख का अनुभव करूँगा। अब यदि मैं उस दुःख से कालांश को खींच लूँ, तो उसकी बीजावस्था को देख पाऊँगा। वही उस दुःख का कारणभूत पापकर्म है। बीज से काल का सम्बन्ध होने से ही बीज क्रमशः फल होता है। काल-सम्बन्ध के फलस्वरूप क्षेत्र आप ही आ जाता है। उसी प्रकार काल को धीरे-धीरे हटा देने से फलावस्था बीजावस्था की ओर जाती है। दुःख-बीज अथवा सुख-बीज को पकड़ने का यही उपाय है। बीज को भी उसके काल में ही देखना होता है, तब उसका **concrete form** पकड़ में आता है। अर्थात्, जिस विशिष्ट दुष्क्रियारूप में उस बीज का आविर्भाव हुआ था, वह समझ में आता है। लेकिन, यहाँ एक प्रश्न उठता है—बीज बनता कैसे है?

१०.३.३६

जब हम आँखें खोले रहते हैं, बाहर के प्रकाश से सब देख पाते हैं—अन्धकारपूर्ण आकाश आलोकित होता है। यह आकाश भूताकाश है। यह भौतिक आलोक से

आलोकित होता है। जब प्रकाश नहीं रहता, तब कुछ दिखाई नहीं देता। इसे देखने के लिए इन्द्रिय चाहिए। इन्द्रिय के विना प्रकाश के होते हुए भी दिखाई नहीं देता। यह देहाभिमान की अवस्था है। इसे घेरकर एक अज्ञान है, जिसे विक्षेप कह सकते हैं। (उसके साथ शोक, मोह भी है।)

[यह आकाश भूताकाश है। यह ज्योति भूतज्योति; यह source और भूत-ज्योति; यह द्रष्टा भूताभिमानी (sun, moon, fire) द्रष्टा। यहाँ स्रष्टा और प्रदर्शक दोनों]

एकाग्रता से इस अवस्था का भेद होता है। उस समय देहाभिमान नहीं रहता—पाँच इन्द्रियाँ मिलकर अन्तःकरण में लीन होती हैं। और, तब अन्तराकाश—दहराकाश—हृदयाकाश, चित्ताकाश। आँखें बन्द करने पर अन्धकारमय यही आकाश उपलब्ध होता है—जिस किसी इन्द्रिय को रुद्ध करने से यही आकाश मिलता है। किन्तु, एक इन्द्रिय का रोध करके अन्य इन्द्रियों का रोध नहीं करने से ठीक-ठीक स्थिति नहीं होती। क्योंकि, अन्य इन्द्रियाँ बहिराकाश में खींच लेती हैं। इस आकाश में अवस्थित होकर ज्योति के उदय से सब आलोकित होता है। इस ज्योति के प्रभाव से सारा आकाश आलोकित होता है—सभी दृश्य देखा जाता है। ज्योति में ढक जाने से फिर दिखाई नहीं देता। इस ज्योति से सारा जगत् आलोकित है—भीतर-बाहर सब। बाहर की ज्योति इसी ज्योति का आभास-मात्र है, यह खूब समझ में आता है। इन्द्रिय की ज्योति भी इसी का आभास-मात्र है। और फिर, सब इसी में तिरता है। तिरता है, लेकिन दिखाई नहीं पड़ता। देहाभिमान-निवृत्ति की जो बात कह रहे हैं, वह एकबारगी ठीक-ठीक नहीं होती। अभिमान का आभास रहता है, उस अवस्था में आँखें खोलकर जैसा देखा जाता है, वैसे ही आँखें आदि बन्द करके भी देखा जाता है। किन्तु, इच्छा होने पर जो इच्छा होती है, वह देखा जाता है, सुना जाता है। इच्छानुसार देखना-सुनना आदि सभी होता है। अर्थात्, उस प्रकाश में आकार सभी तिरता है जरूर, पर इच्छा नहीं होने से वह अव्यक्त रहता है। इच्छा होने से ही व्यक्त होता है। यह व्यक्त-अव्यक्त अवस्था इच्छा पर निर्भर करती है। इसके दो छोर हैं—एक, सब इच्छा की स्फूर्त्ति; दूसरा, इच्छा की एकबारगी अस्फूर्त्ति। पहली अवस्था में ज्योति सर्वाकार, दूसरी में निराकार—सगुण ब्रह्म, निर्गुण ब्रह्म। ज्योति ही ब्रह्म है। इच्छा के सत्त्वानुसार उसका सगुण-निर्गुण भेद है। परन्तु, जीव के लिए पूर्णतया किसी छोर का भी पाना कठिन है—आपेक्षिक रूप में दोनों ही पाये जाते हैं।

इस हृदयाकाश में ही जो ज्योति का source है, वही इष्ट देवता-देवता आदि हैं। उन्हीं की अंगप्रभा से अन्तराकाश आलोकित होता है। सब देखा-सुना जाता है। यह आकाश भी चित्ताकाश है, यह ज्योति भी चित्तज्योति है : यह source (देवता) और चित्तज्योति, यह द्रष्टा भी चित्ताभिमानी द्रष्टा; इसलिए यहाँ भी द्रष्टा और प्रदर्शक (source) में भेद है। यहाँ दृश्य—आकार—मनोमय, ज्ञानमय, चित्तमय।

इसके बाद source of light और द्रष्टा मिल जाते हैं। तब वह अपने प्रकाश में ही आप देखता है। यह आकाश चिदाकाश है; जो देखा जाता है, वह चिन्मय है। यहाँ भी साकार-निराकार में भेद है, इच्छा के अनुसार, पर आकार चिन्मय है, यहाँ द्रष्टा और प्रदर्शक अभिन्न हैं।

इसके बाद इच्छा नहीं। सर्वाकार नित्यस्फुट है, इसीलिए इच्छा नहीं है। इसी को निराकार भी कहते हैं–कोई भी आकार पृथक् रूप से उपलब्ध नहीं होता। यह परब्रह्मावस्था है–इच्छा के अतीत, सृष्टि आदि के अतीत।

[१]

१९.३.३६

जय करना = अतिक्रम करना। जिसे जय करना है, उसके साथ एक होकर उससे परे उठना होगा। इसके लिए अत्यन्त वेग आवश्यक है, नहीं तो एक होने की परावस्था नहीं पाई जाती–एक होकर, लीन होकर ही समाप्ति होती है। जैसे, 'क' को जीतना है, तो पहले 'क' को देखना होगा; सम्पूर्ण 'क' को, देखने-देखते 'क' में लीन होना होगा, उसमें मग्न होना पड़ेगा। यहाँतक अपेक्षाकृत सहज है। असली बात है, 'क' में से फिर उठना। तभी 'क' को अतिक्रम करना हुआ, जय करना हुआ–साक्षी, द्रष्टा होकर 'क' को दृश्य किया गया। यही चैतन्यावस्था है। इसीलिए, चैतन्य लीन नहीं होता। चैतन्य की मात्रा के अनुसार जड़ पर वह जगा रहता है। इसीलिए जड़ उसके अधीन नहीं।

[२]

अव्यक्त—आकाश तुरीयातीत

द्रष्टा← शुद्ध आकाश तुरीय

(यहाँ इच्छा नहीं है)

द्रष्टा← चित्–आकाश कारण सत्त्व (बिन्दु)

Λ

साक्षी स्वामी (भोक्ता)

[इस इच्छायुक्त दृष्टि से चिदाकाश कम्पित होता है, क्षुब्ध होता है—अनन्त चिन्मय आकार फूट उठता है—शुद्धाकाश के एक ओर। इस चिदाकाश का प्राक्रूप बिम्ब शुद्धाकाश अनन्त वेग से घूमता है। यही सब क्या ब्रह्माणु हैं? चित्तकला? यह चिन्मय आकार भी बड़े वेग से घूमता है। यही लीला है, चिदाकाश में। एकबारगी स्थिर होने से अदृश्य होगा। लीला नहीं रहेगी। लेकिन यह नहीं होता।]

द्रष्टा← भूत-आकाश लिंग-सत्त्व (बिन्दु)

Λ

साक्षी स्वामी (भोक्ता)

इच्छायुक्त

[इस इच्छायुक्त दृष्टि से चित्ताकाश कम्पित होता है, क्षुब्ध होता है--अनन्त ज्ञानमय चिन्तनमय आकार फूट उठता है। यह चिन्तनमय आकार आकाश में निरन्तर घूमता है।]

द्रष्टा←भूत-आकाश स्थूल सत्त्व (बिन्दु)
साक्षी स्वामी (भोक्ता)
इच्छायुक्त

[इस इच्छायुक्त दृष्टि से भूताकाश कम्पित होता है, क्षुब्ध होता है—अनन्त भौतिक आकार फूट उठता है। ये बीजस्वरूप हैं। छायामय—पंचभूतमयी छायामय।]

द्रष्टा←वायुमण्डल
Λ
साक्षी स्वामी (भोक्ता) इच्छायुक्त

[इस इच्छायुक्त दृष्टि से वायुमण्डल कम्पित होता है, क्षुब्ध होता है—अनन्त काया फूट उठती है। ये ८४ लाख प्राणी हैं।]

प्रत्येक स्तर का जो स्वामी है, उसने स्तर की सत्ता के साथ अभिन्नता-लाभ करके उसे वशीभूत किया है। सुतरां, उस स्तर का आकाश उनका देहस्वरूप है। फलस्वरूप, उनमें इच्छा के उदित होने से ही उनकी देह क्षुब्ध होती है, जैसाकि काम के उदय होने से सबकी होती है। इस क्षोभ के परिणामस्वरूप उस आकाश में जो अनन्त आकार है, उसमें से इच्छा का विषयीभूत आकार विश्लिष्ट हो जाता है--विश्लिष्ट होने से ही इच्छाकारी की दृष्टि अधोवर्त्तिनी होने के नाते वह स्थूल होकर आविर्भूत होता है। × × ×

इन्द्रिय-जय का मतलब क्या है ?

जब इन्द्रिय मेरे अधीन होती है, मेरा अस्त्र है--जब आँख के होते हुए भी मैं न देखूँ, तो देखना नहीं होता--तब इन्द्रिय-जय हुई। आँखें खुली हुई हैं, अथच ज्योति और विषय भी हैं, फिर भी दिदृक्षा नहीं होने से देखना नहीं होता। ऐसे में समझना चाहिए कि आँखें मेरे वश में हैं। इच्छा के अधीन करना ही वश करना है। जब मैं नहीं देखना चाहता हूँ, फिर भी देखने को विवश होता हूँ, तो आँखें ही प्रबल होती हैं। जिसे जीतोगे, उसी पर इच्छा कार्य करेगी।

चित्ताकाश में भी अनेक स्तर हैं। जो चिन्ताएँ हमारे मन में उठती हैं, उनमें से कुछेक बड़े नीचे स्तर से आती हैं--यह देखा जाता है। कितनी बहुत ऊपर से आती हैं—कितने ऊपर से, इसका पता नहीं चलता। नीचे की चिन्ताएँ प्रायः इधर-उधर हवा में चलती-फिरती हैं—यदि हठात् सामने आते ही द्रष्टा उन्हें अपनी बना लें, तो वे पकड़ में आती हैं। तब उसके भोग की सम्भावना पैदा होती है। जो चिन्ताएँ बहुत ऊपर से उतरकर आती हैं, वे प्रायः किसी की प्रेरित होती हैं। इसके सिवाय भी अनेक प्रकार हैं। कोई मुझे सोचते-सोचते कोई विषय देख या सोच रहा है—मैं यदि चित्ताकाश का द्रष्टा होऊँ, तो

मैं वह सब देख पाऊँगा। निम्नाधिकारी अस्पष्ट चिन्ता-रूप में, उच्चाधिकारी रूपवत् रूप में। यह मन में चिन्ता का स्वयं उठना है।

स्वयं चेष्टा करके भी चिन्ता उठाई जा सकती है, किन्तु उसके भी मूल में चिन्ता की प्राक्सत्ता और उसकी अभिव्यक्ति आवश्यक है। वह कैसे होता है, यह एक गहरा रहस्य है।

भूताकाश में हम जिसे निर्दिष्ट देश और काल में पाते हैं, उसी को चित्ताकाश में जब-तब और जहाँ-तहाँ पाया जा सकता है। वे कोटि-कोटि चित्तमय आकार में चित्ताकाश में तीव्र वेग से अन्तर्मारुत-से घूमते-फिरते हैं। उनमें से किसी एक को पाकर उसको पकड़ने से ही उस जैसे दूसरे जहाँ भी हों आकर उससे आकृष्ट होते हैं। फलस्वरूप, वह आकार घनीभूत होता है। यही एकाग्र अवस्था है। वैसी स्थिति में वह आकार स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। उसके चलन-चालन से स्थूल का पता मिलता है; क्योंकि एक ओर से देखने से उसका आकार स्थूल का ही आरोपित आकार प्रतीत होता है।

८.५.३६

अविद्या के क्षेत्र में इच्छा	विद्या के क्षेत्र में इच्छा
इच्छा-रूप में, पिता के हृदय में; बिन्दु-रूप में, माता के गर्भ में; भूमिष्ठ, बाहर; बहिराकाश में आविर्भाव (Conception) ही जन्म है।	इच्छा-रूप में, पिता के हृदय में, बिन्दु-रूप में, माता के गर्भ में; भूमिष्ठ रूप में, अन्तर में, अन्तराकाश में आविर्भाव ही (Initiation) जन्म है [यही सिद्धि है।]

[१]

२८.५.३६

(In train on way to Hardwar from Dehradun : प्रातःकाल)

ज्ञान के विना भक्ति नहीं होती, कर्म के विना ज्ञान नहीं होता। ज्ञान होने से सभी धाराएँ एकमुखी होती हैं, ऊर्ध्वमुखी होती हैं—ऊर्ध्वमुख प्रवाह कुछ को स्पर्श करके ठण्डा होता है। वहीं भक्ति का आरम्भ है। भक्ति शीतल होती है। कर्म का एक आदि, एक अन्त होता है—ज्ञान के भी होता है, भक्ति के भी होता है। चारों ओर के बिखरे प्रवाहों का एकमुख होना, ऊर्ध्वमुख होना—कर्म है। यह विक्षिप्त ज्ञान है। निष्पन्न होने से ही यह ज्ञान होता है। सुतरां, ज्ञान पाये विना कर्म का आरम्भ नहीं होता, कर्म के पूरा हुए बिना ज्ञान पूर्ण नहीं होता।

[२]

भाव या आवेग से motion होता है। लक्ष्य स्थिर हो, तो वह लक्ष्य तक पहुँचता है। यह न हो, तो वह केवल घुरन-वायु की सृष्टि करता है। यही क्षिप्तता है।

इसीलिए, बहुत लोग भाव को छोड़ने को कहते हैं। लेकिन, भाव अच्छी चीज है, बशर्ते कि लक्ष्य स्थिर हो। दृष्टि के सामने लक्ष्य रहने से भाव हानि नहीं करता।

[३]

रूप, शब्द आदि जैसे भौतिक हैं, वैसे ही मानस भी हैं। किसी भौतिक वस्तु से उसके मानस रूप को अंशतः या पूर्णतः अलग किया जा सकता है—पूर्णतः हटा देने से भूत सब बिखर जायेंगे—यही संहार है। लेकिन, भूत का एक संस्कार मानस-रूप में लगा रहेगा। अंशतः बिखरने से—जैसे दीप लगाना—वस्तु का बलक्षय ही होता है, लेकिन समझ में नहीं आता। उस मानस-रूप में, दूसरे समय या दूसरे के मानस-चक्षु के गोचर होता है। लेकिन, बात यह है कि उसे पकड़कर न रखा जाय, तो वह मूल रूप में घुस पड़ेगा। परन्तु, घुसने के समय बाह्य भूत का संश्लेष उससे होता है। इसके विपरीत, जो उसे पकड़कर रखता है, उसके छोड़ देने पर भी उसकी एक आभा रह जाती है। इस प्रकार, हम जो भी देखते हैं, सब रह जाता है।

[९]

२५.१.३७ (पुरीधाम)

उन्हीं की इच्छा पूरी होती है। दुनिया में, वास्तविक क्षेत्र में, जो-जो घटित होता है, सब उनकी ही इच्छा की पूर्णता का फल है। उनकी इच्छा के विना कुछ भी नहीं होता, नहीं हो सकता। हमारी इच्छा, उनकी इच्छा से अलग रहने से पूर्ण नहीं होती। उनकी इच्छा में हमारी इच्छा का लय—यही भगवत्-स्रोत में आत्मसमर्पण है। उनकी लीला में प्रवेश है। अपनी पृथक् इच्छा लेकर लीला में प्रवेश नहीं होता।

इच्छा की पूर्णता ही आनन्द है—इसलिए, इस जगत्-लीला में उनके आनन्द का स्फुरण होता है। यह आनन्द-स्रोत सर्वत्र प्रवाहित हो रहा है। हमारी इच्छा जब उनकी इच्छा से मिलेगी, जब उनकी ही इच्छा हमारी इच्छा होगी, हमारी अपनी अलग इच्छा नहीं रहेगी—तब हमें सदा आनन्द रहेगा। क्योंकि, उस अवस्था में इच्छा की अतृप्ति नहीं होती, इसलिए दुःख का अवकाश नहीं होता। इसीलिए जो योगी है, उसे सदा आनन्द ही है।

परन्तु, जब हमारी अपनी इच्छा नहीं रहती, तो उनसे योग नहीं होता। और चूँकि योग की सम्भावना नहीं, इसलिए वियोग भी नहीं होता। वह योग और वियोग के अतीत, आनन्द और निरानन्द से परे है। हम इच्छा-रहित होते हैं, इसलिए हम साक्षी, ज्ञानी, द्रष्टा हैं। इसलिए, जो ज्ञानी है, वह द्वन्द्वातीत है। उनकी इच्छा नित्य है, उनकी अनिच्छा भी नित्य है। एक ही समय दोनों ही सत्य हैं। इसीलिए, उनकी इच्छा को अनिच्छा की इच्छा कहा जाता है। ज्ञान और योग की पूर्णावस्था में जीव का भी यही होता है—अर्थात् द्रष्टा और भोक्ता युगपत्, शिव और शक्ति युगपत्, द्वन्द्वातीत और आनन्दमय युगपत्—यह एक अव्यक्त अवस्था है। इसे आदमी को समझाने का उपाय नहीं है।

[२]

भविष्य में सृष्टि—वर्त्तमान में स्थिति, अतीत में संहार। वर्त्तमान को आश्रय करके ही सृष्टि और संहार का व्यापार चल रहा है। वर्त्तमान तो है ही। उसमें इच्छा के अनुदय से स्थिति, उदय से सृष्टि-संहार। इच्छा के प्रभाव से सत्ता का पृथक् भाव होने से ही सृष्टि होती है, और फिर उसी के प्रभाव से सत्ता के पार्थक्य के तिरोहित होने से ही लय है।

यह सृष्टि और लय सीमाबद्ध द्रष्टा के हैं। क्योंकि उसके दर्शनगोचर होने का नाम ही सृष्टि है, उसका अदृश्य होना ही लय है। द्रष्टा का दर्शन यदि बाधा-रहित हो, अर्थात् द्रष्टा यदि सीमाबद्ध न हो, तो उसके लिए सृष्टि और लय का कोई अर्थ नहीं। वह नित्यस्थिति-भाव है।

एक बात और है। प्रत्येक वस्तु का ही एक दृश्यत्व-धर्म है—उसे 'रूप' कहते हैं। उसका श्रव्यत्व होता है, तो उसे 'शब्द' कहते हैं, आदि-आदि। अब इस दृश्यता या रूप को यदि क्षीण किया जा सके, अर्थात् सीमाबद्ध द्रष्टा की दृष्टि में स्थिर रखकर अनुपात में क्रमशः कम किया जाय, तो उसकी दृष्टि की सीमारेखा से परे होते ही वह वस्तु अदृश्य हो जाती है। दूसरे इन्द्रिय-व्यापारों के बारे में भी यही समझना चाहिए।

परन्तु, द्रष्टा यदि साथ-ही-साथ स्वयं को या अपनी दृष्टि को घटा सके, तो अदर्शन नहीं होगा। और, कहीं द्रष्टा अपरिसीम हो, फिर तो बात ही नहीं। क्योंकि, उसकी सत्ता और बोध सर्वत्र रहता है, इसलिए उसके आगे अदर्शन होने का उपाय ही नहीं।

[३]

किन्तु एक रहस्य है। जीव के लिए इच्छाहीन होना कठिन है। जो अवस्था इच्छाहीन प्रतीत होती है, वह भी वास्तव में इच्छाहीन नहीं। क्योंकि, वह भी लीला-चक्र के अन्तर्गत है। पूर्ण की इच्छा से ही लीला का आविर्भाव होता है, जीव की उत्पत्ति होती है। इसलिए जीव होकर इच्छाशून्य होना असम्भव है।

उन्हीं की इच्छा नाना इच्छा होकर प्रकट होती है। यह सब इच्छा भी उनकी इच्छा है—जैसे प्रतिबिम्ब और बिम्ब। बीच में एक व्यवधान है, इसीलिए दोनों में वैषम्य है। यह व्यवधान भी उन्हीं की सृष्टि है, खेलने के लिए। इनकी इच्छा के विपरीत इच्छा से ही संसार या बन्धन है, दुःख है। उनकी इच्छा की अनुसारिणी इच्छा उन्हीं की इच्छा—लीला का निमित्त है, आनन्द का हेतु है। फलस्वरूप, जीव के लिए इच्छा-त्याग की साधना मरु में घूमने-जैसी है। इच्छा का शोधन आवश्यक है, त्याग नहीं। त्याग कहने से ही त्याग नहीं होता, बीज तो रहता ही है। इच्छा शुद्ध होने से भगवत्-इच्छा से मिलती है—उसके विरुद्ध नहीं रहती।

परन्तु, जीव का जीवत्व रहने तक सदा के लिए भगवदिच्छा से युक्त नहीं रह सकता। कम-से-कम क्षण के लिए पृथक् होगा ही। वही विरह-काल है। तब दुःख आता है, और समय आनन्द-ही-आनन्द है।

ज्ञान की अवस्था ही नित्ययोग-अवस्था है। उसमें दुःख नहीं रहता, वियोग नहीं रहता। केवल आनन्द। परन्तु, वह जीवभाव नहीं। एक ओर परमानन्द, दूसरी ओर परमद्रष्टा या साक्षी। स्वभावस्थिति।

[शुक्ल पक्ष]

२४.४.३७

प्रथम आवरण के हटने से सद्भाव का विकास होता है—अखण्ड, अनन्त सत्ता की स्फूर्त्ति होती है। सर्वत्र जो अभेद है, उसका साक्षात्कार होता है। यही साम्यदर्शन है।

द्वितीय आवरण हटने से चिद्भाव का साक्षात्कार होता है। इसके हटे विना चैतन्य की उपलब्धि नहीं हो सकती।

तृतीय आवरण के हटने से आनन्द-भाव की उपलब्धि होती है। इस आवरण के नहीं हटने से आनन्द-भाव नहीं निखरता।

चतुर्थ आवरण के हटने से आनन्द-भाव कट जाता है।

[कृष्ण पक्ष]

पंचम आवरण के हटने से चैतन्यभाव भी नहीं रहता—केवल सत्ता रहती है।

षष्ठ आवरण के हट जाने से सत्ता भी नहीं रहती। यही सत् और असत् की परावस्था है—अव्यक्त पद।

[१]

२५.४.३७

केवल द्रष्टा हो सकने से ही मुक्ति है। यदि द्रष्टा होकर भी भोक्ता रहा जा सके—भाव में पूर्णमुक्ति नहीं होती। यही जीवन्मुक्ति है। पूर्णमुक्ति में द्रष्टा = भोक्ता। जो द्रष्टा है, उसके इच्छा नहीं, अथच पृथक् इच्छा नहीं। इच्छा नहीं रहने से वह पूर्ण है। उसका स्वातन्त्र्य ही इच्छारूप में प्रकट होता है। वह अनिच्छा की इच्छा है। द्रष्टा होते हुए भी इच्छा रहने से वह इच्छा महा इच्छा से मिली होती है—अलग नहीं होती। इसलिए, उसे सदा आनन्द ही रहता है। द्रष्टा होने के नाते यह योगयुक्तता टूटती नहीं। इसके नीचे योग-वियोग खेलता है।

१. इच्छा-वियुक्त या इच्छाहीन—पूर्णस्वातन्त्र्य-स्वभाव-महाशक्ति-द्वन्द्वातीत।

२. इच्छायुक्त—आनन्द की सीमा में विलय हो जानेवाली भक्ति—आत्मसमर्पण।

[ज्ञान पूर्ण है, इसीलिए भक्ति]

३. योग और वियोग है इच्छा में मिलन-विरह, सुख-दुःख है, लेकिन अलौकिक।

४. ज्ञानोदय।

५. अज्ञान-अवस्था--योग-वियोग है; बोध नहीं, सुख-दुःख है—लौकिक।
[संसार]

जो पूर्ण मुक्त है, उसका भविष्य नहीं। वह सदा वर्त्तमान में रहता है। उसके कर्म नहीं, भोग नहीं। वह केवल द्रष्टा है, चरम अवस्था में द्रष्टा भी नहीं।

द्रष्टा और भोक्ता जरा भिन्न हो, तो भविष्य रहता है। द्रष्टा यह देख सकता है कि उसे कौन-सा फल भोगना पड़ेगा। लेकिन, वह विचलित नहीं होता; क्योंकि वह तटस्थ है। वह सुख-दुःख दोनों को देखता है--दोनों में जो आनन्द है, वह भी पाता है, लेकिन चूँकि द्रष्टा है, इसलिए शान्त और द्वन्द्वातीत रहता है। बीज नहीं हो, तो भविष्य कहाँ?

२७.४.३७

देखता है, सुनता है, काम करता है, समझता है--सब कुछ लिंग। स्थूल कुछ भी नहीं करता, कर नहीं सकता। लेकिन, लिंग अकेले भी नहीं कर सकता। क्यों? संस्कारवश। स्थूल से लिंग अलग होने से स्वाधीन भाव से सब कर सकता है। परन्तु, अलग होने से भी कुछ सम्बन्ध रहता है।

[२]

शब्द चाहे जहाँ से उठे, बाहर आते ही वह मिश्र हो जाता है, सभी धाराएँ मिल जाती हैं।

[१]

२.५.३७

ईश्वर और जीव का सम्बन्ध आलोच्य है। सूर्य से जैसे चुपचाप किरणें फूटती रहती हैं, वैसे ही ईश्वर से भी सदा ही शक्ति विकीर्ण होती रहती है। कालाकाल का विचार नहीं--अहेतुक, स्वाभाविक। यही 'जेनरल ग्रेस' है। इसी से जीव और जगत् चलता है। यह जैसा स्वाभाविक है, वैसा ही, जीव और जगत् सदा इस शक्ति को ग्रहण करता है। यह भी स्वाभाविक है। जीव और जगत् यदि यह शक्ति नहीं पाता होता, तो वह पल-भर के लिए भी नहीं चल सकता। सब जो जीवित है, यह भी तो उस शक्ति के पाने का ही निदर्शन है। पहला स्वभावतया 'ऐक्टिव' है, दूसरा स्वभावतया 'पैसिव'। दोनों ही निरुपाधिक हैं। परन्तु, व्यावहारिक क्षेत्र में जीव का शक्ति पाना आधार या अधिकार के अनुसार है, सभी समान शक्ति नहीं पाते। क्योंकि, ग्रहण की योग्यता या 'पैसिविटी' सबकी समान नहीं। यदि यह कहा जा सकता है, तो यह भी कहा जा सकता है कि व्यवहार-क्षेत्र में ईश्वर सबको समान शक्ति नहीं देते।

अतएव कर्म की दृष्टि से कहना चाहिए, जिसकी जैसी योग्यता है, ईश्वर उसे वैसी ही शक्ति देते हैं। ज़्यादा भी नहीं, कम भी नहीं। यह दृष्टि अहम्भाव के प्राधान्य

से होती है। यही **कर्मवाद** है। जीव का जैसा कर्म, वैसे फल का दाता ईश्वर। जीव की योग्यता भिन्न क्यों होती है, इसके लिए ईश्वर जिम्मेदार नहीं। जैसी योग्यता या जैसा आधार होता है, ईश्वर विचारपूर्वक वैसी ही शक्ति देते हैं। यही न्याय, नीति अथवा कर्म-रहस्य है। यहाँ जीव की इच्छा प्रधान है। जीव की इच्छा शुभ या प्रबल क्यों होती है, कहीं होती भी नहीं––इसका कारण कोई नहीं जानता।

और, भक्ति की दृष्टि से कहा जा सकता है, ईश्वर जिसे जैसा देते हैं, उसे वैसी ही योग्यता होती है। जीव का कर्म और कर्मफल महज बात है। जीव जिस परिमाण में शक्ति पाता है, उसकी योग्यता या आधार उतना ही होता है—अधिक भी नहीं, कम भी नहीं। अहम्भाव के कटने से यह दृष्टि होती है। यह **कृपावाद** है। ईश्वर भिन्न-भिन्न कर्म क्यों देते हैं, उसके लिए जीव का कर्म दायी नहीं। क्योंकि जीव का कर्म तो वैसा ही होगा, जैसी प्रेरणा वह ईश्वर से पायगा। जीव तो उनके हाथ का खिलौना-मात्र है। यहाँ ईश्वर की इच्छा ही प्रधान है। ईश्वर की इच्छा विभिन्न क्यों होती है, इसका कारण कोई नहीं जानता।

असली बात यह है कि जीव के भी कोई क्षमता नहीं, ईश्वर के भी नहीं। जीव को बाद देकर ईश्वर की शक्ति या कृपा जो है, ईश्वर को बाद देकर जीव का पौरुष या पुरुषकार वही है––दोनों ही निष्फल। ईश्वर और जीव दोनों जहाँ एक हैं, वही परात्पर पूर्ण ब्रह्म, सनातन हैं, वही स्वभाव हैं। उनका स्फुटन ही मूल है, वही ईश्वर की कृपा के रूप में, जीव में पुरुषकार-रूप में प्रकट होता है। वह स्वतन्त्र है। वही अहेतुक, नित्य है।

जीव की इच्छा रहने से ईश्वर की इच्छा-मात्र प्रतिबन्धक को हटाकर उसकी सहायता करती है।

वास्तव में दोनों इच्छाओं का मूल तो एक ही इच्छा है।

[२]

ईश्वर दाता है, जीव ग्रहीता, किन्तु प्रधानतः। ईश्वर यदि कुछ पायें नहीं, तो वह दान भी नहीं कर सकते। उसी प्रकार जीव भी यदि कुछ दान नहीं करे, तो वह भी कुछ ग्रहण नहीं कर सकता, प्राप्त नहीं कर सकता।

इससे स्पष्ट है, ईश्वर दाता तो हैं, पर उन्हें भी कुछ पाना है, लेना है, जिनके विना वह अपूर्ण हैं। अपूर्ण होने से ही ठीक-ठीक दान नहीं कर सकते। उसी प्रकार जीव ग्रहीता तो है, पर उसे भी देने का कुछ धन है, जिसे दिये विना वह भी अपूर्ण है। इसी से ठीक-ठीक प्राप्ति नहीं होती। ईश्वर यदि ठीक-ठीक दे सकें, जीव यदि ठीक-ठीक ले सके, तो दोनों में योग होकर पूर्णब्रह्म में स्थिति का पथ परिष्कृत होता है। अतएव जीव के लिए वास्तव में जो देने की वस्तु है, ईश्वर के लिए पूर्णता के निमित्त वही लेना आवश्यक है। वसे ही, ईश्वर के लिए जो वस्तुतः देने की चीज है, जीव के लिए पूर्णता

के निमित्त वही पाना आवश्यक है। जीव का माधुर्य (भक्ति का सारांश) ईश्वर में अर्पित होना आवश्यक है। ईश्वर का ऐश्वर्य जीव में अर्पित होना आवश्यक है। ऐसा होने से युक्त अवस्था में ऐश्वर्य-माधुर्य के एकत्र सन्निवेश से दोनों की अतीत अवस्था का पता चलता है।

जीव का माधुर्य = उसकी इच्छा का सारांश—जीव का आत्मसमर्पण।

ईश्वर का ऐश्वर्य = उनकी इच्छा का सारांश—ईश्वर का आत्मसमर्पण।

सुतरां, पूर्णता के पथ पर दोनों प्रतिष्ठित होते हैं। इसीलिए, शास्त्र में कहा गया है—प्रेम से भगवान् वश में आते हैं। अर्थात् प्रेम या माधुर्य या जीव द्वारा आत्मसमर्पण के फल से यदि ईश्वर भी जीव को आत्मार्पण करते हैं, तो उसी को जीव के अधीन होना कहते हैं। जीव में ईश्वर के आत्मार्पण का अर्थ ही है, जीव का लक्ष्य है ऐश्वर्य प्राप्त करना : 'गॉड इन मैन' और 'मैन इन गॉड' मिल जाता है।

लेकिन, दोनों के ही लिए निरपेक्ष भाव से दोनों असम्भव हैं। ईश्वर जीव को आत्मसमर्पण नहीं कर सकते, यदि जीव वैसा नहीं कर सकता। जीव भी ईश्वर को आत्मसमर्पण नहीं कर सकता, यदि ईश्वर वैसा नहीं कर सकते। स्वभाव की कृपा होने से दोनों ही युगपत् होते हैं।

'मैं' रहने तक, बिन्दु के रहने तक काठिन्य रहता है, पार्थक्य रहता है, गल जाने से चारों ओर ढुलक पड़ता है। जीव जब गल जाता है (प्रेम में) तो जीव नाम का पृथक् कुछ नहीं रह जाता; चारों ओर बिखर जाता है। यही उसका आत्मसमर्पण, जीवत्व का विलोप है—एक हिसाब से ईश्वरत्व-लाभ—तात्कालिक। उसी प्रकार, ईश्वर का आत्मसमर्पण होने से ईश्वरत्व कुछ नहीं रहता, बिखर जाता है, जीवत्व-लाभ होता है, एक हिसाब से माधुर्य फूटता है। अर्थात् ईश्वर को गला नहीं पाये, तो जीव माधुर्य कहाँ पायगा? और जीव को गला न पायें तो ईश्वर ऐश्वर्य कहाँ पायें? दोनों द्रुतिनिमित्त-व्यापकतामूलक हैं।

[३]

२.५.३७

परदे के उस पार ईश्वर जीव को चाहते और पाते हैं—नित्य जीव भी ईश्वर को चाहता और पाता है, नित्य। दोनों ही नित्य मिलित हैं। यही प्रेम है, अलगाव नहीं। मन के उस पार जीव का विषय-वैराग्य और ईश्वरानुराग स्वाभाविक, नित्य है। माया के उस पार ईश्वर का जीव-प्रेम स्वाभाविक, नित्य है, योगावस्था।

लेकिन, इस पार जीव मानों ईश्वर को भूल गया है। ईश्वर भी मानों जीव को भूल गये हैं। 'मानों' इसलिए कहा कि जीव अस्पष्ट भाव से उनको सदा चाहता है। विषय के जगत् में आनन्द के बहाने वह उन्ही को खोजता-फिरता है। उसी प्रकार ईश्वर

भी अस्पष्ट भाव से जीव को सदा चाहते हैं। नहीं तो उनमें बहुमुखी बहिरुन्मुखी वृत्ति क्यों ? इसका मूल है करुणा। निमित्त दुःख। जीव जैसे नहीं जानते हुए भी आनन्द चाहता है, वह भी वैसे ही दुःख चाहते हैं। जीव इसी आनन्द में उन्हें पाकर क्षण के लिए उनमें मिलन पाता है। इस दुःख में ही ईश्वर जीव को पकड़ पाते हैं, इसलिए क्षण के लिए जीव से मिलित हो सकते हैं। करुणा का मूल यहीं है।

३.५.३७

एक नित्य स्थूल है, नित्य लिंग है, नित्य कारण है। वह स्थूल ही नाना योनि में नानात्व प्राप्त करता है। मूल में एक नहीं होने से बाहर नाना कैसे होता है ? इसलिए, स्थूल भी वस्तुतः एक है, व्यष्टिरूप में भी। इसे महास्थूल कहते हैं। यह समष्टि-महास्थूल से नित्य योगयुक्त है। उसी प्रकार लिंग भी एक है–आधारभेद से नाना हो जाता है। कारण लेकिन एक ही रहता है, वह नाना नहीं होता। मान लीजिए 'क' नाम का एक मनुष्य है।

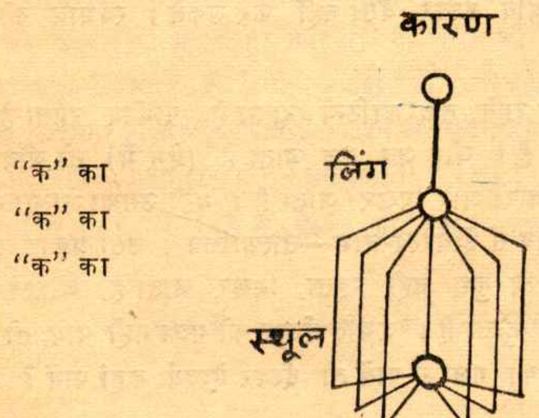

'क' जब राम, श्याम, यदु आदि बनता है, पशु-पक्षी आदि बनता है, तब उसका स्थायी स्थूल ही तत्तत् आकार धारण करता है। यह धारण लिंग कराता है। अर्थात् लिंग तत्तत् आकार धारण करके स्थूलाभिनिविष्ट होता है, इसलिए तत्तत् स्थूलदेह परिगृहीत होता है।

[१]

५.५.३७

विपुल प्रान्तर-भेद करके गये विना उस आनन्दधाम को पाने का उपाय नहीं, यह प्रान्तर विषय-राज्य और भगवत्-धाम के बीच अवस्थित है। विषय-राज्य के प्रति जब पूर्ण वैराग्य आता है, संसार की कोई भी चीज जब अच्छी नहीं लगती, जब इन्द्रिय-

गोचर अथवा मन-बुद्धिगोचर सारे पदार्थ ही रसहीन लगने लगते हैं, परन्तु सत्यधाम का पता भी नहीं मिला होता है, तभी समझना चाहिए कि जीव प्रान्तर में है। यह एक मरु-भूमि-विशेष है—अन्धकारमय संगहीन आश्रयवर्जित स्थान या अवस्था है। श्रीहरि की आराधना का यही प्रशस्त स्थान और काल है। इस आराधना के फलस्वरूप उनके श्रीचरण में आश्रय मिलता है।

जो आराधना संसार में रहकर होती है, वह ठीक नहीं। क्योंकि, उसमें मन बहुत-कुछ संसार में लगा रहता है। किन्तु, प्रान्तर की प्रार्थना ही सही है, अर्थात् वैराग्य के विना आराधना सफल नहीं हो सकती।

[२]

वायु सर्वत्र व्याप्त है—साधारण दृष्टि से। किन्तु, जीव जब जुड़ाना चाहता है, तब वह वायु उसकी सहायक नहीं होती। लेकिन, प्रक्रिया-विशेष से उस वायु को चालित करने से शरीर शीतल होता है। नहीं तो सर्वदा की वायु से वह काम नहीं होता। लेकिन, वायु तो वही सर्वदा की वायु ही है। परन्तु, क्रिया से उसका चलन होने से परिणाम-स्वरूप शरीर में तृप्ति और आनन्द आता है।

परन्तु, यह क्रिया-विशेष जैसे मैं या मेरे जैसे जीव कर सकते हैं, वैसे ही स्वाभाविक कारण से भी हो सकता है। जैसे—आँधी, हवा का बहना आदि। उससे भी हम तृप्ति पाते हैं। यहाँ भी लेकिन मूल वस्तु वही सर्वदा की हवा के सिवाय और कुछ नहीं।

लेकिन इन दोनों प्रकार की क्रियाओं के फल में भेद है। पहली कृत्रिम है, दूसरी स्वाभाविक। पहली से जो तृप्ति मिलती है, दूसरी से उससे कहीं अधिक तृप्ति मिलती है।

स्वाभाविक हवा नहीं बहने से पंखे का सहारा लेना ही पड़ता है। पर सैकड़ों पंखे भी स्वाभाविक हवा के समान नहीं होते। पुरुषकार और कृपा भी वैसी ही है।

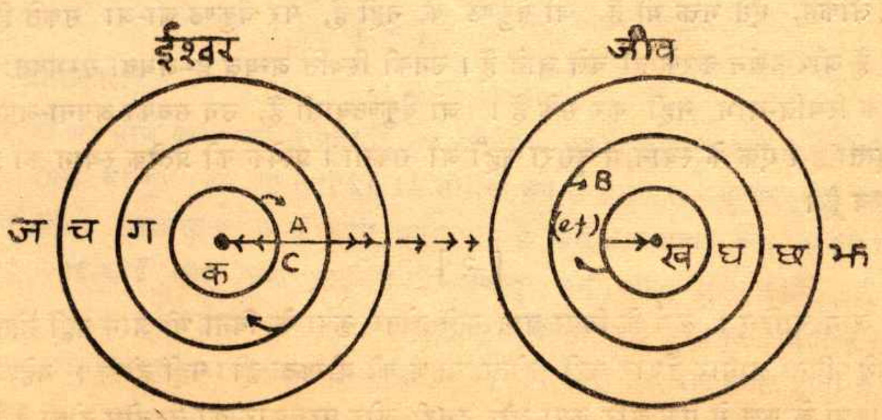

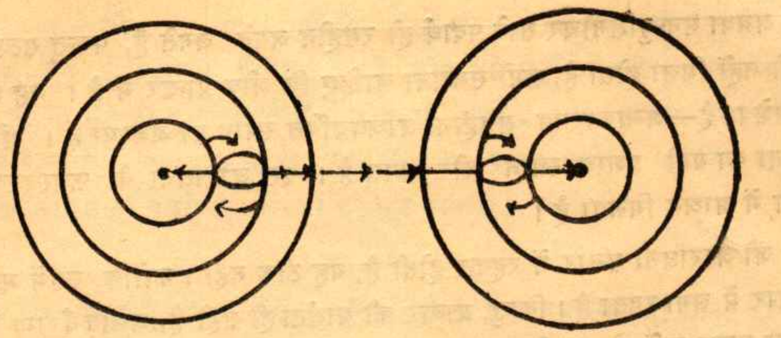

ईश्वर या जीव--प्रत्येक चक्र में ही—तीन चक्र हैं। ईश्वर-चक्र में 'ग', 'च' और 'ज'—तीन चक्र हैं।

'क' उसका केन्द्र है। 'ग' चक्र में शक्ति का प्रवाह निरन्तर अन्तर्मुख है। 'ज' चक्र में शक्ति का प्रवाह निरन्तर बहिर्मुख है। 'ग' चक्र के बाहर, और 'ज' चक्र के भीतर जो 'च' नामक चक्र है, वह शक्ति के आवर्त्तन का सूचक है। वह भी निरन्तर हो रहा है।

[१]

७.५.३७

वैकुण्ठधाम आदि के रहने से नित्यधाम एक अनन्त अप्राकृत राज्य के अन्तर्गत एक-एक धाम है। वैकुण्ठधाम में जो रहते हैं, वे सब विष्णु के भक्त, उपासक हैं। लेकिन सबने उनका दर्शन पाया है, ऐसी बात नहीं। किन्तु, एक हिसाब से उनकी सत्ता से ही सबकी सत्ता है। कभी-कभी उत्सव आदि में उनके दर्शन होते हैं। कोई उनका दास, सेवक। अनन्त प्रकार की सेवा है। दर्शन के बाद सेवा। सेवा का अधिकार सबको नहीं। दर्शन का अधिकार निम्नतर है, वह भी सबको नहीं। परन्तु, वैकुण्ठवास हो रहा है। जो वास्तविक भक्त हैं, उनका वैकुण्ठ-त्याग नहीं होता। सब कुछ--वे वहीं नहीं पाते। दूसरी आकांक्षा उन्हें नहीं होती। घूमना-फिरना उनका काम नहीं।

लेकिन, ऐसे भक्त भी हैं, जो वैकुण्ठ के नहीं हैं, पर वैकुण्ठ जा-आ सकते हैं। वे आते हैं और दर्शन करके ही चले जाते हैं। उनकी स्थिति अन्यत्र है-अथवा सम्भवतः वे अभी तक स्थिति-लाभ नहीं कर सके हैं। जो वैकुण्ठवासी हैं, उन सबका अपना-अपना स्थान होता है। एक के स्थान में दूसरा नहीं आ सकता। प्रत्येक को प्रत्येक स्थान का ही एक गौरव है।

[२]

ज्ञान चाहिए। कर्म के विना ज्ञान नहीं होता, कृपा के विना भी ज्ञान नहीं होता, कर्म किये विना आधार तैयार नहीं होता, ग्रहण की योग्यता ही नहीं होती। महेश्वर की महाकृपा के फल से एक ओर कृपा और दूसरी ओर पुरुषकार का उद्बोध होता है।

[३]

देवतागण भी स्वाधीन नहीं हैं, वे भी नियम के अधीन हैं। उनके क्षमता बहुत है। किन्तु, वे भगवदिच्छा या नियति या उनके आदेश के लंघन में असमर्थ हैं। वे केवल कर्म के फलदाता हैं। कर्म का नेता कौन है? जीव नहीं, देवता नहीं—स्वभाव या भगवान्। फल का भी यही होता है।

जो अन्तर्यामी होकर कर्म की प्रेरणा देते हैं, वही आनन्दरूप फल का दान करते हैं। फल देना होता है, तो वही कर्म करा लेते हैं। लगता है, कर्म से ही फल होता है, ऐसा नहीं है। कर्म करने की जो प्रवृत्ति होती है, सामर्थ्य होता है—यह भी उन्हीं की कृपा का अंग है।

८.५.३७

अपनी चेष्टा से कुछ नहीं होता। देवतागण भी या दूसरे भी कोई सहायता नहीं कर सकते, करते भी नहीं। इस अवस्था में सब अवस्थाएँ टूट जाती हैं। अपने ऊपर आस्था नहीं रहती, दूसरे पर भी आस्था नहीं रहती। दोनों ही एक-से मिथ्या प्रतीयमान होते हैं। यही निराश्रय भाव है—अपने को या और को, किसी को भी आश्रय नहीं किया जा सकता। सम्भवतः, इसी को दीनता कहते हैं, यही 'मीकनेस' है। यह भाव शुद्ध होने से ही पूर्ण की दृष्टि पड़ती है। क्योंकि, अभाव की पूर्णता के बिना भाव के उन्मेष का उपाय नहीं।

जब पूर्ण की दृष्टि पड़ती है, तब अपने में भी उसे पाया जाता है, बाहर, दूसरे में भी उसे पाया जाता है। अपने में वही पुरुषकार या पौरुष है, दूसरे में वही कृपा है। वास्तव में दोनों एक ही व्यापार के प्रकाश हैं।

इसे भूल जाने से पुरुषकार के फल से कृपा का विकास या कृपा के फल से पुरुषकार का विकास—इसकी मीमांसा नहीं होती।

[१]

९.५.३७ (प्रातःकाल)

जिसमें जो चीज व्यक्त रूप से नहीं है, वह उसे पाने का अधिकारी नहीं है, योग्य नहीं है। दाता या गुरु उसे वह नहीं देंगे। अव्यक्त रूप से सब कुछ सब जगह है, वह विचारणीय नहीं। अव्यक्त को व्यक्त करने का उपाय है कर्म। अतएव, कर्म के द्वारा समय-समय कोई-कोई चीज फूट उठती है। किन्तु, सभी चीज एक जैसी नहीं फूटती। जो ज्यादा प्रबल होती है, वह ऊपर रहती है—बाकी सब अभिभूत रहती है। परन्तु, इस अभिभूत रहने का मतलब अव्यक्त नहीं। जो वस्तु एक बार व्यक्त होती है, चाहे जितनी-सी भी हो, वह फिर अव्यक्त नहीं होती, हो नहीं सकती। लेकिन, अभिभूत हो सकती है। अव्यक्त को जो देखते हैं, वह विशुद्ध चैतन्य हैं। अर्थात्, महाशक्ति या

परमेश्वर या पूर्ण। इसलिए, जो पूर्ण हैं, वह सबको सब कुछ दे सकते हैं। क्योंकि, उनके लिए यह मात्र आत्मलीला है। अव्यक्त में कुछ की भी कमी नहीं, फिर भी अव्यक्त-मात्र उन्हीं के गोचर है, इसलिए वह सब कर सकते हैं। दूसरे व्यक्त को ही पकड़कर काम कर सकते हैं। वह सिर्फ उसे बढ़ा देता है, बस। जिसमें जो व्यक्त रूप से नहीं है, वह उसे दे नहीं सकता। उसका काम बीज को बढ़ाना है। बीज को बनाना या बीज-रूप में अव्यक्त की अभिव्यक्ति, यह उसका काम नहीं। यह काम पूर्ण कर सकते हैं। या, अपने-अपने पुरुषकार से होता है। उस पुरुषकार को कृपा कह सकते हैं। पूर्ण के अलावा और कोई कृपा करके वह नहीं कर सकता। वास्तव में, दूसरे की कृपा कृपा ही नहीं।

बाहरी गुरु को इसीलिए आन्तरिक विकास का मुँह जोहना पड़ता है। वास्तविक गुरु आत्मा है, उसे किसी की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। इस बीजभाव का तात्पर्य क्या है? फल की आकांक्षा। फलवत्ता ही बीज की सार्थकता है। बीज जबतक फल के रूप में नहीं बदल जाता, तबतक वह निष्फल है। क्योंकि, पूर्णता या तृप्ति सभी चाहते हैं। किसी को भी अतृप्त या अपूर्ण रखकर पूर्ण नहीं हुआ जा सकता।

९.५.३७ (प्रातःकाल)

[२]

बाहरी गुरु का पहला काम क्या है? हमारे भीतर यदि सत्त्व का बीज है, तो वह उसे ही पकड़ेंगे, उसे बढ़ा देंगे। स्वयं भी बढ़ा दे सकते हैं। उपदिष्ट उपाय से शिष्य भी बढ़ा सकते हैं। बढ़ने से ही देह स्थिर हो जाती है—आसनसिद्धि होती है। मेरी धारणा है, यम-नियम केवल सत्त्व को पुष्ट करने के लिए हैं। देह के स्थिर होने से ही प्राण स्थिर होगा। वैसी स्थिति में बाहर से उसकी सहायता की जा सकती है। यही प्राणायाम के उपदेश का काल है।

प्राण के स्थिर होने से इन्द्रियाँ स्थिर होंगी, उसके बाद मन स्थिर होगा। तब प्रत्याहार और बाह्य उपदेश आदि का समय होता है।

[३]

९.५.३७ (प्रातःकाल)

एक चीज और देखने में आई। पहली दीक्षा का उद्देश्य ही अव्यक्त से बीज का निर्माण है—शिष्य के आधार के बीजरूप में अव्यक्त को निखार देना। क्षेत्र में लाखों-लाख बीज हैं। किन्तु, वह ज्ञानबीज प्रादुर्भूत होकर उन सारे अज्ञान-बीजों को अभिभूत करेगा।

इसके बाद शिष्य कर्म के द्वारा उसे और भी निखार सकता है—बाह्य गुरु भी सहायता कर सकते हैं।

क्रम से देह स्थिर, प्राण स्थिर, इन्द्रिय स्थिर, मन स्थिर, बुद्धि स्थिर–यह पहले दिखाया जा चुका है।

इसके बाद ही फल की प्राप्ति––साक्षात्कार होता है।

९.५.३७

बीज-निर्माण की बात उतनी ठीक नहीं, इसलिए कि बीज नित्य है। अव्यक्त में भी बीज होता है। लेकिन अव्यक्त होने के कारण उसमें बीजत्व नहीं। असली बात है—बीज का आविष्कार और उद्धार। अवश्य बीज, अर्थात् ज्ञानबीज। इस बीज के उद्धार विना जीव की गति नहीं। उद्धार वही कर सकते हैं, जो अव्यक्त के द्रष्टा, अर्थात् पूर्ण हैं। अव्यक्त ही प्रलय है—मूलप्रकृति। भगवान् के सिवाय और कोई यह काम नहीं कर सकता––इसी को कहते हैं, प्रलय-सलिल या कारण-वारिराशि से वेद का उद्धार। इसलिए, भगवान् को वेद का उद्धारकर्त्ता कहते हैं। यह भगवान् का विश्व-गुरु रूप है।

प्रलय या जडता––मोह से चैतन्य-शक्ति को विविक्त करके अलग नहीं कर देने से पूर्ण की ओर गति होना असम्भव है। यही विविक्त चैतन्य-शक्ति ही चेतन शब्द या वेद या मन्त्र है।

१०.५.३७

हमारा जगत् अन्धकार में अवस्थित है। इसमें प्रकाश के आने की व्यवस्था है। उसी प्रकाश से यह निखर उठता है। इस अन्धकार के उस पार ज्योति का राज्य है। वहाँ ज्योति-ही-ज्योति है, वहाँ भी जगत् है––लेकिन वह अन्धकार में फूट उठता है। यह अन्धकार आगन्तुक है––सामयिक। इसे आश्रय किये विना ज्योति का वह जगत् दिखाई नहीं देता। ज्योति का वह व्यापक राज्य है, उसके नाना नाम हैं। सम्भवतः, उसे महावैकुण्ठ, परव्योम, महाब्रह्मलोक कहा जा सकता है। उस विराट् राज्य में अनन्त प्रदेश हैं। इन्हीं को धाम कहते है। ये उपास्य के लोक हैं। परन्तु, सभी 'तमसः परस्तात्'।

१३.५.३७

देहतत्त्व–काम-क्रोध आदि, भक्ति आदि भावों की सत्ता लिंग में खोजकर निकाली जा सकती है। इनके बीज कारण में रहते हैं। हम जो कुछ आहार करते हैं, उसी के रस से ये जीवित रहते हैं। बुरी वृत्तियों में प्रायः पार्थिव और जलीय अंश अधिक होता है–– ये नीचे की ओर खींचते हैं। भावों में क्रम से––तैजस, वायवीय और आकाशीय अंश अधिक रहता है। परन्तु, सब-के-सब पांच भौतिक हैं। कारण में बीज बड़ा ही सूक्ष्म आकार होता है, लिंग में विभिन्न आकार। यह लिंगाकार ही देह पर कार्य करता है। यह लिंगाकार पुष्ट, अर्द्धपुष्ट, सुपुष्ट आदि हो सकता है––उसके अनुसार वृत्ति का

तारतम्य होता है, केवल लिंग में रंग पाया जाता है––स्थूल की ओर स्पष्ट आकार पाया जाता है। लिंग में ही व्यक्त आकार है, लिंग में ही वस्तु का परिचय मिलता है। मुक्त पदार्थ में कितने प्रकार का रस है, कहा नहीं जा सकता। किन्तु, किसी-किसी पदार्थ में किसी-किसी भाव का पोषक रस अधिक रहता है। खाद्य पदार्थ जितना ही विश्लिष्ट होता है, उतना ही उसके अन्तर्गत रस, सूक्ष्मतर रस, अपने-अपने भोक्ता को पुष्ट करता है। किसी खाद्य से काम की वृद्धि होती है, कुछ से क्रोध की वृद्धि होती है, यह सत्य है। जैसे—वात, पित्त, कफ की वृद्धि आदि खाद्य से ही होती है––वैसे ही वृत्ति की भी होती है। काम-क्रोधादि ये भाव जीवन-विशिष्ट अणु जैसे हैं—खाद्य पाये विना सूख-से जाते हैं, काम नहीं कर पाते। परन्तु, मरते नहीं हैं। क्योंकि, कारण में उनकी सत्ता रहती है। लिंग में सूखे हुए-से रहते हैं। जैसे बहुत दिनों तक मेढ़क माटी से मिले रह जाते हैं––मरते नहीं, वर्षा का पानी पाते ही फिर सजीव हो उठते हैं, ठीक वैसे ही ये भी।

लिंग में ये आकार दिखाई पड़ते हैं। परन्तु, कौशल आवश्यक है। उदाहरण-स्वरूप काम को लें। काम की एक सत्ता है (बीज), आकार है–उससे किरण की एक धारा निरन्तर निकलती रहती है। उसमें रंग है। उस रंग की किरण से ही काम को पहचाना जाता है। जरूरत होने पर किरण से काम को देखा जाता है। लेकिन, साधारणतया सिर्फ किरण नहीं देखी जाती, अवलम्ब के साथ देखी जाती है।

१६.५.३७

जिसे सत्ता, खण्ड सत्ता कहते हैं––जैसे, घट, फूल आदि—वह प्रकाश की ही एक अवस्था-मात्र है। जिस प्रकाश में कोई अवस्था-भेद नहीं, वह अखण्ड सत्ता है। उसका विशुद्ध रूप बोध के परे है। इस प्रकार, हमने दो प्रकाश पाया।

(क) अवस्थाहीन अव्यक्त प्रकाश—उसे प्रकाश न भी कहें तो हानि नहीं। सम्भवतः यही सत् और असत् के परे है।

(ख) व्यक्त प्रकाश (मूल)। यही अखण्ड सत्तारूप में प्रतिभासमान होता है और उसका 'बैकग्राउण्ड' भी है। 'बैकग्राउण्ड'–यह निराकार है, अन्यत्र साकार। 'बैकग्राउण्ड' यह जल है, खण्डसत्ता उसकी तरंग। एक धर्मी है, दूसरा धर्म।

इस खण्डसत्ता का भान भी अद्वैत रूप में हो सकता है, द्वैत रूप में भी हो सकता है। अद्वैत रूप में होने से 'बैकग्राउण्ड' से पार्थक्य क्रमशः घट जाता है। यह साकार पूर्णता में निराकारवत् होकर निराकार में मिल जाता है। परन्तु, फिर लौट आता है। यह नित्य साकार है। खण्डसत्ता का भान द्वैतरूप में होने से परिणाम प्रकट होता है। 'बैकग्राउण्ड' जो है, वह प्रकृति होता है। तरंग या आकार उसकी विकृति या परिणाम होता है।

(क) अवस्था अव्यक्त। द्रष्टा और दृश्य एक। इस ज्योति का वर्णन नहीं हो सकता।

(ख) अवस्था का प्रकाश व्यापक होता है। इस प्रकाश में अभेद-दर्शन होता है। और, तरंग-रूप में, आभास-रूप में उसमें भेद का भी दर्शन होता है। लेकिन, प्रधानता अभेद की ही होती है। लक्ष्य अभेद पर रखने से अभेद देखा नहीं जाता --बीच- बीच में लक्ष्य रखने से दोनों ही कुछ-कुछ दिखाई देते हैं।

विश्वरूप-दर्शन इसी प्रकाश में होता है। अर्जुन ने कुछ क्षण के लिए 'दिव्यचक्षु' पाया था। वह यही प्रकाश है। इस प्रकाश में प्रकाश मानना ही वस्तु का वस्तुत्व या सत्ता है। इस प्रकाश में जो प्रकाशमान नहीं है, वह अवास्तव है। इस अवस्था के साक्षात्कार से ही दृष्टि-सृष्टिवाद का जन्म होता है।

१७.५.३७

वस्तु की सत्ता---एक आलोक में प्रकाश मानता है। भवलोक=द्रष्टा का दृष्टिस्वरूप।

यदु एक फूल देख रहा है। यह फूल उसके चक्षु के आलोक में आलोकित है--- यदु के चक्षु, इन्द्रिय की सत्ता से सत्तावान्। जबतक वह देखेगा, तभी तक फूल की सत्ता है, बाद में वह सत्ता नहीं रहेगी। यदि रहे, तो किसी का दृश्य होकर ही रहेगी, नहीं तो नहीं। जैसे यदु के चक्षु की किरण ही फूल के आकार में प्रकट है, वैसे ही सभी दृश्य को समझना होगा। हमने केवल एक ही इन्द्रिय का उदाहरण दिया।

वैसे ही अविद्या भी पुष्पाकार हो सकती है। यदि राम अधिकतर बल के सहयोग से उस फूल के आकार में अविद्या की सृष्टि करे, तो यदु फिर उस फूल को नहीं देख पायगा। उसका लोप, अदर्शन हो गया। साधारणतः अन्धकार आदि में और निद्रा आदि में क्रमशः 'ऑबजेक्टिव' और 'सबजेक्टिव' रूप में व्यापक रूप से वह व्यापार होता है। परन्तु, यदु का दृष्टि-प्रकाश यदि राम के विसृष्ट अन्धकार से प्रबल हो, तो राम उस फूल को लुप्त नहीं कर सकेगा। चेष्टा करने से वह अविद्या स्वयं ही स्तम्भित हो जायगी। इस प्रकार, सब चीज की ही सत्ता का आपेक्षिकत्व है। जिस प्रकाश में वस्तु का प्रकाश या सत्ता है, उससे अधिक अन्धकार आने से ही वस्तु लुप्त हो जाती है, अदृश्य हो जाती है। ध्वंस कुछ का भी नहीं होता। क्योंकि, प्रबलतर प्रकाश डालने से उसे फिर से देखा जा सकता है। अतएव, ब्रह्मदृष्टि से ब्रह्मालोक में वस्तु को देखने से उसका फिर लोप, अदर्शन, तिरोधान नहीं होता। क्योंकि, ऐसी कोई अविद्या नहीं, जो उस प्रकाश में काम कर सके। इसलिए, ब्रह्मदृष्टि में सब चीज ही नित्य प्रतीत होती है। यही सत्ता पारमार्थिक सत्ता है। इसका नाश नहीं होता।

इसलिए, ब्रह्मालोक में सभी चीजें ढूँढ़े मिलती हैं। कुछ भी खोती नहीं। यहाँ अतीत और अनागत वर्त्तमान है—क्योंकि आच्छादन नहीं है। यह चिरप्रकाश है। इस प्रकाश के आगे दूसरे प्रकाश अन्धकार के ही भेदमात्र हैं; अविद्या-रूप। फलस्वरूप,

जो योगी ब्रह्मदर्शी है, उसके आगे कोई देवतादि काम नहीं कर सकते, स्तम्भित रहते हैं। चेष्टा करने से स्वयं निष्क्रिय हो जाते हैं।

२४.५.३७

क्रिया-ध्यानादि के समय देहस्थ ताडित सब ऊर्ध्वमुखी होता है--सब मस्तक की ओर जाता है। योग या निरोध के समय एक तीव्र वायु क्रमशः ऊपर को उठती रहती है, सब कुछ ऊपर उठ जाता है। नीचे की ओर का अंश शववत्, जडवत् पड़ा रहता है। उस समय कोई स्पर्श करे, तो ब्रह्मरन्ध्र से प्राण हठात् उतर आता है--बड़ा आघात लगता है।

व्युत्थान-दशा में तेज पाँव की ओर उतर आता है। इसीलिए, उस समय प्रणाम-विधि है। प्रणाम करने से ही प्रणम्य से तेज प्रणाम करनेवाले के पास जायगा ही, यह लोकोपकार है, लेकिन अपनी क्षति होती है।

नियम यह देखा, इष्टदेवता का चरण अपने माथे पर लेकर प्रणाम करने से अपनी क्षति नहीं होती। क्योंकि, उस समय स्वयं 'माध्यम' मात्र होता है, जो तेज जाता है, वह इष्टदेवता से आकर पूरा हो जाता है। जो नमस्कार करता है, उसका नमस्कार भी देवता को ही पहुँच जाता है।

किसी का प्रणाम स्वयं नहीं लेना चाहिए। योगयुक्त होने से लिया जा सकता है। जो प्रणाम करे, उसके लिए भी यह नियम पालनीय है। नहीं तो प्रणम्य की कर्म-संस्कार-राशि प्रणामकारी में आ जाती है।

जो प्रणाम करेगा, उसका तेज अपने मस्तक में जाना ही चाहिए। वहाँ से प्रणम्य के चरण में जायगा। शरीर के हस्त आदि अन्यान्य अंगों में भी जा सकता है। साष्टांग-प्रणाम का रहस्य अभीतक नहीं जान पाया हूँ। जो प्रणाम ले, उसका तेज पाँव की ओर प्रवाहित होना चाहिए। प्रणम्य के तेज का स्रोत यदि ऊर्ध्वगामी हो, तो प्रणाम करनेवाले को प्रणाम करने से तुरत समाधि अवश्यम्भावी है। यदि प्रणाम करनेवाले का तेज अपनी चेष्टा से मस्तक में नीत हुआ हो, तो ठीक ही है। नहीं होने से भी ऊपर की ओर उठेगा।

गुरु और शिष्य का यही विचित्र रहस्य है। सकाम और निष्काम प्रणाम। सकाम प्रणाम होने से गुरु का स्रोत बहिर्मुख या अधोमुख होकर शिष्य में संचारित होता है। काम्य धनरूप में बाद में प्रकट होता है। शिष्य की कामना पूर्ण करता है। यही वरदान है।

निष्काम प्रणाम में गुरु का स्रोत ऊर्ध्वमुख या अन्तर्मुख रहता है। वह शिष्य के स्रोत को खींचकर अन्तर्मुख करता है--शिष्य समाधि-लाभ करता है। शिष्य का सब तेज मस्तक में संचित होता है। यही अभयदान है। शिष्य का चित्त जिस अनुपात में कामना-हीन होता है, उसी परिमाण में ऊपर की ओर उसकी गति और स्थिति होती है।

मस्तक से चरण में प्रणाम--फल अद्वैत स्थिति। भक्त का प्रणाम--विशेषत: जहाँ भगवद्-दास्य नित्यकांक्षित है, साष्टांग प्रणाम स्वाभाविक है। उस स्थिति में स्निग्ध तेज का व्यापार होता है, उग्र नहीं।

[१]

२५.५.३७

द्वैतभाव से ही कर्म होता है। इस अवस्था में द्रष्टा और दृश्य पृथक् रहता है। लिप्तता अवश्य होती है--इसलिए द्रष्टा विशुद्ध नहीं होता, दृश्य भी वही। दृश्य को लक्ष्य करके कर्म करते-करते द्रष्टा से दृश्य का अवधान घटता जाता है, बाद में दृश्य की प्राप्ति होती है। वही एक प्रकार की समाधि है। बाद में, उस अवस्था का भेद हो जाने से शुद्धात्मस्वरूप में अवस्थान होता है। तब वह दृश्य आत्मा की शक्ति के रूप में प्रतिभात होता है। स्वरूप में ही उसका लय होता है, स्वरूप से ही उसका उदय होता है--स्वरूप से युक्तरूप में ही उसका स्वरूप स्फुरित होता है। यह दृश्यजय, वशीकार है। इस प्रकार, दृश्यजय होने के बाद ही पूर्ण आत्मा से सिद्धि पाना सम्भव होता है। राजा और सम्राट् में यही अन्तर है। सारे ही दृश्यों की जय दिग्विजय है। यह हुए विना सम्राट् या सर्वाधिपति नहीं हुआ जा सकता। किसी एक दृश्य को जीतने से राजा हुआ जा सकता है, सम्राट् नहीं।

सर्वाधिपति होने के लिए दृश्यमात्र की जो मूल सत्ता है, उसे निकालकर उसका साक्षात्कार और जय करना चाहिए। वही विशुद्ध सत्त्व है। सुतरां, विशुद्ध सत्त्व को जीतनेवाला या अधिष्ठाता ही सर्वाधिपति है। साधारण जीवखण्ड सत्त्व लिये है। उसका दृश्य जगत् उसके खण्ड सत्त्व का विकास है। हमारे करण-गोचर जो रूप-रस आदि की समष्टि है, वह हमारे सत्त्व का ही विकार है। इस खण्डसत्त्व को निचोड़कर निकालने से जगत् अव्यक्त हो जाता है। इस सत्त्व की जीत से हम राजपद-लाभ कर सकते हैं। अर्थात् प्रातिभासिक जगत् के अधिष्ठाता हो सकते हैं--इससे अधिक नहीं। जो सर्वसाधारण व्यावहारिक जगत् है, उसके अधिष्ठाता नहीं हो सकते। उसके लिए व्यावहारिक जगत् का जो सार है, अर्थात् अखण्ड सत्त्व, उसे प्राप्त करके उसका साक्षात्कार और विजय आवश्यक है। अवश्य ही यह विजय आपेक्षिक है। पूर्ण होने से वह परमेश्वर है। परन्तु, अपूर्ण होने से भी वह पूर्वोक्त खण्ड अधिष्ठाता से विलक्षण है। यह अवस्था ईश्वर की विभूति-स्वरूप है। पूर्वोक्त अवस्था जीव की केवल विभूति है।

[२]

अतएव, दृश्य-दर्शन हुए विना वास्तविक कर्म या साधना का सूत्रपात ही नहीं होता। दृश्य को लक्ष्य-रूप में सामने रखकर कर्म करते-करते द्रष्टा दृश्य को अपने में एवं दृश्य में अपनी आत्मा के रूप में अपने को प्राप्त करता है। जिस किसी भी वस्तु को 'मैं' रूप में पाये विना पाना नहीं हो सकता। इस अपरोक्ष बोध की दो दिशाएँ हैं ;

(क) आत्मा में दृश्य-दर्शन

(ख) दृश्य में आत्मदर्शन

इसका भी कारण है। जिस कर्म या क्रिया से यह होता है, वह वास्तव में उभयमुखी है। लेकिन, एक-एक करके उसकी प्रवृत्ति होती है। जबतक अभिमान के मूल से कर्म होता है, तबतक कर्म मेरा है--इसलिए क्रिया के फल में मैं अग्रसर होता हूँ। दृश्य स्थिर है। 'मैं' जाकर उसमें उसकी आत्मा के रूप में आविष्ट होता है। दृश्य जड़ था। मम-भाव के उसमें आविष्ट होते ही वह चेतन हो जाता है। यही (ख) है।

और, जिस समय कर्म होता है, किन्तु अभिमान नहीं रहता, उस समय दृश्य चलता रहता है, 'मैं' स्थिर रहता है। दृश्य क्रमशः सन्निहित होकर 'मैं' में प्रवेश करता है—'मैं' रूप में दृश्य फूट उठता है। दृश्य बाहर नहीं रहता, भीतर प्रवेश करता है। यही (क) है।

इसकी परावस्था में कर्म नहीं रहता, इसीलिए व्यवधान भी नहीं रहता। इसीलिए (क) और (ख) समान रूप से संसिद्ध होता है।

[३]

१५.५.३७ (मध्याह्न)

धामवास-रहस्य। कोई यदि निरन्तर व्यक्त धाम में रहता है, तो नित्यधाम का तेज सदा उसमें आविष्ट होने के फलस्वरूप मरणोत्तर उस नित्यधाम में गति होती है। किन्तु, क्षेत्रत्याग मानों नहीं होता; क्योंकि उससे बाह्य उपादान भीतर प्रवेश करता है। धाम में देहत्याग आवश्यक है।

व्यक्त धाम में नहीं रहते हुए भी यदि कोई अव्यक्त धाम का तेज पाये और ध्यान, क्रिया, चिन्ता आदि के द्वारा उसे बढ़ाये, तो भी वह नित्यधाम-विशेष में जा सकता है। धामवासी धाम में रहते हुए भी सदा देवदर्शन नहीं पाता। धाम-मात्र ही लीलाक्षेत्र है। विश्राम के समय विग्रह-दर्शन नहीं होता--उस समय देवता सामरस्य पद में रहते हैं, स्वयं निर्गुण में अवस्थित रहते हैं। उपासकगण उस समय द्रष्टा ही होकर रहते हैं-- भीतर प्रवेश नहीं होता। उपासक सेवक हैं। सबके एक-एक विशिष्ट सेवा है। एक की सेवा करने का अधिकारी दूसरा नहीं। सेवा के मानी देवता का आनन्दवर्द्धन, भोग-सम्पादन है। भोक्ता एकमात्र देवता ही है। वही भोग करते हैं, अर्थात् आनन्द को विक्षुब्ध करके आस्वादन करते हैं—उसका प्रसाद पाता है सेवक। यह प्रसाद कृपा या आनन्द है। यह सेवक जो है, वह भी नित्य है। यदि जीव रहें, तो नित्य जीव। नहीं तो नित्य स्वरूप-शक्ति भी कहा जा सकता है। सेवातत्त्व बड़ा गम्भीर है। आनन्द-स्वाद के अनन्त प्रकार-भेद हैं। प्रत्येक प्रकार में पृथक् सेवक चाहिए। यह नित्य सेवा स्वभावतः ही निष्काम है, इसीलिए इसका विनिमय नहीं है। सेवक की सेवा जैसी स्वाभाविक है, देवता का प्रसाद-दान भी वैसा ही स्वाभाविक है।

२६.५.३७

उन्हीं की इच्छा पूर्ण होती है, और कोई इच्छा पूर्ण नहीं होती। जो उनके भक्त हैं, उनके अलग इच्छा नहीं—वे निष्काम हैं। अथवा उनकी इच्छा ही उनलोगों की इच्छा है। वे भगवदिच्छा के बाधक नहीं होते, हो नहीं सकते। साधारण लोग—देवतादि, योगी, ऋषि आदि भक्त हों, तो स्वभावत: उनकी इच्छा के विरोधी नहीं होते। भक्त नहीं होने से विरोधी हो सकते हैं, परन्तु उनकी इच्छा को बाधा दे नहीं सकते। उन्हीं की इच्छा पूर्ण होगी।

बहुत बार जाना जाता है, भगवान् भक्त की इच्छा को पूर्ण करते हैं। इससे यह समझना होगा, वहाँ भी भगवान् की ही इच्छा पूरी होती है; क्योंकि उनकी इच्छा नहीं होने से भक्त को इच्छा कहाँ से होगी—होती, तो वह भक्त ही नहीं होता।

किन्तु, किसी घटना में असंख्य इच्छाओं का खेल होता रहता है। एक घटना, जो 'क' हुआ है। 'क' क्यों हुआ? इसलिए कि वही भगवान् की इच्छा है। लोग तो उनकी इच्छा को समझते नहीं। वह अव्यक्त हैं। मैं अगर भक्त होऊँ, तो कह सकता हूँ, मेरी इच्छा में ही 'क' हुआ है। परन्तु, वस्तुत: ईश्वर की इच्छा ही मूल है।

और, मैं यदि उनमें युक्त न होऊँ, तो शायद मैं यह चाहता हूँ कि 'क' न हो—फिर भी 'क' होगा; क्योंकि उन्हीं की इच्छा पूरी होती है। मेरी इच्छा उनकी इच्छा से अलग होने के कारण पूर्ण नहीं हुई। लेकिन, एक बात है। यद्यपि सभी अवस्थाओं में उन्हीं की इच्छा पूर्ण होगी, यह सत्य है, तथापि मेरी इच्छा अथवा उनकी-मेरी—मध्यवर्त्ती देवता, ऋषि आदि की इच्छा भगवदिच्छा के विरुद्ध होने से उनकी इच्छा पूरी होने में विलम्ब होता है। बाधा देकर उनकी इच्छा का कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता। केवल समय का विलम्ब होता है, बस।

देवता, ऋषि आदि के बारे में जो कहा गया, वह दो भाव का है। एक, मेरी प्रार्थना के अनुसार मेरी इच्छा के अनुरूप उनकी इच्छा होती है। अथवा उनके अपने प्रयोजन के अनुसार या दायित्ववश मेरी इच्छा के अनुरूप उनकी इच्छा होती है। लेकिन, मूल में यदि मुझमें कोई विशिष्ट इच्छा न हो, तो भगवदिच्छा अविलम्ब पूर्ण होती है।

इसी से यह जाना जायगा कि दु:ख का बीज कहाँ है। उनकी इच्छा के विरोध में अपनी इच्छा होने से ही संघर्ष होगा—और प्रबल के साथ संघर्ष होने से दु:ख निश्चित है। उन्हीं की इच्छा पूरी होगी—जरा देर से। परन्तु, वह घटना दु:ख का कारण हो जाती है। नहीं तो दुनिया में किसी घटना से भी दु:ख होने की बात नहीं है; क्योंकि सब घटना की ही जड़ में उनकी इच्छा है। मैं चूँकि विरुद्ध इच्छा करता हूँ, इसलिए दोनों की इच्छाओं के संघर्ष से दु:ख होता है। मेरी यदि अपनी अलग इच्छा न हो, तो उनकी इच्छा ही मेरी इच्छा होती है। वह इच्छा अप्रतिहत होती है, इसलिए वह तुरत पूरी होती है। फल—आनन्द।

अतएव, कामना ही दुःख का कारण है। विरुद्ध इच्छा लेकिन होती क्यों है? अभिमान से। निष्काम होने का मतलब ही द्रष्टा होना है। मैं यदि मात्र द्रष्टा ही होऊँ, तो मुझमें उन्हीं की इच्छा पूर्ण होगी। फलस्वरूप, मैं आनन्द का आस्वाद पाऊँगा। क्योंकि, वह मेरी इच्छा की ही तृप्ति है। द्रष्टा नहीं होने से यह आनन्द नहीं मिल सकता।

२७.५.३७

अपनी इच्छा में ही मेरी स्वाधीनता है। यह उनकी इच्छा के प्रतिकूल भी उदित हो सकती है। और, वैसा हो तो उनकी इच्छा से विरोध और संघर्ष होता है--परिणाम-स्वरूप दुःख होता है। इसलिए कि इच्छा पूरी नहीं हो सकती। इच्छा पूरी नहीं होने से संस्कार पैदा होता है, भविष्य-पूर्ति की अपेक्षा में अवस्थान करता है। उनकी (स्वभाव) इच्छा अव्यक्त होती है। अपनी इच्छा को उनकी इच्छा में विसर्जित करने से मेरी इच्छा नहीं रहती। उनकी अव्यक्त इच्छा मेरी इच्छा का रूप लेकर व्यक्त होती है। तब वह पूर्ण होती है। सुतरां, पूर्ण में नहीं डालने से इच्छा पूर्ण नहीं होती। इच्छा का पूर्ण होना=कार्य का उदय। उनकी इच्छा को कोई जान नहीं सकता, जानता भी नहीं। वह निराकार अव्यक्त है। भगवान् की इच्छा साकार है, व्यक्त। उसे योगीजन जान सकते हैं। साधारण योगी और भगवान्--महायोगी, दोनों ही महाशक्ति के उपासक हैं। परन्तु, भगवान् उच्चतर अधिकारी हैं, अधिक क्षमता-सम्पन्न हैं। परन्तु, दोनों का बल एक ही जगह है।

कोई यदि अपनी इच्छा को पूर्ण में उड़ेल दे, तो वह पूर्ण होगी ही। परन्तु, वह यदि भगवान् की इच्छा का विरोधी हो, तो भगवदिच्छा उसका प्रबल प्रतिबन्धक होकर उसे पूर्ण में मिलने नहीं देती। परन्तु, भगवदिच्छा का तुल्यबल होकर अधिकतर बल-शाली होने से वह पूर्ण में समर्पित हो सकती है। वैसी स्थिति में विधाता का नियम उसे बाधा नहीं दे सकता। किन्तु, एक बात है। भगवत्-इच्छा स्वभावतः निष्काम होती है। इसलिए, पूर्ण से उसका मिलन निश्चित है--भगवान् के भीतर से पूर्ण की ही इच्छा व्यक्त होती है। प्रतिद्वन्द्वी इच्छा यदि निष्काम हो, फिर तो विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। सकाम होने से वह कितनी ही प्रबल क्यों न हो, पूर्ण से सही मिलन नहीं होता। इसीलिए, चरम अवस्था में पूर्ण की इच्छा की विरोधी होने से वह नष्ट हो जाती है। यही असुर और देवतत्त्व का बीज है।

इच्छा पूरी नहीं होने से घूर्णी वायु की सृष्टि होती है।

२८.५.३७

'गुरुस्तोत्र' में है--"शिवतत्त्व प्रबोधाय ब्रह्मतत्त्व प्रकाशिने।" यहाँ शिव और ब्रह्मतत्त्व में तथा प्रबोधन और प्रकाशन में भेद किया गया है।

प्रबोधन-व्यापार परिणाम-क्रम से होता है। प्रबुद्धता पूर्ण होने से भाव तैयार हुआ——कहा जा सकता है। उसके बाद प्रकाशन-व्यापार का काम।

अतएव, पहला कार्य है सुप्तिभंग, जाड्यनिवृत्ति। फल——चिन्मय भाव का विकास। दूसरा कार्य——आवरणभंग। फल——अपने आगे भाव की प्रकाशमानता।

कर्म करते-करते यह विकास पूर्ण होता है। परन्तु, आवरण के नहीं कटने से यह विकास जाना नहीं जा सकता। मातृगर्भ में विकास होता है——भूमिष्ठ होने से प्रकाश होता है——अवश्य स्थूल रूप से। विकास होते ही प्रकाश हो सकता है या विकास होने के बाद प्रकाश हो सकता है। प्रकाश नहीं होने से अनुभव नहीं आता। विकास के विना उससे प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। विकास होने पर भी प्रकाश के विना प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रकाश नहीं होने पर भी विकास का कार्य होता ही रहता है। विकास का कार्य 'मेकैनिकल' है——उसकी गति अव्याहत है। प्रतिबन्धक नहीं रहने से उसका काम बेरोक चलता रहता है। बीच में प्रकाश होने से नाना कारण से विकास का रास्ता रुक सकता है। विकास पूरा होने से प्रकाश बाधक नहीं होता। क्योंकि, उस समय विकास तो बाकी नहीं रह जाता। इसलिए, प्रकाश से भय नहीं। अतएव, विकास के साथ-साथ एक पुट लगा ही रहता है। जितना ही विकास हो, पुट रह ही जाता है। सम्पूर्ण विकास के बाद पुट आप ही टूट जाता है। कोई तोड़ भी दे, तो नुकसान नहीं।

शक्ति का क्रम जागरण ही विकास है——यह कर्म से होता है। चरम अवस्था में पुट को हटा देना——ज्ञान से होता है। कर्म करते-करते ज्ञान आप ही आता है।

कर्म करते-करते होता है विकास। पूर्ण विकास होने से होता है ज्ञान——जिसका फल है प्रकाश।

विकास के फल से सद्भाव पाया जाता है और प्रकाश के फल से चिद्भाव। सत् ही प्रकाशमान होता है।

उसके बाद आनन्द या आस्वादन। कर्म——ज्ञान-भक्ति। आनन्द के बाद ही स्वभावस्थिति।

सुतरां बीज चाहिए। क्षेत्र चाहिए। बीज के विना विकास किसका होगा?

[१]

३०.५.३७

पहले साधारण कृपा——जो आश्रित-मात्र पर विद्यमान रहकर कार्य करता है। अनाश्रित पर यह कृपा नहीं रहती। वहाँ कर्मफल का नियम है, कार्य-कारण-भाव-मात्र साधारण कृपा ज्ञान-बीज के संचार से ही शुरू होती है। इसके बाद आश्रित की ओर से तीव्र पुरुषकार आवश्यक है। यही आज्ञापालन और उसकी चेष्टा है—नियमानुवर्तिता।

इस अवस्था में गुरुवाक्य ही आज्ञा या नियम है। इसका पालन ही कर्म है। इसके करते-करते कर्म कट जाता है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है, ज्ञान पूर्ण होता है। तब असाधारण कृपा का उदय होता है। तब स्वच्छन्दाचार और इच्छाशक्ति की अवस्था है।

अपनी इच्छा को उनकी इच्छा के अनुकूल रखने से ही अपनी इच्छा की पृथक् सत्ता नहीं रहती। तब उन्हीं की इच्छा रहती है। वही इच्छा मुझमें से कार्य करती है—मेरी अपनी इच्छा के रूप में प्रकट होती है। वह इच्छा अबाधित होती है—वह पूर्ण होगी ही। फलस्वरूप आनन्द। 'मैं' उनमें लुप्त हो जाने से वह मुझमें विशुद्ध 'मैं' रूप में प्रकट होंगे। मम-भाव को उनमें आत्मसमर्पण करने से, या करने की चेष्टा करने से वह भी मुझमें आत्मसमर्पण करेंगे। उस स्थिति में वह 'मैं' होकर प्रकाशित होंगे। किन्तु, बात यह है, मैं क्या उनमें अपने-आप आत्मसमर्पण कर सकता हूँ? नहीं कर सकता। परन्तु, मेरे किये बिना वह तो मुझमें आत्मसमर्पण नहीं करेंगे। इसके विपरीत वही क्या पहले अपने-आप मुझमें आत्मसमर्पण कर सकते हैं, यदि मुझमें कोई वैशिष्ट्य नहीं हो? परन्तु मुझमें वैशिष्ट्य आयगा कहाँ से? उन्हें बाद दें, तो मैं तो कुछ नहीं, मैं नहीं होऊँ, तो वह भी कुछ नहीं कर सकते। अतएव, वह और मैं—दोनों ही अकेले-अकेले अपूर्ण हैं, परस्पर-सापेक्ष हैं। मूलतः, किसपर कौन अपेक्षा करता है, यह नहीं कहा जा सकता। असली बात है, मैं और वह जहाँ से निःसृत हैं, उस पूर्ण से जब स्वभावतः शक्ति का उन्मेष होता है—वही प्रकृत कृपा है, जो अहेतुक है। वह मुझमें कर्मरूप में प्रकट होता है, उनमें फलरूप में प्रकट होता है—मुझसे कर्म कराता है, उनसे फल दिलाता है; मुझसे आत्मसमर्पण कराता है, उनसे भी आत्मसमर्पण कराता है। वह निरपेक्ष है, स्वतन्त्र।

[२]

मेरी इच्छा शून्य होने से जैसे उनकी इच्छा ही मेरी इच्छा होकर दिखाई देती है, वैसे ही उनकी इच्छा भी शून्य होने से मेरी इच्छा ही उनकी इच्छा होकर दिखाई देती है।

अतएव, प्राप्ति का प्रकार इस तरह है :

(क) पहले इच्छाशून्य मैं यदि इच्छा लेकर पूर्ण में अवगाहन करूँ, तो मेरी इच्छा पूर्ण के स्पर्श से उनकी इच्छा के रूप में, इच्छा-शक्ति के रूप में प्रकाशित होगी। यही योगियों का व्यापार है।

(ख) भक्तों का व्यापार अलग है, इसके ठीक उलटा। मैं इच्छाशून्य होकर इच्छामय पूर्ण में अवगाहन करने से उनकी इच्छा मुझमें मेरी इच्छा के रूप में प्रकट होती है।

दोनों विभूतियाँ एक प्रकार की नहीं। एक योगविभूति सकाम चित्त की है, दूसरी लीला-विभूति निष्काम चित्त की है।

इच्छा से इच्छाविहीन का मिलन——यह दोनों ही ओर है। मैं इच्छायुक्त होऊँ, तो वह इच्छाहीन और मैं इच्छाहीन होऊँ, तो वह इच्छामय।

[३]

दुःख-निवृत्ति और आनन्द-लाभ का उपाय क्या है ? उनसे मेरा मिलन। अभी वह नहीं है, इसलिए दुःख। वह इच्छामय हों या इच्छाविहीन, मैं इच्छायुक्त होऊँ या इच्छाहीन——उससे क्या ?

कुछ विकल्प ये हैं :

(क) वह इच्छामय × मैं इच्छायुक्त। [संसार, दुःख]
(ख) वह इच्छामय × मैं इच्छाहीन। [भक्ति]
(ग) वह इच्छाहीन × मैं इच्छामय। [योग]
(घ) वह इच्छाहीन × मैं इच्छाहीन। [ज्ञान-कैवल्य]

पहली अवस्था में दोनों इच्छाओं के संघर्ष से दुःख की उत्पत्ति निश्चित है। चौथी अवस्था में यह नहीं है, इसलिए दुःख भी नहीं, आनन्द भी नहीं। तीसरी अवस्था में दुःख की स्मृति है, इसीलिए आनन्द है। अपनी इच्छापूर्ति ही इस आनन्द का स्वरूप है।

दूसरी अवस्था में अपनी इच्छा नहीं है, इसलिए दुःख नहीं है, आनन्द भी नहीं। किन्तु उनकी इच्छा है, इसलिए लीला आनन्द या रस है। लीलारस। यही श्रेष्ठ है।

जो कर्मदेवता हैं, वे तीसरे प्रकार के आनन्दयुक्त हैं, और ज्ञान-देवता दूसरे प्रकार के।

दूसरी अवस्था दो प्रकार की है :

दोनों ही लीलाएँ पाती नट और प्रेक्षक

(क) भक्तिप्रधान, ज्ञान-सहकारी——यहाँ द्रष्टा होकर भगवल्लीला का दर्शन होता है।

(ख) भक्तिप्रधान, कर्म-सहकारी——यहाँ अभिनेता होकर भगवल्लीला की जाती है।

दूसरी अवस्था ईशकोटि।
पहली और तीसरी अवस्था जीवकोटि।
चौथी अवस्था ब्रह्मकोटि।

क्रम यह है :

१. पहली	१. पहली
२. तीसरी	२. तीसरी
३. चौथी	३. दूसरी
४. दूसरी	४ चौथी
(भक्त के लिए)	(ज्ञानी के लिए)

[१]

५.६.३७ (नवद्वीप)

देवता के आविर्भूत होने से साधक पहले केवल उनकी ज्योति को देख पाते हैं। उसके बाद दीर्घकाल तक ज्योति-दर्शन से आँखों के आदी हो जाने पर, अपना उपादान उस सत्ता में सत्तावान् होने पर रूप-दर्शन होता है। देवता या सिद्ध पुरुष ज्योति-संहरण करके भी रूप-प्रदर्शन कर सकते हैं। परन्तु, साधक उससे अभिभूत हो जाता है--मर भी जा सकता है। 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' इसका तात्पर्य यही है। देवता के तेज को आत्मसात् करते-करते देवता का दर्शन। और भी रहस्य है।

'क' और 'ख' का सान्निध्य होने से पहले 'क' की प्रभा 'ख' की प्रभा से धीरे-धीरे अभिभूत होती है। जप, ध्यान (देवता का), उपासना आदि से यही पहले होता है। उसके बाद 'ख' की प्रभा दिखाई देती है। पुनः-पुनः यह देखते-देखते 'ख' का रूप-दर्शन होता है। तबतक 'क' 'ख' के प्रभामण्डल के अन्तर्गत हुआ है। यही सालोक्य है, परन्तु यह सामयिक है। इसके बाद मृत्यु होने से भी उसी लोक में गति होती है, फिर भय नहीं रहता। लेकिन, स्थूल देह रहते चाहे जो जितना ही अग्रसर हों, स्थायी सालोक्य नहीं होता।

देह रहते-रहते और भी अग्रसर होने से देवता का रूप पाया जाता है। सालोक्य स्थायी होने से 'क' की छायामय प्रभा सदा के लिए अभिभूत होती है, अपनी प्रभा नहीं रहती, स्वयं प्रभारूप हो जाता है। यही दास्यभाव की सूचना है सारूप्य होने से उस लोक का वासी साधक उसके प्रभामण्डल के अन्तर्गत होता है। परन्तु, उन साधकों पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु रूप से शक्ति में जाने से, सार्ष्टि होने से, वे साधक अपनी शक्ति के अधीन होते हैं। किन्तु, यह आपेक्षिक है। उसके बाद शक्ति से सत्ता—समान सत्ता लाभ होती है। यह सायुज्य है। एक हिसाब से साधक देवता-रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। यहाँ से निर्गुण-राज्य। सामीप्य जो है, वह वस्तुतः सालोक्य और सारूप्य का मध्यवर्त्ती है। लीलावादी भक्तगण सामीप्य तक ही जाना चाहते हैं। यहाँ विरह है, सारूप्य के विना विरह नहीं कटता। कहना नहीं होगा, सारूप्य में मिलन भी नहीं है।

सालोक्य अवस्था में केवल रूप का दर्शन मिलता है। सामीप्य अवस्था में उसका सेवाधिकार पाया जाता है। मंजरी और सखी इसी भाव से है। सामीप्य अवस्था में ही दास्यभाव नाना प्रकार से परिस्फुट रहता है।

ज्योति-दर्शन बाहर से होता है। रूप-दर्शन भीतर से। रूप-दर्शन होने से ही समझना चाहिए, साधक ने इष्टधाम में स्थान-लाभ किया; क्योंकि किसी निर्दिष्ट स्थान, किसी खास angle से ही तो दर्शन है।

पूर्णावस्था के पहले, किन्तु रूप-दर्शन के बाद मृत्यु होने से साधना के अनुरूप दिव्य अवस्था प्राप्त होती है—या तो सालोक्य, या सामीप्य या सारूप्य आदि, जो अवस्था प्राप्त

होती है, उस अवस्था में दीर्घकाल तक रहना होता है—बहुत-बहुत दिनों तक। कोई सालोक्य प्राप्त करके वहाँ से सारूप्य बहुत दिनों में प्राप्त करता है। किन्तु, स्थूल देह रहते सालोक्य से सारूप्य अवस्था प्राप्त करने में अधिक समय नहीं लगता, बशर्त्ते कि श्रम किया जाय।

हममें से बहुतेरे कहते हैं, 'मैं तुम्हारा दास हूँ'—इससे दास नहीं हुआ जा सकता। जबतक हम उनका रूप-दर्शन नहीं करते। केवल ज्योति-दर्शन से दास्यभाव नहीं होता।

[२]

आँखें बन्द करने से जो अन्धकार दीखता है, वही साधक का छायामय प्रभा-मण्डल है—अविद्या-वासनादिमय आवरणस्वरूप। जप, ध्यान आदि से वह आलोकित हो जाता है। क्योंकि, जप करते-करते क्षुद्र-क्षुद्र ताड़ित कण संचित होते हैं—घनीभूत होते हैं—तब अन्धकार दूर करते हैं। ध्यान में भी (कल्पित) यही होता है। जप और ध्यान, दोनों के मूल में दीक्षा का होना आवश्यक है। क्योंकि, साधारण जप और ध्यान कल्पित शब्द और रूप के सहारे होता है—वह यदि अकल्पित शब्द और रूप के प्रति-रूपक-सदृश हो, तो दीर्घकाल में जप और ध्यान से अन्धकार दूर होगा ही। यही ज्योति-दर्शन है। क्रमवृद्धि से चारों ओर केवल ज्योति ही होती है। रूप-दर्शन नहीं होता।

उसके बाद रूप-दर्शन। यहाँ अकल्पित शब्द मिलता है, रूप भी अकल्पित। यही मन्त्रचैतन्य की अवस्था है। इस अवस्था में शब्द भी चेतन और रूप भी चेतन होता है। यही सूर्योदय है। किन्तु, बीच-बीच में मेघ आकर सूर्य को ढँक देता है। इसीलिए, सभी धामवासी भी सब समय देव-दर्शन नहीं पाते। जब पाता भी है, तब भी पूर्ण रूप से ठीक रूप नहीं पाता। पूर्णरूप से सम्यक् दर्शन होने से मेघ की ओट नहीं रह जाती। वही सारूप्य है।

[३]

प्रकृत ध्यान रूप-दर्शन के बाद। रूपदर्शन होने से स्वभावतया ही ध्यान आयगा। ध्यान टूटने से ही बाह्य अवस्था। तब फिर जप, फिर रूप का आविर्भाव, फिर ध्यान। ऐसा बार-बार होता रहता है। परिणामस्वरूप परम रूप का अविर्भाव होता है। तब सब कुछ सस्तम्भित हो जाता है।

ज्योति को आश्रय करके ध्यान हो सकता है—रूप को आश्रय करके भी। बाह्य-रूपाश्रय से जो ध्यान है, वह ठीक नहीं। ज्योतिर्ध्यान के बाद ही निर्गुण में प्रवेश होता है। आन्तर रूपध्यान के बाद भी यही होता है। लेकिन, दोनों अवस्थाएँ एक नहीं।

[४]

हमारा यह जगत् जागरण का जगत् है, लिंगजगत् स्वप्न का जगत् है, कारण-जगत् है निद्रा का जगत्। किन्तु, प्रत्येक में तीन अवस्थाएँ रहती हैं। साधना के फलस्वरूप

एक ऐसी अवस्था आती है, जब अधिकांश स्थान में लिंगजगत् में संचरण होता है, कदाचित् कारणजगत् में विश्राम लेता है, कदाचित् स्थूल जगत् में उतर आता है। देवतादि इसी अवस्था में रहते हैं। विश्रामकाल में कारण में मग्न होते हैं—अवतार-ग्रहण के समय स्थूल में विकास पाते हैं। उच्चभूमि के देवता, ऋषि-मुनि कारणजगत् में रहते हैं, योगनिद्रा में या समाधि में। प्रयोजन के अनुसार सूक्ष्म या स्थूल में उतर आते हैं और फिर आप ही लौट जाते हैं।

[६]

साधक जो आँखें बन्द करते हैं, उस समय जो अँधेरा दिखाई पड़ता है, वही उनका जगत् है। देवता आँखें बन्द नहीं करते, उनकी आँखें निमीलित नहीं होतीं। वह जो प्रकाश देखते हैं, वही उनका लोक है। साधक साधना के बल से आँखें बन्द करने पर भी अन्धकार नहीं देखते, वैसी स्थिति में उनके दिव्यचक्षु खुले होते हैं। वे चक्षु बन्द नहीं होते। उस समय दिव्यचक्षु के आलोक में जो दिखाई पड़ता है, सभी उनके अंगीभूत होते हैं। देवता जो देखते हैं, सब उनका लोकस्थ होता है।

[७]

चार अवस्थाएँ :

(क) साधक देवता को नहीं देखते, देवता भी साधक को नहीं देखते—यह संसार-अवस्था है।

(ख) साधक देवता को नहीं देखते, देवता साधक को देखते हैं—यह दीक्षा के बाद की साधकावस्था है।

(ग) साधक देवता को देखते हैं, देवता भी साधक को देखते हैं—यह सिद्धावस्था है।

(घ) साधक देवता को देखते हैं, देवता साधक को नहीं देखते, साधक उस समय ईश्वर-भूमि में होते हैं, देवता भी। किन्तु, साधक द्रष्टा और जाग्रत् होते हैं, देवता मोह-ग्रस्त और समाहित।

६.६.३७ (नवद्वीप)

[१]

किसी तेजोमय पदार्थ की प्रभा देश और काल, दोनों में बिखर पड़ती है—चारों ओर। देश में चारों ओर फैल जाती है, इसीलिए किसी महापुरुष के आविर्भूत होने से जितनी दूर वह तेज विकीर्ण होता है, उसके प्रत्येक स्थान में उस आविर्भाव की सूचना मिलती है। सूरज के उगने से किरणों से व्याप्त सभी जगहों से ही वह संवाद मिलता है। काल में भी यही होता है। किसी के आविर्भाव के पहले ही पता चल जाता है कि अविर्भाव होगा; आविर्भाव होकर तिरोधान के पहले भी यह जाना जाता है कि आविर्भाव हुआ था।

जैसे सूर्योदय के पूर्व की लालिमा से एवं सूर्यास्त के बाद की गोधूलि के राग से सूर्य के आविर्भाव का अनागत और अतीत जाना जाता है, वैसे ही।

[२]

एक व्यापक प्रकाश है। उसी में नाना प्रकार के प्रकाश तिरते हैं। ये नाना प्रकाश विभिन्न धाम हैं। सबके मूल में वही व्यापक प्रकाश है। धाम, नाम, रूप, लीला, अप्राकृत गुण——सब उन्हीं नाना प्रकाशों के अन्तर्गत हैं। व्यापक प्रकाश में वह सब नहीं जाना जाता।

[३]

प्रकाश में प्रवेश करने से प्रकाश दिखाई नहीं देता——प्रकाश बाहर से देखा जाता है। प्रकाश को देखते-देखते अथवा प्रकारान्तर से स्वयं उस प्रकाश में सर्वतोभावेन प्रकाशमय हो जाने से रूप-दर्शन होता है—प्रकाश-दर्शन नहीं होता। इसीलिए, सालोक्य अवस्था में पृथक् रूप से ज्योति-दर्शन नहीं होता। परन्तु, रूप-दर्शन होता है। यदि रूप-दर्शन नहीं हो, तो समझना चाहिए, तबतक उस आलोक में लीन है।

रूप के केन्द्र में स्वयं पहुँचने पर रूप-दर्शन नहीं होता—रूप को परावस्था का अनुभव होता है—यही शक्ति है। इसी शक्ति से उस रूप का विकास होता है। शक्ति की परावस्था ही सत्ता या भाव है। भाव के बाद निर्गुण ब्रह्मसमुद्र, जिसपर भाव तरंग-विशेष है।

[सारूप्य बहुत-कुछ बौद्धों का रूपध्यान है।]

सारूप्य के बाद अरूपध्यान। इस अरूप में सार्ष्टि और सायुज्य है।

कामभेद नहीं होने से रूप-दर्शन नहीं होता। उसका उपाय ज्योति-दर्शन है। ज्योति देखते-देखते कामादि वृत्ति और संस्कार शुद्ध हो जाते हैं।

९.६.३७ (कलकत्ता)

एक विराट् स्फटिक जैसी ज्योति बिखरी हुई है—यही ब्रह्मज्योति है। जितने भी देवलोक हैं, इसी ज्योति में तिरते हैं। देवलोक भी एक प्रकार का प्रकाश ही है। लेकिन, रंग और वैचित्र्य है।

विवेक का अवलम्बन करके साधक कैवल्य के पथ पर चले, तो वह इस व्यापक ब्रह्मज्योति में अपनी ज्योति को मिला सकता है। परन्तु, पहले अपना प्रकाश इस व्यापक प्रकाश में मिलकर भी नहीं मिलता। एक हिसाब से यह कहा जा सकता है, वह व्यापक प्रकाश ही स्व-आलोकरूप में भासमान होता है—चारों ओर शून्य का घेरा रहता है। यह निज-आलोक स्वप्रकाश है। सांख्याचार्य इसी को कैवल्य बतलाते हैं। वह शून्य ही मूल प्रकृति (अव्यक्त) है। यह प्रकाश द्रष्टा पुरुष है।

क्रमशः अपना प्रकाश इस प्रकाश में मिल ही जाता है। अर्थात् वह व्यापक प्रकाश ही रहता है—निजालोक अपना वैचित्र्य छोड़कर व्यापक आलोक-रूप में प्रकाशमान होता है। यही ब्रह्मकैवल्य है।

परन्तु, प्रकाश की परावस्था में दोनों कैवल्य में कोई भेद नहीं। वही पूर्ण है।

ये केवली आत्मनिष्ठ होते हैं—संसार का कार्य नहीं कर सकते। जो अपने प्रकाश के स्वाभाविक वैचित्र्य को निखारकर उसे फैला सकते हैं, वे एक-एक लोक या क्षेत्र का केन्द्र होकर रहते हैं। यही बुद्धक्षेत्र है––दिव्यलोक। ये सब दिव्यलोक व्यापक प्रकाश में वैसे ही तैरते रहते हैं, जैसे समुद्र में द्वीपपुंज मिलते नहीं। (खण्ड) भक्ति के पथ पर जो चलते हैं, अपनी-अपनी रुचि और प्रीति के अनुसार अपने-अपने इष्टलोक या धाम में प्रवेश करते हैं और स्थान-लाभ करते हैं। केन्द्र को आश्रय किये विना इन लोकों में जाया नहीं जा सकता। भक्तगण इन धामों में आते हैं। ये केन्द्रस्थ देवता और चक्रस्थ उनके भक्तगण सभी जीव या ईश्वर हैं। देवता और भक्त का यह व्यवधान दूर होकर चरम में मात्र एक ही भाव रह जाता है। सभी भक्त मानों एक ही देवता-रूप में परिणति-लाभ करते हैं। यही भाव है। व्यापक प्रकाश में ऐसे असंख्य भाव तिरते हैं––समुद्र की लहरों की भाँति। ये असंख्य भाव भी उक्त प्रकार से एक महाभाव में परिणत होते हैं। यह महाभाव व्यापक प्रकाश का समसत्ताक––दोनों ही व्यापकतम। युगल रूप—एक ही वस्तु की मानों यह पीठ, वह पीठ।

व्यापक प्रकाश में इस भाव के प्रविष्ट नहीं होने से उससे ठीक मिलन नहीं होता। उसमें मात्र लय होता है। और व्यापक में पहुँचे विना केवल अपना प्रकाश ही रहता है, व्यापकत्व नहीं रहता। फलस्वरूप, भक्ति के पथ से ही लीला के क्षेत्र में प्रवेश होता है। ज्ञानमार्ग में कैवल्य, मोक्ष या निर्वाण। परोपकार आदि, जीव-सेवा आदि भक्तिपथ के पुष्टिकारक व्यापार हैं।

११.६.३७ (कलकत्ता)

यह चित्त स्फटिक जैसा स्वच्छ है, व्यापक रूप से पड़ा ही है। आँख मूँदने से जो अँधेरा परदा दिखाई देता है, वही चित्त का मल या आवर्जना है। यह मल या आवर्जना नीचे से जमा होती है। ऊपर से चित्त पर सदा सहस्रार की ज्योति है, परन्तु जबतक मलरूप यह बदली नहीं छँट जाती, तबतक उसका कोई काम ही नहीं होता। मल के हटते ही चित्त आलोकित होता है अथवा यह देखा जाता है कि चित्त आलोकित है। यह आलोकपात अहेतुक है—अपने-आप हुआ है या हो रहा है। इसके लिए चेष्टा नहीं करनी पड़ती या चेष्टा करके भी यह नहीं पाया जाता। क्योंकि, मनुष्य की चेष्टा पर सूर्य (सहस्रार) का प्रकाश बिखेरना निर्भर नहीं करता। आदमी की चेष्टा केवल उस बदली को हटाने के लिए है। बदली के हटते ही नित्य प्रकाशमय ज्योति

स्वयं ही उद्भासित हो उठती है। कारण = Source of illumination or लिंग। लिंग = चित्त, स्फटिक जैसा स्वच्छ।

स्थूल—पंचभूत, भौतिक आवरण। Source of obscurity or लिंग। आँखें मूँदने से जब अन्धकार नहीं दीखेगा, व्यापक प्रकाश दिखाई देगा, तब समझना होगा कि लिंगदेह स्थूल से विविक्त हुई है।

स्थूल से लिंग के अलग होते ही व्यापक आलोक में अपने को देखा जा सकता है। यह व्यापक प्रकाश कारण से निःसृत है।

इस आलोक में समग्र जगत् दिखाई देता है। इसकी दो अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था में इस आलोक में सब देखा जरूर जाता है, परन्तु अपनी देह को छोड़कर। इसके बाद अपनी देह भी देखी जाती है। तभी ठीक हुआ समझिए। क्योंकि, अपनी देह भी अन्य दृश्यों की श्रेणी में आ गई।

आलोक से देखा जाता है, अपने लिंग या चित्त में ही देखा जाता है—लेकिन देखता कौन है? उसी को जीव कहते हैं। जीव साक्षी या द्रष्टा है। वह जो व्यापक प्रकाश है, उसका जो Source है, वही परमेश्वर है। उस व्यापक आलोक को ब्रह्म या वेद कहा जा सकता है।

द्रष्टा के हिसाब से स्वरूपतः जीव अणु है। व्यापक चित्तयोग में जीव विभु है। स्थूल देह-सम्बन्ध में चित्त के व्यावहारिक संकोचवश जीव मध्यम है।

यह जो व्यापक आलोक सदा ही चित्त पर पड़ता है, इसका कोई हेतु नहीं, यह शाश्वत है। यही भगवान् की नित्य सामान्य कृपा है। इसके नहीं रहने से जीव चेष्टा करके भी क्या पाता? चित्त के क्षेत्र से अन्धकार-राशि यदि हट भी जाती, फिर भी आलोक के अभाव में चित्त अव्यक्त रहता—उसमें कुछ की भी, यहाँतक कि अपनी भी स्फूर्त्ति नहीं रहती। परन्तु, इस चेष्टा का मूल कहाँ है? बदली के हटते ही प्रकाश मिलेगा; क्योंकि प्रकाश तो है ही। परन्तु, बदली को हटायगा कौन? वायु। वायु का भी एक सामान्य रूप है। उससे बदली नहीं हटती; क्योंकि वह तो यथासम्भव व्यापक रूप से सदा ही है। उससे बदली का कोई विरोध नहीं। अतएव, विक्षुब्ध या विशेष वायु ही आवश्यक है। अर्थात् वायु का प्रवाह चाहिए। इसका भी मूल सूर्य है। सूर्य की विशेष किरण से ही वायु में प्रवाह पैदा होता है। उस प्रवाह से सूर्य की सामान्य किरण का आवरण दूर होता है। वास्तव में, मेघ सूर्य की सामान्य किरणों का भी आवरक नहीं, द्रष्टा से सामान्य किरण-सम्बन्ध का आवरक है।

अतएव, सारांश यह है कि सूर्य की विशेष कृपा हुए विना उनकी सामान्य कृपा का अनुभव नहीं किया जा सकता। (यही दीक्षा है) जीव की चेष्टा निमित्त-मात्र है। क्योंकि वह विशेष कृपा के फल के सिवाय कुछ नहीं।

यह विशेष कृपा ही स्वातन्त्र्य है।

१२.६.३७ (प्रातःकाल : कलकत्ता)

आँख मूँदने से जो अन्धकार दिखाई पड़ता है, उसका जो द्रष्टा है, वही जीव या प्रत्यगात्मा का स्वरूप है। इस अन्धकार को दूर न करके यदि स्थूल को भूला जाय या स्थूल देहात्मबोध दब जाय, तभी स्वप्न-दर्शन होता है। इस अन्धकार को दूर न करके यदि स्थूल में लिप्त रहा जाय और स्थूल देहात्मबोध रहे, तभी जाग्रत् है। चाहे इन्द्रिय मुक्त हो या न हो। इस अन्धकार को दूर न करके यदि स्थूल को भूला जाय, किन्तु मन स्थिर रहे, तभी सुषुप्ति है। स्वप्नावस्था में मन स्थिर नहीं रहता। स्वप्नावस्था में अँधेरे में ही जगत्-दर्शन होता है—अन्धकार नहीं देखा जाता। जगत् ही देखा जाता है, यह वासनामय स्वप्न-जगत् है। जाग्रदवस्था में अँधेरा देखा जाता है। वृत्ति अन्तर्मुखी, परन्तु बाहरी स्मृति रहती है। अथवा जगत् देखा जाता है : अँधेरे में आलोक की गोद में, वृत्ति की बहिर्मुखता में। जाग्रत् और स्वप्न—दोनों ही स्थितियों में मन काम करता है। द्रष्टा अवश्य काम करता है, पर प्रत्यवमर्श नहीं होता। सुषुप्ति में मन काम नहीं करता, इन्द्रिय भी नहीं। द्रष्टा काम करता है—यहाँ भी प्रत्यवमर्श नहीं होता। द्रष्टा उस समय यह समझ नहीं सकता कि देख रहा हूँ। जाग्रत् अवस्था में यह समझ सकता है। स्वप्न में भी सुषुप्ति के समान प्रत्यवमर्श होने का रास्ता नहीं। इसलिए, जाग्रत् ही श्रेष्ठ अवस्था है—यहाँ से ज्ञान पाने का उपाय है।

आँख मूँदने पर जब अँधेरा कट जायगा, तभी देहात्मबोध जायगा, स्थूल अलग होगा। उसी प्रत्यवमर्श (जाग्रत् की)-वृद्धि से यह होगा। यही ज्ञान है। उस समय द्रष्टा आलोक में देखेगा और यह बोध करेगा कि वह देख रहा है। यही तो चाहिए।

१२.६.३७ (प्रातः और सन्ध्या : कलकत्ता)

चित्ताकाश में देवदर्शन होता है।

चित्ताकाश में गुरुदर्शन होता है। देवदर्शन होने के पहले चित्ताकाश परिष्कृत होकर आलोकित हो जाता है। चित्ताकाश से चिदाकाश में जाने का जो मार्ग है, उसीका नाम है ब्रह्मनाड़ी। वास्तविक बात है कि चिदाकाश से ही प्रकाश आकर चित्ताकाश को अन्धकारहीन करता है और बाद में उसमें देवरूप देदीप्यमान होता है। इसलिए गुरु के विना (इष्ट) देवता को कौन दिखायगा? वास्तव में, गुरु ही गुणक्षेत्र में देवरूप में आविर्भूत होते हैं। जो प्रवाह चिदाकाश से उतरता है, वही फिर लौटकर चिदाकाश में ऊपर उठता है। इसीलिए, देवता ही गुरु के पास पहुँचा देते हैं। सगुण-निर्गुण पर्यवसित होता है।

पहले—सूर्योदय से पहले आसमान साफ होता है, उसके बाद सूर्य का उदय होता है। जो सूर्य बाद में उगता है, उसी के प्रभाव से पूर्व-आकाश प्रकाशमान होता है। अन्धकार दूर हो जाता है। इसी प्रकार, देवता के आविर्भाव के पहले चित्ताकाश प्रकाशमान होता है, वह भी उन देवता की ज्योति से ही होता है। इसलिए,

पहले चित्त शुद्ध करके तब देवता का दर्शन करना—यह असार बात है। क्योंकि, चित्त का शोधक तो देवता की ज्योति ही है।

लेकिन, एक बात है। रात का अँधेरा और मेघ का अँधेरा—यह दो प्रकार का अँधेरा है। सूर्योदय से रात का अँधेरा कटता है, मेघ का अँधेरा नहीं कटता। जीव का भी ऐसा ही होता है। जीव के हृदय का जो अन्धकार है, जो अनादिकालीन है—वह गुरु की सामान्य कृपा से कट जाता है। यही नहीं, देव सूर्य उगते हैं, धीरे-धीरे अग्रसर होते हैं। पर स्थूलदेहाश्रय-निमित्तक आवरण (मेघवत्) रह जाता है, इसलिए जीव प्रकाश या प्रकाशक, कुछ भी अनुभव नहीं कर सकता। वह आवरण कर्मवायु के द्वारा हटता है। वैसी स्थिति में सब समझ में आता है। मृत्यु के बाद वह मेघ नहीं रहता, इसलिए उस ज्योति में ही प्रवेश होता है, इसलिए कि रात कट गई होती है।

अतएव, जीवकृत कर्म, मेघ हटाने के लिए है। मेघ के जाने पर प्रकाश मिलेगा ही। इस कर्म से रात का अन्धकार नहीं जाता। वह प्रकाश के प्रभाव से ही दूर होता है।

[१]

१३.६.३७ (प्रातः कलकत्ता)

चित्ताकाश में देवता का आविर्भाव होता है। पहले रूप का आविर्भाव होता है, फिर वह चेतन होता है, अथवा चेतन-रूप का ही आविर्भाव होता है। यह ऊपर से ज्योति के उतरने से होता है। कहाँ? हृदय में, आज्ञाक्षेत्र में, चित्ताकाश में। पक्षान्तर से नीचे की ओर से पंचभूत का सारांश ऊपर उठता है। इन सबको आविर्भूत ज्योति में अर्पित करने से वह ज्योति पुष्ट होकर ऊपर की ओर लौट जाती है। वह अर्पण ही भोगदान, निवेदन, या जो कहिए, है। उसके बाद प्रणाम, आत्मसमर्पण। अन्त में साधक अपने को भी उस ऊर्ध्वगामी प्रवाह में डाल देता है। वह प्रवाह ऊपर जाकर शान्त होता है। अद्वैत स्थिति होती है। उसके बाद वेग के क्षय होने से साधक उतर आता है।

क्या-क्या उठता है? गन्ध उठती है, रस उठता है, तेज उठता है, वायु उठती है, शब्द उठता है। देवता के गन्ध नहीं, वही गन्ध मलकर सुगन्ध होती है। गन्ध से देवता आच्छन्न हो जाते हैं, रस या जल से अभिषिक्त होते हैं—स्नान तो यही है। ज्योति से उद्भासित होते हैं। आरात्रिक यही है। वायु से हिल्लोलित होते हैं—चँवर-व्यजन यही है।

शब्द शंख-घण्टादि ध्वनि के रूप में प्रकट होता है। प्रणाम के साथ-ही-साथ सब लीन हो जाता है। साधक स्वयं भी। यही ध्यान, समाधि और स्थिति है।

चैतन्य निराकार और साकार—दोनों ही है। निराकार इसलिए कि किसी आकार का निर्णय नहीं। सभी आकार हैं। निराकार चैतन्य ही शिव है। साकार चैतन्य = शक्ति। यह अनन्त प्रकार है और फिर महाशक्ति के रूप में एक ही। इस अनन्त आकार का प्रत्याकार ही एक-एक Unit, Simple, Synthetic नहीं।

गुण के राज्य में Unit नहीं है। जो कुछ भी देखते हैं, वह मूल unity का आरोप-निबन्धन है।

क्रम-क्रम से मूर्त्ति नहीं गढ़ी जाती। यह मूल विश्वास है। मूर्त्ति एक Unity है—उसके तो अंश नहीं, फिर क्रम कहाँ? इसलिए, बद्धजीव कल्पना करके मूर्त्ति नहीं गढ़ सकता।

जैसे, गुलाब का फूल। चिन्मय गुलाब रूप Unity जब हृदय में उतर आती है, तब सत्त्वगुण उसी आकार में आकारित हो जाता है। यही ideal गुलाब या गुलाब का लिंग है। इसे बाहर करते ही, महाकाश उतारते ही भूतावरण गुलाब का आकार धारण करता है। यही स्थूल गुलाब है। प्रकृत गुलाब लेकिन वही चिन्मय गुलाब है—जो शक्तिरूप है। भूत और सत्त्व का अंश हट जाने से वह शक्ति भूत-चिन्मय गुलाब चैतन्य-समुद्र में मग्न होता है। उसकी विविक्तता नहीं रहती। उसे गुलाब के रूप में पहचानना मुश्किल है। ब्रह्मसमुद्र में डूबने से ऐसा ही होता है।

१४.६.३७ (प्रातःकाल : कलकत्ता)

सभी दिव्यधाम ब्रह्मलोक में तिरते जरूर हैं, परन्तु उन व्यष्टि-दिव्यधामों की एक समष्टि है। एक व्यष्टि और एक व्यष्टि में समष्टि रूप है, अर्थात् यह क्रम इस प्रकार है :

पूर्ण (भगवान्)

आलोक—ब्रह्म

महासमष्टि—महावैकुण्ठ—एकमात्र परमेश्वर

|

आलोक

समष्टि—दिव्यधाम, वैकुण्ठ, अलग-अलग दिव्यलोक

|

आलोक

व्यष्टि—मुक्तजीव, देवता

पूर्ण (भगवान्)

अन्धकार

महासमष्टि—महासंकर्षण, आदिजीव, एकजीव

|

अन्धकार

समष्टि—ब्रह्माण्डपति, ब्रह्मादि

|

अन्धकार

व्यष्टि—बद्धजीव

ज० जी० ई० | पूर्ण

	a	ज०	जी०	ई०	१
	b	,,	,,	,,	२
	c	,,	,,	,,	३
	d	,,	,,	,,	४
	e	,,	,,	,,	५
	f	,,	,,	,,	६
२	g	,,	,,	,,	७
	h	,,	,,	,,	८
	i	,,	,,	,,	९
	j	,,	,,	,,	१०
	k	,,	,,	,,	११
	l	,,	,,	,,	१२
	m	,,	,,	,,	१३
	n	,,	,,	,,	१४

१ और ११ एक ही जडकला, जीवन-कला और ईश्वर-कला, सब अव्यक्त गति के तारतम्य-भेद से दोनों में कल्पित भेद मानना होता है। अवतार के विचार से गति १ से ११ की ओर होती है, यदि वह विचार ईश्वर की ओर से किया जाय। साधना के विचार से ११ से १ की ओर गति होती है।

दोनों में ही सृष्टि और संहार है। पहले सृष्टि, उसके बाद संहार।

७ और ८ = संसार-अवस्था।

६ = जीव की कैवल्य-जड-सम्बन्ध से मुक्ति पर ईश्वर-सम्बन्ध का अनुदय।

७ = इच्छाशक्ति के उदय और विकास की अवस्था। ६ में इच्छाशक्ति पूर्ण होकर निवृत्त होती है। इच्छाशक्ति रहने तक जड-सम्बन्ध का अभाव नहीं होता।

३ | ,, ,, १५ |

	a	ज०	जी०	१	ई०	१४
	b	,,	,,	२	,,	१३
	c	,,	,,	३	,,	१२
४	d	,,	,,	४	,,	११
	e	,,	,,	५	,,	१०
	f	,,	,,	६	,,	९
	g	,,	,,	७	,,	८

५ से ही ईश्वर-भाव की सूचना की क्रमवृद्धि। ज्ञान क्रमशः भक्ति में पर्यवसित होता है। ४ में भक्ति ही विराजती है—ज्ञान आभासमात्र रहता है। ४ और ५ का जीव मुक्तजीव जड-सम्बन्ध सर्वत्र है—क्रमशः गाढ़ा।

	a	ज०	जी०	८	ई०	७
	b	,,	,,	९	,,	६
५	c	,,	,,	१०	,,	५
	d	,,	,,	११	,,	४
	e	,,	,,	१२	,,	३
	f	,,	,,	१३	,,	२
	g	,,	,,	१४	,,	१

४ और ५ के जीव सब भक्त हैं—नित्य-धाम के जीव। ५, ४ और ३ सालोक्यादि सायुज्यान्त अवस्था—२ का अवतार ईश्वर का अवतार—अंशतः ३ का अवतार पूर्णावतार। ४ और ५ का अवतार ईश्वर-भावित जीव का अवतार। भक्त का अवतार। ५ में शुद्धाभिमान रहता है—भक्त की इच्छा के अधीन ईश्वर।

६ | ज० जी० १५ ई० |

	a	ज०	१	जी०	१४	ई०	[जडग्रस्त ईश्वर अनूदित।
	b	,,	२	,,	१३	,,	जीव में इच्छा नहीं]
	c	,,	३	,,	१२	,,	[जड जीव के अधीन।
७	d	,,	४	,,	११	,,	इच्छा-शक्ति का राज्य।
	e	,,	५	,,	१०	,,	जडशक्ति जीवशक्ति को
	f	,,	६	,,	९	,,	अभिभूत नहीं कर सकती।]
	g	,,	७	,,	८	,,	

४ में अभिमान घटकर ईश्वर-चालित भाव आता है। वह जैसे चलाते हैं, जीव वैसे ही चलता है। ४ में चरम में जीव केवल द्रष्टा, ईश्वर ही कर्त्ता, कुछ नीचे जीव आयोज्य-कर्त्ता, ईश्वर कारयिता, साक्षीभाव ४ के बाद सर्वत्र हैं।

ईश्वर-भाव जैसे-जैसे प्रधान होता है वैसे-वैसे साक्षी-भाव से कर्त्तृत्व का मिश्रण घट जाता है।

	a	ज०	८	जी०	७	ई०	
	b	,,	९	,,	६	,,	[जीव जड के अधीन।
	c	,,	१०	,,	५	,,	जीवशक्ति को जड-
८	d	,,	११	,,	४	,,	शक्ति अभिभूत नहीं
	e	,,	१२	,,	३	,,	कर सकती।]
	f	,,	१३	,,	२	,,	
	g	,,	१४	,,	१	,,	

जब ३ में ईश्वर-मात्र ही रहते हैं, तब जीव नहीं रहता—न कर्त्ता, न साक्षी।

९ | ज० १५ जी० ,, |

	a	ज० १४	ज०	ई०
	b	,, १३	,,	,,
	c	,, १२	,,	,,
१०	d	,, ११	,,	,,
	e	,, १०	,,	,,
	f	,, ९	,,	,,
	g	,, ८	,,	,,
	h	,, ७	,,	,,
	i	,, ६	,,	,,
	j	,, ५	,,	,,
	k	,, ४	,,	,,
	l	,, ३	,,	,,
	m	,, २	,,	,,
	n	,, १	,,	,,

१ और ११ एक ही हैं। १ से जब ईश्वर-कला का विकास होता है, तभी ११ से जडकला का आरम्भ होता है। साथ-साथ चलती है। सुतरां, ईश्वर जब १५ कला से पूर्ण है, तो जड भी १५ कला से पूर्ण है। अर्थात् ३ और ९ समकालिक हैं।

११ [ज० जी० ई०] पूर्ण

१० और २, दोनों ही अव्यक्त हैं। दोनों का नित्य मिलन अव्यक्त भूमि में ही हो जाता है। इसी मिलन से जीवसृष्टि होती है। यथा :

$$\left.\begin{aligned} 10(n)+2\,(n)&=4(a)\\ 10(m)+2(m)&=4(b)\\ 10(a)+2\,(a)&=5(g)\end{aligned}\right\}$$

इस प्रकार से १४ प्रकार के जीव होते हैं--जो जड के सम्बन्धवश ईश्वर गर्भसम्भूत हैं।

और फिर, १४ प्रकार के जीव और होते हैं। जो ईश्वर के सम्बन्धवश जड-गर्भसम्भूत हैं। जैसे—8(g to a) और 7(g to a)

जडजात जीव को बद्धजीव कहते हैं। कैवल्य इसका अवसान है। ईश्वरज जीव मुक्त जीव है। ईश्वर-कैवल्य में इसका अवसान होता है। जड जीव जड-त्याग से शुद्ध होकर बाद में ईश्वर-सम्बन्ध से ईश्वरज जीव में परिणत होता है। यह परिणाम ही दूसरा जन्म है। कैवल्य में दूसरा जन्म नहीं होता—उसके बाद होता है। अवश्य ऐसी शक्ति का आरोहण पहले भी हो सकता है।

३०.६.३७ और ७.७.३७

सभी मामलों में उनकी कृपा के निदर्शन को स्वीकार करना साधारण लोगों के लिए अमूलक है। यदि सब कुछ उनकी कृपा ही हो, तो अकृपा को कहीं नहीं माना जा

सकता। जो अनुभव करता है कि वह बहुत कष्ट पा रहा है और उसके साथ दूसरा कुछ अनुभव नहीं कर सकता, उसकी भी उनकी कृपा के रूप में ही व्याख्या करनी होगी—कम-से-कम यह कहना होगा कि इसमें भी उनकी कृपा है। सुतरां, फलस्वरूप आनन्द-लाभ अनिवार्य है। और तो और, यह व्याख्या भी की जा सकती है कि यदि उनकी कृपा नहीं होगी, तो यह दुःख और भी भयानक होगा। यह व्याख्या सर्वत्र की जा सकती है। इसलिए हृदय की अनुभूति के विरुद्ध जबरदस्ती कृपा को स्वीकार करने का कोई मूल्य नहीं है।

कोइ-कोई कहते हैं, कर्मफल सत्य है, कृपा नहीं है। सभी व्यापार कृतकर्म के फल से होता है। उसमें कृपा का स्थान कहाँ ? जडशक्ति का प्रभाव भी कहाँ, जैसा कर्म, वैसा ही फल होता है। कृपा या जडशक्ति रहने पर भी उसका अन्यथा नहीं कर सकता। इस दृष्टि से जीव = स्वतन्त्र। यदि यह माना जाय, जीव जड के द्वारा या ईश्वर के द्वारा determined होकर काम करता है, तो यह मानना होगा कि जीव जड के अधीन है, तो वह केवल कर्त्ता नहीं होता। कर्मफल केवल कर्मजन्य नहीं होता। जो अज्ञान है, उसके लिए जीव-स्वतन्त्रवाद युक्तिहीन है। केवल युक्ति से मानना, मानना नहीं। जबतक यह हम देख या जान नहीं पाते हैं कि कौन-से कर्म का हम कौन-सा फल पा रहे हैं, तबतक यह निश्चय नहीं होता कि वह फल मेरे ही कर्म का या कर्म का फल है। अज्ञानी साधारण जीव का अनुभव यही है—स्वाभाविक कर्म भी नहीं है, कृपा भी नहीं है। सब व्यापार जडशक्ति का ही व्यापार है। मान लीजिए, मुझे खूब कष्ट हो रहा है। अज्ञानी का समाधान तरह-तरह का है। परन्तु, सर्वत्र इसका कारण जडशक्ति माना जाता है। (यदृच्छावाद अथवा स्वभाववाद में कारण नहीं माना जाता।) जडशक्ति से ही इसका प्रतिकार भी हो सकता है—यदि ठीक-ठीक जाना और किया जाय। (यदृच्छा या स्वभाववाद में प्रतिकार भी आप ही होता है।) मान लीजिए, कहीं इस कष्ट का कारण है, यह 'क' जडशक्ति है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के उदय से समझ में आता है, मेरे ही कर्म-विशेष से इस कष्ट की उत्पत्ति है और दूसरे कर्म से निवृत्ति। जड केवल निमित्त है। पीछे अपना कर्म नहीं रहने से जड़ कष्ट नहीं दे सकता। उपशम के लिए भी ऐसा ही समझना चाहिए। जब मेरा ही कर्म कारण है, तब कर्म की शुद्धि के विना उपशम नहीं हो सकता। जडवादी केवल यह समझते हैं, जड से दुःख का उपशम नहीं होता, सम्भवतः कारण-निरूपण ठीक नहीं।

भक्ति के उदय या भगवान् के दर्शन से समझ में आता है, उनकी इच्छा से ही मेरा यह दुःख है। जीव या जीव का कर्म निमित्तमात्र है। उपशम भी उनकी इच्छा से ही होता है। जो भक्त हैं, वे भगवदिच्छा को ही सुख-दुःख का एकमात्र हेतु मानते हैं। कर्म मिथ्या है, जड मिथ्या है। उनकी इच्छा ही सत्य है।

भक्ति के बाद उनकी इच्छा भी नहीं कही जा सकती। स्वभाव ही कारण हो जाता है। उनकी इच्छा भी मूल नहीं। इच्छा से सुख-दुःख होता है, सत्य है। इच्छा वैसी क्यों होती है, यह तो समझ में नहीं आता। इसलिए, चरम स्थिति में स्वभाववाद का ही आश्रय करना होता है।

७.७.३७

जीव कर्म का कर्त्ता है।
ईश्वर फलदाता है।

कर्म का एक साधारण और व्यापक रूप है। जो कर्म भी हो, उसी का भेदमात्र है। वैसे ही फल का भी एक व्यापक रूप है--सभी प्रकार का फल उसी का अवस्था-भेद है। कर्म करने की एक अनुभूति है—स्रोत के विरुद्ध चलने में ही संघर्षजन्य एक ताप का अनुभव होता है। बोध के क्षेत्र में भगवान् को सामने रखकर यदि ताप को सहा जाय, तो बोध के क्षेत्र में एक शीतलता या आनन्द जरूर ही पाया जायगा--यही फल है। किस कर्म से कौन-सा फल होता है, यहाँ उसका विचार नहीं उठता। उस प्रकार से यदि कर्म किया जाय--जो कोई कर्म भी हो—तो उससे जो कोई फल-लाभ हो सकता है। निर्दिष्ट फल की आकांक्षा रखते हुए उस प्रकार का कर्म करने से निर्दिष्ट फल ही मिलेगा। लेकिन वैसा करना उचित नहीं है। क्योंकि, असीम शक्ति से सीमाबद्ध कार्य-साधन अनुचित है—उससे क्षति होती है। निर्दिष्ट फल की आकांक्षा हो, तो निर्दिष्ट कर्म करना ही विधि है। उसमें वैसी क्षति नहीं होती।

बोध के क्षेत्र में भगवान् को सामने रखकर निर्दिष्ट फल की आकांक्षा से कर्म करने से उस कर्म का फलविशेष देनेवाले भगवान् ही होते हैं। फल की आकांक्षा नहीं रहने से फल की **quality, kind** और **quantity** सब कुछ अनिर्दिष्ट होती है, फलस्वरूप जिस किसी प्रकार का और जिस किसी परिमाण में उस साधारण कर्म से प्रयोजन के अनुसार आप ही आता है, इसलिए कि भगवान् की प्रसन्नता या प्रीति ही साधारण कर्म का लक्ष्य है। यदि वह सिद्ध हो, तो उससे कोई भी फल उत्पन्न हो सकता है। भगवान् को सामने नहीं रखकर कर्म करने से उस कर्म पर जडशक्ति का प्रभाव रह जाता हैं। यही प्रभाव नाना प्रकार के विघ्न के रूप में अनुभूत होता है और कर्म के वेग को मन्द करता है तथा लक्ष्य को आच्छन्न कर देता है।

[२]

ज्ञानचक्षु और चर्मचक्षु में बहुत प्रभेद है। चर्मचक्षु खोला और बन्द किया जाता है। ज्ञानचक्षु सदा खुला ही रहता है। लेकिन, एक बात है। ज्ञानचक्षु खोलने से ही इच्छा उसकी सहकारी होती है।

इच्छा की साम्यावस्था ही ज्ञान है। किन्तु ज्ञान का उदय होने से ही तो ज्ञान पूर्ण नहीं होता। वैसी स्थिति में इच्छा रहती है। वह इच्छा तत्त्व-विषय की होती है।

ज्ञानचक्षु के खुले रहने पर जो दृष्टि के गोचर होता है, वही ज्ञेय सामान्य है––शुद्ध सत्त्व। उसके विशेष कोई रूपादि नहीं। लेकिन, इच्छा उसे अपने विषय के आकार में बदल देती है। राग को देखने की इच्छा होने से वही शुद्ध सत्त्व ही राग-रूप में परिणत होता है। उस रूप-दर्शन से वह इच्छा तृप्त या निवृत्त होती है। उस स्थिति में फिर वही शुद्ध सत्त्व। सभी आकार इच्छायोग से उस शुद्ध सत्त्व का ही आकार है।

चर्मचक्षु की रश्मि एक ओर को धावित होती है। ज्ञान की रश्मि चारों ओर दौड़ती है। लिंगदेह में जब ज्ञान का उदय होता है, तब वह उज्ज्वल होकर चारों ओर प्रभा बिखेरता है। उसके लिए दर्शनीय या ज्ञेय वस्तुमात्र ही सम्मुखीन है। पर, यह रश्मि स्थूल नेत्र का विषय नहीं होती। इसलिए, ज्ञानी इच्छानुसार जिस किसी लोक को देख पाता है, पर वह लोक ज्ञानी को नहीं देख पाता।

परन्तु, जब किसी को दिखाई देना चाहते हैं, तो वह भौतिक स्तर में उतर आते हैं, परन्तु भौतिक स्तर में आने पर भी चूँकि वह पतला होता है, इसलिए प्रभामण्डल ठीक रहता है। लोक को दिखाई देने के लिए स्थूल रूप होते हुए भी लोक उसे नहीं देख पाता, केवल ज्योति को देखता है। दीर्घकाल के बाद अभ्यस्त होने पर रूप देख पाता है।

लेकिन घनीभूत भौतिक स्तर ग्रहण करने से ज्योति के बदले रूप ही देख पायगा।

अतएव, साधक जब ज्योति-दर्शन करता है, तब समझना होगा––ज्ञानी (देवता या सिद्ध) साधक के पास न केवल उपस्थित हैं, बल्कि दिखाई देने को उपस्थित हैं। क्योंकि, उनमें इस इच्छा के हुए विना उनकी ज्योति भौतिक नहीं होती और साधक के लिए दृश्य नहीं होती। शुद्ध ज्ञानज्योति चर्मनेत्र का विषय नहीं।

१३.७.३७ (कलकत्ता)

बलि का रहस्य बहुत ही गम्भीर है।

चौरासी लाख योनि के बाद मनुष्यदेह––तब कर्म का अधिकार आता है। बड़े दिनों के बाद शुभ कर्म के प्रभाव से दिव्य भाव की प्राप्ति होती है। मनुष्येतर जीवों के लिए साक्षात् रूप में देवत्व-लाभ नहीं हो सकता। मनुष्य होने पर भी देवत्व-लाभ दीर्घसाधन-सापेक्ष है। क्योंकि, देवता का उपादान पाने के लिए पशुत्व की निवृत्ति आवश्यक है। मनुष्य में भी पशुत्व है।

जहाँ देवता जाग्रत् होते हैं, चारों ओर उनका प्रभामण्डल होता है, वहाँ यदि किसी जीव का लिंग और स्थूल देह पृथक् होती है, तो वह लिंगदेवता में युक्त होता है, दिव्यभावापन्न होता है। और, वह पृथक् होना यदि आंशिक हो, जैसे क्रियावस्था में (योगी का), तो अस्थायी होता है। लिंग जितना देवता में अर्पित होता है, उतना दिव्य होता है। और उतना ही अर्पित होता है, जितना स्थूल से पृथक्

होता है, स्थूल से पृथक् यदि देवमण्डल में नहीं होता, तो कुछ भी नहीं होता; क्योंकि उसे आकृष्ट करने को कोई नहीं रहता।

मनुष्येतर जीव मनुष्य के बलिदान के प्रभाव से देवत्व-लाभ करता है, फिर नहीं उतरता। क्योंकि, मनुष्य तक देह नहीं पाने से उसके कर्म का संस्कार नहीं होता, इसलिए उतरने की सम्भावना नहीं। यह जो देवभाव है, वह कर्मदेव नहीं है, आजान देवता है। बलि इसलिए आवश्यक है; क्योंकि जीव अपने से स्वयं को अर्पित नहीं कर सकता। किन्तु, ठीक से उसका संस्कार करने से वह भी कर सकता है, और वही यथार्थतम बलि है। अपने से अपने को अर्पित कर पाने से पीड़ा नहीं रह जाती। अपने से अपने को अर्पित कर पाने के मूल में स्वयं को और स्वयं, इन दो भावों का (Subject और Object) स्फुरण होता है। लिंग और स्थूल का पृथक् भाव सिद्ध होने से यह सम्भव होता है, नहीं तो नहीं। बलिकाल में यह होता है--मन्त्र और साधक के तप के प्रभाव से।

अर्पण करने का अर्थ है, अर्प्यमान वस्तु में ममत्व और अहन्ता का त्याग करके परकीयत्व का उत्पादन। यह अपने-आप हो जाता है।

मनुष्य पुण्यकर्म करके जो देवभाव प्राप्त करता है, उससे पतन होता है; क्योंकि पुण्य का क्षय रहता है और ज्ञान का उदय नहीं हुआ रहता है। परन्तु, ज्ञान से जो देवत्व मिलता है, वह आजान है, वह आगन्तुक धर्म नहीं है। सुतरां, वास्तविक दीक्षा का जो तत्त्व है, बलि का भी वही तत्त्व है। दीक्षा में गुरु का जो स्थान है, बलि में बलि करनेवाले का वही स्थान है।

बलि से देवता और बलि देनेवाले का क्या लाभ है? देवता में लिंग का उपचय होता है, उससे देवता की आत्मतुष्टि और आत्मप्रसारण होता है। देवता क्रमशः परदेवता की ओर अग्रसर होता है। फलस्वरूप, बलि देनेवाले परदेवता का आशीर्वाद आता है। बलि देवता का आहार्य है। भोग्य, बलिदाता की ओर से यह आशीर्वाद और देवभावापन्न पशु का आशीर्वाद, दोनों की ही प्राप्ति होती है। उससे वह भी क्रमशः देवभाव की ओर अग्रसर होता है। बलि को अहेतुक कृपा ही कहना चाहिए।

१४.७.३७

मनुष्य अपने को आप ही पूर्ण भाव से बलि नहीं दे सकता। जो अहं नहीं है, किन्तु मम और अहं-भावापन्न हुआ है, उससे अहं आपेक्षिक भाव से पृथक् होने से कर्त्ता-अहं कर्म-अहं को किसी को भी अर्पित कर सकता है। इस क्रम में जो अहं चरम में जाकर टिक जाता है, जिसे तोड़ने से कर्म-अहं नहीं पाया जाता, फलस्वरूप जो विशुद्ध कर्त्ता और द्रष्टा अहं है, उसका अर्पण नहीं किया जा सकता। कौन उसे अर्पित करेगा। किन्तु उसी अहं को बलि देना है। वास्तविक आत्मसमर्पण है। वही अहंकार

निवृत्ति है, जो परावस्था की सूचक है। यह काम स्वयं नहीं किया जा सकता, इसलिएँ दूसरे का अनुग्रह-सापेक्ष है। यही अनुग्रहकर्त्ता ही दीक्षादाता गुरु अथवा बलिदाता है।

जगत् का उद्धार, यह व्यापार क्या है? जगत् को अपना कर लेना होगा, जगत् में 'मैं'-भाव का प्रसार होगा, उसके बाद वह 'मैं'-मय ममता के पात्र जगत् को शुद्ध ज्योति में अर्पित करना होगा। तभी जगत् शुद्ध होगा, शुद्ध ज्योतिर्मय या चिन्मय होगा। जगत् को अपना किये विना उसका अर्पण नहीं किया जा सकता। बाह्य वस्तु का अर्पण नहीं होता। जड को चेतन करने की यही प्रक्रिया है। बलि के समय पशु को अपना बना लेना होता है—उस स्थिति में पशु के लिंग में अपना लिंग आंशिक भाव से मिलता है। उस लिंग को देवता में अर्पित करने से ही या देवता के द्वारा उस लिंग का आत्मा की ओर आकर्षण होने से ही वह दिव्यत्व या शुद्धता-सम्पन्न होता है। इस व्यापार में परोपकार और आत्मोपकार साथ-साथ ही निष्पन्न होता है।

साधना के क्रम में क्रमशः कर्त्तृत्व बढ़ता है—बाद में वह कट जाता है, द्रष्टृत्व मात्र रहता है। यही प्रकृति से पुरुष की मुक्ति है—विवेकजन्य। द्रष्टा भाव पुरुष भाव। जब यह भी कट जाता है, तभी देवभाव आता है। देवभाव में कर्त्तृत्व नहीं हैं, साक्षीत्व भी नहीं, केवल स्वभाव की क्रीडा है—यह प्रकृति और पुरुष की अतीत अवस्था है। पशु (जड-प्रकृति), वीर (पुरुष) और देव—यही तीन भाव प्रसिद्ध हैं। देवभाव श्रेष्ठ है।

कर्त्तृत्व और द्रष्टृत्व रहने तक जीवभाव रहता है, उसके कट जाने से देवत्व आता है।

[१]

२५.७.३७ (बनारस)

गुरुमुख से निकलते ही विद्या—मन्त्र वीर्यवान् होता है। नाभि या मूलाधार से बोध के साथ जब शब्द का उच्चारण या उत्थान होता है, तभी गुरुत्व है। इस अवस्था में जो शब्द उच्चरित होता है, वह चेतन शब्द है। लेकिन, संचारक्रिया के स्थूलत्व के कारण उसमें कुछ जडत्व मिश्रित होता है, तथापि उसकी उतनी क्षति नहीं होती। वह धीरे-धीरे निवृत्त होता है। जो थोड़ा-सा शब्द श्रोत्रगोचर होता है, वह जड है और चिदंश अन्तःकरण में प्रविष्ट होता है। यही ज्ञानदान है।

केवल पुस्तक से अथवा जिसका कुण्डलिनी-जागरण नहीं हुआ है, अर्थात् जिसके मूलाधार से शब्दोत्थान नहीं होता, उससे जो मन्त्र मिलता है, वह पहले बताये गये मन्त्र जैसा चेतन नहीं।

तथापि, बीजमन्त्र और भगवान् के नामादि अन्य शब्द की अपेक्षा वैशिष्ट्य है। गुरुमुख से ध्वनित नहीं होने से उसे चेतन शब्द नहीं कहा जाता है, किन्तु वह ब्रह्मादि= ऋषिगणों के द्वारा कभी उच्चरित हुआ था, इसलिए वह भी चेतन शब्द है। परन्तु, उसमें

आवरण बहुत अधिक है—अपने से वह आवरण काटना बड़ा कठिन है। गुरुमुख से उच्चारित होने पर आवरण बहुत-कुछ कट जाता है। जो थोड़ा-सा रह जाता है या संचारवश जमा होता है, वह साधक के मामूली परिश्रम से ही कट जाता है। यही परिश्रम जप आदि है।

[२]

शरीर उत्पन्न हुए विना नाम नहीं होता। फिर, हमारे इस शरीर के भीतर दूसरा एक शरीर है। जब उसका विकास होता है, तब उसका नामकरण-करना होता है। वही भीतर का रूप है। वह विशुद्ध ज्ञानदेह या आनन्ददेह है। उस नाम से पुकारने से वह देह या वह देही उत्तर देगा।

इस नामकरण का भी रहस्य है। जो-जो नाम देते हैं, उनका भाव उसी रूप में संचारित होता है एवं उस नाम के साथ जड़ित रहता है। जैसे, एक ही कृष्ण के (देवता का ही दृष्टान्त दे रहा हूँ) गोविन्द नाम की जो शक्ति है, मुरारी नाम की वह शक्ति नहीं है। जिन्होंने गोविन्द नाम दिया था, उनका समग्र भाव उस नाम के उच्चारण के साथ उस रूप में आविर्भूत होता है। जब श्रीकृष्ण गोविन्द नाम से उत्तर देंगे, तब वह उन सारे भावों से भूषित होकर ही उत्तर देंगे। और-और नामों से भी ऐसा ही समझना चाहिए।

जिस किसी नाम या मन्त्र से जिन साधकों या ऋषियों ने जप किया है, उस नाम या मन्त्र में उन सभी साधकों की विशिष्टता भी रह जाती है। उसके स्वगत वैशिष्ट्य की चर्चा यहाँ नहीं की गई है।

[३]

जगत् की अन्तिम सीमा में रंग है, उसके बाद ही वस्तु। हम वस्तु को नहीं देख पाते। केवल रंग को ही देखते हैं। प्रत्येक वस्तु का अपना एक रंग होता है। उस वस्तु के आविर्भाव से वह रंग प्रकट होता है—प्रकारान्तर से भी वह रंग निखारा जा सकता है। चाहे जिस रूप से हो, उस रंग के आविर्भूत होने से ही समझना चाहिए कि उसके पीछे वह रूप है। उस रूप को अभिव्यक्त करना होगा। उस रंग की जमीन में बीज बोने से ही उस रूप का विकास होगा। तीव्र एकमुखी चिन्ता से रंग को पाया जाता है। वह वस्तु या रूप की ही प्रभा है, पर रूप नहीं है। उस रंग का भेद होने से ही रूप पाया जाता है। तब रूपधातु में प्रवेश होता है। भगवान् जैसे योगमाया से समावृत हैं, वैसे ही प्रत्येक देवता या जीव या वस्तु भी अपनी-अपनी प्रभा से आच्छन्न है। यही प्रभा या योगमाया या वर्णमय प्रकृति ही क्षेत्र है। चिद्‌बीज डालने से उससे रूप का आविर्भाव होता है। वह व्यावहारिक सत्ता है।

[४]

समग्र ब्रह्माण्ड ही ब्रह्मलोक है। यह ब्रह्मा की दृष्टि से। निम्न स्तर के जीव की दृष्टि से ब्रह्मलोक ब्रह्माण्ड का ऊर्ध्वतम लोकविशेष है।

१५.८.३७ (हरिद्वार)

क्योंकि, लिंग या सूक्ष्म—यही क्रम है । स्थूल इन्द्रियगोचर, लिंग मनःगोचर और कारण बुद्धिगोचर है । कारण का आभास ही लिंग है । यह आभास यों ही नहीं रह सकता । सृष्टि के समय कार्य अथवा प्रयोजन-साधन के लिए यह आभास निकलता है । इसीलिए, आभास स्थूलभाव ग्रहण करता है । स्थूल अवस्था में यह आभास या लिंग स्थूल भाव से जडित रहता है । मृत्यु के बाद यह आभास या लिंग अलग हो जाता है, स्थूल अलग रह जाता है । किन्तु, फिर भी साधारण कारण में लौट नहीं जाने से समझना होगा कि प्रयोजन हुआ नहीं, अथच स्थूल पृथक् हो गया । इसीलिए, मृत्यु के बाद उस आभास, ज्योति या लिंग में स्थूल का आवेश-आकार-प्रतिबिम्ब रह जाता है । जबतक दूसरा स्थूल शरीर-ग्रहण नहीं होता, तबतक पहले के छोड़े हुए शरीर का आकार उसमें लगा रह जाता है । यहाँ तक कि पुनर्जन्म होने पर भी वह आकार एकबारगी नहीं जाता । थोड़ा-सा भी आभास मिला हुआ रह जाता है ।

स्मरण-काल में भी यही व्यापार होता है । स्मरणीय वस्तु पूर्णतः नहीं, अंशतः इन्द्रियगोचर होती है । क्योंकि, उसका आकार पूर्वदृष्ट आकार का अंश है । प्रकाश—जिसमें आकार तिरता है—मन का विषय है । किस मन का ? इन्द्रिय-संश्लिष्ट मन का । इन्द्रिय-वियुक्त मन शुद्ध लिंग को ग्रहण कर सकता है, बशर्त्ते कि वह लिंग ग्राह्य रूप में रहे । परन्तु, ग्राह्य रूप में वह लिंग बाहर नहीं रह सकता । वह उस समय कारण में प्रत्यावृत्त होता है । क्योंकि, बुद्धि का विषय एवं कारणान्तर्गत कारणात्मभाव से प्रत्यावृत्त शुद्ध लिंग शुद्ध मन का विषय है ।

हम जब किसी वस्तु को स्मरण करते हैं, वह कोई दूरस्थ वस्तु ही हो या कोई मृत व्यक्ति ही हो—तब इस अशुद्ध मन का ही व्यापार होता है । . इसमें या स्मृत वस्तु में एक अंश लिंग, दूसरा अंश स्थूलावेश है । स्मृति या चिन्तन तीव्र होने से, एकाग्रवत् होने से, वह विषय प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट देखा जा सकता है । परन्तु, वह भी प्रत्यक्ष नहीं—वह भी मन का ही दर्शन है । विक्षिप्तता या क्षिप्तता समाप्त होकर एकाग्रता का आभास आने के कारण वह रूप स्पष्ट देखा जा सकता है । क्योंकि, मन के एकाग्रवत् होने से ही मन का तेज पुंजीभूत होता है, इसलिए स्मरणीय वस्तु का लिंगांश खूब उज्ज्वल होकर प्रकाशित होता है । भूतांश जैसे-का-तैसा रहता है । सुतरां, वह दर्शन भी subjective है । वास्तव में, समीप का कोई भी आदमी उस स्पष्ट वस्तु को नहीं देख पायगा । दूसरा आदमी तभी देख पायगा, जब उस स्मरणीय विषय में भौतिकांश परिपुष्ट होगा । यह केवल एकाग्रता के आभास से नहीं हो सकता । वास्तविक एकाग्रता चाहिए । एकाग्र मन ही बुद्धि है; क्योंकि एकाग्रता का आभास विना कारण के कार्य-उत्पादन में समर्थ नहीं होता । एकाग्रता होने से कारण उसका अधिगत होता है । कारण-भूमि या बीज के आश्रय में ही एकाग्रता होती है । स्थल = कार्य । उसका जो

कारण है, वही कारण या बीज है। केवल लिंग के मामले में कारण या बीज आप्यायित नहीं होता—हो नहीं सकता। बीजमन्त्र या कारण की आराधना इसीलिए आवश्यक है। उस पूर्वोक्त स्पष्ट प्रत्यक्षवत् दर्शन से भी यथार्थ दर्शन का फल नहीं मिलता। क्योंकि, वह बाहरी दर्शन ही नहीं। वह चित्त की एक प्रकार की तन्मयता के कारण बाह्यवत् प्रतीयमान होता है। मन के तीव्र चिन्तन के द्वारा जल का स्मरण करने से, जल का ध्यान करने से, जल साफ दिखाई पड़ेगा, यह सत्य है। परन्तु, उस जल को दूसरा कोई नहीं देख सकेगा। उस जल से अपनी भी पूर्वावस्था की प्यास नहीं निवृत्त होती। उसके लिए स्थूल जल चाहिए। वही स्थूल जगत् में अर्थक्रियाकारी है—इसलिए व्यवहारतः वही सत्य है। जल के बीज या कारण का अनुसन्धान नहीं कर पाने से उसके होने की गुंजाइश नहीं। यह बीज या कारण ही उपादान है। इसके नहीं होने से प्रकृत कार्य की आशा दुराशा-मात्र है। चिन्ता-प्रसूत जल आभास-मात्र है। उसके एक ओर कारण का आभास या लिंग है, दूसरी ओर भूत का आभास या स्थूल का प्रतिबिम्ब है।

इस आभास से दो रास्ते मिलते हैं :

१. यदि स्थूल का अंश हट जाय या विदूरित हो, अर्थात् यदि लिंग शुद्ध हो;
२. यदि स्थूलांश पुष्ट हो (कारण या बीज के आपूरण द्वारा)।

आभास में भी कारण का अंश है, इसलिए तीव्र चिन्ता के फलस्वरूप भी बहुत दिनों में स्थूल का आपूरण हो तो सकता है, किन्तु साक्षात् रूप में कारण के आकर्षण से कार्य की सिद्धि बड़ी जल्दी होती है। यह चिन्ता मन का व्यापार है। मन अगर बुद्धि में पर्यवसित हो, तो उसके व्यापार में क्षणभर में ही स्थूल भाव की पुष्टि हो सकती है, वह प्रातिभासिक न होकर व्यावहारिक होगा। मन के एकाग्र होने से वह मन ही बुद्धि होता है। पहले की एकाग्रता प्रकृत एकाग्रता नहीं।

एकाग्रता नहीं होने से बिन्दु कहाँ? बिन्दु नहीं होने से बीज कहाँ, कार्य कहाँ? शुद्ध सत्त्व में गये विना कार्यसृष्टि का सामर्थ्य नहीं आता।

साधारण कल्पना से सत्यसंकल्प का यही प्रभेद है।

१६.८.३७

बीज से वृक्ष होता है और फिर वृक्ष से भी बीज मिलता है। जबतक वृक्ष फलता नहीं है, अर्थात् वृक्ष से फिर बीज का विकास नहीं होता, तबतक वृक्ष की पूर्णता नहीं होती। साधक के जीवन में भी यही होता है। बीज से क्रमशः वृक्षरूपी देवता का आविर्भाव होता है। लेकिन, यह देवता पूर्ण नहीं, यह किसी को दिया नहीं जा सकता, फिर से रोपा नहीं जा सकता। क्रमशः इस देवता की पूर्णता होने से इससे उसी देवता का बीज पाया जाता है। वह बीज दान किया जा सकता है, बोया जा सकता है।

१६.८.३७ (हरिद्वार)

जय-यज्ञ क्या है ? यह आज हठात् बदरीनाथजी को समझने के समय प्रत्यक्ष हुआ। स्थूल इसी प्रकार से सूक्ष्म होता है—सूक्ष्म कारण से आकृष्ट होकर उठ जाता है। लग रहा था, नाभि की ओर एक अग्निकुण्ड है। यह अग्नि चिन्मय है। साधारणतया हम जो कुछ नाम-जप आदि करते हैं, सब इडा-पिंगला का श्वास चलने के समय। सुषुम्णा में कोई जप नहीं कर सकता, वह आप-ही-आप होता है। इडा-पिंगला की वायु स्थूल भाव से चलती है—जप भी स्थूल है, शब्द भी स्थूल है। किन्तु, वह शब्द गुरुप्रदत्त होता है, इसलिए उसमें सत्त्वशक्ति प्रच्छन्न होती है। दूसरे शब्द में भी है, किन्तु मात्रा कम। बार-बार स्थूल भाव से शब्द-उच्चारण करने के मानी ही है, उस शब्द की उस अग्निकुण्ड में आहुति देना। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। उस कुण्ड में शब्द के पड़ते ही शब्द का स्थूलांश या तामसांश उस अग्नि में भस्म हो जाता है। सूक्ष्मांश या सत्त्वांश सुषुम्णा की राह आप ही ऊपर उठता रहता है। इस अग्नि में स्थूल और सूक्ष्म का विवेचन होता है। स्थूल शब्द सुषुम्णा की राह उठ नहीं सकता।

फलतः, जितना ही जप किया जाता है, सत्त्वशक्ति के कण क्रमशः उतने ही ऊपर उठकर संचित होते हैं। परिमाण अधिक हो जाने से ध्यान-समाधि आप ही आती है। ध्यान की भी एक मात्रा है—उतना समय या मात्रा हो जाने से ध्यान आप ही टूट जाता है। वैसी स्थिति में फिर से जप करना होता है। ध्यान का काल-मान है। वह आधार के बल के अनुसार चलता है। आभास से कालवृद्धि होती है। वे सारे सत्त्वकण पुंजीभूत होते रहते हैं। उसका चिदंश अलग होकर संचित होता रहता है। सोलहो आना हो जाने से ही उसका स्फुरण होता है। इसी को प्रज्ञा का उदय या ज्ञानचक्षु का उन्मीलन कहते हैं। इसका भी स्थिति-काल है। उसके प्राप्त होते ही आत्म-साक्षात्कार होता है। तब ज्ञान स्थायी हो जाता है। उसके पहले तक आत्मदर्शन होता है—सर्वज्ञत्व तक। आत्म-साक्षात्कार का निर्दिष्ट काल पूरा होने से परमात्मदर्शन होता है—उसके पहले नहीं। आत्मा को देखते-देखते उसे परमात्मा के रूप में देखा जा सकता है। उसे उतर आने से भी सभी परमात्मा-रूप में पहचाना जाता है। जिसे पहले आत्मा समझकर पहचाना था, तब लगता है, वह भी परमात्मा ही है। परमात्मा से आत्मा नाम की कोई वास्तविक पृथक् वस्तु नहीं। पृथक्त्व तो केवल आभासरूप और द्रष्टारूप में है।

सर्वत्र परमात्मदर्शन होने से ही भक्ति का आरम्भ होता है। उस समय अपना करने या देखने का कुछ नहीं होता। यही निर्भरता है। प्रेम आदि का विकास इसी में हो जाता है। चरम में साम्यभाव-भक्त और भगवान् समान होते हैं। उसके बाद कब होता है, कोई कह नहीं सकता—अनुग्रह। तब एक ही पूर्ण विराजमान रहता है। यही पूर्णत्व है। इसे नाना रूपों में कहा जाता है।

(क) भगवान् अपने को भक्त में समर्पण करते हैं—भक्त पूर्ण होकर प्रकाश पाता है। वह अपने को पूर्ण के रूप में अनुभव करता है। यही सत्य है।

(ख) भक्त अपने को भगवान् में समर्पण करता है, फलस्वरूप आत्मभाव का लोप होता है और पूर्ण आत्मप्रतिष्ठा होती है। अपने को भगवान् या पूर्ण के रूप में ही अनुभव होता है।

(ग) उस समय भक्त और भगवान् कोई नहीं रहता। दोनों मिलकर पूर्णत्व-लाभ करते हैं।

पूर्ण = एक, अद्वय।

१७.८.३७ और १८.८.३७

महाकारण = पूर्ण (चैतन्य + शक्ति, one)—परमेश्वर।
Centre कारण = आत्मा-शक्ति (अभिन्न विषय + बुद्धि) चिदाकाश।
Radius सूक्ष्म = देवता-सत्त्व [मनः या लिंग] (आन्तर विषय + मनः) चित्ताकाश।
Circumference स्थूल = भूत-तमः (बाह्यविषय + इन्द्रिय)—भूताकाश।

हमारी इन्द्रियों में भूतांश या तामसांश प्रधान है। विषय में भी वही है। लेकिन, शिशुओं में बहुत कम। त्राटक से जब कोई स्थूल चीज देखी जाती है, तब प्रथमतः इन्द्रियों से विषय के बाह्यांश का संघर्ष होता है। इन्द्रियों का तामसांश या भूतांश बाहर जाकर वस्तु के भूतांश या तामसांश को अपसारित करता है। दीर्घकाल तक ऐसा करने से इन्द्रिय का भूतांश निवृत्त होता है, अवश्य निमेष नहीं गिरने से। निमेष गिरने से फिर भूतांश आता है—परन्तु, उसका वेग कम होता है। इन्द्रियाँ उस समय सत्त्वमय—मनोमय [चाक्षुषभाव-प्रधान (पहले)] होती हैं; वस्तुतः उस समय भौतिक नहीं, मानस या लिंगात्मक होता है, पर भौतिक आकार रहता है—प्रतिबिम्ब के आकार-जैसा। परन्तु, चूँकि लिंगभूमि तीव्र वेग से व्यापारशील है, इसलिए जबतक अपना मन या सत्त्व स्थिर नहीं होता, तबतक उस वस्तु में बहुत प्रकार की चीजें देखी जा सकती हैं। इसीलिए, छोटे बच्चे कुछ ही क्षण के त्राटक से बहुत-कुछ देख पाते हैं।

यहाँतक कि यदि किसी का लिंग सिद्ध हो, तो सहज ही पकड़ में आता है। अर्थात् साधक के स्थूल के देखते-देखते ही दृश्य का आवरण हटकर लिंग प्रकट होता है। यदि वह लिंग किसी निर्दिष्ट प्रकार से स्थितिशील या अटल हो, तो यह समझना चाहिए कि स्थूलदेहधारी मनुष्य आदि सिद्ध पुरुष हैं। वह स्थिर लिंगाकार स्थूलानुरूप नहीं भी हो सकता है; क्योंकि उसमें किसी निर्दिष्ट आकार की छाप fixed हो गई है।

साधारणतः, लिंगदर्शन के बाद, उस त्राटक क्रिया से ही अपनी शक्ति का अंश जाग्रत् होने से, उस लिंग के अन्तराल में कारण या आत्मा की सत्ता दिखाई देती है। इस कारण या आत्मा के बल से ही लिंग क्रियाशील होता है।

इस दर्शन में भी भिन्नभाव रहता है, यद्यपि इसमें अभिन्न भाव की ही प्रधानता होती है। इस कारण से सारा जगत् ही आत्मरूप में दृश्यमान होता है। किन्तु, यहाँ भी स्वाधीनता नहीं है; क्योंकि मूल प्रेरणा महाकारण से आती है, जो कारण के भी अतीत है। उसमें अपना हाथ नहीं। यहाँ सब कुछ आत्मरूप में भासमान होता है, परन्तु आत्मा नहीं हो जाता। महाकारण वही है। वहाँ एक ही आत्मा है, दूसरा कुछ नहीं। इच्छा या शक्ति ही सभी प्रेरणाओं का मूल है। यह जो महाकारण है, उसे बाहर से समझना कठिन है। यही सबकी आत्मा या एकमात्र आत्मा है।

१८.८.३७

जिसे यहाँ जडशक्ति कह रहे हैं, जरा ही उठने से हम देखते हैं, वह किसी चेतन पुरुष का इच्छारूप है। उस अवस्था में, मैं भी चेतन पुरुष हूँ। वैसी स्थिति में, मैं अपनी इच्छा से उस इच्छा का विरोध कर सकता हूँ। कोटि-कोटि पुरुषों की जडशक्ति के रूप में खेल रही है। उनमें से किसी से प्रबल होने से मैं उस शक्ति का रोध कर सकता हूँ। और, दुर्बल होने से मुझे उस शक्ति को मानकर चलना होगा। उन शक्तियों में जो प्रबलतम पुरुष की इच्छारूपा है, मैं कभी भी उसका खण्डन नहीं कर सकता। जैसे सूर्य का पूर्व में उदय, जैसे नश्वरत्व आदि। उन्हें ईश्वरेच्छा समझना चाहिए। बाकी को योगबल से बदला जा सकता है।

इससे जरा और ऊपर उठने पर यह प्रतीत होता है कि वह सब मेरी ही इच्छा है। मेरी इच्छा ही संसार में नाना आकार में खेल रही है। मैं उसे देख रहा हूँ। किन्तु, यह इच्छा प्राचीन इच्छा है। अभी मेरी इच्छा नहीं है, मैं मात्र साक्षी हूँ। इसके बाद ही अनुग्रह। फलस्वरूप, मैं इच्छामय हूँ। इच्छा उस समय मौजूद है। चैतन्य और इच्छा—शिवशक्ति---साथ हैं। यही अद्वैतावस्था है, पूर्णत्व है।

१९.८.३७

स्थूल चक्षु दृश्य, स्थूल जगत्, सहायक स्थूल प्रकाश देखते हैं। यह प्रकाश आग्नेय है। सूर्य-किरण आग्नेय है, जो हम पृथ्वी पर पाते हैं। चन्द्र-किरण भी आग्नेय है; क्योंकि वह भी कालाग्नि के मण्डल में है।

इन आँखों को बन्द करने से अन्धकार आदि देखे जाते हैं। यह सूक्ष्म चक्षु या मन देखता है। सहायक सूक्ष्म प्रकाश की सहायता मिलने से सूक्ष्म जगत् दृश्य होता है। यह सूक्ष्म प्रकाश विशुद्ध चन्द्र का प्रकाश है, जिसे हम पृथ्वी पर नहीं पाते। यह प्रकाश खुल जाय, तो स्थित जगत् का दर्शन होता है।

परन्तु, यह मनोरूप चक्षु भी बन्द किया जा सकता है। उस अवस्था में भी एक चक्षु रहता है, जो उस अवस्था में देखता है। उसे बुद्धि या प्रज्ञाचक्षु कहते हैं। वह

कारण-जगत् को देख सकता है, बशर्त्ते कि सहायक प्रकाश रहे। यह सहायक प्रकाश विशुद्ध सूर्य का प्रकाश है। इस प्रकाश में सम्पूर्ण कारण-जगत् दृश्यमान होता है।

इस प्रकाश के भी पीछे जो प्रकाश है—वही मूल ब्रह्मज्योति है, वह अग्नि, चन्द्र और सूर्य से परे है, उसी की आभा से अग्नि आदि ज्योतिर्मय होते हैं। वही प्रकृत साक्षी और महती शक्तिस्वरूप है।

हमारे स्थूल जगत् के प्रकाश में अग्नि प्रधान है—चन्द्रकिरण में अग्नि है; ज्योत्स्ना भी है; सौर किरण में भी है, अग्नि की तो बात ही नहीं।

सूक्ष्म जगत् के प्रकाश में चन्द्र प्रधान है—उसके पीछे सूर्य-किरण अवश्य है। अग्नि की प्रधानता नहीं है; क्योंकि जगत् के प्रकाश में सूर्य प्रधान है, चन्द्र और अग्नि नहीं।

२१.८.३७ (प्रातःकाल) हरिद्वार

जब ज्योति दिखाई देती है, तब मूर्त्ति का रूप समझ में नहीं आता। अवयव-दर्शन बाद में होता है। सामान्य दर्शन के बाद विशेष दर्शन होता है। शब्द भी वही है। यहाँतक कि पशु-पक्षी के शब्द में भी विशेष वैलक्षण्य है। यह बाह्य स्तर को भेद करने पर समझ में आता है।

२२.८.३७ (प्रातः) ऋषिकेश

किसी भी वस्तु को, जो infocus है, out of focus करके देखने से blurred होकर एकाकार हो जाता है, मिश्र हो जाता है। संसार में सर्वत्र, सभी ओर सारी वस्तुएँ मिश्र होकर हैं। जिसपर दृष्टि focus की जायगी, वही स्पष्ट रूप में प्रत्यक्ष होगी, पृथक् रूप में। अभी जो स्थूल जगत् देख रहे हैं, यह भी focus का ही परिणाम है। जिस पर दृष्टि-focus है, वही देखता है।

२२.८.३७ (संध्या)

शिवलोक के शिव का दर्शन और बाह्यशिव-दर्शन समान नहीं। बाह्यशिव-दर्शन शिव के अंश का दर्शन है, जो शिवलोक से चिनगारी की भाँति छिटककर आता है। जिनका शिवलोक है, ऐसे जो शिव हैं, उनका दर्शन, अर्थात् अंशी शिव का दर्शन दूसरे प्रकार का है। वैसी अवस्था में पहले, शिवदर्शन से पहले, ज्योति अर्थात् शिवलोक या आलोक दिखाई देगा। उस आलोक से सारा अन्तराकाश आलोकित होगा। उसके बाद उस लोक के शिवभक्तों का दर्शन होना स्वाभाविक है—भिन्न-भिन्न स्तर में। उसके बाद शिव के अन्तरंग भक्त तथा परिकर-वर्ग का दर्शन। अंश शिव के दर्शन से समस्त अन्तराकाश आलोकित नहीं भी हो सकता है, यद्यपि यह भी पहले ज्योति-रूप में हो सकता है।

भक्त पुकारता किसे है ? जो सर्वत्र समान रूप से हैं–उन्हें नहीं। जो कहीं नहीं हैं, सर्वातीत हैं—उन्हें भी नहीं। जो प्रत्येक वस्तु में उसके आत्मा रूप में, अन्तर्यामी रूप में हैं, उन्हें नहीं, तो फिर किसे ? जो एक स्थान में हैं, और एक स्थान में रहकर पूर्णतः (अचिन्त्य रूप में) और अंशतः संचरण कर सकते हैं एवं भक्त को अपने धाम में ले जा सकते हैं—उन्हें।

[३]

रात्रिकाल

बहुतेरी इच्छाओं के खेल से यह जगत् है। मूल में अवश्य ही एक इच्छामय हैं–उन्हीं की इच्छा नाना इच्छाएँ हुई हैं। इन इच्छाओं के पूर्ण होने से भी उन्हीं की इच्छा पूर्ण होती है। और, उनकी इच्छा पूरी होने से यह सब पूर्ण होता है। कोई असामंजस्य नहीं।

[४]

संशय सर्वनाशी है। परिणाम 'विनश्यति'। विनाश = अदर्शन। संशय के कारण मिश्र हो जाता है, अन्धकार में मिल जाता है—पृथक् सत्ता नहीं रख सकता। कुछ को आश्रय करके पकड़े रख सकने के विना अपने को बचाये रखना असम्भव है। भयंकर वेग से स्रोत चल रहा है।

[५]

बीज के कार्य और कल्पना में क्या अन्तर है ? यह बाहरी जगत् कल्पना का मूल है। अन्तर में इसी के आभासमान होने से कल्पना फूटती है। लेकिन, यह अन्तर में जाकर स्थिर रहती है। जैसे, फोटोग्राफ स्थिर है—flow-हीन, वैसी। अन्तराकाश में इस आभास को focus करके स्पष्ट किया जा सकता है, प्रत्यक्ष किया जा सकता है–किन्तु, यह सत्य नहीं। क्योंकि उसके life नहीं, उसके flow नहीं। जैसे—कोई गुलाब। मन में उनका आभास है। एकाग्रवत् करने से वह स्पष्ट होता है। किन्तु, उसके flow नहीं। (ठीक एकाग्र कर सकने से flow आ सकता है; क्योंकि एकाग्रता से कारण को या बीज को आकृष्ट किया जा सकता है।) वह एक काल का है—उसमें becoming नहीं। बीज लेकिन इसके ठीक विपरीत है। उस आभास को कारण में ले जाने से बीज मिलेगा, गुलाब की मूल सत्ता मिलेगी। उससे जीवन्त–flowing–विकासशील गुलाब मिलेगा। वह fixed नहीं।

[६]

कृत्रिम और स्वाभाविक वस्तु में भिन्नता है। जैसे कृष्ण का कृत्रिम चित्र और किसी आदमी का जीवन्त चेहरा। मनोभूमि में दोनों को ही लिया जा सकता है। किन्तु,

परिणाम भिन्न होता है। मनोभूमि में स्वाभाविक वस्तु का जो आभास होता है, उससे बीज निकाला जा सकता है—अवश्य कारण तक लेने से। परन्तु, कृत्रिम के आभास से बीज नहीं निकलता। अर्थात् वह कारण-भूमि में नहीं जाता—इसलिए कि वह कारण-भूमि से बाहर नहीं निकला है। उसे कारण में ले जाने से विलीन हो जाता है। (उसे सूक्ष्म स्तर में भी तोड़ दिया जा सकता है। तोड़ नहीं देने से भी वह क्रमशः धीरे-धीरे **disintegrated** हो जाता है)। ये मात्र **thought form** हैं।

[७]

सूक्ष्म और मनोमय ठीक एक नहीं, यद्यपि सूक्ष्म भी मनोमय है। कारण से सूक्ष्म, सूक्ष्म से स्थूल। अथवा कारण से कार्य–जिसके एक ओर सूक्ष्म, दूसरी ओर स्थूल है। इस स्थूल के मन में प्रतिबिम्बित होने से, आभासमान होने से जो आकार होता है, वही मनोमय है। सूक्ष्म से कारण का अनुसन्धान हो सकता है, सूक्ष्म के roots कारण में **planted** होते हैं। मनोमय से वह साक्षात् नहीं चलता, लेकिन प्रकारान्तर से चलता है। परन्तु तब, जबकि वह मनोमय अकृत्रिम हो। कृत्रिम वस्तु का मनोमय निर्बीज होता है। मनोमय कृत्रिम और तद्वत् होता है।

[८]

स्थूल देह से लिंग बाहर हो जाता है, किन्तु कारण की सत्ता स्थूल रहती है, इसलिए मृत्यु नहीं होती। मरण के समय कारण भी जाता है, लिंग भी जाता है। कारण ही link है। कारण नहीं छोड़ने से मृत्यु नहीं होती। लिंग कोई भी आकार लेकर बाहर हो सकता है। लेकिन, वह लिंग का वास्तविक आकार नहीं। वह आगन्तुक आकार है, **imposed on the Linga**, जैसे बिल्ली का आकार। लिंग यह आकार धारण करे, तो देखने में ठीक बिल्ली जैसा होता है, परन्तु यह लिंग का अपना आकार नहीं। इस बाहरी आकार को हटा देने से जो आकार रहेगा, वही लिंग का आकार है। वह आकार है स्थूल का आभास **on the Linga**। स्थूल देह से सम्बन्ध रहने तक वह आकार रहेगा ही। उसे मनोमय देह कहते हैं।

[९]

देवता आदि की देह भी स्थूल देह है---व्यावहारिक देह। स्वर्ग, वैकुण्ठ, कैलास आदि सारे ही लोक स्थूल हैं। सूक्ष्म नहीं, कारण भी नहीं, सब पाञ्चभौतिक, किन्तु उनमें पृथ्वी का अंश कम है। किसी में आकाश प्रधान है, किसी में वायु या तेज प्रधान है। इसी प्रकार। परन्तु, सर्वत्र ही सत्त्वगुण की अधिकता है। पार्थिव प्रधान देवता भी है। किन्तु, उनमें सत्त्वगुण प्रधान है, आपेक्षिक भाव से यही वैशिष्ट्य है। हमारी देह और लोक में पृथ्वी की प्रधानता है—उनमें तमोगुण का प्राधान्य है।

[१]

२३.८.३७ (ऋषिकेश) मध्याह्न

द्वितीय जन्म का क्रम-विकास

निर्वाण
|
दया (करुणा)
|
प्रेम =(शुद्ध काम)
|
ज्ञान =(विद्या, मन्त्र)
|
शक्तिगर्भ में वास
|
गर्भ से बाहर आना
|
शक्ति-परिचय और लाभ = माता-लाभ-शक्ति (ऐश्वर्य)
|
ज्ञानलाभ = पिता-लाभ-शिव (साम्यबोध)
|
प्रेमभक्ति-लाभ=पतिलाभ-विष्णु (माधुर्य)
|
दयालाभ = पुत्र-लाभ ? (भूतदया—जब सर्वजगत् पुत्रवत् दया का पात्र है, जीवसेवा)
|
निर्वाण = पौत्रलाभ (जब जगत् की सेवा के लिए कोई तैयार हो, तो निर्वाणाधिकार ।)

निर्वाण को घेरे हुए है दया, भूतानुकम्पा । इस दयारूपी बीज से ही इतना बड़ा व्यापार हुआ है। पुनर्बार उस दया तक जाने से तब वह सार्थक होता है बीज से वृक्ष होता है– वृक्ष में जब फल होता है, फिर बीजभाव आता है, तब उस सार्थक दया से ही द्वितीय जन्म होता है। परिणामस्वरूप उस दया की भूमि में गति होती है। मोक्ष तो निश्चित ही है।

[२]

सभी देह में शक्ति का केन्द्र है। स्थूल देह में इन्द्रियाँ हैं, लिंगदेह में अन्तःकरण आदि हैं, कारणदेह में भाव है। ये शक्ति के केन्द्र हैं। इसी राह से शक्ति बाहर होती और भीतर आती है। साथ-ही-साथ, अपना कुछ चला जाता है और बाहर का कुछ आता है। यही व्यवहार है—आदान-प्रदान। सृष्टि के भीतर की सामाजिकता यही है। ये निरुद्ध हो जायँ, तो सभी अकेला, केवल—वही कैवल्य है। वह व्यवहार के अतीत है।

यह जो आदान-प्रदान है, मूल में वह स्वाभाविक है। इसका बीज है भाव। साम्यच्युत अवस्था ही भाव है। यह अवस्था दो प्रकार की है—दो प्रकार के वैषम्य, न्यूनता या आधिक्य लेकर। एक ऋण, एक धन—negative, positive। मैं यदि अपने को दीन, प्रार्थी समझूँ, तो यह एक जाति का भाव हुआ। और, मैं यदि अपने को दाता, दयामय मानूँ, तो वह भी एक भाव हुआ। जो दयामय हैं, वे यह दूसरी विशिष्टता-वाले हैं। जो दीन और प्रार्थी हैं (मुँह से या मन से नहीं चाहते हुए भी) वे, अर्थात् सकाम जीवमात्र ही यह प्रथम भाव-विशिष्ट हैं। फलस्वरूप, प्रथम जीव और द्वितीय जीव का साक्षात्कार होने से ही द्वितीय से प्रथम में कुछ आता है और प्रथम से द्वितीय में कुछ जाता है। साम्य-स्थापन की चेष्टा होती है। यह जगत् की रक्षा का ही व्यापार-विशेष है। साक्षात्कार और संग का ऐसा ही फल है—विना जाने करने से भी फल-लाभ होता ही है। दयाहीन महापुरुष जगत् में नहीं रह सकते। दया नहीं रहने से या तो वह महापुरुष केवली होंगे या फिर वह महापुरुष नहीं। जगत् में दुःखी और दयालु के अलावा और किसी का स्थान नहीं। जो कैवल्य-प्राप्त हैं, उनसे जगत् का कोई सम्पर्क नहीं। दयालु जगत् के अतीत होते हुए भी जगत् में रहते हैं—दुःख दूर करने के लिए—साम्यभाव की प्राप्ति की आशा में।

[१]

२५.८.३७ (हरिद्वार)

पहले पूर्णिमा, उसके बाद अमावास्या। यह एक दिक् है। जप, क्रिया आदि के परिणामस्वरूप तेज भूत से विच्छिन्न होकर क्रमशः ऊपर उठकर संचित होता रहता है। यही प्रज्ञामात्रा है। घर-घर यह तेजोराशि ललाट में दप्प से जल उठती है; यही शिवनेत्र है। इसी की पूर्णता पूर्णिमा है। सम्प्रज्ञात=एकाग्रता।

जीव का लक्ष्य यही बिन्दु-स्थान था—अब वह स्थान भर गया। जीव ईश्वर-भावापन्न हुआ। इसके बाद उसका लक्ष्य है शून्य=निरोध। तब धीरे-धीरे वह तेजोराशि क्षीण होती रहती है। चरम में कुछ भी नहीं रहता। यही अमावास्या है। असम्प्रज्ञात। इसी का फल है स्वभाव-लाभ।

तेज के कण जड में मिले हुए हैं। उसे छोड़कर जब चित्त में जाते हैं, तब जड हो जाता है अव्यक्त, चित्त होता है ज्योतिर्मय दिव्यचक्षु।

बाद में बुझते-बुझते जब निर्वाण प्राप्त होता है, तब आत्मस्वरूप में स्थिति होती है ।

[२]

बीज + शक्ति + कीलक = मन्त्र ।

बीज मन्त्र की आत्मा है, शक्ति उसका चैतन्य या प्रभा है और कीलक उसका शरीर या आच्छादन (आवरण) है ।

२६.८.३७ (लखनऊ : छेदीलाल धर्मशाला)

[१]

मन्त्रजप का मतलब क्या है ? मन के साथ बीज का संघर्ष—संयोजन । बार-बार यह संघर्ष करने से बीज में निहित शक्ति का स्फुरण होता है, चैतन्य होता है । बीज = कारण या आत्मा । मन = लिंग । अतएव, दोनों के संघर्ष का अर्थ है कारण और लिंग का परस्पर घर्षण, जिसके फलस्वरूप कारण की शक्ति जाग्रत् होती है । शास्त्रीय आत्ममनःसंयोग भी यही है—इस संयोग के विना आत्मा में ज्ञान या चैतन्य का उद्रेक नहीं होता, इच्छा आदि का भी नहीं । आत्मा ऐसे शवरूपी होती है, उसे संजीवित करना होता है । संजीवित करने से उसमें अखिल शक्ति का उदय और समवाय अवश्यम्भावी है । इस शक्ति के जागरण में मन की ही प्रधानता होती है । क्योंकि, मन की क्रिया से ही यह संघर्ष अथवा संयोग सम्भव होता है । जबकि आत्मा इस समय निष्क्रिय है । यह चैतन्य ही अग्नि है, जो संघर्षजन्य है । आत्मा + प्रणव—उपनिषद् के उपदेश में यही आत्मा = मनः है । प्रणव = बीजात्मक शब्द ।

इस संघर्ष में बीज या आत्मा विशुद्ध नहीं होती । उसे भूत-आवरण से वेष्टित किया गया होता है । अर्थात्, बीज पर कारण या आत्मा शब्दात्मक है—शब्द के वेष्टन से वेष्टित है । सुतरां, मन भी विशुद्ध नहीं । इससे इन्द्रिय-सम्बन्ध (श्रवण, रूप, मानस श्रवण at the least) है ।

अतएव, बीज = आत्मा या कारण enveloped in अनात्मा या शब्द i.e. कार्य । मनः = मन, जो इन्द्रियबद्ध है ।

वास्तव में, यह मिलन आत्मा, मनः, इन्द्रिय और विषय का मिलन है । गुरुप्रदत्त क्रिया में—

आत्मा = बीज का कारणांश

मनः = मनः

इन्द्रिय = श्रोत्र या चक्षु

विषय = बीज का कार्यांश या शब्द या गुरु-प्रदत्त वस्तु ।

आत्मा अव्यक्त; कारण कि उसमें शक्ति जागी नहीं। शक्ति के चेतन होने से आत्मा व्यक्त होती है।

[२]

आत्मज्ञान आत्मा का धर्मज्ञान इत्यादि। यह मन के आघात से आत्मा में पैदा होता है।

मानस ज्ञान, मन का धर्मज्ञान इत्यादि। यह इन्द्रिय के आघात से मन में पैदा होता है।

बाह्य ज्ञान, इन्द्रिय का धर्मज्ञान इत्यादि। यह विषय का आघात होते ही इन्द्रिय में पैदा होता है।

बाह्यज्ञान में जो जगत् तिरता है, वह बाह्य जगत् है, वह इन्द्रिय का विकार है। मानस ज्ञान में जो जगत् तिरता है, वह आन्तर है, वह मन का विकार है। आत्मज्ञान में जो जगत् तिरता है, वह आत्ममय, चिन्मय है--आत्मा का विकार (?)। ज्ञान का आश्रय और विषय सजातीय होता है।

[३]

आत्मा (प्रत्यगात्मा) एक ओर, दूसरी ओर परमात्मा (जो बाह्य जगत् के रूप में भासमान हो रहा है)। ज्ञाता आत्मा एक ओर, ज्ञेय आत्मा दूसरी ओर--लेकिन, ठीक यह भान नहीं होता। बीच में मन और इन्द्रिय।

अभी इन्द्रिय का स्रोत विषय की ओर है, इसीलिए मन का स्रोत भी विषय की ओर है। फलस्वरूप, आत्मा में भी मन की ओर स्रोत है। और, इसलिए ज्ञेय आत्मा विषय-रूप में दृश्यमान होती है, अर्थात् वास्तव में आत्मा ही दृश्यमान होने पर भी विषय के रूप में प्रतीति, आनात्मा, आत्मभिन्न जैसी प्रतीति होती है। इस स्रोत के अन्तर्मुख होने से इन्द्रिय की गति मन की ओर, मन की गति आत्मा की ओर होती है। बाह्यमुखीन वृत्ति की सीमा या निष्ठा जैसे विषय है, वैसे ही अन्तर्मुखी वृत्ति की सीमा आत्मा है।

मन और इन्द्रिय क्रियाशील नहीं होने से ज्ञानादि का उदय ही नहीं होता। किन्तु, इस क्रिया के बहिर्मुखी होने से जो संयोग उत्पन्न होता है (जैसे आत्मा + मन, मनः + इन्द्रिय, इन्द्रिय + विषय), उससे विषय ज्ञानादि होता है। और, इस क्रिया के अन्तर्मुखी होने से जो संयोग पैदा होता है, उससे आत्मज्ञानादि का उदय होता है।

बाहरी ज्ञान पहले इन्द्रिय-विषय की ओर जाता है। फलस्वरूप, मन इन्द्रिय की ओर आता है, उसके आकर्षण से आत्मा की एक प्रभा मन की ओर आती है। यही आत्मशक्ति का बहिःप्रकाश है।

आत्मज्ञान में आत्मा मन को पहले खींचती है, मन इन्द्रिय को अपनी ओर खींचता है—वैसे ही इन्द्रिय विषय को अपनी ओर खींचता है।

सुतरां, आत्मज्ञानी की आत्मा आकर्षणशील होती है, विषयज्ञानी की विषय-आकर्षणशील।

मन और इन्द्रिय निष्क्रिय हों, तो किसी भी ज्ञानादि का उदय नहीं होता—आत्म-ज्ञानादि का नहीं, विषयज्ञानादि का भी नहीं। इस अवस्था के बीच कारण नहीं रहने के कारण ज्ञाता आत्मा और ज्ञेय आत्मा एक ही रहती है। यही आत्मस्थिति है। इस अवस्था में आत्मज्ञान नहीं रहता—यह कहना ही व्यर्थ है।

आत्मज्ञान को initiate करती है स्वयं आत्मा—परिणामतः आत्मा मन को अपनी ओर न खींचे, तो दूसरे किसी भी उपाय से आत्मज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता। इस अवस्था में विषय अपनी ओर नहीं खींचता—खींचता भी है, तो वह खिचाव अभिभूत होता है। बाह्य ज्ञान को initiate करता है विषय—अतएव, विषय इन्द्रिय को न खींचे, तो बाह्य ज्ञान या विषयज्ञान नहीं हो सकता।

ये दोनों व्यापार प्रायः साथ-ही-साथ होते हैं।

लेकिन, कभी-कभी ऐसा होता है, आत्मा मन को अपनी ओर खींचती है, पक्षान्तर में विषय भी इन्द्रिय को अपनी ओर खींचता है। फलस्वरूप, गौण रूप से इन्द्रिय मन को और मन आत्मा को खींचता है। दूसरी ओर, गौण रूप से मन इन्द्रिय को और इन्द्रिय विषय को खींचता है। जिसमें बल ज्यादा होता है, वह प्रबल होता है। यही अपने में सुमति और कुमति की लड़ाई है।

[४]

आत्मा से एक प्रभा बाहर हो रही है। इसके मन पर पड़ने से मन से भी एक प्रभा निकलकर इन्द्रिय को जाती है, इन्द्रिय से विषय को जाती है। इस प्रकार, आत्मप्रकाश द्वारा सब प्रकाशमान होता है।

इसके मूल में एक गहरा रहस्य है। आत्मा का यह प्रभा-विकिरण, इसके भी मूल में मन की क्रिया तथा तज्जन्य आत्मा से योग या संघर्ष है। नहीं रहने से आत्मा= शव; उसके प्रभा नहीं, शक्ति नहीं होती। मन की क्रिया आप ही नहीं होती। यदि वायु का कम्पन न हो। वायु=वासना, मुक्त विषय का अपक्व अंश। विषयभोग और विषय को अपने में assimilate या हजम नहीं करने के कारण वायु पैदा होती है। विषय को हजम कर लेने से foreign element नहीं रहता, अर्थात् अचित् को पूर्णतया चिद्भाव में परिणत करना ही यथार्थ भोग है : 'चिदवसानो भोगः।' ऐसा नहीं होने से बदहजमी होती है। अचिदंश अन्दर जमा रह जाता है—वह चित् को अचित् की ओर खींचता है। बीच में मन की क्रिया होती है। इसलिए, जिस कारण से अचित् को पूर्ण

रूप से चिद्-रूप में ग्रहण नही किया जाता, वही आत्मा के किरण-विकिरण का हेतु है। यह असामर्थ्य है, अज्ञान है या जो भी है।

५.९.३७

[१]

ब्रह्मज्ञान या जिस किसी प्रकार भी ज्ञान-लाभ करने से ही ज्ञानदान (दीक्षा) किया जा सकता है, ऐसा नहीं। जिसे देना है, उसमें ग्रहण-योग्यता भी चाहिए। किन्तु, यह ग्रहण-योग्यता आधारमूलक है। यही है कुशलमूल। यही ज्ञान को धारण करता है और निखारता है। ज्ञानी में यदि शक्ति-विकास न हो, तो वह ज्ञान-संचार नहीं कर सकता। शक्ति-विकास होने पर भी यदि वह विकास आपेक्षिक हो, तो वह सबको ज्ञानदान नहीं कर सकता। जो ज्ञानी कुशलमूल को देख सकेंगे, वही कुशलमूल को लक्ष्य करके ज्ञान-अर्पण करेंगे। सबका कुशलमूल एक स्तर में नहीं रहता। किसी ने दो जन्म पहले कुशलमूल का संचय किया है, किसी ने १००० जन्म पहले किया है— ऐसा हो सकता है। सब ज्ञानी ज्ञान-सम्पत्ति में बराबर होते हुए भी ज्ञानदान में समान नहीं। जिसकी शक्ति दो जन्म को भेदकर कुशलमूल को देख पाती है, वह उस व्यक्ति को ज्ञान दे सकता है, किन्तु उसकी शक्ति अधिक नहीं रहने से वह उस व्यक्ति को ज्ञान नहीं दे सकता। जिसका कुशलमूल सहस्र जन्म के व्यवधान में है, ऐसे ज्ञानी की आवश्यकता उस व्यक्ति को ज्ञान देने के लिए है, जिसकी शक्ति उस सहस्र-जन्मगत संस्कार का भेद कर सकती हो। पूर्ण शक्ति का विकास हुए विना जिस किसी को ज्ञान नहीं दिया जा सकता। ज्ञानी होते हुए भी वह पूर्ण शक्तिमान् हैं, जगद्गुरु हैं। अन्य नहीं।

अतएव, क्रम यह होगा :

(क) ज्ञान का क्रम-विकास

[प्रज्ञापूर्ण] (ख) ज्ञानपूर्ण। शक्ति अव्यक्त—यह गुरु नहीं।

[करुणा फूटी है] (ग) ज्ञानपूर्ण। शक्ति का जागरण आपेक्षिक—यह खण्डगुरु।

[करुणापूर्ण] (घ) ज्ञानपूर्ण। सर्वज्ञ और पूर्ण जाग्रत्—यह जगद्गुरु।

यह कुशलमूल भी ज्ञान का अनुपाती है। शक्ति भी वैसी ही। सुतरां, पूर्णज्ञान के पहले भी अंशज्ञान के सम्बन्ध में एक ही नियम है। वहाँ भी अंश-शक्ति अव्यक्त रह सकती है—जग भी सकती है। कुशलमूल वही है।

इसलिए, कोई साधारण देवस्तर में जाकर, अंशशक्ति जाग्रत् होने से, वह विशिष्ट ज्ञान भी संचार कर सकता है। लेकिन, जिसमें संचार करेगा, उसका अंश कुशलमूल भी उस खण्डज्ञानी की खण्डशक्ति के गोचर होना चाहिए। नहीं तो, धारण कौन करेगा ?

असल बात है :

कुशलमूल—शुद्ध सत्त्व या मलिन सत्त्व
ज्ञान—सत्ता (आत्मा, ब्रह्म etc. etc.)
शक्ति—चित् शक्ति etc. etc.
आत्मा × शक्ति × सत्त्व

[२]

सब आलोक में सभी चीज नहीं देखी जाती। जो दृश्य देखा जाता है, आलोक भी उसका समजातीय है। अशुद्ध मायिक आलोक (चन्द्र, सूर्य, अग्नि) में अशुद्ध मायिक जगत् दृश्यमान होता है; शुद्ध मायिक आलोक (मन्त्र की ज्योति) में शुद्ध जगत् देखा जाता है। ब्रह्मालोक (ओंकार) में ब्रह्म ही देखा जाता है। जहाँ ब्रह्मज्योति खेल रही है, वहाँ जगत् नहीं है, वहाँ सब ब्रह्म है। अहं ब्रह्म—इदं ब्रह्म। Flow है, नानात्व है—फिर भी वह एक ही ब्रह्म। यही नित्यलीला है।

दो के शुद्ध होने से तब दो का मिलन होता है। पहले शोधन, फिर बोधन, फल—मिलन—एकत्व-स्थापन। शोधन का फल है सत्त्वलाभ, बोधन का फल चिद्भाव या चैतन्य का उन्मेष है, मिलन का फल आनन्द है। एकत्व में कुछ भी पता नहीं चलता। सब कुछ है। इन तीन क्रियाओं से ही एक स्तर से दूसरे स्तर में जाया जाता है—एक स्तर में बहु से एक में जाने पर—तब वह स्तर अतिक्रान्त होता है—दूसरा स्तर आता है। वहाँ भी वही क्रम। जिस किसी भी स्तर में आनन्द को नहीं पाने से स्तर का सार पदार्थ आयत्त नहीं होता, इसलिए उसका आकर्षण रहता है। उसको अतिक्रम करके ऊपर नहीं उठा जा सकता।

अशुद्ध अवस्था में मिलन नहीं होता। क्योंकि, अशुद्ध अवस्था सुप्तावस्था है। सुप्तिभंग या जागरण के बिना गति नहीं और गति के बिना मिलन कैसे हो? जिस किसी वस्तु का निद्राभंग होने से, चैतन्य होने से, वह आप ही उससे मिलने के लिए दौड़ती है, जहाँ से वह निकली है। मिलन का फल आनन्द है। विषयात्मक बाह्यजगत् जड अर्थात् निद्रित है। कर्त्तव्य यह है—हमारा जो जगत् है, पहले उसे शुद्ध करके चेतन करना होगा। मेरा वह बाह्यजगत् जगते ही वह हमारी देह से मिलने के लिए धावमान होगा। रूप चक्षु में, शब्द कर्ण [आनन्द (१)] में इत्यादि क्रम से देहाश्रित इन्द्रियों में विषय आकर लीन हो जाता है। इस प्रकार, वह चेतन रूपादि ही संस्पर्श द्वारा इन्द्रिय को चेतन करता है।

इन्द्रिय चेतन होकर मन की ओर दौड़ता रहता है—[आनन्द (२)] मन को स्पर्श करके चेतन करता है। [आनन्द (३)] चेतन मन आत्मा की ओर धावित होता है—आत्मा को चेतन करता है।

प्रत्येक घाटी में एक-एक मिलन और उस मिलन का आनन्द है।

यह चेतन आत्मा ही साक्षी है। चेतन भाव बढ़ने से वही शिव है, आर्थात् जाग्रत् शक्तियुक्त आत्मा ही शिव है। इसी का विकास परम शिव है। यह परम शिव [आनन्द (४)] और परमा शक्ति—दोनों ही जाग्रत् हैं—दोनों का मिलनजन्य आनन्द ही परमानन्द है।

आनन्द ही बिन्दु है—उसी को तोड़कर जगत् की सृष्टि होती है। इसीलिए सृष्टि का संहार करने से ही आनन्द मिलता है। बिन्दु ही कारण है। रेखा ही सूक्ष्म कार्य है। त्रिकोणादि यन्त्र सूक्ष्म का ही विचित्र विभाग है। समतल = स्थूल कार्य।

चैतन्य की मात्रा है। पूर्णजाग्रत् चैतन्य = ब्रह्म। ब्रह्मशक्ति की मात्रा जैसे १६, शिवमात्रा १२, केवली आत्मामात्रा ८ आदि। बाह्य विषय को यदि ८ मात्रा चैतन्य द्वारा जगाया जाय, तो वह जगकर इन्द्रिय में, इन्द्रिय जगकर मन में, मन जगकर आत्मा में लीन होगा। उसके बाद फिर क्रिया नहीं रहेगी। इसलिए केवली अवस्था के बाद जाना सम्भव नहीं होगा। फिर से दीक्षा या जागरण (उच्चतर) आवश्यक है। वैसे ही बाह्य विषय को १२ मात्रा चैतन्य से जगाने पर शिवावस्था में जाकर रुकेगा। आगे नहीं जायगा। ब्रह्मभाव में जगाने से ब्रह्मभाव तक जायगा।

१९.९.३७

१. शब्द
२. चैतन्य
३. पूर्ण

१. शब्द की अवस्था क्रिया की अवस्था है। कुण्डलिनी शक्ति जगने के बाद से इस अवस्था का आरम्भ होता है। इस शक्ति का जागरण ही चेतन शब्द की क्रिया या शुद्ध सत्त्व की क्रिया या बिन्दु का कार्य है। जाग्रत् चेतन शक्ति ही विशुद्ध सत्त्व है। जीव मलिन सत्त्व लेकर त्रिगुण क्षेत्र में विचरण करते हैं। जन्म-जन्मान्तर इसी क्षेत्र में हैं। शुद्ध धाम में जाने का उपाय नहीं है। वह शुद्ध धाम से जब तेज पाता है, तब उसकी शुद्ध-सुप्त शक्ति प्रबुद्ध होती है। यह जागरण क्रमशः स्पष्ट होता रहता है। इस अवस्था में अनाहत ध्वनि, नाद सुना जाता है। यही योग-क्रिया है। फलस्वरूप, मन क्रमशः शुद्ध होता है, स्थिर होता है, उसकी चंचलता कटती रहती है, वासना क्षीण होती रहती है। यह वास्तव में मन से विषयवियुक्त इन्द्रिय की संघर्षजन्य क्रिया की अवस्था है। क्रमशः मन शुद्ध होता है, विषय का प्रभाव इन्द्रिय के ऊपर कम हो जाता है। एकाग्रता सम्यक् होने से मन बिलकुल स्थिर हो जाता है, उस समय इन्द्रिय और विषय ढीले हो जाते हैं। मन उनके grip से मुक्त होता है। एक विराट् ज्योति या चैतन्य का स्फुरण होता है। मन शुद्ध हो गया होता है, इसलिए उस चैतन्य में उसका लय नहीं होता।

[विषय के अलग होने का मतलब है, इन्द्रिय में विषय का सार आ जाता है ।]
[इन्द्रिय से अलग होना = मन में इन्द्रिय का सार आता है ।]
[मन का अलग होना = आत्मा में इन्द्रिय का सार आता है ।]

२. इसी अवस्था में आत्मदर्शन होता है। मन तब भी होता है, पर शुद्ध मन। इसके बाद क्रमशः आत्मा और इन्द्रियवियुक्त शुद्ध मन का योग बढ़ता रहता है। इससे आनन्द का विकास होता है—आत्मभाव विस्तृत होता है और मन की विशालता होती है। यह विशाल जाग्रत् मन ही विराट् शक्ति है। यही अवस्था पूर्णतम आत्मदर्शन की अवस्था है। पूर्णतम योग-अवस्था। आत्मा की इस शुद्ध अवस्था में आनन्द का आस्वाद पूर्णतम होता है। यही शिव-शक्ति का युगल मिलन है। यह एक विचित्र अवस्था है। यहीं से संसार का सारा व्यापार चलता है–सृष्टि आदि। और, इसी अवस्था के सहारे ब्रह्मतत्त्व में प्रवेश होता है।

यह मिलन भी भोगविशेष है, यद्यपि शुद्धतम भोग है। इसीलिए, यह संसार की शिरोभूमि है। किन्तु, इस शिव-शक्ति की ओट में तीसरी एक चीज का आभास मिलता है। वह ब्रह्म है। शिव-शक्ति मिलकर जो होती है, वह आत्मा है, लेकिन विशालतम। तब वह तीसरी चीज आत्मा के द्वितीय रूप में दर्शन देती है। यह ब्रह्मरूप में आत्मदर्शन है।

अवस्थाएँ :

१. अदर्शन।
२. विषय-दर्शन = विषयरूप में आत्मदर्शन
३. ब्रह्मदर्शन = ब्रह्मरूप में आत्मदर्शन

१९.९.३७

मन जब निश्चल होकर अवस्थान करे, तब वह शुद्ध हुआ है, ऐसा समझना चाहिए। नाद-श्रवण से ही ऐसा होता है। यह क्रिया की शेष अवस्था है। उस समय ज्योति का उदय होता है— चैतन्य का विकास होता है। उस समय मन का निरोध नहीं हुआ होता है—स्थिरता रहती है। यही ज्ञान या ब्रह्म है। ब्रह्मज्ञान।

मन है, इसीलिए ज्ञान है। यहाँ दो प्रकार की गति सम्भव है :

(क) क्रमशः, कृष्ण पक्ष के चाँद की तरह क्षीण होकर मन का अव्यक्त होना। फल—ज्ञानकैवल्य—निर्वाण। यह लय है।

(ख) मन को लीन न करके उससे काम लेना। यह काम इच्छा का विकास है। इच्छा का विकास होने से ही वह ज्योति ब्रह्ममूर्त्ति—इच्छानुरूप या इष्ट होकर प्रकट होती है। यह आत्मा के समान ही होती है। मूर्त्ति के निखरने पर ज्योति नहीं रहती।

अब से प्रेम प्रस्फुटित होता है--समान-समान नहीं होने से प्रेम नहीं प्रस्फुटित होता। मन के लय की सम्भावना नहीं रह जाती। अब से मन अलग होकर तटस्थ रहा।

इसके बाद और साधन नहीं। मैं और तुम--बीच में प्रेम का सम्बन्ध। मात्र कृपा बाकी—कृपा होने से यह दो मिलकर एक 'मैं' ही हो जाता है। वही पूर्ण 'मैं' है—पूर्णत्व।

पहले ही मन को सुला देने या लय कर देने से क्यों चलेगा? पहले मन से क्रिया को निकालना होगा। ऐसा करते-करते मन शुद्ध होगा, स्थिर होगा। तब मन से ज्ञान को निकालना होगा। तब मन और भी शुद्ध होगा, फिर उससे इच्छा को निकालना होगा। इच्छा को निकालने से मन अत्यन्त शुद्ध होता है, फिर उसमें से शुद्ध प्रेम ही निकलता है। यही प्रेम क्रमशः गाढ़ा होता है। जबतक कृपा का उदय नहीं होता, तबतक यह रहता है। कृपा होने से मैं, पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित होता है—मन अलग हो जाता है। क्रिया-ज्ञान-इच्छा-प्रेम मुझमें शक्तिरूप में रहता है।

तब	मैं	स्वरूपभूत शक्ति
	जीव	क्रिया-ज्ञान-इच्छा-प्रेम
		मन तटस्थ
		सकारण विषय-जगत् बाह्य
		माया

(क) प्रेम

(ख) इच्छा-ज्ञान-प्रेम

लगता है, यही रास्ता पकड़कर महाप्रभु (चैतन्यदेव) गये थे। शुद्ध शब्द को आश्रय किये विना माया से ऊपर नहीं उठा जाता। कुण्डलिनी-जागरण के फलस्वरूप मन माया से मुक्त होता है। उनके बाद चित्-शक्ति (प्रेम-इच्छा-ज्ञान-क्रिया) मन से मुक्त होती है।

२३.९.३७

१. वर्ण चार और आश्रम चार। शब्द-उन्मेष से चैतन्य तक। शूद्र=योग्यता-मात्र।

२. गृहस्थ को छोड़ भिक्षा नहीं दे सकता।

३. चिन्ता कारण का व्यापार है। यह कल्पना है। उसका प्रकाश लिंग में होता है। यह आभास-सृष्टि है—स्थूल में पूर्ण प्रकाश। यह व्यावहारिक सृष्टि है। यही सृष्टि-कौशल है।

जब लिंग और स्थूल चिन्ता को बाधा नहीं देते, तब चिन्ता-मात्र का ही स्थूल तक स्फुरण होगा।

४. 'मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यम् ।'—इत्यादि

मन्त्र—वाक्य
पूजा—चरण
ध्यान—रूप
मोक्ष—कृपा ।

गुरु का वाक्य ही सब कुछ है। साधन करते-करते चरण प्रकट होता है। तब पूजा चलती है। पूजा करते-करते रूप प्रकट होता है। तब ध्यान चलता है। ध्यान करते-करते कृपा प्रकट होती है। तब मोक्ष होता है।

५. मोटामोटी तीन स्तर लीजिए :
चित्शक्ति का स्तर;
शुद्धसत्त्व-स्तर = [भाव feeling]
माया-स्तर ।

माया-स्तर की बात शुद्धसत्त्व के स्तर में नहीं जाती। मायाकाश में लीन होती है और घूमती रहती है। यदि उस शब्द में शुद्धसत्त्व का सम्बन्ध होता है, तो जाता है। अथवा, शब्द में यदि भाव हो, तो जा सकता है। यही रोने का आदर है।

वैसे ही शुद्ध सत्त्व का आह्वान मायिक जन नहीं सुन सकते। लेकिन, चित्शक्ति और शुद्धसत्त्व में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

६. जो अन्तराकाश में देखा जाता है, वह अपने में।
कारण
लिंग
स्थूल

इच्छा करके जो देखा जाता है, कल्पना में जो देखा जाता है, उसे कारण में, लिंग का सेंवार हटाकर देखना होता है। दिखाती है इच्छा। लिंग शुद्ध रहने से तत्क्षण देखा जाता है और रहता है।

इच्छा से अव्यक्त का विचित्र सम्बन्ध है। इच्छा के साथ-साथ अव्यक्त से कारण फूटता है। लिंग अनुकूल रहने से स्पष्ट भीतर में देखा जाता है। स्थूल अनुकूल रहने से आखों से देखा जाता है। यह इसलिए कि लिंग या स्थूल में मैं-पना है। नहीं तो कारण में साक्षात् दर्शन होता है—कोई लिंग (संस्कार) या स्थूल (भूत) बाधा नहीं दे सकता।

२४.९.३७

जो देखता है, वह द्रष्टा, जो दिखता है, वह दृश्य। द्रष्टा = चित्; दृश्य = सत्। दृश्य की जो सत्ता, सद्भाव है—वह द्रष्टा का दृष्टिजात है। द्रष्टा से जो आभा है, वही सत्ता देती है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'

द्रष्टा से जब आभा नहीं जाती, तब द्रष्टा द्रष्टा नहीं, दृश्य भी सत् नहीं। वही अवस्था असत् है। जो विद्यमान ज्ञायमान है, वह विद्यमान नहीं, सत्तावान् नहीं।

कोई इसे अव्यक्त कहते हैं, कोई असत् कहते हैं, कोई सत्-मात्र कहते हैं। उस सत्ता में द्रष्टा की जितनी ही दृष्टि पड़ती है, उतनी ही वह आभामय होती है। आभामय होते-होते धीरे-धीरे वह चिन्मय हो जाती है। यही द्रष्टा–चित्, दृश्य––चित् (=शुद्ध सत्त्व)।

इसके बाद दोनों के मिलन में द्रष्टा-दृश्य नहीं रहता। यही आनन्द है—स्वप्रकाश-बोध।

सत् के साहाय्य के बिना चित् = असत्। चित् के सम्बन्ध के बिना सत् = अचित् (जड)। चित् असत् मतलब––चित् अपने को अनुभव नहीं कर सकता। स्वयं शववत्। चित् का सम्बन्ध पाने से ही सत् भी चेतन होता है––कम या अधिक। सत्तावान्।

दोनों ही शुद्ध होने से आत्मदर्शन होता है। बाद में, मिलन में आनन्द। परन्तु, दोनों का मिलन कैसे होगा? इच्छा चाहिए। इच्छा पूर्ण होने से मिलन समाप्त होता है। वही अद्वैत, तृप्ति, आनन्द है। और, फिर इच्छा के उदय से अद्वैत-भंग-शिव-शक्ति अलग होते हैं।

संहार के मुँह पर इच्छा का स्थान।

द्रष्टा से दृष्टि बहिर्मुख क्यों होती है? मूल में इच्छा है। (नं० १) उसके बाद भासमान सत्ता को देखकर (a) समष्टि-विशेष इच्छा या (b) व्यष्टि-विशेष इच्छा जग सकती है। (a) स्थूल में युगपत् विशिष्ट सर्वभान होता है। Store house of memory जैसा। (b) स्थूल में विशिष्ट पृथक् भान होता है। जैसा गुलाब होता है।

भासमान सत्ता को देखकर इच्छा का सामान्य भान तो रहता ही है। इच्छा का भान नहीं रहने से द्रष्टा दृश्य को नहीं देख पाता। सामान्य के पथ पर जाने से धीरे-धीरे सत् चित् हो जाता है। यह नं० १ का पूर्ण विकास है। उसके बाद इच्छा का दूसरा आघात––फलस्वरूप, मिलन का आरम्भ। पूर्ण विकास में पूर्ण आनन्द या तृप्ति या अद्वैत। उसके बाद इच्छा का तीसरा आघात। इससे अद्वैत अपने को स्वयं देखता है।

असत् (अविद्या)

क्रम यह :

१. { इच्छा सामान्य
चित् = द्रष्टा होता है—दृष्टि के बाहर जाता है। असत् का सत् होना आरम्भ होता है। सत् चित् होने लगता है।

इच्छा

सामान्यविषयक
ब्रह्म

२. असत् सत् हुआ, सत् चित् हुआ। यह सामान्य आत्मदर्शन है। यह आत्मदर्शन ज्योतिरूप में होता है। चित द्रष्टा, चित् दृश्य। इस समय चित् पूर्ण स्वप्रकाश (सर्वप्रथम इच्छा के अनुदय से चित् = अप्रकाश)। सत्, दृश्य होते ही चित् अंशतः स्वप्रकाश होता है। उसने जितने को चित् किया है, उतना वह स्वप्रकाश अपने को जान सकता है।

३. इच्छा सामान्य—मिलन का आरम्भ। आनन्द क्रम—इच्छा की पूर्णता या तृप्ति। अद्वैत। ज्योति में स्थिति।

इच्छाविशेष
(ईश्वर) समष्टिविषयक

असत्-समष्टि सत् हुई। चित् हुई। फलस्वरूप, सर्वाकार रूप में आत्मदर्शन।

इच्छा
मिलन का आरम्भ, आनन्द-क्रम इच्छा की तृप्ति से अद्वैत सर्वात्म भाव में स्थिति।

इच्छा
(जीव) विशेष व्यष्टिविषयक

व्यष्टि दृश्य का आविर्भाव होता है। व्यष्टि-आकार असत् से सत् रूप में, चित् रूप में भासमान होता है। द्रष्टा यह देख सकता है। फलस्वरूप, व्यष्टि आकार-विशेष रूप में आत्मदर्शन।

इच्छा—मिलन का आरम्भ—आनन्दमय—इच्छा के तृप्त होने से ही अद्वैत। यह व्यष्टि-आकार में स्थिति है।

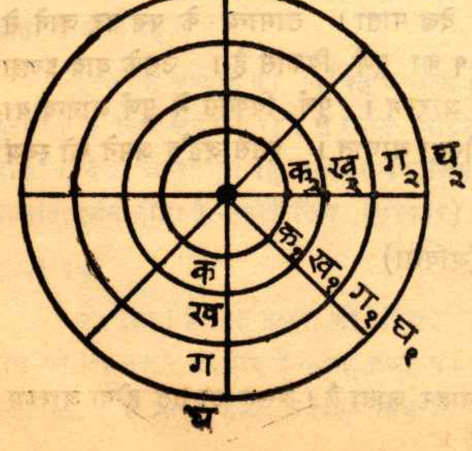

स्रोत के अन्तर्मुख होते ही है अन्तर्मुख 'ग' लिंग को देखता है और अन्तर्मुख लिंग आत्मा को देखता है तथा आत्मा अन्तर्मुख होकर शान्त-स्वरूप का दर्शन करती है। यही दीक्षा का व्यापार है। 'क', 'ख', 'ग' सब देह, उपादान भिन्न मात्र। 'क' = आत्मा', 'ख' = मन। दोनों ही साकार—इसलिए, कि अभिमान है।

केन्द्र = महाकारण।

प्रथम वृत्त = 'क', क१, क२, etc. = कारणदेह। समष्टि consisting of कारणदेह समष्टि or of आत्मसमष्टि। कारण = आत्मा।

द्वितीय वृत्त = 'ख', ख१, ख२, etc. = लिंग = देहसमष्टि—लिंग देहसमष्टि—मनः समष्टि।

तृतीय वृत्त = 'ग', ग१, ग२ etc. etc. स्थूल देहसमष्टि। प्रत्येक वृत्त के समसूत्र में एक-एक जगत् है। जैसे—कारण, लिंग और स्थूल जगत्। केन्द्र = बिन्दु।

बिन्दु ही क्षुब्ध होने से (by निग्रह या अनुग्रह) कारण होता है। निग्रह क्षोभ से स्रोत-बहिर्मुख होता है—बाह्यतम वृत्त में जाकर टकरा करके निवृत्त होता है। फिर, अनुग्रह क्षोभ का समय। उससे भीतर का आकर्षण बढ़ता है। फलस्वरूप, 'घ' से 'ग' में, 'ग' से 'ख' में और 'ख' से 'क' में स्रोत आता है।

ज्ञान—शक्ति

८ या १२   ८ या १२

या १६   या १६ etc.

ज्ञान की अनेक अवस्थाएँ हैं। किसी एक को लें। मान लीजिए ज्ञान १२ हैं, अब इस ज्ञान में तो शक्ति अव्यक्त या बाद रह सकती है।

व्यक्त रूप में दो प्रकार की शक्ति आलोच्य है :

(a) एक मात्राभेद से।

शक्ति जिसे खींचकर लायगी, उसे तत्संसृष्ट ज्ञान की भूमि में ही लायगी। उससे अधिक नहीं—कम भी नहीं। यह शक्ति सामान्यतः चैतन्यशक्ति of that स्तर है, where ज्ञान is।

लेकिन, वह सबको नहीं खींच सकती। इसके विशेषांश में तारतम्य है।

१. बाह्य जगत् का शोधन करना
बाह्य जगत् को चेतन करना } आनन्द
बाह्य जगत् से मिलित होना

शुद्ध और स्थिर होने से मन आत्मा की आभा को स्थिर भाव से ही पाता है। यही ज्योतिः है—चैतन्य—ज्ञान। यह आत्मा के साथ शुद्ध मन के योग की अवस्था है। इसी योग से ज्ञान होता है। क्रमशः योग गाढ़ा होता है। ज्ञान बढ़ता है।

साथ-ही-साथ, आत्मा की ज्ञानशक्ति लौट जाती है। सायुज्य ही योग की पूर्णता है।

३.१०.३७

[१]

किसी को कोई भी चीज देने से समझ में आता है। जैसे भाव से वह दी जाती है, वह उसमें रहता है। भक्ति--अभिमान--क्रोध--सब। प्रत्येक उपादान अलग है, भक्ति में सोम का सारांश रहता है। इसीलिए, भगवान्, देवगण, सभी उसे चाहते हैं। चीज का कोई मूल्य नहीं—चीज से उतना ही—भक्ति का वह अंश ही वे ग्रहण करते हैं। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्'--जो भी हो। असली बात है 'भक्त्या'। अर्पित वस्तु में उसके नहीं होने से वह देवतादि के भोग में नहीं लगती।

श्रद्धापूर्वक देना ही श्राद्ध का रहस्य है। पितृगण श्रद्धा ही ग्रहण करते हैं, और दानमात्र ही श्रद्धापूर्वक होना आवश्यक है।

(२)

द्रष्टा होकर भोग करने से उसमें बन्धन नहीं होता। वही प्रसाद है। उससे भोग कट जाता है।

४.१०.३७

सूक्ष्म देह शरीर से निकल जाने से स्थूल देह दिखाई देती है। यह सूक्ष्म देह हाथ-पाँव-विशिष्ट दिखाई पड़ती है। एकाग्रता के समय समस्त शरीरमय तेज अपने आकार की रक्षा करके ही संकुचित होकर बिन्दुरूप धारण करता है और बाहर निकल पड़ता है। बाहर होकर भी समग्र स्थूल से सूत्र द्वारा मिला रहता है। बाहर जाकर ही फैल जाता है। प्रवेश करने के समय फिर सिमट जाता है।

यदि आज्ञाचक्र भेदकर या मूर्द्धा भेदकर बाहर होता है, तो वह बहिराकाश ज्योतिर्मय रूप में पाता है। परन्तु, यदि भीतर के शुद्ध और ज्योतिर्मय होने के पहले ही किसी प्राकृतिक कारण से बाहर होने को विवश होता है (जैसे स्वप्न या मरण में) तो वह बाहरी आकाश को अन्धकारमय पाता है। जिस-जिस पथ से निकलता है या बाहरी जगत् को देखता है, वह वैसा ही दिखाई देता है। ज्ञान पाकर या आलोक पाकर बाहर आने पर सब आलोकमय दिखाई देता है। और, विना पाये आता है, तो देखता है कि सब अन्धकारमय है। जो भाव लेकर निकलता है, बाहर आने पर वही देखता है।

स्थूल में रहते हुए भाव का उदय--भाव लेकर बाहर निकलने से भाव की तृप्ति।

४.१०.३७

आँखें बन्द करने से जो अँधेरा दीखता है, वह अविद्याजन्य वासना आदि के कारण जप, साधन आदि के कारण धीरे-धीरे अन्धकार प्रकाशमय होता है। यह आज्ञा-चक्र में स्थिति की अवस्था है। लेकिन, काँच के घर में रहने जैसी। बाहर ज्योति है, भीतर से उसका अनुभव हो रहा है। भीतर भी प्रकाश आ रहा है।

जो आज्ञाचक्र भेद करना है, वही शरीर से बाहर होना भी है। वास्तव में, आज्ञा-चक्र के ऊपर जो बिन्दुस्थान है, वहीं एकाग्रता का चरम है। ज्ञान का विकास है तृतीय नेत्र। बोध के समुद्र में मन का सन्तरण।

आज्ञाचक्र भेदकर बिन्दु की जिधर गति होती है, वही सहस्रार की कर्णिका की यात्रा है। यही पथ मिलन-मार्ग है—शिव-शक्ति का मिलन-मार्ग। मिलन की गहराई का तारतम्य होते हुए भी सर्वत्र शिव-शक्ति मिलित हैं। बिन्दु में दोनों ही एक।

५.१०.३७

अवस्थाएँ तीन हैं।

१. अहंकार जब है, देहात्मबोध——काल। 'मैं' कर्त्ता, 'मैं' सुख-दुःख का भोक्ता।

२. चित्त शुद्ध होकर ज्ञान उदित होने से और अहंकार निवृत्त होने से देह से आत्मा का पृथक् बोध। प्रकृति-दर्शन। 'मैं' द्रष्टामात्र, प्रकृति में कर्त्तृत्व—मुझमें भोगाभास।

३. आत्मा में परमात्मा का दर्शन होने से । मैं द्रष्टा, ईश्वर कर्त्ता ईश्वर की क्रियाशक्ति के प्रभाव से प्रकृति क्षुब्ध होकर कारणवर्ग को प्रवर्त्तित करती है।

यहाँ विचित्र व्यापार है :

ज्ञानशक्ति का आश्रय	क्रियाशक्ति का आश्रय
द्रष्टा	कर्त्ता

होगा वही, जो कर्त्ता करेंगे। कर्त्ता की इच्छा ही पूर्ण होती है। जीव में यदि इच्छा का उदय न हो, तो वह केवल द्रष्टा होकर लीलादर्शन करता है। और, यदि इच्छा का उदय हो और वह इच्छा मूल इच्छा के अनुकूल हो, तो जीव भक्त होता है। वह अवस्था भक्ति है। उसका फल है——लीला में प्रवेश। प्रतिकूल इच्छा होने पर पहले न भी हो, बाद में अहंकार आता है, जिसका दूसरा नाम पतन है। इसलिए कि यह मिथ्या है।

६.१०.३७ (रात्रि)

ज्ञानोदय के पहले अपनी इच्छा के अलावा और कोई इच्छा नहीं रहती। उससे भी पहले यह नहीं समझा जाता कि अपनी ही इच्छा से सब होता है। उस समय जड शक्ति प्रधान होती है। ज्ञान के पश्चात्, यदि कैवल्य हो, तब तो कर्म ही नहीं रहता। और, कैवल्य नहीं होने से यह समझा जाता है कि भगवान् की इच्छा से ही सब कुछ होता है।

उस समय अपनी इच्छा नहीं रहने से केवल द्रष्टाभाव रहता है—फिर भी लीला-दर्शन होता है। कैवल्य से यही अन्तर है। और, यदि अपनी इच्छा रहे, तो वह दो प्रकार से हो सकती है :

१. अपनी इच्छा उनकी इच्छा के अनुकूल। इससे क्रमोन्नति। चरम में कृपा-लाभ से पूर्णत्व।

२. प्रतिकूल इच्छा होने से पतन अवश्यम्भावी है। इसलिए, 'ज्ञानिनामपि चेतांसि।' आदि।

६ १०.३७

बिन्दु ही 'अहम्' है। आज्ञाचक्र से बिन्दु में जाना होता है। इसी के आलोक से सारा ब्रह्माण्ड आलोकित है। पिण्ड उसी के अन्तर्गत है। आज्ञाचक्र का भेद होने से ही इस ब्रह्माण्ड में प्रवेश होता है। इस पथ पर प्रवेश करने का मतलब ही है ज्ञान के पथ से देह छोड़कर बाहर होना। यही प्रव्रज्या है। यही शुद्ध धाम है। क्रमशः इस राज्य के मध्य-बिन्दु में जाया जाता है। यह मिलन अथवा आनन्द का राज्य है। क्रमशः मिलन गाढ़तर होता है, बिन्दु में मिलन पूर्ण––एकत्व फूट आता है। बिन्दुभेद होने से ही अव्यक्त। वहाँ अहं नहीं है।

३.११.३७ (बोधगया)

१. वैश्वानर आत्मा का मस्तक उत्तरमेरु में है। ऐसा होने से भारतवर्ष ही नाभि है, इसीलिए इसे नाभिवर्ष कहते हैं, इसीलिए यह कर्मभूमि है।

२. मन्दिर-शिखर जितना ही ऊँचा क्यों न हो, ब्रह्मरन्ध्र के समसूत्र नहीं होता। वस्तुतः ब्रह्मरन्ध्र ही शिखर है। प्रकृत मन्दिर के शिखिर का दर्शन नहीं होता, दर्शन करने-करते ही खो जाना पड़ता है। ऊर्ध्वदृष्टि के विना यह दर्शन नहीं होता।

३. सब तीर्थस्थान के ऊपर एक ज्योतिर्मय तीर्थ counterpart है। वही आसन है। वहाँ ऋषि-मुनि सब आते हैं।

४. आज ब्रह्मयोनि पहाड़ के पास, बोधगया के निकट, और भी दो-तीन स्थानों में अतर्कित ज्योतिदर्शन हुआ। लौटते समय बोधगया-मन्दिर के ऊपर से भी हुआ।

४.११.३७ (गया)

१. नित्यकर्म है संचित पाप की शुद्धि के लिए। अधिक पापनाश के लिए जप आदि बढ़ाना चाहिए।

२. आँखों से ताकने पर एक चीज चारों ओर बिखर जाती है। अन्तश्चक्षु या भ्रूमध्य में ताक पाने से वह अवगुण्ठित होता है। उस समय छेद दिखाई देता है, जिसमें से परलोक-दर्शन होता है।

९.११.३७

[१]

भाव = शक्ति, यह concrete और abstract––साकार और निराकार––दोनों है। साधारण लोग समझते हैं–साकार निम्न है, निराकार उच्च। ऐसी बात नहीं। अन्तर्लीन शक्ति के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कहेंगे; क्योंकि वह कहा नहीं जा सकता। जगत् में सर्वत्र

साकारता है। शक्ति, भाव–सभी साकार हैं। किन्तु, न्यून अधिकारी के लिए दृष्टि नहीं खुलने के कारण निराकार प्रतीति होती है; जैसे—काम। इसका अपना एक आकार है, वह अव्यक्त है। व्यक्तिगत संस्कार वर्जित होने से उसका साक्षात्कार हो सकता है। वह स्वप्रकाश काम है—ब्रह्मस्वरूप। वह आप ही अपने को देखने जैसा साक्षात्कृत होता है। पृथक् रूप में दृश्यमान नहीं होता। जो होता है, वह स्वरूप का विकास-मात्र है। यह भी एक प्रकार से अव्यक्त क्षेत्र में ही साक्षात्कृत होता है।

शुद्ध व्यक्त क्षेत्र में जो साक्षात्कृत होता है, वह व्यक्त काम है। व्यक्तता आलम्बन सम्बन्धवशात् होती है। आलम्बन दो प्रकार का है—आश्रय और विषय। इसलिए, काम-जगत् के ऊर्ध्वस्तर के किसी आश्रय में आश्रित सविषयक काम concrete रूप में किसी के मनश्चक्षु के सामने प्रकाशित हो सकता है। वस्तुतः, उसका substance काम होता है, form काम नहीं। काम का गृहीत शरीर। इसे काम की सूक्ष्म देह कह सकते हैं। यह सूक्ष्मदेही काम मेरे निकट जब स्थूल देह में प्रकट होगा, तो वह आकार देखा नहीं जायगा। वह मेरा उपादान और मेरे काम्य मनुष्य का उपादान (आकार) लेकर प्रकाशित होगा। यद्यपि वह रूप किसी निर्दिष्ट आदमी का होगा, तथापि वास्तव में वह काम का रूप है। मेरे चित्त में उस आदमी के लिए कामना नहीं रहने से कामरूपा शक्ति मेरे आगे वह रूप धारण करके प्रकट नहीं हो सकती। वह रूप उस मनुष्य का नहीं, काम का ही है। समय-विशेष में क्रोध भी उस मनुष्य के आकार में प्रकट हो सकता है। वे दोनों आकार यद्यपि एक हैं, तथापि आकारवान् एक नहीं। एक जगह वह काम है, दूसरी जगह क्रोध। परन्तु, यह आकार भी साधारण आदमी नहीं देख सकता। साधारण मनुष्य केवल उस आकार के चित्त में प्रविष्ट होने से चित्त में जो तरंग या परिणाम पैदा होता है, उसी को समझ सकता है। यह abstract है—आँख खोलने से वह आकार सब देखा जाता है।

अतएव,

अव्यक्त क्षेत्र	काम = शिव काम = स्वरूपवान् काम = स्वरूप-विलासवान्	निराकार शक्ति–आकार
अशुद्ध व्यक्त क्षेत्र	काम = काम्यवस्तु आकारवान् काम = वृत्तिरूप में स्थूल दृष्टि के गोचर	

भाव या शक्ति का अवतरण इस प्रकार से होता है।

[२]

ऊर्ध्वस्तर में शब्द-वाक्—बातचीत होती है। वहाँ उपदेश मिलता है। वह शब्दात्मक है–चैतन्यस्वरूपी। Abstract स्तर में intuition आदि रूप में गृहीत होता है। वह शब्द–बात नहीं सुनी जाती। ऊपर सब concrete—यहाँ सब abstract।

'ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम् ।' आर्षज्ञान या प्रातिभ ज्ञान भी शब्दमूलक है ।

२०.११.३७

[१]

जब देवतागण किसी साधक को दर्शन देकर बातचीत करते हैं, तब उस समय का व्यापार दो प्रकार से हो सकता है :

१. देवता यदि साधक का उपादान ग्रहण करें, तो वह साधक की स्वकीय भाषा में ही बातचीत करेंगे ।

२. साधक यदि देवता का उपादान ग्रहण करे, अथवा देवता यदि साधक को अपना उपादान दान करें (कुछ समय) के लिए, तो साधक देवभाषा में बात करेगा । भाव = abstract, भाषा concrete ।

भाव को प्रकट करने के लिए concrete की ही सहायता लेनी पड़ती है। किन्तु, concretisation प्रकृति का काम है–यह बुद्धिपूर्वक नहीं होता, अपने-आप होता है । लेकिन, क्षेत्र में बीजाधान आवश्यक है । भाव = बीज । इसे देवक्षेत्र में बोने से देवभाषा का विकास होता है–मनुष्यक्षेत्र में मनुष्य-भाषा का । जिस व्यक्ति-विशेष के क्षेत्र में या क्षेत्र-प्रतिबिम्ब में बोया जायगा, वह उसी की भाषा में प्रकट होगा ।

भाव को यदि चीन के आदमी के क्षेत्र में डाला जाय, तो वह चीनी भाषा में प्रकाशित होगा । किसी व्यक्ति-विशेष का क्षेत्र ग्रहण करने से उसका व्यक्तिगत वैशिष्ट्य भी उस भाषा में प्रकट होगा ।

कुण्डलिनी की स्थिति से इसका सघन सम्बन्ध है । यह जो क्षेत्र या व्यक्तिगत वैचित्र्य है, वह कुण्डलिनी की अवस्था पर निर्भर करता है । दूसरे को भाषा सिखानी हो, तो उसकी बहिर्मुख भावधारा के सामने अपनी प्रकृति की एक छाया रखनी होती है । अर्थात् उसकी प्रकृति को कुछ क्षण के लिए अपनी प्रकृति की तरह करा लेना होता है । ऐसा करने से वह आदमी मेरी ही भाषा में बोलेगा ।

दोनों ही आदमी यदि उन्नत हों, तो दूसरा उपाय भी है । प्रत्येक व्यक्ति के लिए भाव की एक स्वाभाविक भाषा है । कृत्रिम या परकीय भाषा का ग्रहण नहीं करने से या वैसी इच्छा के नहीं उदय होने से उस स्वाभाविक भाषा का ही उदय होता है । यह दोनों के ही हो सकता है, बशर्त्ते कि दोनों ही उन्नत हों । परन्तु सुनने के समय conversion हो जाता है । उदाहरण के तौर पर हम 'क' और 'ख' को लें ।

मान लीजिए, 'क' की स्वाभाविक भाषा—क° और 'ख' की स्वाभाविक भाषा ख° है । बातचीत के समय 'क' का भाव क° भाषा में प्रकाशित होने पर भी 'ख' के

निकट ख° भाषा में सुना जायगा। इसी प्रकार 'ख' ख° भाषा में उत्तर देने पर भी 'क' क° भाषा में ही सुनेगा। दोनों ही समझेंगे, वे अपनी भाषा में बात कर रहे हैं।

यह conversion क्यों और कैसे होता है ? नरलोक में यह क्यों नहीं होता ? इस-पर अभी मेरे पास जो उत्तर है, वह यह है :

नरलोक में मनुष्य बोधक्षेत्र में प्रतिष्ठित नहीं है। दिव्य ज्ञान जगने से या दिव्य धाम में सभी बोधक्षेत्र में स्थित हैं--परन्तु, विकास का तारतम्य है। इसीलिए प्रवाह में बाधा नहीं पड़ती। इसीलिए, भाव जगकर जिस ओर यात्रा करे, जिसकी ओर जाता है, उसके पास बेरोक पहुँच जाता है और उसका भाव हो जाता है। 'क' का भाव जगकर जब 'ख' के निकट जाता है, तब क्या होता है ? 'क' का भाव जगते ही अपना रूप धारण करता है, अर्थात् क° रूप धारण करता है। व्यक्तावस्था में यह होगा ही। इसी की रश्मि चलती रहती है--चलते-चलते 'ख' की ओर जाती है। 'ख' यदि बहिर्मुख रहे, तो ठीक है। नहीं तो 'ख' के अन्तर्मण्डल को स्पर्श करता है--और साथ-ही-साथ 'ख' की भाषा ख° में बदल जाती है। देवलोक में जाने के लिए जैसे देवदेह धारण करनी पड़ती है, यह भी वैसा ही है।

प्रत्येक मनुष्य के ही मण्डल है--जीवमात्र के ही है। तीन मण्डल--concentric; जैसे 'क'।

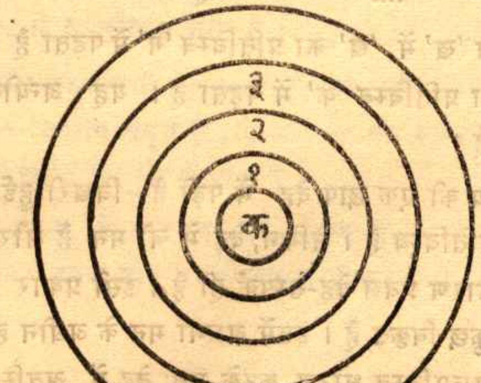

मैं तीनों ही मण्डल समझता हूँ। तुरीय मण्डल बिन्दु से अभिन्न है, इसलिए उसे यहाँ नहीं लिया। पहला--स्वाभाविक मण्डल। तीसरे पर पहले का चक्का लगने से जो छटा निकलती है, वही दूसरा है। इसीलिए, दूसरे में पहले और तीसरे का सम्बन्ध है। पहला घनीभूत आलोक है--तीसरा अन्धकार और दूसरा प्रभा, जिसमें अन्धकार और आलोक सम्मिश्रित हैं।

महापुरुषों के पहला मण्डल ही रहता है--तीसरा और दूसरा लीन हो जाता है। 'ख' जब 'क' से कुछ भाव प्रकट करना चाहता है, तब 'ख' का प्रथम मण्डल कम्पित हो

उठता है और उससे एक रश्मि निकलती है। इस रश्मि का आकार भाव के अनुरूप होता है। भीतर का स्वरूप लेकिन 'ख' ही रहता है। पहले मण्डल से यह रश्मि-रूपी भाव बाहर हो जाता है--मण्डल से सम्बन्ध बराबर रहता है। इसका एक चेहरा है, उसके भीतर और एक चेहरा है, वह = 'ख'। यह रश्मि 'क' की ओर दौड़ती है। दौड़कर 'क' के पहले मण्डल को स्पर्श करती है। स्पर्श करने के पहले शोधन का एक व्यापार है। नहीं तो मण्डल में घुसने का उपाय नहीं। सिद्धमण्डल ऐसा ही है। उसमें महाशक्ति का घेरा पड़ा रहता है।

स्पर्श करते-करते ही रूपान्तर होता है। 'ख' की भाषा-रूपी पोशाक बाहर रह जाती है—'क' की भाषा या आकार धारण करता है और 'क' दिव्य श्रोत्र से उसे अपनी ही भाषा में सुनता है। इसके बाद 'ख' का भाव 'क' के भाव में परिणत होता है। फिर 'ख' 'क' हो जाता है। यही बोध है। यह क्षण के लिए होता है—'ख' फिर अलग हो जाता है।

[२]

अंशी		अंश
(क) चैतन्य धाम	....	आत्मा
(ख) ब्रह्माण्ड	....	मन
(ग) पिण्ड	....	देह

'क' का प्रतिबिम्ब 'ख' में, 'ख' का प्रतिबिम्ब 'ग' में पड़ता है। उसी प्रकार 'ग' का प्रतिबिम्ब 'ख' में, 'ख' का प्रतिबिम्ब 'क' में पड़ता है। यह अन्योन्य भाव से होता है, फलतः प्रत्येक में प्रत्येक है।

इसीलिए, मनोमय की एक छाप देह में पड़ी है—बिखरी हुई है। उस मनोमय के अन्तराल में आत्मा का प्रतिबिम्ब है। लेकिन, देह में जो मन है और काम करता है, वह कुछ विकृत है। इसका कारण प्रबल देह-सम्पर्क ही है। इसी प्रकार मन में जो आत्मा है, वह प्रबल मन-सम्पर्क से कुछ विकृत है। इसमें आत्मा मन के अधीन होती है। (वृत्त्यधीन) मनःदेहाधीन। यह जो आत्मबिम्ब धारण करके मनः देह में अवस्थित है, यही मनः देह को चलाता है।

इधर देह का प्रतिबिम्ब मनोमय में पड़ रहा है। इसीलिए, मनोमय भी देखने में देह जैसा है। किन्तु, चूँकि वह देह शुद्ध स्तर में है, इसलिए, बहुत-कुछ संस्कृत है—विकृति कम है।

इसी प्रकार, आत्मा की छाप मन पर पड़ती है और मन की छाप आत्मा पर पड़ती है। मन की छाया आत्मा पर पडने के कारण आत्मा मनोमय, है किन्तु वह मन साकार है; क्योंकि वह देहमय है। यह आत्मा साकार मनोमय रूप में चैतन्यमय है, चैतन्यप्रधान। मन अप्रधान, देह और भी अप्रधान।

आत्मा की छाप मन पर पड़ने के कारण मन आत्ममय—चिन्मय, परन्तु देह की छाप पड़ती है, इसलिए मन साकार भी है।

१९.१२.३७

स्थिति और व्याप्ति

एक भूमि में स्थित होकर प्रभा चारों ओर छिटक पड़ती है। यही व्याप्ति है। जिस किसी स्थान में स्थिति हो, वहीं मस्तक के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र-द्वार में अव्यक्त सत्ता की उपलब्धि हो सकती है। स्थिति होने के बाद क्रिया के फलस्वरूप अव्यक्त सत्ता के आपूरणवश स्वकीय प्रभा चारों ओर छिटक पड़ती है। सबका प्रभामण्डल समान नहीं। किसी का जगद्व्यापक होना भी विचित्र नहीं। किसी की व्याप्ति खूब कम होती है, किसी की अधिक। ऐसा स्थिति की उच्चता या नीचता के कारण नहीं होता। क्योंकि, जिसे निम्न भूमि कहते हैं, उसमें स्थित होकर भी सर्वव्यापक होना विचित्र नहीं। और, ऊर्ध्व-भूमि में स्थित होने से ही व्याप्ति अधिक होगी, यह भी नहीं कहा जा सकता। और, जिस किसी स्थान में स्थित हो, व्याप्ति बिलकुल नहीं रह सकती है। ऐसा हो सकता है कि स्थिति है, व्याप्ति नहीं है। या कि स्थिति भी नहीं है, व्याप्ति भी नहीं है। अन्तिम अवस्था को निर्वाण कहते हैं।

स्थिति है, व्याप्ति नहीं = यह सांख्य के आत्मकैवल्य जैसा है। स्थिति नहीं है, व्याप्ति है = यह वेदान्त के ब्रह्मकैवल्य जैसा है।

दोनों ही अवस्था एकरूप है। वस्तुतः, स्थिति नहीं, व्याप्ति है—यह नहीं होता। यह circle without a centre सदृश है। वास्तव में, इस स्थान में सभी circle ही बिन्दु या centre स्वरूप हैं, अर्थात् स्थिति व्यापक है।

बहु आत्मा के बहुत्व के बावजूद जो कैवल्य है, वही सांख्यीय कैवल्य है। बहु आत्मा एक आत्मा होकर उसके बाद जो कैवल्य-लाभ करती है, वह ब्रह्मकैवल्य है।

२०.१२.३७

प्राप्ति का प्रकार-भेद

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'—जिसकी जैसी भावना, उसकी सिद्धि या प्राप्ति वैसी ही होती है। साधना या क्रिया का फल ही सिद्धि है। यह कैसी है? भावनानुरूप। भावना क्रिया नहीं—यह संकल्प या इच्छारूप या रंजित ज्ञानरूप है। क्रिया करने से ही अग्रसर होना है—किस ओर? पूर्ण की ओर। किन्तु, पूर्ण को पूर्ण रूप में नहीं पाता। इसका कारण है—भावना। जैसी भावना होती है, पूर्ण को उसी प्रकार पाया जाता है। वास्तव में, प्राप्ति क्रिया का फल है, और प्राप्ति का प्रकार भावना का फल।

भावनाहीन क्रिया और क्रियाहीन भावना—इनका फल कैसा है?

यदि सचमुच ही भावनाहीन क्रिया हो, तो वह स्वभाव की क्रिया है। उसका फल नहीं या फल अनन्त है। एक ही बात है। क्रिया का फल है विशुद्ध प्राप्ति—प्रकारहीन प्राप्ति। वही अनन्त फलस्वरूप है। अथवा वह प्राप्ति ही नहीं। प्राप्ति-अप्राप्ति का प्रश्न वहाँ नहीं। वह स्वभाव है। इस अवस्था में जो क्रिया है, वह भावनाहीन है। वह भावना-पूर्वक नहीं। यही विशुद्ध क्रिया अथवा विशुद्ध प्राप्ति या प्रकारहीन सिद्धि है। यही निष्काम कर्म है—योगस्थ होकर कृतकर्म—स्वभावकर्म।

साधारण अवस्था में भावनाहीन क्रिया नहीं होती। भावनाशून्य मन होने पर भी मूल में भावना रहती है। गुरूपदिष्ट क्रिया यदि शिष्य करे, किसी विशिष्ट फल की आकांक्षा न करके भी यदि केवल कर्त्तव्य के अनुरोध से करे, फिर भी वह भावनाहीन नहीं। उसके मूल में गुरु की भावना विद्यमान रहती है। शिष्य न भी जाने, पर फल की प्राप्ति उस भावना से रंजित होने को विवश है। किसी का चक्षु अन्ध है, उसे यदि किसी निर्दिष्ट रास्ते पर खड़ा करके सामने की किसी निर्दिष्ट वस्तु की ओर करके छोड़ दिया जाय और चलने को कहा जाय, तो चलने के कारण वह अन्धा क्रमशः आगे बढ़ेगा। फल होगा कि गति जहाँ समाप्त होगी, वहीं उस वस्तु की प्राप्ति होगी। यद्यपि वह वस्तु उसके लक्ष्य के विषयीभूत नहीं थी, फिर भी उसकी प्राप्ति हुई। क्योंकि, वह चालक का लक्ष्य था, और लक्ष्य के अभिमुख करके ही उसे चलने को कहा गया था।

क्रियाहीन भावना—यह साधारण अवस्था की बात नहीं। क्रियाहीन शुद्ध भावना से सिद्धि नहीं होती। क्योंकि, क्रिया के बिना व्यवधान दूर करने का कोई उपाय नहीं। साध्य और साधक का व्यवधान क्रिया से ही कटता है। साध्य = स्वभाव या पूर्ण, उसे प्राप्त करने का उपाय क्रिया ही है। विशिष्ट साध्य को प्राप्त करने के लिए क्रिया आवश्यक नहीं, भावना आवश्यक है। किन्तु, साध्य-सामान्य प्राप्त होने से साध्य-विशेष प्राप्त होना सम्भव है। साध्य-सामान्य की प्राप्ति ही विशुद्ध क्रिया का फल है। यही क्रिया ज्ञान है। सामान्य में विशेष का उद्घाटन भावना का फल है।

विशुद्ध क्रिया और साध्य-सामान्य की प्राप्ति एक ही है। इस प्राप्ति को फल कहना न कहना बराबर है। यह नित्य प्राप्ति है। जैसा नित्य चक्र—क्रिया भी चलती है, फल का भी स्फुरण होता है—अनादि, अनन्त। यही ज्ञान है। यों कहिए, यही चैतन्य है।

२७.१२.३७

[१]

क्रिया करते-करते तेज क्रमशः ऊपर उठता रहता है। लेकिन, परदे का लंघन नहीं कर सकता। क्रमशः जमा होता रहता है। जमा होते-होते एक ऐसा समय आता है कि परदा हठात् फट जाता है—यही प्रकृत अवस्था है। उसके तुरत बाद ही द्वार फिर बन्द हो जाता है। फिर, इस पार-उस पार अलग हो जाता है। इसीलिए ऊपर उठने से फिर उतरता नहीं है। बीच का परदा सदा रहता है। [जब नहीं रहता, तब सर्वदा अभेद

रहता है—जड-चेतन का भेद भी लुप्तप्राय होता है। आत्मा विभुरूप में साक्षात्कृत होती है], लेकिन ढीला हो जाता है। क्रिया के फल से तेजराशि जितना ही ऊपर उठती रहती है, द्वार खुलने के समय उतना ही नजदीक होती है।

[२]

व्याप्ति पूर्ण होने पर स्थिति स्थायी होती है।

३.१.३८ (बनारस)

[१]

शुष्क कर्मपथ और भावना या उपासना-पथ (=ज्ञानसमुच्चित कर्म) अलग है। कर्मपथ है—मैं देह से अलग होकर चलता रहूँगा। चलते-चलते दशाश्वमेध पहुँचूँगा। ऐसे में रास्ता मालूम होना चाहिए। असंख्य पथ हैं—सीधे-टेढ़े बहुत-से रास्ते। जो जी चाहे, पकड़कर चल सकता हूँ। यही होगा कि समय कम या ज्यादा लगेगा। पथ चलने के समय लक्ष्य स्पष्ट देखा नहीं जाता। परन्तु, स्पष्ट रूप में रहता है। चरम पर स्पष्ट होता है—तब प्राप्ति होती है। इस पथ में बाधाएँ बहुत हैं। चलते-चलते लोभ या भय, किसी भी कारण से विचलित होना सम्भव है।

दूसरे रास्ते से दशाश्वमेध जाने के भाव का अवलम्बन करके देह से बाहर होते ही सीधे दशाश्वमेध घाट मिलेगा। यह सीधा रास्ता है। यह स्थान भी दशाश्वमेध में एक सरल रेखा का रास्ता है। यहाँ पहले जैसा बहुत रास्ता नहीं। एक ही रास्ता। यहाँ चूंकि लक्ष्य स्पष्ट था, इसलिए देह छोड़ते ही लक्ष्य सामने दिखाई पड़ा। एक और भी रास्ता है। वह शुष्क कर्म नहीं, ज्ञानसमुच्चित कर्म नहीं, शुद्ध ज्ञान है। इसे रास्ता भी कहा जा सकता है, लक्ष्य और पथ का मिलन भी कहा जा सकता है। यहाँ दशाश्वमेध-भावना के साथ-ही-साथ देहाध्यास-निवृत्ति के बाद ही अपने को दशाश्वमेध में देखा जाता है। यहाँ सीधा रास्ता भी नहीं—रास्ता (=सरल रेखा) यहाँ बिन्दुरूप में परिणत हुआ है।

शुष्क कर्मपथ से दशाश्वमेध का मिलना coincidence मात्र है। क्योंकि, देह-त्याग के समय दशाश्वमेध-भावना नहीं थी—दूसरी भावना थी। जो भावना थी, वही प्रबल होकर प्रकट होती है। दशाश्वमेध काकतालीय न्याय से दीर्घकाल में प्राप्त हो सकता है—लेकिन वह अनिश्चित है; क्योंकि वह अन्तिम लक्ष्य तो नहीं था। इसलिए, लक्ष्यभेद ठीक नहीं। जो जीवन का लक्ष्य है, वही अन्तिम लक्ष्य होना आवश्यक है। अन्तिम भावना ही प्रधान है। जीवन का लक्ष्य अन्तिम भावना का विषय नहीं होने से परलोक में उसका पता पाना कठिन है। क्योंकि, एक के बाद दूसरी भावना आकर उसे आच्छन्न कर देती है।

ज्ञान-कर्मपथ से या उपासना के पथ से लक्ष्य की प्राप्ति देहत्याग के बाद सरल पथ से होती है। देहत्याग के साथ-ही-साथ वह दिखाई देता है। लेकिन, थोड़ा चलना होता है। ज्ञान के फल से वह सामने स्पष्ट प्रतिभासमान होता है। कर्म के लिए चलना आवश्यक है। अनावृत मार्ग। ज्ञानपथ से देहत्याग करते ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है, देखने का अवसर नहीं होता।

[२]

दीक्षा के समय गुरु ज्ञानचक्षु खोल देते हैं। उस चक्षु के सामने इष्ट देवता (लक्ष्य) प्रकट होते हैं। इस चक्षु के सामने देवता सदा ही प्रकट रहते हैं। लेकिन, चक्षु के परदे को क्रिया के द्वारा हटाना पड़ता है। यह परदा स्थूल देह का संसृष्ट है। इसीलिए, मरने के समय स्थूल देह के कट जाने से वह परदा हट जाता है। उस समय जीव ज्ञानचक्षु के सहारे इष्टदेवता के धाम को जाता है। यदि योग आदि के द्वारा जीवितावस्था में भी वह स्थूल देह-सम्बन्ध छिन्न किया जा सके, तो जीवन-काल में भी सामयिक तौर पर वह गति मिलती है।

६.१.३८

[१]

जिसका जन्म नहीं, उसकी मृत्यु नहीं। स्वभावतया ही ऐसा लगता है। लेकिन, लौकिक बुद्धि से अन्वेषण करने पर कुछ और ही देखा जाता है। अवश्य यह देखना ज्ञान और महाज्ञान-प्राप्ति के लिए है। जो देह (स्थूल) लेकर हम व्यवहार करते हैं—उसका जन्म (=आदि) खोजकर नहीं पाते। जितना ही पीछे जायँ, उतना ही जा सकते हैं। यह अनादि है, इसलिए बुद्धि को ग्रहण करना होता है। अवश्य पहले पूर्वदेह बहुत थी—लेकिन, एक ही स्थूल देह का विशिष्ट-विशिष्ट रूप। इस मूल स्थूलदेह को आदि के रूप में नहीं लिया जा सकता। यह अशुद्ध देह है।

दीक्षा या उपनयन को द्वितीय जन्म कहते हैं। क्या जनमता है? वह भी देह। अवश्य विशुद्ध देह (of 'विशुद्धज्ञानदेहाय' etc.)। यही वास्तव सूक्ष्मदेह, ज्ञानदेह है। इस विशुद्ध देह का आदि जाना जाता है, पर अन्त नहीं जाना जाता। सुतरां यह विशुद्ध-देह अन्तहीन या अमर है। यही अमृत देह, दिव्य देह है। इसका अन्त नहीं। हजारों-हजार शुद्धदेह का ग्रहण हो सकता है, किन्तु यह मूल शुद्धदेह उसमें रहेगी ही। वह सब नाना देह इस एक शुद्ध देह के केवल अवान्तर भेद हैं।

अशुद्ध देह एक है, पर उसके अवान्तर भेद का उत्कर्ष-अपकर्ष है। वैसे ही शुद्ध देह के एक होने पर भी उसका भी उत्कर्ष-अपकर्ष है। इसीलिए, शुद्ध देह की भी ऊर्ध्वगति या अधोगति होती है। शुद्ध देह की अधोगति चाहे जितनी हो, वह भी शुद्ध देह ही होती है - अशद्ध देह नहीं। एक बार शुद्ध देह प्राप्त होने पर मूल शुद्ध देह रह ही

जाती है। उन्नति-अवनति जो होती है, वह अवान्तर देह की। अशुद्ध देह का भी ऐसा ही होता है। उस देह के अवान्तर भेद का कितना ही उत्कर्ष क्यों न हो, वह कभी शुद्ध देहस्वरूप नहीं होती।

उत्कर्ष से अशुद्ध देह शुद्ध नहीं होती—इसी प्रकार अपकर्ष द्वारा शुद्ध देह अशुद्ध नहीं होती।

अशुद्ध देह के आदि का पता नहीं चलता। अवसान का पता चलता है। वह शुद्ध देह में; क्योंकि शुद्ध देह पाने पर फिर अशुद्ध देह का पता नहीं चलता। वैसे ही शुद्ध देह के अन्त का पता नहीं मिलता, आदि का मिलता है। यही आदि अशुद्ध देह है। इसी से शुद्ध देह का आविर्भाव होता है।

किन्तु, अशुद्ध का आदि आपेक्षिक भाव से है, जैसे कल्प का आदि, आदि में। उसी तरह शुद्ध देह का आपेक्षिक अन्त है। वह लोकान्त में ज्योति में। वहाँ देह या आकार के होते हुए भी अत्यधिक ज्योति के होने से निराकार आत्मा का भान होता है। एक ही आत्मा। सब आत्मा ही वहाँ ज्योति-रूप है, इसीलिए कोई किसी को देखती नहीं। एक ही 'मैं' स्वप्रकाश ज्योतिरूप में प्रतिभात होता है। परन्तु, इस निराकार में भी जो आकार है, वह स्फुरण होने से समझा जाता है। स्फुरण होने से अपनी-अपनी शुद्ध देह फूट उठती है।

[२]

तो फिर निर्वाण क्या नहीं है ? स्फुरण के अतीत ज्योति-राज्य ही निर्वाण-राज्य है, अर्थात् कला के विकास से ही ज्योति है। यदि अत्यधिक कला का विकास होता है, तो फिर स्फुरण नहीं होता, अर्थात् वह इतने गहरे प्रदेश में जाती है, जहाँ स्फुरण सम्भव नहीं होता।

व्याप्ति के बाद निर्वाण। जिसका प्रभामण्डल यह जगत् है, उसकी कला का विकास यदि समान-समान हो, तो व्याप्ति पूर्ण होती है। उससे अधिक होने से अतिरिक्त अंश जगत् के बाहर चला जाता है। यह ऐश्वर्य की अतीत अवस्था है—एकपाद और त्रिपाद विभूति के अतीत। यह वह ज्योति है, जिसमें जगत् तिरता है। जितनी कलाओं के विकास में यह जगद्भासक ज्योति है, उससे अधिक कला का विकास रहने से उस ज्योति से भी परे हो जाता है। वह निबिड अन्धकार है—वह ज्योति की ही अत्यन्त ही घनीभूत अवस्था है। यही निर्वाण-राज्य है। वास्तव में, ज्योति के सिवाय अवस्था नहीं। यदि है, ऐसा मान लें, तो वही निष्कल है।

[३]

दीक्षा से क्या होता है ? जिस मूल कारण से गर्भवास होता है, वह एक बिखरी-सी चीज है—अज्ञान, मल आदि। वह नष्ट होती है। पूर्ण का निग्रह ही इस मल या

अज्ञान का कारण है। उनका अनुग्रह ही इसका नाशक है। दीक्षा उसी अनुग्रह का फल है। यह नाश दीक्षाकाल में भी हो सकता है, शीघ्र भी हो सकता है। इसीलिए, क्रमदीक्षा की आवश्यकता हो सकती है। किन्तु, पहली दीक्षा में मल निवृत्त होता है। इसीलिए, दीक्षा होने से फिर यहाँ पुनरागमन नहीं होता। अवश्य, दो-एक बार आना हो सकता है, वह यहाँ की दीक्षा पूरी करने के लिए। किन्तु, उस आने का कोई मूल्य नहीं; क्योंकि उससे बाधा नहीं।

मर्त्यलोक से छुट्टी मिलने पर भी दीक्षा की आवश्यकता है। वह छुट्टी देनेवाली दीक्षा negative और सामान्यतः positive है। विशेष व्यक्ति के लिए विशेष दीक्षा भी है।

८.१.३८ :

सत्ता। यह अव्यक्त है।
सत्ता। यह ज्ञापमान ज्ञान है।

९.१.३८ :

प्रत्येक की एक स्थिति है। स्थिति को बचाते हुए आधार बढ़ाया जा सकता है। बुद्धि की भी एक सीमा है। उसका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता।

हम दो पृथक् राज्य देखते हैं : जीव और ईश्वर। जीव की प्रत्येक अवस्था में ईश्वर से contact है। ईश्वर की हर अवस्था से ही परमेश्वर से contact है। परमेश्वर की अवस्था में निष्कल का साक्षात् होता है।

सकल { शुद्ध जीवरूप में जीव की एक स्थिति है।
ईश्वर-रूप में उसकी एक स्थिति है।
परमेश्वर-रूप में भी उसकी स्थिति है।

सर्वातीत निष्कल स्थिति। अशुद्ध जीव की स्थिति नहीं, लेकिन आभास है।

जैसे : A. जीवरूप में इसकी स्थिति जैसे ४० कला में
ईश्वर-रूप में स्थिति मानो ८४ कला में
परमेश्वर-रूप में स्थिति सबकी अनन्त कला में।

A. तपस्या करते-करते कलावृद्धि में ४० कला पाने से ही सिद्ध होंगे। उसका जीवाधार पूर्ण होगा। उसके बाद भी यदि तप करे, तो ईश्वरत्व आयगा। ८४ कलाओं तक बढ़ सकता है। इन ८४ कलाओं में उसका ईश्वरत्व प्रतिष्ठित होगा। और भी तपस्या करने से कलावृद्धि में दो प्रकार की गति सम्भव है।

१. यदि अपनी ओर लक्ष्य रहे, तो उसी से साधनज कला की योजना होगी। फलस्वरूप, वह ज्योति में मग्न होगा। वस्तुतः, वह अनन्त कलामय ईश्वर में लय हो जायगा। यही निर्वाण है। वहाँ कला का संख्यान नहीं रहता। वह विभु होकर अतीत

होगा। निर्वाण में भी अनन्तकाल तक कलावृद्धि चलेगी या नहीं, यह बात स्वतन्त्र है। वह परमेश्वर में लीन हो गया, परमेश्वर नहीं हुआ।

२. यदि वह करुणापर हो, तो जगत् की स्मृति जगेगी। किन्तु, उसमें अतिरिक्त साधनज कला की योजना नहीं होगी—वह बाहर हो पड़ेगी, जगत् में जायगी। यह परोपकार है। यही गुरुतत्त्व है। वह जितनी ही साधना करेगा, उसका तेज जगत् पायगा। उससे जगत् का कल्याण होगा। यह भी परमेश्वरत्व नहीं है।

यह अतिरिक्त तेज दो प्रकार का काम करता है। यदि उसका लक्ष्य परमेश्वर की ओर हो और करुणा भी हो, तो वह तेज परमेश्वर की सत्ता में संचित होता रहेगा। जो-जो उस ईश्वरभावापन्न जीव का उपासक या भक्त है, वही उस तेज को पायगा। वास्तव में, वह जीव-ईश्वर अपने रूप में ही रहेगा। उसका संचित तेज आकर्षण के कारण जगत् में उतरेगा।

यदि वह ईश्वरभावापन्न जीव (=देवता) और तपस्या न करे, तो वह उपास्य नहीं होता—उसे अतिरिक्त तेज नहीं रहने के कारण उसका तेज जगत् में नहीं उतरेगा। यदि वह करुणापर हो, तो तेज उतरेगा—उसकी हानि भी होगी। उसमें न्यूनता होगी। परन्तु, तप से उसकी पूर्णता सम्भव है। करुणा नहीं रहने से वह स्वस्थान में ही रहेगा। उससे जगत् का काम नहीं होगा। जगत् का काम त्यागी से होता है। ये वस्तुतः गुरु नहीं हैं।

पूर्णत्व का रास्ता इससे अलग है। वह केवल परमेश्वर का अनुग्रहसापेक्ष है। उस पथ का कुछ आभास पा रहे हैं। ईश्वर-भूमि में प्रतिष्ठित होकर जीव अगर करुणा-वश अपनी सब कला त्याग कर सके (अभिमान छोड़कर—थोड़े-थोड़े दान के द्वारा नहीं, एक साथ पूर्ण दान के द्वारा), तो रिक्तता से परमेश्वरत्व का योग हो जाता है। वह योग फिर छूटता नहीं। यह परमेश्वर-साम्य है। वैसे में अनुग्रह आने से परमेश्वरत्व-लाभ होता है—अपने-आप ही पूर्ण हो जाता है।

परमेश्वरत्व प्राप्त होने से उसका एक बिम्ब रह जाता है। उससे समझ में आता है कि किसकी वह अवस्था हुई है।

९.१.३८; रात्रि, चुनार :

कला से ही लिंग-निर्माण होता है। क्रम यों है :

निष्कल = वस्तु = प्रकाश (not ज्योति : which has a source)

कला

ज्योति :

अन्धकार its source is गुण।

गुण (अवस्तु) = तम। यह अवस्तु का अंश है (कल्पित)।

कला के विना ज्योति नहीं होती–ज्योति है, तो कला है। इस ज्योति से वस्तु या प्रकाश आवृत है। राज्य दो––ज्योति और अन्धकार।

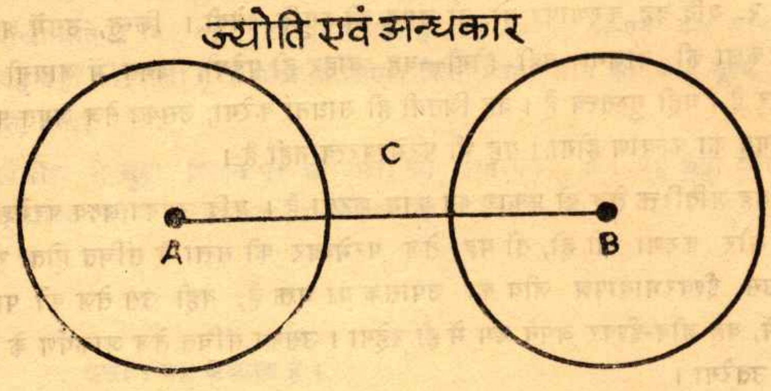

ज्योति-राज्य   अन्धकार-राज्य

ज्योति के राज्य से अन्धकार के राज्य में गति होती है, अन्धकार-राज्य से ज्योति-राज्य में भी होती है। दीक्षा के समय प्रथम होकर द्वितीय होती है। वस्तु का (कल्पित [?]) अंश ही कला है, उसकी प्रभा ही ज्योति है। अवस्तु का अंश ही (कल्पित [?]) गुण है, उसकी प्रभा ही अन्धकार है। वास्तव में, वस्तु का अंश नहीं, अवस्तु का भी अंश नहीं। लेकिन एक हिसाब से है, कहा जा सकता है। सुतरां वस्तु (सत्) = निष्कल, अ-वस्तु (असत्) = निर्गुण।

कला की समष्टि ही बिन्दु है। १६ कलाएँ एकत्र नहीं होने से बिन्दु नहीं होता। १५ कलाओं में बिन्दु होता है, वह रहता नहीं, टूट जाता है। १६ कलाओं के विना अमृतबिन्दु नहीं होता।

अन्धकार-राज्य में भी इन कलाओं का संचार होता है। अन्धकार-राज्य में १५ कलात्मक बिन्दु है—अधिक नहीं, अधिक रह नहीं सकता। अमृतबिन्दु नहीं है। इसीलिए, बिन्दु होता है और टूटता है। पूर्णिमा के बाद अमावास्या आती है—शुक्ल-कृष्ण, दोनों ही पक्ष हैं। इसीलिए, अन्धकार-राज्य की कला शुद्ध होते हुए भी शुद्ध नहीं है। नित्य ही तमोमिश्र। अमृतबिन्दु = शुद्ध सत्त्व। अन्धकार का १५ कलात्मक बिन्दु = मिश्र सत्त्व। उसकी ज्योति जितनी ही शुद्ध हो, एकबारगी शुद्ध नहीं होती। कुछ अन्धकार रहता है। यह मूल में जो अन्धकार है, जो छूटता नहीं, वही original sin है, मूल अविद्या etc. etc.

इस अन्धकार की जो केन्द्रभूमि है, वहाँ ज्योति या कला का संचार नहीं होता। अखण्ड होने के नाते वह अंशहीन या निर्गुण है। वह अन्धतमस् है। १५ कला तक बिन्दु लेकर वहाँ जाया नहीं जा सकता। वहाँ जाने से पन्द्रहों कलाएँ आच्छन्न हो पड़ेंगी। वही जडत्व या प्रकृतिलय है। वही मूल असत् है; वस्तुतः वह भी निष्कल, निर्गुण है। सत्

या वस्तु = निष्कल, निर्गुण। अतएव, सत् और असत् चरम में पहुँचकर एक हो गया। किन्तु, एक होने पर भी कला की ओर से ही जाना पड़ता है, ज्योति की ओर से ही जाना पड़ता है ; गुण, तम की ओर से नहीं।

वस्तु जैसे ज्योति नहीं, कला भी नहीं, वैसे ही अ-वस्तु भी अन्धकार नहीं, गुण भी नहीं। वस्तु ज्योति की पूर्णता में ज्योति के अतीत है--वहाँ अन्धकार की सम्भावना नहीं। कला या ज्योति पूर्ण होने से transcendent ही रहती है, ज्योति का भान नहीं होता। गुण या अन्धकार पूर्ण होने पर भी transcendent ही रहता है, अन्धकार का भान नहीं होता। फिर भी, बोध का पथ ही पथ है। अभी जो १५ कलात्मक बिन्दु कहा गया, वही चित्त या मन है। वही लिंग है। अतएव, इसमें कुछ अन्धकार रहेगा ही, मार्जन चाहे जितना हो।

दीक्षा आदि के फल से १६ कलात्मक बिन्दु के संस्पर्श से शुद्ध कला का जागरण होता है। ● = बिन्दु (अमृत) एवं ˙....˙ ये कलाएँ हैं। अमृतबिन्दु-पात होने से ही = ˙ होता है। मनुष्य-देह में ८ कलाएँ पूर्वसिद्ध रूप में रहती हैं, इसीलिए बिन्दुपात होकर विकास होते-होते ८ कलाओं का विकास होने से मनुष्य पूर्णत्व-लाभ करता है, देवत्व प्राप्त करता है। ˙ यही ८ कलाओं का विकास देवचक्षु का विकास है। क्रम के हिसाब से यह १६ कला है—वास्तव में आठ कला। वास्तव में जो १६ कला है, क्रम के हिसाब से वह ३२ कला है, वह ⊙ है। यही मस्तक का चक्षु है। ˙ से ⊙ इसके पहले तक देवभाव। ⊙ = पुरुषभाव, आत्मा। चारों ओर का चक्षु इसके बाद। वह = ●। यह बिन्दु है, परिधि और विकीरण। सब एकाकार और एकाधार। यह = ३८ कला (?)।

देवचक्षु इस देह में रहते हुए देवदर्शन या दिव्य व्यवहार के उपयोगी होता है। देवचक्षु-भेद करने से, अर्थात् उस चक्षु होकर बाहर होने से मात्र मस्तक का चक्षु ही काम करता है। क्योंकि उस समय देवचक्षु अनावश्यक है। लेकिन, गोलोक में मस्तक का चक्षु भी काम नहीं करता। चारों ओर का चक्षु काम करता है। मस्तक में अधोदृष्टि काम करती है (पैरों के नीचे का चक्षु)।

१. कला के विना बीजभाव का विकास नहीं होता। अति (उद्भिज स्वेदज १)। पहले कला के आभास से जीव की उत्पत्ति होती है। मशक आदि (श्वास-स्वेद से जन्म)।

२. कला से जीव (१-४ कला) [पृथ्वी का (अण्डज २)], उत्तर ओर की शंख-मुखवाली कला।

३. कला से जीव (५-८ कला)—[झटिका (जरायुज ३) की कला]

४. कला से जीव (९-१२ कला) [मनुष्य ४] [देवलोक की कला]

५. कला से जीव (१३-१६ कला) [देवमनुष्य]। प्रथम दीक्षा की प्रारब्ध', कलाएँ देवलोक से आती हैं।

६. कला से जीव (१७–३२ कला) दूसरी दीक्षा के बाद। [देवता] कलाएँ ध्रुवलोक के ऊपर से आती हैं।

७. कला से जीव (३३–३८ कला) तीसरी दीक्षा के बाद। [देवता] कलाएँ गोलोक के ऊपर से आती हैं।

ज्ञानलाभ से पहले योग-साधना नहीं होती। क्योंकि, शुद्ध १६ कलात्मक बिन्दु के संसर्ग के विना शुद्ध कला नहीं मिलती। यदि ज्ञान से पहले मन्थन द्वारा १५ कलात्मक बिन्दु का शोधन किया जाय, तो उसमें से मैल या अन्धकार जरूर हटेगा। परन्तु, मूल का अन्धकार हरगिज नहीं हटेगा। इसलिए, पहले जिस हटने की बात कही गई, उसका कोई मूल्य नहीं; क्योंकि जो हटेगा, उसकी आपूर्ति हो सकती है। यही साधारण पुण्य कर्म है, जिसमें मूल मल रह जाता है, परन्तु ऊर्ध्वगति होती है। फिर से उतर आता है। वास्तविक विकास (real growth) नहीं होता। परिश्रम व्यर्थ होता है, व्यर्थ = फल स्थायी नहीं होता। ज्ञान के बाद जो कुछ भी परिश्रम हो, सब सार्थक होता है। जितना भी फल होता है, वह नष्ट नहीं होता।

लेकिन, एक बात है। यदि बहुत ही तीव्र परिश्रम से प्रायः १५ कला तक शुद्ध होता है—थोड़ी न्यूनता रहती है, जो अन्धकार के कारण वहाँ से हटाया नहीं जा सकता—तो उस समय स्वभाव के नियम से अमृतबिन्दु या षोडशी कला उतर आती है। १५ कला पूर्ण होकर षोडशी में परिणत होती है। यही अमृतबिन्दु है। परन्तु, इसका स्फुरण क्रमशः होता है। जैसे ".... " आदि। बिन्दु एक ही है। शुद्ध कला के उत्कर्ष से बिन्दु क्रमशः स्पष्टतर हो उठता है। यह मुख्यतर साधनपथ है। फलस्वरूप, कृपा आती है।

और फिर, अमृतबिन्दु का संचार पहले भी हो सकता है। उसके बाद साधना के क्रम से उसका विकास होता है। इस अवस्था में चूँकि शुद्ध कला का प्रकाश नहीं हो सकता, इसलिए अमृतबिन्दु का पता नहीं चलता। अर्थात्, बिन्दु है ही, कला का भी प्रकाश भीतर-भीतर होता है—बाहर से जाना नहीं जाता। साधना के परिपाक से बाहर पता चलता है। यह मुख्यतर कृपापथ है।

साधना = चक्र की क्रिया। इस क्रिया से कला का विकास होता है। और, चक्र कला के संचार से क्रिया करता है।

चक्र तीन प्रकार का है :

१. चक्राभास। यह क्षुद्र जीव की देह में काम करता है। यहाँ कलाभास काम करता है, कला नहीं।

२. छोटा चक्र (छोटा)। यह ८ कला तक देह में रहता है। मनुष्य के नीचे। यहाँ नीचे की कला काम करती है। लेकिन, इस देह में देवलोक की कला काम नहीं करती।

३. छोटा चक्र (बड़ा)। यह ९–१२ कला तक देह में––मनुष्यदेह में काम करता है।

४. बड़ा चक्र (छोटा)। यह दीक्षा के बाद मनुष्यदेह में काम करता है। ये षट्चक्र हैं––मूलाधार आदि। १३–१६ कला का विकास।

५. बड़ा चक्र (मध्यम)। यह १६ कला के बाद ३२ कला तक विकास में काम करता है।

६. बड़ा चक्र (बड़ा)। यह ३२ कला के बाद ३८ या उसके बाद तक काम करता है।

७. बिन्दु या शून्य या निष्कल।

१–८ विकास—due to प्रकृति।
९–१२ ,, —due to कर्म या पुरुषकार।
१३–१६ ,, —due to कृपा (=ज्ञान) through दीक्षा (१)
१७–३२ ,, —due to कृपा (=ज्ञान) through दीक्षा (२)
३३–३८ ,, —due to कृपा (=ज्ञान) through दीक्षा (३)

९–१२ मनुष्य-विकास। यह विकास कैसे होता है? ये कलाएँ देवलोक से आती हैं। मनुष्य के किये कर्मों से बार-बार जो सुख-दुःख का भोग होता है, उसका निर्यास संचित होकर यह विकास होता है। भोग का निर्यास=कला ही है। सुख या दुःख भोग करते-करते मूलतः थोड़ी-थोड़ी कलावृद्धि होती है। लेकिन १२ कला के बाद नहीं होती। उस समय वैराग्य आता है। क्योंकि, उस समय नारायण की दृष्टि पड़ती है। उसके बाद कृपादृष्टि पड़ती है, दीक्षा होती है। उसके बाद फिर कलावृद्धि होती रहती है।

१२ कला तक जिस किसी अवस्था में दीक्षा चलती है। १२ कला के पहले दीक्षा होने से विकास साथ-ही-साथ होता है—एक भोग के द्वारा। यह १२ कला पूर्ण करने के लिए; दूसरा साधना (कृपामूलक) द्वारा (१३ से ऊपर)। १२ पूर्ण होने से तो होगा ही–– पहले भी हो सकता है। कला से या कला-सहित ज्योति ऊपर उठती है। वही कानों में नाद-रूप सुना जाता है। दायें कान में अमृतनाद, बायें में काल का नाद।

आँख मूँदने से जो अन्धकार दिखाई देता है, वही द्वादश कला और त्रयोदश कला के बीच का आवरण या परदा है। दीक्षा के बाद शुद्ध कला के विकास के क्रम से वह अन्धकार घटता रहता है––षोडश कला के विकास में आँखें बन्द करने पर भी प्रकाश ही रहता है, अन्धकार नहीं रहता।

दिव्य चक्षु से सामने का आधा ही दिखाई देता है, पीछे का नहीं। स्थूल देह में रहते हुए देवचक्षु से अपने पीछे स्थित देवता नहीं दिखाई पड़ेंगे–सामने के दिखाई

पड़ेंगे। षट्चक्र के क्रियाकाल में षोडश कला के विकास में बिखरा लिंग एकाग्र होता है। सूक्ष्मदेह देवलोक से चली आती है। वह ज्ञानी के देहरूप में परिणत होती है। तब वह स्थूल से बाहर हो सकती है। उस समय देवलोक में कारण रहता है।

ब्रह्मचर्य, तपस्या आदि के फल से कला क्रमशः ऊपर उठती है। परन्तु, अब्रह्मचर्य, अधर्म आदि कारणों से कला ऊपर से उतर आती है। लेकिन, कला यदि ऊपर जाकर जम जाय, तो नहीं उतरती है। षोडश कला पूर्ण होने से जम जाती है। वैसे में वह नहीं उतरती। उसके आसपास होने से भी नहीं उतरती।

११.१.३८ :

[१]

Higher light से lower light दिखाई पड़ती है--परन्तु, lower से higher नहीं दिखाई पड़ती। समान-समान होने से दर्शन नहीं होता।

[२]

कला से जो ज्योति बाहर होती है, उसी में प्रतिबिम्ब पड़ता है। जब व्यापक ज्योति होती है, तब अपने बाहर-भीतर समान ज्योति होती है--तब प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। अपना शरीर ज्योतिर्मय होने पर प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। मस्तक में चक्र खुलने से अपनी देह ज्योतिर्मय होती है।

ज्योतिर्मय होने से भी प्रतिबिम्ब तैयार हो सकता है, यदि अधिकतर स्वच्छ ज्योति व्यापक रहे, अर्थात् यदि विषम ज्योति हो।

[३]

जब दोनों ज्योतियाँ बराबर होती हैं, तब दोनों मिलकर एक होती हैं या एक दिखती हैं।

[४]

सत्त्व प्रकृष्टपूर्ण (१५ कला)---नहीं। चारों ओर अंशरूप में बिखरा हुआ है। ये ही गुण हैं। ये सत्त्व के ही अंश हैं। उनमें तम का अंश मिला हुआ है। यह सत्त्वांश + तमो-अंश = रजः या कण। रजः जब नहीं रहता, शुद्ध तम अलग हो जाता है। यही विरजा होना है, विरजा भेद, विरजा होम आदि। यह शुद्ध सत्त्व = बिन्दु—उसके स्फुरण से शुद्ध कला संसृष्ट रूप में पाई जाती है। एकबारगी शुद्ध बिन्दु होता है मस्तक के ऊपर— बिन्दु ही शून्य या ब्रह्म है।

बौद्धों का क्षणभंग, योगियों का अवस्था-परिणाम---इसी कला का खेल है।

क्षणकाल—(त्रि)काल

अवस्था—लक्षण और अवयवी—धर्म ।

विवेकज ज्ञान के मूल में यही क्षण और उसके क्रम की सत्ता है ।

[६]

बातचीत में भी कला बाहर हो जाती है—दृष्टिपथ से अधिक कला निकलती है । यह कला देखकर समझ में आता है कि आदमी किस स्तर का है । जिसके अन्दर शुद्ध कला काम कर रही है, जिसकी दीक्षा हुई है, जिसकी कुण्डलिनी का उन्मेष हुआ है—उसका पता कला से मिलता है ।

कलाएँ निकलकर कहाँ जाती हैं ? सम्भवतः इन्हीं से निम्न स्तर के जीव तैयार हो रहे हैं ।

एक ओर से कला बाहर हो रही है । दूसरी ओर से ग्रहण हो रही है । ऊर्ध्वलोक में जो कला विसर्ग कर रही है, नीचे का लोक उसे ग्रहण कर रहा है ।

मण्डल से जो कला विसर्जित हो रही है, वह गोलोक में संगृहीत हो रही है ।

गोलोक से जो कला विसर्जित हो रही है, ध्रुवलोक में संगृहीत हो रही है ।

ध्रुवलोक से जो कला विसर्जित हो रही है, स्वर्ग में संगृहीत हो रही है ।

स्वर्ग से जो कला विसर्जित हो रही है, दो रास्ते से उतर रही है ।

(क) माथे के भीतर से । यह देवलोक में उतर रही है ।

(ख) शुद्ध पथ से । यह दीक्षित मनुष्य के निकट उतर रही है ।

देवलोक से जो कला उतर रही है, वह अदीक्षित मनुष्य में उतर रही है ।

झटिका जो कला उतर रही है, उच्चजीव और उत्तर शंख में उतर रही है ।

उत्तर शंख से जो कला उतर रही है, निम्नजीव और (??) में उतर रही है ।

[७]

जड़ पदार्थ में grades हैं । इसीलिए, कला है । प्रत्येक वस्तु से कला का निःसरण हो रहा है । प्रत्येक जीव से भी कला का निःसरण हो रहा है ।

कला का भोग कौन करता है ? अग्नि । सब अग्नि सब कला का भोग नहीं कर सकती । माथे के ऊपर की कला का भोग अग्नि नहीं कर सकती । वह अमृतकला है । अग्नि = काल । अग्निकला काल में से मृत्युकला (१५ कला के अन्तर्गत कला)-रूप में जगत् में उतरती है । यही भावविकार (जन्म, सत्ता आदि) है ।

११.१.३८; चुनार स्टेशन : way to विन्ध्याचल (written at Vindhyachal at night)

[१]

दीक्षा बहुत प्रकार की है । चाक्षुषी दीक्षा में चक्षु की राह कला बाहर आती है और शिष्य में प्रवेश करती है । शाब्दी दीक्षा में शब्द के साथ मुँह की राह कला बाहर

होती है और शिष्य में प्रवेश करती है (कान की राह)। नाना दीक्षाएँ हैं—सर्वत्र ही कला के बाहर आने और प्रवेश करने की प्रणाली है। चाक्षुषी दीक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि उभयत्र चक्षु ही (दिव्य) पथ है। चक्षु मस्तक के बाद श्रेष्ठ पथ है। मुख उसके बाद, साथ-ही-साथ (दक्षिण) कान।

ज्ञान के क्षोभ के समय ज्ञानी के मुख की बात में ज्ञान भरा रहता है। एकबारगी ज्योतिर्मय। उसे ग्रहण कर लेने से ज्ञान मिलता है। **कबीर** ने **रामानन्द** से केवल शब्द ही पाया था—यद्यपि अन्य रूप से उच्चारित।

[२]

शुद्ध कला पाने से वह आदमी से बाहर नहीं होती; क्योंकि वह मलिन नहीं होती। मलिन ही बाहर निकलती है और मलिन इसलिए होती है कि भुक्त होती है। शुद्ध कला आते-आते क्रम से संचित होती है। उसका नाश नहीं होता, लेकिन उसपर आवरण पड़ सकता है।

१२.१.३८ प्रातःकाल; विन्ध्याचल :

जहाँ तक काम है, वहाँ तक जगत् है। काम से परे होने से ही—पूर्ण होने से ही— आप्तकाम अवस्था, आत्मलाभ। जिसे ऐसा होता है, उसे भार नहीं होता। यही मुक्ति है।

मुक्त दो प्रकार के हैं :

(क) केवली। इनका घट पूर्ण होता है। काम नहीं। ऊर्ध्वदृष्टि भी (ईश्वर) नहीं। बहिर्दृष्टि भी (जगत्) नहीं—अपने-आप में तृप्त।

(ख) ऊर्ध्वदृष्टि।

१. जगत् के दुःख को स्मरण करके, मुक्त होते हुए भी, ये भगवान् का भजन करते हैं। परिणामस्वरूप भगवत्-शक्ति उतरती है—चूँकि उन्हें स्वयं कुछ लेना नहीं रहता, इसलिए वह छलककर जगत् में चली जाती है। यही परोपकार है। वास्तव में, भगवान् ही शक्ति देते हैं। और फिर, कंगाल बनकर जगत्-रूप में भगवान् ही उसे लेते हैं। दयालु भक्त मात्र निमित्त होकर धन्य होते हैं। भगवान् की इस दुःखविमोचन-लीला के निमित्त भक्त हैं। यही गुरुस्वरूप है।

२. जगत् को विस्मृत करके; इनके भजन में जगत्-स्मृति लुप्त होती है—आत्मस्मृति तो पहले से ही लुप्त रहती है। यही यथार्थ भजन है। जहाँ आत्मा और जगत् का लक्ष्य नहीं। इसका फल है प्रेमास्वादन, लीला का अनुभव। जहाँ अपनी निष्कामता पूर्ण है, वहाँ किसी की बात याद नहीं आती। किन्तु, भजन चल रहा है, वहीं यह प्रेमलीला सम्भव है।

घट पूर्ण होते हुए भी यदि ऊपर से धारा उतरे, तो बाहर हो जाती है। कारण क्या है? कारण है, घट की स्थिति है--इसलिए अतिरिक्त धारा से उसकी व्याप्ति होती है। जैसे X कला में घट की स्थिति। X कला होने से ही घट स्थिर हुआ, उसकी अपनी कामना निवृत्त हुई। [स्थिति] फिर भी कामना रहती है--वह महाकामना या करुणा है। समझना होगा, वह कामना पराये के लिए है—उस समय पर ही अपना बना--इस हिसाब से वृहत् निज की कामना बाकी रहती है। इसीसे परोपकार सम्भव है। वस्तुतः वह भी आत्मोपकार है। उस समय लक्ष्य ऊपर की ओर रहता है। धारा उतरकर चारों ओर व्याप्त हो रही है, फलस्वरूप अपनी सत्ता व्याप्त हो रही है या व्यापक निज सत्ता की प्राप्ति हो रही है। कैसे? दान के द्वारा। स्वाभाविक दान के द्वारा।

X के चारों ओर जगत्--ऊपर परमात्मा। X जितना ही व्याप्त हो रहा है, परमात्मा की दूरी उतनी ही कम हो रही है। फलस्वरूप, ऐसा एक समय आता है, जब X सर्वव्याप्त हो जाता है। तब परमात्मा का व्यवधान नहीं रहता। मगर रहता है। तब X का भीतर-बाहर नहीं, X तब जगदात्मक है। उस समय करुणा नहीं रहती। उस समय वह परम तृप्त है। वास्तव में, इसी अवस्था में उसके लिए पृथक् कोई जगत् नहीं--वह और जगत् एक ही वस्तु है। [महास्थिति]

व्यवधान नहीं है, यह कहना ही यहाँ उसकी महास्थिति है।

व्यवधान है, ऐसा मानने से ऊपर दृष्टि या भजन रहता है। शक्ति का अवतरण रहता है। फल--प्रेमलीला।

स्थिति या महास्थिति--दोनों ही स्थानों से प्रेमलीला में प्रवेश होता है। स्थिति से उस लीला में जाने से सदावस्थान नहीं भी हो सकता है, करुणा के प्रभाव से। संसार का दुःख दूर करने के लिए उसे संसार में जाना भी पड़ सकता है। उस प्रकार से अपनी व्याप्ति पूर्ण करके लीला में आने से स्थायी होती है।

जो महास्थिति से जाता है, उसे कोई झंझट नहीं रह जाती--प्रेमलीला में अनन्त-कला का खेल होता है।

स्थिति में निर्दिष्ट कला—व्यष्टि।

महास्थिति में भी निर्दिष्ट कला—समष्टि।

कारण, व्यष्टि में भी सीमा है। जहाँ तक जगत् है, वहाँ तक व्याप्ति होती है। जगत् के बाहर अनन्त कला।

१२.१.३८ मध्याह्न; विन्ध्याचल :

वासना क्या है? जल की कमी = जल की वासना। अतएव, वासना का अर्थ है कला का अभाव-बोध। अभाव-बोध के मूल में अभाव की सत्ता है। अभाव की सत्ता न हो, तो अभाव का बोध नहीं हो सकता। [अभाव की सत्ता रहने पर भी बोध नहीं हो सकता है। और, सत्ता रहने पर भी बोध हो सकता है। लेकिन यह सत्य नहीं।]

सुतरां, कला का अभाव ही अभाव है। इसीलिए, कला की आपूर्त्ति आवश्यक है। कला का क्षय होता है, इसलिए कला का अभाव होता है। भोग से कला क्षय होती है, मलिन होती है। शुद्ध कला आने से उसका भोग नहीं होता, उसका क्षय भी नहीं होता। शुद्ध कला के द्वारा अभाव की जो निवृत्ति होती है या तृप्ति होती है, वह स्थायी है। इसीलिए, शुद्ध कला के सिवाय स्थायी आनन्द का उपाय नहीं।

शुद्ध कला की सजातीय मलिन कला है। अभाव किस वस्तु का जगता है ? मूलतः कला का। शुद्ध कला प्राप्त नहीं होती, इसलिए मलिन कला से ही अभाव मिटाना पड़ता है। लेकिन, वह अभाव मिटाना स्थायी नहीं होता, फिर अभाव जगता है। शुद्ध कला माया के नीचे नहीं मिलती। जब वह ऊपर से पाई जायगी, तब बार-बार अभाव नहीं जगेगा।

इसलिए गुरु का आदेश है - ठीक से क्रिया करते जाओ, वासना जगे, तो जगे, कदाचित् यदि मलिन कला का योग हो, तो हो, फिर भी क्रिया करो—उससे शुद्ध कला का संचार होगा। वैसे में वास्तव में अभाव मिटेगा, फिर अभाव नहीं जगेगा। वासना शान्त होगी, मलिन कला की ओर खिंचाव नहीं रहेगा।

यही वासना का उपशम है। यही तृप्ति ही आनन्द है—निर्वाण। भीतर प्रकृति में अभाव है, बोध भी है—जोर करके बोध को दबाने से अभाव नहीं मिटेगा। प्रकृति को अपूर्ण रखकर मुक्त नहीं हुआ जा सकता। प्रकृति की पूर्णता के लिए चाहिए पुरुष या कला। प्रकृति में जिस अनुपात में जिस प्रकार से न्यूनता है, पुरुषांश या कला के द्वारा उसी अनुपात में उसी प्रकार से वह न्यूनता पूरी करनी पड़ेगी। तब पुरुष और प्रकृति के मिलन से आनन्द उत्पन्न होगा। वह नित्य होगा। प्रकृति का अभाव पुरुष के आभास द्वारा या मलिन कला या त्रिगुणात्मक सत्ता द्वारा या मलिन लिंग द्वारा सदा के लिए पूरा नहीं हो सकता।

१२.१.३८ : सन्ध्यावेला; अष्टभुजा से लौटते समय :

शंकर ने काम को जलाया ज्ञाननेत्र की ज्योति से। काम को दग्ध करने के पहले वह पूर्ण ज्ञानी नहीं हुए थे। ज्ञानाग्नि में वही अन्तिम आहुति थी। पहले जो जला, वह काम का कार्यमात्र था। इस बार मूल काम स्वयं गया। निष्काम होकर—ज्ञान की पूर्णता के बाद उन्होंने विवाह किया—शक्ति को पाया। बिन्दुमात्र काम के रहते आद्या शक्ति को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

इस विवाह से जन्म हुआ कुमार का—जो ब्रह्मचर्य और बल के प्रतीक हैं, जो देवसेनानी हैं। ब्रह्मचारी के माता-पिता ऐसे ही होने चाहिए। तारकासुर का वध करने के लिए ऐसे सेनानी की ही जरूरत थी।

एक प्रकार से देखें तो, शंकर को पार्वती के योग्य होने के लिए कामजयी होकर शुद्ध ज्ञानी होना पड़ा था।

दूसरी ओर, शिव के योग्य होने के लिए पार्वती को भी तपस्या करनी पड़ी थी। जो स्वयं आद्याशक्ति हैं, जो शुद्ध कुलोत्पन्ना तथा शुद्ध विद्या से युक्त थीं, उन्हें भी तप करके देह और मन को शुद्ध करना था। मन अशुद्ध था क्या ? कुछ आभास था, नहीं तो उन्होंने काम की सहायता ली क्यों ? उनका भी दोष नहीं—मर्त्यलोक की गन्ध। शिव में भी थोड़ा क्षोभ था, पार्वती में भी था—कामदाह से वह जाता रहा। उसके बाद शिव भी शुद्ध हुए, शक्ति भी तपश्चर्या से शुद्ध हुई।

१७.१.३८; वाराणसी :

जगाता कौन है ? सूर्य के उदय से सभी जगते हैं। उदय का अर्थ है—एक किरण-धारा सुप्त जगत् पर पड़ती है, आवरण हट जाता है। जागरण होता है। आवरण यदि किरण की मात्रा से गाढ़ा होता है, तो बार-बार पड़ते-पड़ते जागरण होता है। नहीं तो तुरत होता है।

सम्बोधन का शब्द भी ज्योति के आकार से आवरण को हटा देता है; क्योंकि वह शब्द बोधात्मक और बोधनात्मक होता है।

विज्ञानमय कोष में ठीक निद्रा नहीं। मनोमय कोष तक निद्रा सम्बोधन के शब्द या सूर्यज्योति विज्ञानमय कोष में विज्ञान रूप में प्रवेश करती है। विज्ञान की मात्रा अतिरिक्त होने से ही वह मनोमय कोष में उतरता है, इसीलिए जागरण होता है।

मनुष्य जब जाग्रत् हो, तब उसका सूर्य उदित रहता है, यद्यपि यह आभास है। इसीलिए जगा हुआ आदमी ही दूसरे को जगा सकता है। यह उदय जब आभास न होकर प्रकृत होता है, अर्थात् यदि मनुष्य स्वयं सूर्यभाव में स्थित है, तब वह भी दूसरे को जगा सकता है। यह भी शब्द या ज्योति के द्वारा।

१८.१.३८; दीपमालिका :

[१]

दीपप्रभा—यह अग्निकला है। यह व्यक्त है। अग्नि-निर्वाण होने से शान्त अग्नि रहती है। वह कालातीत है। सत्त्व को आश्रय करके ही चित् उज्ज्वल होता है। सत्त्व और कला एक ही है। जो चित् सत्त्व के अतीत है, वही निष्कल है। वह निराकार, शान्त है।

निष्कल में चन्द्र, सूर्य और अग्नि एक ही हैं। वे कलाभेद से भिन्न हैं। एक ही= एकत्व-आपन्न, ठीक एक नहीं। उसमें भी विशेष है, शक्तिभेद है।

[२]

अमृतबिन्दु = चित् + शुद्ध सत्त्व (= प्रकाश + विमर्श) = अहम्। चित् निराकार है। शुद्ध सत्त्व वृत्ताकार। यह वृत्त चिन्मय है, इसलिए उज्ज्वल, चिरस्थायी, नित्य,

शुद्ध है। दोनों अलग नहीं होते। अलग मानें, तो चित् का पता नहीं चलता। सत्त्व के योग से चित्=चैतन्य। सत्त्व का भी पता नहीं चलता—चित् के योग में ही सत्त्व का प्रकाश है। दोनों मिलकर एक ही। शिव-शक्ति युगल। स्फुरण को देखते हुए उसे चित्-शक्ति कहा जा सकता है। =चित्+सत्त्व। केन्द्र=चित्, परिधि=सत्त्व। वास्तविक दोनों एकाकार-एकरस, किन्तु दो हैं।

[३]

अन्धकार-राज्य में १५ कला से कम तक कला निर्वासित है। ये कलाएँ रेखात्मक हैं। प्रथम कला=सरल रेखा। उसके बाद ही वक्र रेखा। प्रथम कला=प्रतिपत्। यह रेखा होते हुए भी सरल—Shortest Line. मात्र दो बिन्दुओं का समावेश अथवा Least motion of the point.

बिन्दु या point नित्य अव्यक्त भाव के साथ है। उसी का अनुकरण रेखा में होता है। इसीलिए, क्रम से कला के विकास में रेखा गोलाकार होती जाती है : ····U आदि। परन्तु, पूरा वृत्त नहीं होती। हो, तो मध्यबिन्दु अभिव्यक्त होगा। परन्तु, बिन्दु-संचार होने से ही curve वृत्त होगा। बिन्दु-संचार के विना वृत्त पूरा नहीं होता। अथवा वृत्त पूरा हुए विना बिन्दु-संचार नहीं होता। यह रेखा ही कला है। एक हिसाब से यह बिन्दु समष्टि है। दूसरे हिसाब से बिन्दु=रेखासमष्टि। बिन्दु का आत्मप्रकाश ही रेखा है। रेखा का आत्मगोपन ही बिन्दु है। यहाँ एक रहस्य है।

निर्विशेष कारण बिन्दु=निष्कल, निरवयव, सामान्यात्मक—महाबिन्दु—अभेद—अक्रम। सविशेष कारण बिन्दु=निष्कल आभास, निरवयव आभास, विशेषात्मक, भेदाभेद, अक्रम।

कार्यबिन्दु=कलासमष्टि। देखने में अनन्त प्रकार-भेद, कारण रेखा का विकास अनन्त हो सकता है; क्योंकि बिन्दु का manifestation ही कार्यबिन्दु है। यह रेखात्मक है। कार्यबिन्दु=अवयवी या अवयव-समुदय। कार्यबिन्दु अनन्त प्रकार। यह सविशेष कारणबिन्दु का अभिव्यक्त रूपक्रम-आरूढ है।

कारणबिन्दु=कारणबिन्दु-विशेष (form)+कला (substance)। कला और कारणबिन्दु अलग होने से कला अव्यक्त, कारणबिन्दु भी अव्यक्त।

[४]

बिन्दु (कारण)—ज्योति नाद नहीं।

कला—ज्योति radiates नाद।

ज्योति-नाद=बिन्दु (कार्य)-ज्योति surrounds.

|

ज्योति=नाद।

१९.१.३८ :

[१]

स्थूल देह की भिन्न-भिन्न अवस्था को ही हम देखते हैं। इसके पीछे एक persistent देह है। वही मौलिक स्थूल देह है। जैसे, K = मौलिक स्थूल देह। K^1, K^2, K^3, K^4, K^5 etc.--ये K की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं, जिन्हें हम सभी देखते हैं। साधारणतया कोई K को नहीं देखता। यह K पिछले जन्म की मृत्यु के समय अभिव्यक्त हुआ है, प्रारब्ध-निर्माण के समय। पितृलोक में इसका स्फुरण होता है।

मृत्यु के बाद आदमी पितृलोक में जाता है--वहाँ छोड़ी हुई common स्थूल देह लेकर ही घूमता-फिरता है : जैसे J बाद में स्वर्ग जाने के समय J पितृलोक की ज्योति में लीन होता है—स्वर्गीय देह, जो कर्म के द्वारा निर्मित होकर ready है, उसमें प्रवेश करती है। स्वर्गभोग के बाद पितृलोक में उतरने के समय वह J आकार धारण करता है। फिर मृत्युलोक में आने के समय एक स्तर में J लेकर ही रहता है--वह स्तर भेदकर उतरते ही K दिखाई देता है। तब K धारण करके उतरता है। J पितृलोक में लीन हो जाता है। वह K लेकर ही माता के गर्भ में प्रवेश करता है। भूमिष्ठ होता है। बाद में वह बढ़ता रहता है--सब भाव-विकार। K किन्तु सभी देहावस्था में एक ही रहता है। पूर्व प्रकार से मृत्यु के बाद वही K फिर पितृलोक की ज्योति में विलीन होता है, आदि।

यह K पितृलोक से ऊपर नहीं उठता। शोधित होने से उठ सकता है, लेकिन वह कठिन है। जैसे, स्वर्ग जाने के समय सशरीर जाता है। स्वर्गीय देह भी स्थूल होती है, पर वह मर्त्यदेह नहीं। K मर्त्यदेह है—वह स्वर्गीय हो सकती है। लेकिन, स्वर्ग से उतरते समय वह K होकर ही उतरेगा। स्वर्ग की पोशाक स्वर्ग में ही पड़ी रह जायगी, केवल K उतरेगा। पितृलोक होकर वह K ही मर्त्य में आकर पहले की K^5, K^6 अवस्था धारण करेगा। यह बहुत ही विरल है।

परन्तु, मृत्यु के बाद स्वर्ग जाता है। उस समय K पितृलोक में लीन रहता है—देवदेह धारण करके स्वर्ग में प्रवेश करता है। लौटने के समय देवदेह पश्चात् लौटकर K को धारण करती है। वह K फिर पितृलोक से मर्त्य तक नहीं उतरता। हाँ, उतर सकता है, परन्तु गर्भ में नहीं आता। Materialise करके मात्र दृश्य होता है। अधिक देर तक मर्त्य में रह नहीं सकता।

[२]

स्थूल का radiation पितृलोक तक है। पितृलोक से ही ज्योति स्थूलाकार तैयार होती है, रहती है और लीन होती है।

लिंग का radiation और भी व्यापक है--M लोक (= ब्रह्मलोक) तक। M लोक की ज्योति से ही लिंग तैयार होता है, उसी में रहता है और विलीन होता है।

कारण का radiation व्यापकतम है—जगत् के बाहरी आवरण की परिधि तक—वह कारण (प्रकृति) ज्योति से ही कारण में उत्पत्ति, स्थिति और विलय।

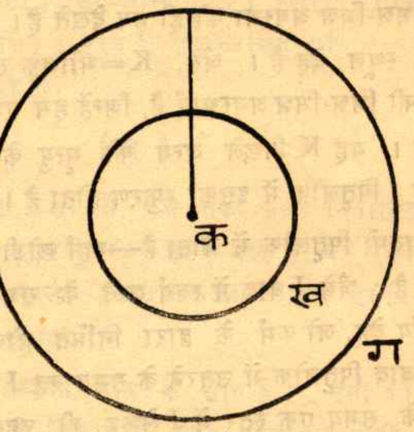

ग = कारण-जगत् और कारण-ज्योति। जिस ज्योति में कारण-जगत् भासमान है, वही कारण-ज्योति है। उसी ज्योति में वह जगत् लीन और सृष्ट होता है। उससे साकार स्थिति में ही कारणदेह में अवस्थान है।

ख = सूक्ष्म जगत् और लिंगवत्। पूर्ववत्।

क = स्थूल जगत् और स्थूल ज्योति।

स्थूल देही का सम्बन्ध सदा 'ग' और 'ख' से है। क्योंकि, दोनों ही स्थूल भुवन का व्यापक है। कारण और सूक्ष्म ज्योति सबके है, परन्तु साकार कारण और सूक्ष्म सबके नहीं, किन्तु आभास-भर है। साकार कारण साधना से होता है—देवताओं को भी सहज ही होता है। साकार सूक्ष्म स्वप्न में होता है, साधना से होता है, योनिविशेष में स्वभावतः होता है।

साधारणतः, मनुष्य सूक्ष्मदेह से हीन होता है। सूक्ष्म ज्योति से ही स्थूल देह चलती है। परन्तु ये—ये ज्योति—बिखरी हुई हैं। 'ख' मण्डल तक हमारी सूक्ष्म ज्योति बिखरी हुई है। उसी से हमारी स्थूल देह—जब उस देह में ही रहते हैं—चल रही है। यह ज्योति भी उसके source को बीन लाती है, तभी स्थूल में सूक्ष्मतत्त्व देह भावापन्न होता है, ढीला होता है, षट्चक्र खुलता है, बाहर हो सकता है, एकाग्रता होती है तथा तृतीय नेत्र खुलता है।

कारण, लिंग और स्थूल ज्योति सबकी अलग-अलग होती है। आकार तो है ही।

२०.१.३८.

पिण्ड—देहात्मक बोध-अवस्था में ज्ञानगोचर सब कुछ पिण्ड के अन्तर्गत है। चारों ओर की सारी ही वस्तुएँ पिण्डभुक्त हैं—बाह्य नहीं। सब कुछ लेकर ही यह 'मैं' है। यह जगत् = स्थूल, यह मैं = स्थूल मैं। इन्द्रियगोचर जगत् = यह सत्ता।

ब्रह्माण्ड—स्थूल देह से बाहर होने पर ब्रह्माण्ड में प्रवेश होता है। वास्तव में यह स्थूल जगत् से बाहर होना है। उस समय देहात्मबोध नहीं रहता, इन्द्रियज दर्शन उस समय नहीं रहता। अभी जो कुछ देख रहे हैं, उस समय भी वह देखा जाता है, परन्तु वैशिष्ट्य है। अपनी देह भी उस समय ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत होती है। वास्तव में, उस समय अपनी देह नहीं होती।

ब्रह्माण्ड के निम्न स्तर में स्थूल उपादान कुछ रहता है, इसलिए आभास रूप में अपनी देह पहचानी जाती है। ऊपर वह नहीं जाती। वास्तव में ऊपर से देखने पर समस्त जगत् का counterpart देखा जाता है।

२२.१.३८; प्रातः साढ़े सात बजे, वाराणसी :

[१]

'क' मनुष्य, 'द' देवता etc.
'क' द्रष्टा, 'द' दृश्य।

देवता की ओर—अबोध शून्य, उसके बाद नाद, उसके बाद ज्योति, उसके बाद रूप, उसके बाद रूप-तादात्म्य, उसके बाद बोधात्मक पूर्ण।

मनुष्य की ओर—बाहर बोधशून्य, उसके बाद नाम, उसके बाद छाया, उसके बाद रूप, उसके बाद आवेश, उसके बाद अबोध शून्य।

'क' यदि 'द' को देखना चाहे और बहिर्मुख हो, तो वह कुछ भी नहीं देख सकेगा। यही अबोध शून्य है—लगेगा, सामने केवल आकाश है, और कुछ नहीं।

कुछ ऊँचे उठने से नाद सुन पायगा।
और जरा ऊपर उठने से ज्योति देखेगा, रूप नहीं देखेगा।
" " " रूप देखेगा।
" " " उस रूप में प्रवेश होगा। ऐसा लगेगा, वह मैं ही हूँ।
" " " वह मैं लुप्त होगा—एकमात्र शुद्ध बोध रहेगा।

इसके विपरीत 'द' यदि बहिर्मुख हो, तो वह 'क' को देख नहीं पायगा। चारों ओर अबोध-रूपी आकाश या अव्यक्त जड सत्ता को देखेगा। पहले वह यह नहीं देख पाता था, पहले 'द' था बोधाकाश-रूप में—अब वह आया अबोध आकाश में। इस देखने के समय 'द' अहम् रूप में वर्त्तमान है। इसके बाद अहम् का radiation फैलता है। उस समय 'द' स्व-प्रभामण्डल के बाहर एक छाया देखेगा। वास्तव में, यही 'क' है। इसके बाद करुणा के और आधिक्य से 'द', 'क' का रूप देखेगा। वस्तुतः, 'द' अभी 'क' के मण्डल में प्रविष्ट है। और भी, बाद में 'क' में 'द' आविष्ट होगा—अपने को 'क' रूप में सोचेगा। इसके बाद 'क' रूप 'मैं' लुप्त होगा—पूर्णमोह—अबोध आकाश—अज्ञान रहेगा।

	देव	मनुष्य
चैतन्य (No अहम्) अहम् only (इदम् Involved)	१. बोधरूपी आकाश। द्रष्टा दृश्य नहीं, स्व-प्रकाश।	१. जडत्व।
	२. अहम् (C. शिव) यह कलात्मक है—पूर्ण-कला। ज्योति का विकीरण नहीं। बिन्दु यहाँ द्रष्टा है—दृश्य या इदं द्रष्टा में मग्न है—यह दृश्य ही मनुष्य-रूप है। जो देवता के अहम् के अन्तर्गत है।	२. इदम् = (जड अहम्) (इस अवस्था में शुद्ध अहं अपने में involved है। यह अहं ही देवता है जो मनुष्य का इदं, (= जड अहं के अन्तर्गत) है।
अहं × इदं	३. अहं Surrounded by its किरण या लोक या धाम। यहाँ द्रष्टा है। दृश्य is मनुष्य in the forms of छाया evolved out of 2 above.	३. इदं (= रूपी अहं) इस अवस्था में शुद्ध अहं को (देवता को) ज्योति-रूप में देखा जाता है।
	४. अहं = रूप (of शिव) (ये द्रष्टा हैं। दृश्य मनुष्य-रूपी छाया नहीं)	४. इदम् (इस अवस्था में शुद्ध अहं को (देवता को) रूपवान् रूप में देखा जाता है (देव-रूप दर्शन।)
इदं only (अहं involved)	५. अहं emerged in इदं। देवता का आवेश। मनुष्य तब मनुष्य के रूप में ही प्रकट—देवता उसे pervade किये हैं। यह No. 2 के विपरीत है।	५. इदं (इस अवस्था में शुद्ध अहं या देवता में तादात्म्य होता है—प्रवेश होता है—अपने को देवता-सा जानकर अभिमान होता है।)
No इदं	६. जडत्व (अबोध = लय। प्रलय। अहंलीन, इसलिए इदंकार का भी बोध नहीं।)	६. चैतन्य बोधरूपी आकाश। (यहाँ इदं बिलकुल विलीन है, इसलिए अहं का भी बोध नहीं।)

उक्त चित्र में मनुष्य की दूसरी अवस्था विचारणीय है। इस अवस्था में शुद्ध अहं या ज्योति अपने में या छाया में विलीन अवस्था में रहती है। ज्योति है, लेकिन दबी हुई। पहली अवस्था में जड़त्व—वहाँ ज्योति नहीं है। विकास अब भी नहीं हुआ है।

दूसरी अवस्था से ही जीव-भाव की सूचना—कला और ज्योति का विकास आरम्भ। मनुष्य-देह में आकर यह कला और ज्योति पूर्णावयव होती है। जैसे, गर्भ में सन्तान की वृद्धि होकर दस महीने में चरमत्व होता है, वैसे ही। उसके बाद भूमिष्ठ होने की भाँति स्फुरण होता है।

तीसरी अवस्था में बहिःस्फुरण होता है, इसीलिए ज्योति-दर्शन।

[२]

अशुद्ध कला का संस्कार और क्रम-विकास—होते-होते ऐसी एक पूर्णता आती है, जहाँ आने पर शुद्ध कला की सम्भावना होती है। कला का विकास होने से कुछ ज्योति रहती है—उसी से यन्त्र चलता है—ज्ञान और क्रिया सम्भव होती है।

I देहात्मबोध अस्पष्ट— अन्न और प्राण	८४ लाख योनि—कला का क्रम-विकास और ज्योति का क्रम-विकास। यह ज्योति = आभास—ज्योति no. 1. इसमें कई स्तर हैं।
II यहाँ देहात्मबोध स्पष्ट। मन	मनुष्य-देह में कला के द्वितीय स्तर का विकास। इसका भी एक पूर्णभाव होता है। यह ज्योति = आभास। ज्योति no. 2.
III विज्ञान	उसके बाद दीक्षा—शुद्धकला का संचार। तब दिव्य ज्योति का विकास। इसकी भी पूर्णता है। इसीलिए, षट्चक्रभेद—दिव्यचक्षु—ज्ञाननेत्र-उन्मीलन। उस समय देहात्मक बोध मिटता है।
IV आनन्द	उसके बाद और भी कला। श्रेष्ठतर ज्योति, मस्तक का चक्षु-उन्मोचन।
V तुरीय	उसके बाद चारों ओर के चक्षु—अनन्तकला—व्याप्ति।
VI निर्वाण	

[३]

कोई भी देवता स्वभावतः, अपने मण्डल के बाहर नहीं देख पाते। मण्डल को भी अपने ज्योतिरूप में ही देखते हैं। जो सब भक्त उस मण्डल में प्रविष्ट (सलोक) हैं, उन्हें ज्योतिरूप में देखते हैं। जो कुछ अधिक अग्रसर हैं, उन्हें रूपवान् (सरूप) देखते हैं—उस समय देवता भी अपने रूपबोध से युक्त होते हैं। उसके बाद में अपने में भक्त को देखते हैं–भक्त का उत्कर्ष (सायुज्य)। उसके बाद अपना बोध ही रह जाता है—देवता और भक्त—द्वैत नहीं रहता।

सुतरां, जो देवता का मन्त्र प्राप्त नहीं है या मण्डलान्तर्गत नहीं है, उसे देवता देख ही नहीं पाते। क्योंकि, देवता उसे देखें, तो वह देवता की ज्योति प्राप्त करता है और देवता के लोक में आ पड़ता है। इस प्रकार, कोई भी देवता बाहर के किसी को नहीं देखते। लेकिन, वह करुणामय दृष्टि है, इसीलिए जो बाह्य है, वह ज्योति प्राप्त करके देवता का सालोक्य पाता है। वह करुणा-दृष्टि है, उसका भी limitation है। अपूर्ण देवता के लिए विश्वव्यापक करुणा-दृष्टि सम्भव नहीं।

यहाँ एक रहस्य है।

इस करुणा-दृष्टि का प्रसार और अन्तर्भेदशीलता अनन्त होने से ही उसे 'बुद्ध' कहते हैं। सान्त होने से बोधिसत्त्व या तज्जातीय।

साधारणतः, वह करुणा स्वकीय भाव से परिच्छिन्न है। इसीलिए, मोटामोटी कहा जाता है, देवता सबको नहीं देखते।

किन्तु, सबको देखता कौन है? धर्म। उसकी दृष्टि समान, व्यापक और सर्वत्र वर्त्तमान है। वह किसी की उपेक्षा नहीं करता। परन्तु, उस दृष्टि में करुणा नहीं। यही justice–law है। यह अखण्ड है। यही धर्म तराजू की तौल से कर्मफल देते हैं। यहाँ भूल नहीं, त्रुटि नहीं–यह अलंघ्य है। जीव इस दृष्टि से भीत होता है—सभी भीत होते हैं। एक-एक पलक गिरने की प्रतिक्रिया यही होती है—कुछ भी नहीं टूटता। धर्म ही साक्षी है—वह सब देखता है। इसी समदृष्टि पर ही जगत् चलता है।

किन्तु, जहाँ करुणा-दृष्टि पड़ती है (mercy–love); वहाँ यह समदृष्टि काम नहीं करती, धर्म वहाँ काम नहीं करता। करुणा-दृष्टि से ही जीवोद्धार होता है। जीव इस करुणा-दृष्टि के दायरे में आये, आश्रित हो, करुणामय का सालोक्य लाभ करे, उनसे दृष्टि पूत हो, तो धर्मराज्य की सीमा से बाहर जाता है। धर्मराज भी उसके लिए करुणामय हो जाता है। करुणा के बाहर law काम कर रहा है। law से करुणा अपना आश्रित कर लेती है। जीव जबतक अनाश्रित रहता है, तभी तक वह अहंकारी या कर्त्ता बनकर कर्म करता है। यह law के राज्य में ही होता है। जीव तब कर्त्ता होता है। कराता कौन है? यही माया है, प्रकृति, गुण, satan, शैतान।

जीव जो शैतान के राज्य में पड़ा है और उसकी प्रेरणा से काम कर रहा है, इसका मूल भगवान् का निग्रह है।

भगवान् पूर्ण

	अनुग्रह (दायाँ हाथ)	निग्रह (बायाँ हाथ)	
भगवान् करुणामय	जीव को गोदी में	जीव को माया में	भग = विचारक
गुरु	खींच लेते हैं। शुद्ध	निर्वासित करते हैं।	(निग्राहक) no. 1
		|	
कारयिता	धाम में अभिनिवेश-	माया में अभिनिवेश	भग = विचारक no. 2
प्रदर्शक	वैरूप्य ज्ञान अकर्त्तृत्व-	देहात्मबोध-कर्त्तृत्व	(सुख-दुःखदाता)
	शुद्ध साक्षी। ऊपर	कर्म करना और	भग = साक्षी (कर्मद्रष्टा)
	ऊर्ध्व दृष्टि से उसे	उसका फल भोगना	भग = कारयिता
	देखते हैं। No कर्म,	सुख-दुःख।	(माया)
	no फल। लीला-		
	दर्शन, आस्वादन,		
	आनन्द।		

२३.२.३८; ९ से ९½ बजे प्रातःकाल :

मनुष्य की देह से radiation बाहर हो रहा है। यह उसके उपादान का विकीरण है। यह radiation ही उसका लोक है। यह पूर्ण circle ही उनका पिण्ड है।

यह विकीरण छायामय है--प्रकाश की छायामात्र है—रंग-विरंगी छटा है कुहासे-सी। अवश्य प्रकृति-भेद से विभिन्न। वस्तुतः, यही उसका रूप है, जो आदमी देखते हैं। वास्तविक यह = रूप + विकीरण रूप का। इस विकीरण का रोध करने से साधारण आदमी उस रूप को नहीं देख पायगा। लोगों की दृष्टि की किरण उस विकीरण से ही मिलित होती है। रूप की किरण के निरुद्ध होने से रूप अदृश्य होगा, फिर भी रूप रहेगा। वह अपनी किरण का रोध करेगा, वह रूप देख पायगा। दूसरा नहीं। समभूमि में ही दर्शन होता है।

इस अवस्था में भी रूप रहता है, यद्यपि निरुद्धेन्द्रिय के अभेद-भाव से दर्शनीय होता है। फिर, इन्द्रिय-क्षोभ के समय उसका स्मरण होता है।

जब मनुष्य व्यवहार-जगत् में रहता है, काम करता है, देखता-सुनता है, चिन्ता करता है--तब वह छटा चारों ओर बिखरती है। यह सदा ही हो रहा है, निद्रा में भी हो रहा है।

पर, जब मनुष्य देवता की आराधना करता है, तब उसके पूर्व विकीरण को रुद्ध कर लेना होता है। आराधना के समय देवता की ज्योति फूट उठती है—क्रमशः अधिक-अधिक। स्वयं वह ज्योति देख पाता है—और भी अधिक होने से जब देह को ज्योतिर्मय

कर देती है, तब दिव्य देह होती है। वास्तव में, वह दिव्य देह कृत्रिम होती है। देवता की देह से उसके तादात्म्य की सूचना होती है। इसकी परावस्था में ही ज्योति विकीर्ण होती (पहले भी कुछ-कुछ होती है)—उस समय बाहर का आदमी भी ज्योति देख पाता है।

इसकी परावस्था में ज्योति का उपसंहार होता है। तब उस दिव्य देह को कोई देख नहीं पाता। मनुष्य तो नहीं ही—देवता भी नहीं। परन्तु, रूप रहता है। परन्तु, देवता अपनी ज्योति का संहार करें, तो देख पायेंगे, अभेद रूप में देखेंगे। ज्योति के विकास में उसकी स्मृति होगी।

देवतागण चलने-फिरने, व्यवहार और चिन्ता करने के समय ज्योति बिखेरते हैं। ज्योति सब समय विकीर्ण हो रही है। किन्तु, योगावस्था में ज्योति का संहार होता है। उस समय देवदर्शन नहीं होता। क्योंकि, जिस देवता की जो ज्योति है, उसी से उनका दर्शन होता है।

परन्तु, कोई संहृत ज्योति देवता और कोई तादृश देवता को देख पाते हैं, यह भेदभाव नहीं—अभेदभाव है। यह अभेद-दर्शन ही चरम-दर्शन है। यह एक प्रकार का साकार आत्मदर्शन (दैविक) है।

मनुष्यभूमि में भी यही होता है। हम आदमी को जो देखते हैं, उसे उसकी किरण (radiation) के द्वारा ही देखते हैं। इसीलिए, किरण का उपसंहार करने से देखा नहीं जाता। किन्तु, उस अवस्था में भी जो तादृश उपसंहृत किरण दूसरा आदमी देख पाता है, वह अभेद-भाव से। पहले की तरह यह भी साकार आत्मदर्शन है—परन्तु भौतिक।

इसी प्रकार, आध्यात्मिक आत्मदर्शन भी है। वह निराकार है।

इसके बाद पूर्ण आत्मदर्शन।

इस प्रकार, जगत् के सभी भूत, सभी देवता, सभी आत्मा—सर्वत्र ही अपनी आत्मा का दर्शन कर सकते हैं। और फिर, अपनी आत्मा में जगत् की सब भौतिक, दैविक और आत्मिक सत्ता का दर्शन हो सकता है।

सर्वोपरि पूर्ण आत्मदर्शन। वहाँ अपना-पराया का भेद, भौतिक आदि त्रिविध स्तर में हो ही नहीं सकता।

[२]

२३.१.३८

कला का ठीक-ठीक स्वरूप कोई नहीं देख पाता। ठीक बिन्दु भी कोई नहीं देखता।

बिन्दु=point. हम जिसे point समझते हैं, अनुवीक्षण से यदि देखा जाय, तो देखा जायगा कि वह नाना प्रकार की रेखामय एक जटिल सत्ता-मात्र है। वह रेखा है—बिन्दु नहीं। रेखा का मतलब ही है अपूर्ण कला।

अव्यक्त बिन्दु=real point, जो देश-काल के ऊपर है; जो अचल, स्थिर, निर्विकार और निरवयव है।

व्यक्त बिन्दु=व्यावहारिक point इसका extension है। यह motion से युक्त अव्यक्त बिन्दु-मात्र है, इसलिए रेखात्मक है।

व्यंजक वृत्त का आविर्भाव अव्यक्त बिन्दु के समविकीरण से होता है। यह विकीरण ही व्यंजना है। अव्यक्त बिन्दु-विकीरण होने से ही वृत्त, व्यासार्द्ध और केन्द्र बनाता है। वही व्यक्त बिन्दु है। विकीरण कम-अधिक हो, उससे क्षति नहीं। अव्यक्त बिन्दु में वे तीनों अभेदाकार हैं।

व्यक्त बिन्दु सावयव है।

इस व्यक्त बिन्दु के तीन अंश हैं :

(क) केन्द्र=आत्मा, शक्ति at rest.

(ख) विकीरण, रेखा, radius =देवता, शक्ति in action यह सरल रेखा है।

(ग) परिधि=भूत, शक्ति in arrested action. यह वक्ररेखा है।

केन्द्र से radius का सम्बन्ध=वह धारा केन्द्र से बाहर आ रही है, चक्र-निर्माण हो रहा है—फिर भीतर जाती है, चक्रसंहार होता है। सरल मार्ग से होता है।

केन्द्र से परिधि का सम्बन्ध =

परिधि वक्ररेखा। परिधि radius के बीच से केन्द्र संसृष्ट, साक्षात् सम्बन्ध नहीं, परिधि के बाहर जो है, वह बाह्य है। जैसे 'क'

पहले 'क' परिधि में आयगा। उसके बाद परिधि में उस परिधि का कोई component बिन्दु के साथ स्थित होगा। इसीलिए, उस बिन्दु से केन्द्र की योजक radius सरल रेखा ही उसका पथ है।

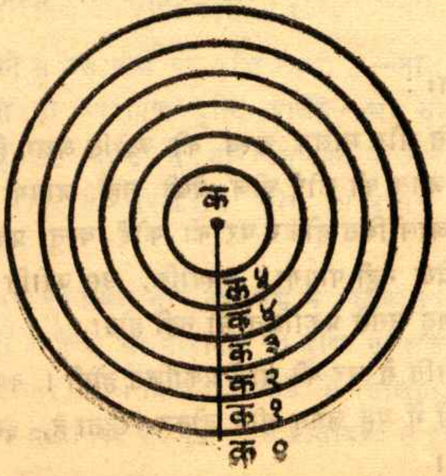

पहले 'क' प्रदक्षिणा करते-करते अपने स्थान में लौट आते ही, एक आवर्त्तन पूरा करते ही 'क' रूप Life पायगा। अर्थात्, वह radius ऊर्ध्वतर बिन्दु में स्थित होगा। वहाँ भी प्रदक्षिणा पूरी करनी है। तब 'क' में जायगा।

इस प्रकार सभी स्तर की प्रदक्षिणा पूर्ण हो जाने पर केन्द्र में स्थान पायगा। centre में स्थिति होती है। इस स्थिति में अनन्त गति मग्न है। समस्त चक्र की गति उपसंहृत होकर केन्द्र की वह स्थिति पाई गई। इसी से उस स्थिति में अनन्त गति अव्यक्त है।

अर्थात्, सारी outer परिधि ही क° रूप radius के एक बिन्दु का extension भर है। उस क° में इसीलिए समस्त बाह्यवृत्त involved है। सृष्टि के समय उस बिन्दु से समस्त परिधि का विकास होता है—लय के समय उसी बिन्दु में संहार होता है। वह बिन्दु = शून्य बिन्दु no. 1 या आकाश no. 1, जिससे बाह्यतम circle या स्तर का विकास हुआ है। इस क° रूप बिन्दु या आकाश भेद करने से क¹ रूपी आकाश में प्रवेश होता है। उस आकाश में भी एक स्तर तिर रहा है, जो द्वितीय स्तर के रूप में ग्राह्य है। प्रदक्षिण करके इसका संहार करके उसको रूपशून्य में या आकाश में लाना होगा। पहले जब क¹ में प्रवेश किया, तो आकाश-स्तर था—अब केवल आकाश रहा। इसी से lift पाकर क² में गया। यह radius का ऊर्ध्वतर बिन्दु है।

इस प्रकार क्रमशः शक्ति का विकास हो रहा है—radius छोटा हो रहा है, केन्द्र का व्यवधान कम हो रहा है। जो स्तर संहृत होता है, वह शून्य होता जा रहा है। उसके सत्त्व को मैं साथ हो लिये जा रहा हूँ। इस प्रकार समग्र जगत् का सत्त्व जब मेरे अधीन है, तब मैं केन्द्र में—सिंहासन पर प्रतिष्ठित हूँ।

जगत् = गति-सन्तान। उसका उपसंहार—फल से स्थिति मिलती है—जिसमें गति अव्यक्त रहती है।

विकास के समय स्थितिकेन्द्र सरलगति रूप में और सरलगति वक्रगति रूप में प्रकाशित होती है।

२५.१.३८; १०½ बजे प्रातः :

शुद्ध सत्त्व की ज्योति और मलिन सत्त्व की ज्योति अलग है। पहली ज्योति घनीभूत होती है। उसमें जगत् की कोई चीज देखी नहीं जायगी। वह प्रकाश यदि सामने खिले, तो उससे घर आलोकित होकर घर की कोई वस्तु प्रकाशित नहीं होगी। दूसरा कोई घर में रहे, तो देख नहीं पायगा। क्योंकि, उस ज्योति में यह जगत् लीन नहीं होता, इसीलिए यह जगत् उससे प्रकाशित भी नहीं होता।

मलिन सत्त्व की ज्योति से घर की चीजें प्रकाशित होंगी। क्योंकि, उस ज्योति में मर्त्यलोक की सत्ता है—उसी में यह जगत् लीन होकर रहता है, इसीलिए उसके द्वारा यह जगत् प्रकाशित होता है।

पहली ज्योति ही दिव्यज्योति या दिव्यचक्षु है, वह मर्त्यलोक को जानने के लिए नहीं है। उस ज्योति के खुलकर चारों ओर छिटकने से समझना होगा, उसमें दिव्यधाम मग्न है। क्रमशः वह सब धाम फूट उठते हैं। वह ज्योति अनन्त प्रकार की है। किन्तु, सब ज्योति के Background में शुद्ध प्रकाश है। देवभेद से वह दिव्यज्योति भिन्न-भिन्न है। जिस देवता की ज्योति प्रकाशित होती है, उसी लोक में प्रवेश करती है। पर व्यापक सत्त्व की ज्योति के प्रकट रहने से एक देवलोक से दूसरे में यातायात चलता है। **Background** के प्रकाश के बल से सभी देवलोकों के बाहर भी जाया जा सकता है। तब उस प्रकाश के बल से ही मर्त्यलोक के भी सब दर्शन आदि हो सकते हैं। क्योंकि, वह प्रकाश अनासक्त है, इसलिए प्रकाश-अन्धकार सर्वत्र है।

[२]

जिस देवता का चिन्तन किया जाता है, उसे देखा जाता है। जैसे—नारायण। उन्हें भक्तिसहित, मन्त्र के द्वारा, एकाग्र होकर—मूर्त्ति में चिन्ता करने से ही, उस चिन्ता के फलस्वरूप मूर्त्ति शुद्ध होती है, संस्कृत होती है और वह मूर्त्ति नारायण के सम्मुख तिर आती है—उसकी ओर नारायण की दृष्टि पड़ती है। दृष्टि से मूर्त्ति सजीव होती है। भक्ति, मन्त्र आदि के प्रभाव से नारायण-चित्त क्षुब्ध होता है—वह क्षण के लिए बाहर ताकते हैं। ताकते ही वह मूर्त्ति दिखाई देती है—उसपर दृष्टि पड़ती है। वह मूर्त्ति वास्तव में मर्त्य मूर्त्ति का प्रतिबिम्ब-भर है—ideal मूर्त्ति। वह एक प्रकार से माटी की मूर्त्ति का लिंग (या सूक्ष्म ?) है। उसपर दृष्टि पड़ते ही वह सात्मक होती है—वह माटी की मूर्त्ति के अधिष्ठाता हैं। अभक्ति, अनाचार आदि उस प्रतिबिम्ब में नहीं रहते। बिम्ब में लौट आते हैं। फिर, दृष्टि भी नहीं रह जाती, माटी माटी ही हो जाती है। वह देवता नहीं। सन्निधान नहीं रहता।

बाद में उस सात्मक विग्रह से पूजक पर दृष्टि पड़ती है। मन-ही-मन रूप-चिन्ता करने से उस रूप पर नारायण की दृष्टि पड़ती है।

नामचिन्ता करने से उस नाम पर दृष्टि पड़ती है—नाम चेतन होता है। मतलब, नारायण को सोचने से ही नारायण दृष्टि डालेंगे—जो सोचेगा, उसपर। क्योंकि, थोड़ा अग्रसर होने से ही उस दृष्टि से नारायण स्वयं मूर्त्ति में आ सकते हैं। और भी आगे नारायण मूर्त्ति से बाहर हो सकते हैं। और भी अधिक हो तो पूजक में उनका प्रवेश होता है।

पूजक में नारायण का प्रवेश और नारायण में पूजक का आवेश—अन्तर क्या है? पूजक को दिव्यचक्षु नहीं रहने से भी नारायण की दृष्टि मूर्त्ति के प्रतिबिम्ब पर पड़ती है, यह सत्य है। पूजक देखता नहीं। दिव्यचक्षु होने से साक्षात् नारायण का प्रतिबिम्ब उतर आता है—मूर्त्ति के प्रतिबिम्ब पर दृष्टि उस प्रतिबिम्ब से ही होती है। अधिक होने से साकार नारायण भी नहीं आ सकते।

क = भक्त

'क' नारायण की पूजा करता है या पुकारता है, पर दिव्यचक्षु नहीं होने से देखता नहीं।

'क' और भी उन्नत।

नारायण की दृष्टि उसकी मूर्त्ति के प्रतिबिम्ब पर पड़ती है, उससे उसमें भी पड़ती है। नारायण भक्त का साक्षात् नहीं देखते, प्रतिबिम्ब देखते हैं।

२६.१.३८ :

सभी चीजों का ही एक अलग प्रतिबिम्ब आकाश में तिरता है। वह साधारण आदमी की दृष्टि में नहीं पड़ता। क्योंकि, वे वस्तु को शुद्ध दृष्टि से देख नहीं सकते। वैसे में वह प्रतिबिम्ब बिम्ब के साथ एकात्म भाव से रहता है। लोग वास्तव में वही प्रतिबिम्ब ही देखते हैं, पर समझते नहीं।

जिसका ज्ञानचक्षु खुला है, वह उस प्रतिबिम्ब को अलग देख पाता है। वह वस्तु से अलग-अलग देखा जाता है। ऊपर या पास में या बुरा आदमी होने से नीचे देखा जाता है।

ब्रह्मादि किसकी आराधना करते हैं? उनकी साधना नहीं; क्योंकि वे सिद्ध हैं। वे योग करते हैं। उनका ध्येय है—ज्योति। यह दिव्यज्योति नहीं, ब्रह्मज्योति है। दिव्यज्योति तो ब्रह्मादि की अपनी है, दिव्यज्योति योग के समय सिमट जाती है, ब्रह्मज्योति प्रकट होती है। दिव्यज्योति के सिमटने से वे अदृश्य होते हैं, ब्रह्म में लीन होते हैं।

मनुष्य पहले साधना करता है—सिद्धि के लिए। इसीलिए मनुष्य के संयम करने से उसका radiation सिमट जाता है। एकाग्रता। उस समय वह जगत् को नहीं देखता, जगत् उसको नहीं देखता। वह क्या देखता है? देखता है, जिस देवता का उपासक है, उन्हीं की ज्योति। उसके बाद उस देवता का रूप—उसके बाद वह स्वयं देवतामय हो जाता है। देवतामय दो अवस्था का—सिद्ध होने से क्रिया के समय साधक देवता में रहते हैं—अन्य समय देवता साधक में रहते हैं। क्रिया-अवस्था में साधक देवता में रहते हैं। उस समय देवता योग पर बैठते हैं, अर्थात् साधक उस समय योगी होते हैं—और तब वह ज्योति सिमट जाती है; ब्रह्मज्योति प्रकट होती है। ब्रह्मयोग = ब्रह्मज्योति का तिरोभाव।

२७.१.३८ :

क्रिया और उपरम दोनों ही आवश्यक हैं। क्रिया करते-करते तेज-संग्रह होता है। जिसका तेज जितना अधिक होता है, एकाग्रता उसकी उतनी सहज होती है। क्रिया करके चुप बैठने से ही स्थिरता आयगी। क्योंकि, वह तेजोराशि घनीभूत होकर एक होती है—फिर ऊपर उठती रहती है। इसी से एकाग्रता आती है। जिसके तेज अधिक नहीं, चुप बैठने से ही वह एकाग्र नहीं हो सकता। केवल चुप रहने से ही एकाग्रता नहीं आती। किन्तु,

जिसका ब्रह्मचर्य अच्छा है, बिन्दुक्षय नहीं हुआ है, जिसका उपादान अधिक और शुद्ध है, उसकी एकाग्रता सहज है। उतनी अधिक क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। क्रिया के दो व्यापार हैं :

(क) शुद्ध (ब्रह्मवर्चस् ?) तेज का आकर्षण करना।
(ख) अशुद्ध तेज का शोधन करना।

जिसका ब्रह्मचर्य अच्छा है, उसके तेज है--उसका शोधन करना ही क्रिया का उद्देश्य है। साधारण लोगों के लिए (शुद्ध) तेज का आकर्षण करना ही क्रिया का लक्ष्य है। देह में सात्त्विक तेज कम होने से एक ओर जैसे चंचलता होती है, दूसरी ओर वैसे ही लय, तन्द्रा आदि होते हैं। जगा नहीं रह सकता। अज्ञान आक्रमण करता है।

स्थूल में जो भाव होता है, वही सूक्ष्म में जाता है--स्थूल में होने पर सूक्ष्म में जाता है। और, सूक्ष्म भाव में होने से वह स्थूल में आता है। स्थूल में होने से वह सूक्ष्म में होगा ही और सूक्ष्म में होने से स्थूल में भी होगा। पहले सूक्ष्म क्यों होता है या स्थूल ही क्यों होता है--यह कहना कठिन है। मूल में उस पूर्ण से ही प्रेरणा आती है। पहले सूक्ष्म के आने से वह कृपा कही जाती है--उसके कारण स्थूल में पुरुषकार आविर्भूत होता है। पूर्ण में किन्तु कृपा = पुरुषकार, एक ही है। परन्तु, आती स्वतन्त्र रूप से है। जहाँ भी पहले आये, प्रधानतः आती है--वस्तुतः समकाल में दोनों ही स्थानों में आती है। और भी सूक्ष्म में उसकी प्रधानता होती है, किसी का स्थूल में भी। जिसका जो (स्थूल या सूक्ष्म) अधिक तैयार रहता है, उसी में वह पकड़ में आता है।

कोई पत्थर--उसके भीतर भी एक तेजोमय वस्तु है, जिसे लिंग कहते हैं। वह अग्निजातीय वस्तु है। जड पदार्थ-मात्र में ही वह है। चेतन पदार्थ की वह स्वजातीय वस्तु है = कला।

मूल सूर्य। सूर्य का अग्नि-अंश रहता है जड में = सोमांश (कला) रहता है चेतन में।

पत्थर के भीतर की वह तेजोमय सत्ता ही पत्थर को बाँधे हुए है। उसी के पीछे पत्थर की प्रकृत सत्ता है, जिससे वह तेज निकला है, निकलता है, वही सूक्ष्म सत्ता है। उसके भी पीछे जो है, वही प्रकृत पत्थर है। उस तेजोमय सत्ता को खींचने से ही पत्थर अव्यक्त हो जायगा—लीन होगा। वह तेजोमय सत्ता हमारी लिंगसत्ता में रहेगी। मिलकर, लेकिन नहीं मिलकर। छोड़ देने से ही बाहर निकलेगी, फिर पत्थर का निर्माण होगा। हमारे लिंग का व्यापकतम जो विराट् लिंग है, उसमें वह तेजोमय सत्ता अभी गृहीत नहीं होगी। यदि वह पत्थर स्वाभाविक क्रम से ध्वंस की ओर जाता, तब उस व्यापक लिंग में वह तेज लौट जाता। हमने खींचा, इसलिए वह तेज अभी हमारे लिंग में आया। इसलिए फिर इसे लौटाना होता है। हजम करने का उपाय नहीं। पत्थर की

स्थूल सत्ता भी व्यापकतम स्थूल सत्ता में नहीं गई--वह भी मेरी स्थूल सत्ता में अलग-अलग रूप से ही रही।

इसीलिए, interference करना ठीक नहीं।

असमय में कुछ नहीं होता, करने से भी स्थायी नहीं होता। पूर्वोक्त विनाश में लिंग और स्थूल का वियोगमात्र हुआ। इसके बाद विनाश नहीं। इसके ऊपर तिरोधान है। उससे पत्थर की सूक्ष्म सत्ता में लिंग लीन हो जायगा। लिंगसत्ता वैसे में बाहर नहीं रहेगी। यथासमय पत्थर का विनाश होने से वह होता है, नहीं तो कृत्रिम उपाय से वह नहीं होता। कृत्रिम विनाश दो प्रकार का :

(क) अपने लिंग में पत्थर-लिंग का आकर्षण--साथ में अपने स्थूल में उसका स्थूल। इस समय पत्थर सूक्ष्म निर्विषय भाव से पत्थर-लिंग के पीछे है।

(ख) अपने सूक्ष्म में पत्थर के सूक्ष्म को खींचना। उस प्रकार, खींचने से पत्थर का सूक्ष्म अपने तेज का प्रत्याहार करके मेरे सूक्ष्म में प्रवेश करेगा—वैसी स्थिति में पत्थर का तेज हमारे लिंग में नहीं मिलेगा। परन्तु, उसका स्थूल हमारे स्थूल में आयगा। किन्तु, इस अवस्था के बाद फिर से पत्थर की सृष्टि करना कठिन है।

२७.१.३८ :

मनुष्य जो शब्द उच्चारण करता है, वह दिव्यचक्षु और ब्रह्मचक्षु द्वारा देखने से ही समझ में आयगा—कि उस आदमी का कुण्डलिनी-जागरण, ज्ञानचक्षु का विकास और ब्रह्मज्ञान हुआ है या नहीं। साधारणतः, दिव्यचक्षु के सामने वह शब्द टूट पड़ता है।

उसका जो मर्त्य, लौकिक अंश है, वह कुहासा-जैसा दिखाई देता है। यदि कुण्डलिनी जगी हो, तो उस कुहासे में कुछ-कुछ शुद्ध ज्योति की आभा दिखाई पड़ती है। यदि तीव्र intellect आदि का विकास रहे, काम आदि भाव हों, सब देखा जाता है—अशुद्ध ज्योति के रंग आदि के द्वारा, गति के द्वारा। उच्चारणकारी का ज्ञानचक्षु खुलने से उस शब्द में कुहासा बिलकुल नहीं रहेगा। वह विशुद्ध ज्योतिरूप में दृश्यमान होगा। यही देवता है। दिव्यज्योति। ब्रह्मज्ञानी के शब्द में दिव्यज्योति नहीं दिखाई देती--ब्रह्म-प्रकाश दीखता है। परन्तु, दिव्यचक्षु से वह नहीं देखा जाता, ब्रह्मचक्षु से देखा जाता है। ब्रह्मप्रकाश से ब्रह्मप्रकाश पकड़ा जाता है।

दिव्यज्योति-प्राप्त शब्द को पकड़े रहकर यदि उससे अपने मन को हटा दिया जाय, तो वही शब्द देवता-रूप में पकड़ा जाता है। अर्थात्, दिव्यज्योति-प्राप्त जो शब्द बोलता है, वह = दिव्यज्योति मात्र है। किन्तु, प्रसृत होकर साधारण के निकट श्रोत्रेन्द्रिय-ग्राह्य होता है। वक्ता वह शब्द बोलता नहीं, लगता है, उच्चारण करता है। वास्तव में, केवल मुँह हिलता है--वह शब्दज्योति प्रसृत होती है। श्रोता चूँकि अदिव्य है, इसलिए श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य रूप में पाता है, बस। अर्थात्, वह ज्योति आकर मुझे स्पर्श करने के

समय रास्ते के मैल और मेरे मैल से स्थूल रूप में आती है। शिष्य या श्रोता उस क्रिया के द्वारा उन दोनों मैलों को हटा दें, तो वह शब्द फिर ज्योतिरूप में प्रकाशित होता है। ये दोनों मैल–रास्ता और देह के—पाँच भूत और मन हैं। यह शोधन ही भूत और चित्तशुद्धि या षट्चक्र-भेद है। तब ज्योति आकार में=पश्यन्ती रूप में प्राप्त होती है। उस दिव्यज्योति का नाश कोई नहीं कर सकता।

दिव्यज्योति-रूप शब्द किस रास्ते से प्रवेश करता है? श्रोता यदि अज्ञान या अभूत कुण्डलिनी या बोध हो, अर्थात् इन्द्रियचारी हो, तो इन्द्रिय-पथ से। यदि ज्ञानचक्षु खुला हो, तो ज्ञानचक्षु के द्वारा। इसकी दो अवस्थाएँ हैं। यदि व्युत्थित अवस्था में हो, तो अधिक ज्ञाननेत्र के द्वारा, बाकी इन्द्रिय द्वारा। यदि देह से वियुक्त हो, तो कुल ही मस्तक के चक्षु द्वारा। यदि देह में रहते हुए देहानासक्त हो तो कुल ज्ञाननेत्र द्वारा।

ब्रह्मज्योति-रूप शब्द साधारण लोग सुने तो इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करेगा। दिव्य चक्षुष्मान् सुने तो सब या अनेक को दिव्यनेत्र से ग्रहण करेगा, (बाकी इन्द्रिय द्वारा) **according to** स्थिति (व्युत्थान **etc.**) या मस्तक के नेत्र द्वारा **if this has been dissociated from the body.**

३१.१.३८ : (In motor-car on way back from Jhalda to Burdwan) 4–6 p.m.

यन्त्र के चलने से ही शब्द होता है। यन्त्र=चक्र। यन्त्र चलता है अग्नि, जल और वायु के जोर से। वास्तव में, आग और पानी मिलने से जो भाफ बनती है, वही वायु है। वायु की वैषम्यावस्था में ही अग्नि और जल मिलते हैं।

[२]

स्तर इस ढंग से मिलते हैं :

शब्द-विशेष—बीज
|
ज्योतिर्विशेष
|
रूप
|
शक्ति
|
सत्ता
|
विशुद्ध शब्द या प्रणव
|
ज्योति
|
व्यापक प्रकाश

सर्वत्र ही पहले भेद-दर्शन होता है। बाद में भेदाभेद होकर अभेद-दर्शन होता है। उसके बाद अभेद भी नहीं रहता--दूसरे एक स्तर का आविर्भाव होता है। सर्वत्र ऐसा ही।

चक्र चलते-चलते पहले शब्द या नाद सुनाई पड़ता है। जो दीक्षित है, वह प्रणवाश्रित बीज की ध्वनि सुनता है। (जो अदीक्षित अथच कर्मी है, उसका चक्र चलने से अपने संस्कार-आश्रित प्रणव की ध्वनि पाता है। यह वह अलग ही ढंग से सुनता है—मन से। सुनते-सुनते जितनी ही तन्मयता आती है, उतना ही शब्द से एकीभाव होता है—अपने को शब्दात्मक लगता है। अलग शब्द सुन रहा हूँ, ऐसा नहीं, मैं स्वयं ही मानों स्वप्रकाश शब्द-स्वरूप हूँ, ऐसा बोध होता है। यही शब्द का अभेद ज्ञान है। इसके बाद और शब्द नहीं सुना जाता; क्योंकि शब्द की पूर्णता, समाधान या समाप्ति हो गई। साधारणतः सविकल्प समाधि यही है। इसके बाद और शब्द नहीं। वही निर्विकल्प है।

तब ज्योति-दर्शन होता है। ज्योति-दर्शन भी पहले भिन्न प्रकार से होता है। बाद में धीरे-धीरे अभिन्न भाव से। उस समय, मैं स्वयं ही ज्योति हूँ, ऐसा लगता है। यह ज्योति दिव्यज्योति है। बीज-प्रतिपाद्य देवता की अंगप्रभा। ब्रह्मज्योति का ही एक विशिष्ट प्रकार भेद—background में ब्रह्मज्योति रहती ही है, लेकिन इष्ट आकार और प्रकार में। इसलिए, ज्योति-दर्शन के भी तीन स्तर हैं : ज्योति का भेद, भेदाभेद और, अभेद-दर्शन। मैं ही ज्योति हूँ—इसी में समाधि। उसके बाद ज्योति नहीं। तब रूप-दर्शन—जिससे ज्योति विकीर्ण होती है, उसका दर्शन। यह कलामय देवस्वरूप है, जिससे निरन्तर ज्योति विकीर्ण हो रही है। देखते-देखते मैं ही वह देवरूप हूँ, ऐसा बोध होता है। अवश्य रूप का दर्शन भी पहले भिन्न भाव से, फिर भिन्नाभिन्न भाव से, फिर अभिन्न भाव से होता है। रूप का अभेद दर्शन होने से अर्थात् मैं ही देवता-रूप हूँ--अपना रूप ही देवरूप है--ऐसा दर्शन होने से फिर रूपदर्शन नहीं होता। उसके बाद अरूप भूमि में प्रवेश होता है--यही शक्ति का साक्षात्कार है अर्थात् वह रूप, जो शक्ति का बाह्य प्रकाश है, उसी का साक्षात्कार। इस शक्ति-साक्षात्कार में भी भेद, भेदाभेद और अन्त में अभेद है। तब मैं ही वह शक्ति हूँ, ऐसा बोध होता है। उसके बाद शक्ति अतिक्रान्त होती है, साधक अन्तर्लीन होता है--शक्ति-रूप में अपना बोध नहीं होता। तब सत्ता-साक्षात्कार होता है। जिस सत्ता का बाहरी स्फुरण ही शक्ति है, उस सत्ता का साक्षात्कार होता है। यह भी भिन्न, फिर भिन्नाभिन्न और फिर अभिन्न भाव से होता है। उस समय अपने-आपमें वह सत्ता-स्वरूप समझा जाता है। उसके बाद वह विशिष्ट सत्ता भी नहीं रहती। इसी समय विशुद्ध प्रणव मिलता है। इसके अभेद-स्तर में अपने को प्रणवतनु की स्थिति का बोध है। उस समय शुद्ध ब्रह्मज्योति का अनुभव होता है। यहाँ भी तीन प्रकार का विकल्प है। चरम में स्वयं को ही ब्रह्मज्योति-रूप का बोध होता है। ब्रह्मज्योति भी अतिक्रान्त होती है। तब, एकमात्र अखण्ड प्रकाश रहता है--वही 'मैं' है। यह पूर्णाहन्ता-रूप

महाविमर्श का अविनाभूत महाप्रकाश है। इसका अतिक्रम नहीं होता, हो नहीं सकता। यही पूर्णत्व है।

जो रूप को खिलाये विना ही एकबारगी पूर्णत्व में प्रस्थान करते हैं, वे केन्द्रहीन वृत्त की भाँति बिखर जाते हैं। रूप फूट पड़ने से केन्द्र से विकीरण होकर वृत्त बनता है या या व्याप्ति होती है। किन्तु वृत्त रहने से ही केन्द्र रहेगा। लेकिन, केन्द्र चूँकि खिला नहीं, इसलिए वह सदा के लिए अव्यक्त रह जाता है। दोनों की स्थिति में कुछ अन्तर है।

१.२.३८ :

[१]

निकुंज में जब राधा-कृष्ण का मिलन होता है, तब कोई उसे नहीं देख पाता। साक्षी या सखी वहाँ नहीं रहती। उसी तरह, मिलन कैसे भंग होता है, यह भी कोई नहीं देखता। अर्थात् युगल-तत्त्व मूल में एक ही है--शिव-शक्ति, राधा-कृष्ण एक ही। फिर भी कैसे एक दो हुआ, दो नहीं होते हुए भी दो जैसा हुआ--यह कोई नहीं जान सकता। इसके बाद लीला। उसका द्रष्टा है, योजक है। वही सखी है। अर्थात् राधा-कृष्ण एक हो जाने से सखी अलग नहीं रहती—वह भी एक हो जाती है। राधा-कृष्ण अलग होने से सखी भी जगती है।

[२]

बिन्दु क्षुब्ध होकर रेखा होता है। इसी रेखा से वर्णमाला का विकास है। यह रेखा = ज्योति की सूक्ष्मतम रेखा, जो बिन्दु से निकलती है क्रिया या गतिरूप में, या बिन्दु ही रेखा होकर संचालित होता है। यह बिन्दु = निष्क्रिय शक्ति। रेखा सक्रिय शक्ति है, जो साकार है। रेखांकन समाप्त होते ही बिन्दु शून्य हो जाता है। क्योंकि, उसका सत्त्व या सार उठ जाता है। उठ जाता है, मतलब रेखा के आकार में परिणत होता है। सत्त्व समाप्त हो जाने से फिर रेखा नहीं होती। तभी मातृका समाप्त होती है, शेष होती है। तब वह वर्णमाला-ज्योति अखण्ड रूप में एक स्थान में प्रकाशमान होती है।

४.२.३८ :

मूल में एक बिन्दु, उससे दो बिन्दु, उससे तीन बिन्दु।

१. .
२. :
३. ⁝

वास्तव में १, २, ३--सभी नित्य हैं। अभिव्यक्ति का व्यापार ही मुख्य है

इन तीन बिन्दुओं का पहला केन्द्र या आत्मा है। दूसरा विकीरण या radius या देवता या शक्ति; तीसरा परिधि या भूत। २ और ३, दोनों ही क्रियाशील हैं। लेकिन २ की क्रिया सरल गति है। ३ की क्रिया चक्राकार गति है। दूसरे की गति ही तीसरे की

गति के रूप में परिणत होती है। ये तीनों बिन्दु पहले एक plane में एकत्र सायुज्यावस्था में एक होकर विद्यमान थे। बाद में यह विभाग हुआ। उससे तीनों plane अलग हुए अथच नित्ययुक्त। उनमें से पहला बिन्दु कार्यबिन्दु-रूप में बिन्दु ही रह जाता है। दूसरा बिन्दु सरल रेखा होता है। तीसरा बिन्दु चक्राकार रेखा होता है। अर्थात् क्षोभ के बाद।

प्रथम बिन्दु = जो अक्षोभ्य है, वह = कार्यबिन्दु। यह कारणबिन्दु और महाकारण के साथ एकात्मक है।

दूसरा बिन्दु = यह सरल रेखाकार है। पहला बिन्दु ही यह आकार लेता है। इसे ज्योति या कारण या देवता या लिंग कहते हैं।

तीसरा बिन्दु = दूसरा बिन्दु या सरल रेखा ही वक्र होकर तीसरे बिन्दु या चक्ररूप में बदल जाता है। साक्षात् भाव से बिन्दु वक्ररेखा नहीं होता।

इसे जरा और स्पष्ट रूप से बतायें :

पहले बिन्दु से दो प्रकार का स्फुरण होता है—१. अपना बहुभाव, multiplication, बहु समान बिन्दु की सृष्टि और २. दूसरे बिन्दु का आविर्भाव। दूसरे बिन्दु से भी दो प्रकार का स्फुरण होता है :

१. सरल रेखा की प्रवृत्ति। यही ज्योति का विकीरण और ज्योति का निरोध है।

२. तीसरे बिन्दु का आविर्भाव। तीसरे बिन्दु से भी दो प्रकार का स्फुरण होता है—१. दक्षिणावर्त्त या वामावर्त्त रूप में वक्ररेखा का आविर्भाव।

२. अन्धकार का आविर्भाव।

सुतरां, हम पा रहे हैं—

(क) निरन्तर बहु रूप में, अनन्त बिन्दु-रूप में उत्सरणशील एक बिन्दु—one point, becoming many.

(ख) निरन्तर सरल रेखा की क्रिया—ऊर्ध्व या अधः, या अन्तः या बहिः।

(ग) निरन्तर आवर्त्तन या भ्रम—वामावर्त्त और दक्षिणावर्त्त।

(घ) बाहर अनन्त अन्धकार।

और भी रहस्य की बात।

वह जो पहले बिन्दु का स्पन्दन या self-multiplication कहा, उसी से दूसरे बिन्दु का आविर्भाव। अतएव, प्रथम बिन्दु का दूसरा स्फुरण वस्तुतः एक ही है। लेकिन एक बात है। यह self-multiplication खद्योत जैसा है। इसीलिए यह व्यापार—एक बार बहुबिन्दु होना, और फिर उन बहु बिन्दुओं का एक हो जाना। ऐसा ही दूसरे स्तर में भी। दो बिन्दुओं का योग ही smallest सरल रेखा है। यहाँ निरन्तर बहुत सरल रेखाएँ होती हैं (प्रवृत्ति), और फिर बहुत-सी सरल रेखाएँ मिटकर एक सरल रेखा होती है (निवृत्ति)। एक लक्ष्य होने से बहु सरल रेखाएँ एक सरल रेखा ही रहती हैं—एक ही सरल रेखा। लक्ष्य भिन्न होने से वक्र आवर्त्त रेखा हो जाती है। यही तीसरे स्तर का आविर्भाव है।

तीसरे स्तर में भी तीन बिन्दु का योग ही smallest arc है। यह बहु होता है और फिर टूटकर arc होता है। ये सारे arc ही टूटते हैं। straight line होते हैं। सभी straight line ही (महाप्रलय) सिमटकर स्पन्दनशील बिन्दु होते हैं। वही कार्यबिन्दु ही कारणबिन्दु होता है। वह महाकारण होता है। इसलिए, तीन प्रकार की क्रिया—

स्पन्दन (a), सरलगति (b), यही सुषुम्णा है। सरल श्वास। वक्रगति (c), यही इडा-पिंगला है। वक्र श्वास।

७.२.३८ :

अव्यक्त (प्रकाश) —सर्वत्र वही देखता है—द्रष्टा। अभी वह कुछ देख नहीं रहा। No दर्शन।

ज्योति (=स्वप्रकाश)—द्रष्टा अपने को देख रहा है—शुद्ध दर्शन एवं अभेद-बोध। ज्योति और उसमें बीज (कारण)—द्रष्टा अपने को देखता है—अशुद्ध दर्शन, किन्तु अभेद-बोध।

ज्योति और उसमें अंकुर (सूक्ष्म) द्रष्टा स्वयं को देखता है, अशुद्ध दर्शन, किन्तु अभेद-बोध।

ज्योति और उसमें वृक्ष (स्थूल) द्रष्टा अपने को देखता है—अशुद्ध दर्शन, किन्तु अभेद-बोध।

अव्यक्त (=प्रकाश) सर्वत्र वही देखता है—द्रष्टा। अभी लेकिन वह देख नहीं रहा है। No दर्शन।

शुद्ध ज्योति (=स्वप्रकाश)।

द्रष्टा अपने को (वस्तुतः, अपने को नहीं, शुद्ध सत्त्व को) देखता है :

शुद्ध दर्शन अभेद-बोध

|

बीजाणु-बिद्ध ज्योति (कारण)
अंकुरानुबिद्ध ज्योति (सूक्ष्म)
वृक्षानुबिद्ध ज्योति (स्थूल)

[प्रपंच = ज्योति में जगत्-दर्शन। ज्योति-दर्शन नहीं होता। जब होता है, तभी ज्ञान की सूचना होती है। बाद में ज्योति में जगत् का लय होता है। वही शुद्ध ज्ञान है। इसके बाद—शुद्ध ज्योति के बाद अव्यक्त। अव्यक्त ही आनन्द है। इसी का प्रकाश चित्-ज्योति ब्राह्मज्योति है। यही आनन्द लीलाहीन शान्त आनन्द है।]

द्रष्टा भगवान् को (वस्तुतः, भगवान् को नहीं, उनकी उपाधि शुद्ध सत्त्व को) देखता है :

शुद्ध दर्शन भेद-बोध

|

बीजाणु-बिद्ध ज्योति (कारण)
अंकुरानुबिद्ध ज्योति (सूक्ष्म)
वृक्षानुबिद्ध ज्योति (स्थूल)

[प्रपंच = ज्योति में जगत्-दर्शन। ज्योति-दर्शन नहीं होता। जब होता है तभी ज्ञान की सूचना होती है। बाद में ज्योति से जगत् ढक जाता है। वही शुद्ध ज्ञान है। इसके बाद—शुद्ध ज्योति के बाद भक्तिराज्य। सुतरां, भगवत्-धाम अव्यक्त मध्यस्थ। यह ब्रह्मज्योति के बाद। यही धाम ही आनन्द है—लीलानन्द।]

८.२.३८

[a]

मेरी स्थूल देह तीन :

१. एक प्रसिद्ध, जो क्षिप्रपरिणामी है—जन्म से मरण तक रहती है। = क।

२. इसके पीछे एक है, जो धीरपरिणामी है—जो गर्भसंचार से मरण तक प्रायः एक-सी ही रहती है। = ख।

३. 'ख' के पीछे एक है, जो ख^1, ख^2, ख^3 आदि पहले की सभी धीरपरिणामी स्थूल देह के मूल में है। वही मूल स्थूल देह है। = ग।

यही नाना जीव के हिसाब से मेरी मूल स्थूल देह है।

४. इसके पीछे जो स्थूल देह है, वही चरम है—अतिमूल स्थूल देह। वह एक जीव मेरी स्थूल देह। अतएव, वही सभी जीव की मूल स्थूल देह है। इसे छुड़ाने से ही प्रकृत देहभिमान कटता है।

'क' नामक देह का अभिमान कटने पर भी 'ख', 'ग', 'घ' में अभिमान रहता है। पहले-पहल सभी अभिमान को काटना होगा।

इन सभी देहों को देखना भी एक प्रकार का आत्मदर्शन है।

८.२.३८ :

[b]

'ख' का परिणाम 'ग'। (सभी जीवों का मूल common स्थूल देह)

ख = एक

ग ग ग ग ग etc. (अलग-अलग जीव का मूल
= ख^1 = ख^2 = ख^3 = ख^4 = ख^5 etc. स्थूल देह)

ख ख ख ख ख
= ग^1 = ग^2 = ग^3 = ग^4 = ग^5 (प्रति जीव के भिन्न-भिन्न जन्म को common स्थूल देह या आकाशीय देह)

क क क क क
= ख^1 = ख^2 = ख^3 = ख^4 = ख^1 (किसी जीव के किसी एक जन्म के प्रति क्षण में परिवर्तनशील स्थूल देह)

'क' का प्रति क्षण परिणाम होता है—उसे हम देख नहीं पाते। देख नहीं पाते हैं, इसलिए हम गर्भाधान से श्मशान तक 'क' को व्यवहार-क्षेत्र में एक ही देह मानते हैं। यह

सारा समय (गर्भ से मरण) 'ख' नामक देह का--एक क्षण—एक उन्मेष-विशेष है; अर्थात् 'ख' का एक उन्मेष 'क' का गर्भप्रवेश और 'ख' का निमेष 'क' की मृत्यु है। इस 'ख' के एक उन्मेष-निमेष में 'क' की समग्र जीवन-लीला है।

एक हिसाब से 'ख' का भी आदि और अन्त है। वस्तुतः, 'ख' का आदि और अन्त 'ग' का एक उन्मेष-निमेष-मात्र है। अर्थात्, पृथक् रूप में जो मैं हूँ, उसी का एक उन्मेष-निमेष-क्षण ही मेरा एक धीर-परिणामी जीवन है। उसका एक क्षण ही मेरा वर्त्तमान क्षिप्रपरिणामी जीवन है।

८.२.३८ :

[c]

सूक्ष्म शरीर के तीन प्रकार हैं—प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय। अन्नमय कोष से सूक्ष्म स्तर में जाने का रास्ता सुषुम्णा है—यह प्राणमय में जाने का रास्ता है।

मनोमय में जाने का रास्ता वज्रा।

विज्ञानमय में जाने का रास्ता चित्रा।

आनन्दमय में जाने का रास्ता ब्रह्मनाडी, दिव्य चक्षु।

एकबारगी बाहर जाने का रास्ता ब्रह्मरन्ध्र।

प्राणमय में जाने का रास्ता सुषुम्णा का घाट मूलाधार से मणिपुर।

मनोमय का रास्ता वज्रा का घाट अनाहत।

विज्ञानमय का रास्ता चित्रा का घाट आज्ञा।

आनन्दमय का रास्ता ब्रह्मनाडी का घाट ब्रह्मरन्ध्र।

(=शक्तिरूप)

उसके बाद अकूल। आनन्दमय के बाहर जाया नहीं जाता। परन्तु, उसके अभिभूत होने से व्याप्ति होती है। वही ब्रह्म है—अन्तर्लीन शिव। शुद्ध चैतन्य।

८.२.३८ :

[१]

प्रकृति	....	कारणदेह
प्रकृति-विकृति	....	लिंगदेह
विकृति	....	स्थूलदेह

निर्गम और रचना—ये दो व्यापार प्रकृति में हैं। प्रकृति के निर्गम से लिंग का आविर्भाव और रचना से कारणदेह तैयार होती है। प्रकृति-विकृति के निर्गम से स्थूलतत्त्व या पंचभूत का आविर्भाव और रचना से लिंगदेह निर्मित होती है। पंचभूत की रचना से स्थूलदेह होती है—इसका निर्गम नहीं; क्योंकि यह प्रकृति नहीं है।

प्रकृति = तीन गुण। रचना भी वैषम्य, निर्गम भी वैषम्य। रचना में सत्त्व ही आविर्भूत होता है।

[कारण देह का विकार नहीं, परिणाम है।] इसीलिए, प्राकृत देह सत्त्वमय है—रजः तमः है, पर मिलते नहीं। रजः तमः आभास से काम करता है—इसीलिए यह देह भी परिणामी है। लेकिन नित्य। लिंग बुद्धि आदि तत्त्व से रचित है। मूल की प्रकृति-विकृति बुद्धि है, इसीलिए लिंग कहते हैं देह को। लिंग प्रधान है।

[२]

बुद्धि .... विज्ञानमय कोष (अम्बिका)
अहंकार .... मनोमय कोष (अहंकार)
मन
तन्मात्रा और १० इन्द्रिय.... प्राणमय
पंचभूत .... अन्नमय

कारणशरीर में देहाकार में सत्त्व तिरता है, as form & substance—रजः तमः निमित्त।

लिंगशरीर में—तिरता है देहाकार लिंग। अन्यान्य तत्त्व उपष्टम्भक।

स्थूल शरीर में—तिरता है देहाकार आकाश। अन्यान्य तत्त्व उपष्टम्भक।

१०.२.३८

१. शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष।

शुक्लपक्ष में कलावृद्धि—शुद्ध सत्त्व की कला। क्रम-क्रम से बढ़ती रहती है। पूर्णत्व होता है पूर्णिमा में। यहीं ऐश्वर्य का पूर्णत्व है। जिसका आधार जैसा, उसके कला-विकास का पूर्णत्व ही पूर्णिमा है। यहाँ भी स्थिति हो सकती है। जैसे प्रति शुक्ल-तिथि में ही स्थिति हो सकती है। जिस किसी शुक्ल तिथि में स्थिति होने से समझना होगा, वही तिथि उसकी भूमि है, यही उसके लिए पूर्णत्व या पूर्ण विकास है। इसके आगे विकास नहीं।

पूर्णिमा के बाद क्रमशः कला का क्षय होता है। अब शुद्ध चित् शक्ति का स्फुरण। यहाँ शुद्ध सत्त्व नहीं। नहीं, मतलब कि कुछ है, परन्तु अप्रधान। इसे स्पष्ट करें :

शुक्ल प्रतिपत् = ज्ञानसंचार। यह ज्ञान = १४ कला जड त्रिगुण प्रकृति + १ कला शुद्ध सत्त्व mixed with चित् शक्ति।

शुक्ला द्वितीया = १३ कला प्रकृति + २ कला शुद्ध सत्त्व + चित् शक्ति।

इसी प्रकार पूर्णिमा = ० कला जड त्रिगुण प्रकृति + १ कला शुद्ध सत्त्व = चित् शक्ति।

कृष्ण प्रतिपत् = ० कला जड़ त्रिगुण प्रकृति + १५ कला शुद्ध सत्त्व + चित् शक्ति + १ कला शुद्ध चित् शक्ति with शिव।

कृष्ण द्वितीया = ० कला जड़ प्रकृति + १३ कला शुद्ध सत्त्व + चित् शक्ति + २ कला शुद्ध चित् शक्ति with शिव ।

अमावास्या = ० जड़ प्रकृति = ० कला शुद्ध सत्त्व + चित् शक्ति + १५ कला शुद्ध चित् शक्ति + शिव ।

कालातीत—महाकाल-सूचना = ० जड़ प्रकृति + ० शुद्ध सत्त्व + १४ शुद्ध चित् शक्ति + १ शिव ।

महाकाल = ० जड़ प्रकृति + ० शुद्ध सत्त्व + ० शुद्ध चित् शक्ति + १५ शिव ।

महाकालातीत पूर्ण सूचना = ० जड़ प्रकृति + ० शुद्ध सत्त्व + ० शुद्ध चित् शक्ति + १४ शिव + १ पूर्ण ।

महाकालातीत पूर्ण पूर्ण = ० जड़ प्रकृति + ० शुद्ध सत्त्व + ० शुद्ध चित् शक्ति + ० शिव + १५ पूर्ण ।

शुक्ल द्वितीया और कृष्णा त्रयोदशी में केवल दो ही शुद्ध सत्त्व कला हैं। किन्तु, दोनों एक नहीं हैं। क्योंकि शुक्ल द्वितीया में १३ कला प्राकृतिक सत्त्व है एवं शुद्ध निर्गुण चित् शक्ति कुछ नहीं है। किन्तु कृष्ण त्रयोदशी में प्राकृतिक सत्त्व बिलकुल नहीं है, यहाँतक कि शुद्ध सत्त्व भी २ कला मात्र ही है—बाकी १३ कला शुद्ध चित् शक्ति या निर्वाणकला।

२. मैं समझ रहा हूँ—भ्रूमध्य शुद्ध सत्त्व के विकास के लिए है; हृदय निर्गुण में प्रवेश के लिए। भ्रूमध्य होकर सहस्रार में जाने से पूर्णिमा में स्थिति होती है और हृदय-पथ से अमावास्या में स्थिति।

सहस्रार के साथ हृदय का गुप्त सम्बन्ध है। सम्बन्ध है, इसीलिए भ्रूमध्य होकर सहस्रार में पूर्णिमा में अवस्थान करने के समय हृदय का प्रभाव मिलता है—उस समय कृष्णपक्ष आरम्भ होता है। क्रम से अमावास्या। यह अमावास्या वास्तव में पूर्णिमा और अमा का महा-समन्वय है। उसी प्रकार हृदय में जाकर अमावास्या पाने से सहस्रार का योग मिलता है। इसीलिए, शुक्ल पक्ष का आरम्भ होता है, क्रम से पूर्णिमा। परन्तु, यह पूर्णिमा वास्तव में पूर्णिमा और अमावास्या का महासमन्वय है।

दोनों महासमन्वय एक ही है। मार्गभेदजनित किंचित् भेद अन्त तक रहता है कि नहीं, पकड़ नहीं पा रहा हूँ।

११.२.३८

बीज से ज्योति का विकास। जैसे, 'क' बीज। यह एक ज्योतिर्मण्डल या धाम है। जिस centre से यह ज्योति विकीर्ण होती है, वही इस मण्डल का अधिष्ठाता या मण्डलेश्वर है। इस मण्डल में कोटि-कोटि सत्त्व हैं। उसकी विभिन्न प्रकार की स्थितियाँ हैं। (क) कुछ ऐसा है, जिसकी ज्योति वह 'क' ज्योति ही है। लेकिन सामान्यतः। किन्तु एक

विशेष आभा है। क्योंकि, उनका सत्त्व अब भी पूर्णता में सायुज्य प्राप्त नहीं हो सका है। जैसे लीजिए, कृष्णज्योति। कृष्णनाम जप करते-करते उस ज्योति में प्रविष्ट हुई। उस

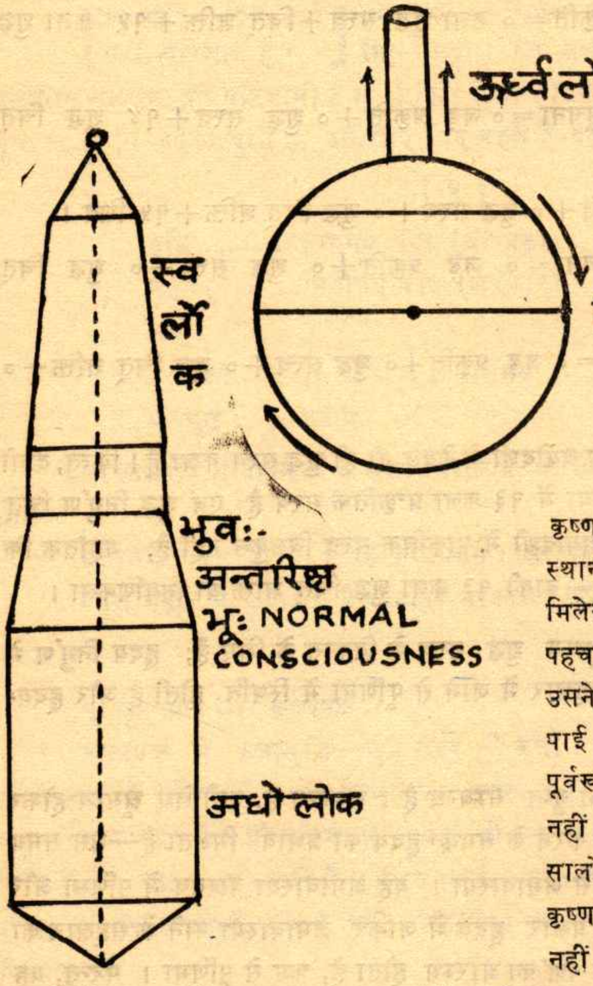

कृष्णज्योति या धाम में उसका स्थान हुआ—वहाँ उसे खोजने से वह मिलेगी। दिव्य चक्षु से देखने से वह पहचानी जायगी; क्योंकि यद्यपि उसने कृष्णधाम की सामान्य ज्योति पाई है, तथापि अब भी उसका पूर्वरूपाभास है। अब भी सारूप्यभाव नहीं हो सकने के कारण वह केवल सालोक्य में है। उसका रूप अब भी कृष्णरूप नहीं। तो क्या उसके रूप नहीं हैं? केवल ज्योति ही? नहीं, रूप है, जिस रूप में रहकर उसने वह ज्योति पाई है— वह पूर्वरूप अब भी है। उस रूप की विशेष किरण के कारण उसकी विकीर्ण आभा भी सामान्यतः कृष्ण है—ज्योति होने पर भी कुछ विशिष्टता-सम्पन्न है। इसीलिए, कृष्णलोक में शतसहस्र सत्त्व ऐसे हैं, जिन्होंने अभी कृष्ण का रूप नहीं पाया है—विभिन्न रूपविशिष्ट हैं। फिर भी, उनकी सामान्य ज्योति कृष्णज्योति ही है। ऐसा नहीं होता, तो उनका वहाँ प्रवेश ही नहीं होता। उनका ज्योतिगत वैशिष्ट्य अपने पूर्वतम स्वकीय रूप की अनुवृत्ति के कारण है।

(ख) और भी भीतर जो कुछ सत्त्व है, उनका रूप कृष्णरूप ही है। उनकी देह-किरण में सामान्यतः भेद तो नहीं ही है, यहाँतक की विशेषता भी खूब कम है। क्योंकि, रूपसाम्य हो गया है। किन्तु, कम होने पर भी विशेषता कुछ-कुछ है। यद्यपि सभी

कृष्णरूप हैं, तथापि सब ठीक समान शक्तिमान् नहीं। अर्थात्, शक्तिगत भेद अब भी है। इसलिए, अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी रूपगत और ज्योतिगत भेद भी अवश्य है।

(ग) और भी भीतर शक्तिगत भेद बिल्कुल नहीं है। इसलिए, सब सत्त्व समरूप में कृष्णशक्ति, कृष्णरूप और कृष्णज्योति है, लेकिन सत्त्वगत भेद है।

(घ) और भी भीतर सत्त्वगत मूल भेद भी नहीं रहता। तब एक ही कृष्ण। यह एकत्व = बहु एक में लीन। इसीलिए, स्फुरण-काल में एक से बहु निकलता है।

(ङ) इसके बाद एकत्व भी नहीं रहता। वही भावातीत है—कृष्णभाव के अतीत ब्रह्मभाव या निर्गुण।

सायुज्य में एक ही कृष्ण। स्फुरण में एक कृष्ण = अनेक कृष्ण। (जो उसमें लीन थे, उनमें से कुछ)। यही एक का बहु होना है। यहाँ केवल सत्त्वगत भेद पैदा होता है। शक्ति सर्वत्र एक ही रहती है।

एक कृष्ण (सत्त्वभेदविशिष्ट और शक्ति-एक्यविशिष्ट एक) = बहु कृष्ण। यहाँ शक्ति का भेद भी हो जाता है। बहुसत्त्वविशिष्ट और बहुशक्तिविशिष्ट कृष्ण। रूप और ज्योति यहाँ एक ही है।

एक कृष्ण (सत्त्व और शक्तिभेदविशिष्ट किन्तु, रूप और ज्योति का ऐक्य-विशिष्ट एक) = बहु कृष्ण। यहाँ रूप का भी भेद हो जाता है। लेकिन, ज्योति का ऐक्य रहता है। अर्थात् रूप अलग होने से भी सर्वत्र सामान्य ज्योति एक ही है, इसीलिए यह सब सत्त्व कृष्णलोक में ही रहता है।

एक कृष्ण (सत्त्व, शक्ति और रूप-भेदविशिष्ट, किन्तु ज्योति का ऐक्य-विशिष्ट एक) = बहु कृष्ण। यहाँ ज्योति का ऐक्य भी नहीं, इसीलिए यह सब कृष्णलोकच्युत हैं। ये आत्मविस्मृत जीव हैं। ये माया में पड़ गये हैं, अपने को कृष्णरूप में नहीं जानते।

इन जीवों का उद्धार होता है; क्योंकि ये उतर गये हैं। उद्धार का उपाय है—फिर से वह कृष्णज्योति आदि वापस पाना।

इसलिए, कृष्णज्योति ही इन्हें देनी होगी, अर्थात् भीतर की सुप्त कृष्णज्योति आदि को ऊपर के कृष्णधाम की जाग्रत् कृष्णज्योति आदि से चेतन करना होगा। यही दीक्षा है। कृष्णलोक से उतरे हैं, इसलिए इन्हें कृष्णतेज चाहिए। रामतेज से इनका काम नहीं चलेगा। यही विचार है। उपाय क्या है? कैसे जानेंगे कि इसमें कृष्णतेज है या रामतेज। सभी ज्योतियों के मूल में ब्रह्मज्योति है। उस ज्योति को उसके आधार में डालने से ही क्षण के लिए आवरण हटते ही कृष्णज्योति का उद्भासन होगा। ब्रह्मज्योति विरोधहीन है। जिस आधार में जो ज्योति सुप्त है, वह उसी ज्योति को जगा देती है। इसी प्रकार से मन्त्र या ज्योति या देवता का निर्णय होता है। उसके बाद कृष्णलोक ज्योति का संचार करना होगा। वह जाग्रत् है। वह बाहर से ढालना होगा। कितनी? यहाँ एक रहस्य है। सुप्ति की गाढता का विचार या आवरण का मात्रा-निर्णय।

उसी मात्रा के अनुसार जाग्रत् तेज संचारणीय है। आवरण मात्रा यदि ३½ कला हो, तो कृष्णतेज की मात्रा ३½ कला या उससे कुछ अधिक आवश्यक होगी। बहुत अधिक नहीं। अधिक होने से सह्य नहीं होगा। कम भी नहीं, नहीं तो काम नहीं होगा।

दीक्षा के समय ही यह जागरण हो जाता है। लेकिन स्थूलदेह के कारण शिष्य उसकी उपलब्धि नहीं कर सकता। साधना के द्वारा स्थूल को हटा सकने से उपलब्धि कर सकता है। मृत्यु से स्थूल कट जाने से शिष्य कृष्णलोक अवश्य जायगा। क्योंकि, भीतर की सुप्त कृष्णज्योति जाग्रत् हुई है। किन्तु, साधना नहीं करके केवल देह के अन्त से कृष्णलोक में जाने से वहाँ केवल circumference में रहता है। साधना करने से ज्योति से रूप आदि का विकास होता है। चरम में कृष्णसत्ता ही हो जाता है। उसके बाद ब्रह्मदीक्षा।

ज्योति तो जाग ही गई है। साधना उसी ज्योति को लेकर। साधना करते-करते क्रमशः रूप आदि का विकास। स्वयं देख पाना, न पाना और बात है।

इसलिए, प्रकृत दीक्षा होने से प्रचलित समाधि का प्रयोजन नहीं होता। इस समाधि का प्रयोजन है ज्योति (प्रज्ञा) निखारना। वह दीक्षा के ही समय फूट उठती है। चित्त अन्तर्मुख होने से वह देख पाता है—नहीं होने से नहीं देख पाता है। लेकिन फूटती ठीक ही है।

किन्तु, ज्योति का यह विकास चाहिए ही। इसीलिए साधना। रूप, शक्ति, सत्त्व-यही क्रम-विकास की धारा है (ज्योति से)।

११.२.३८ :

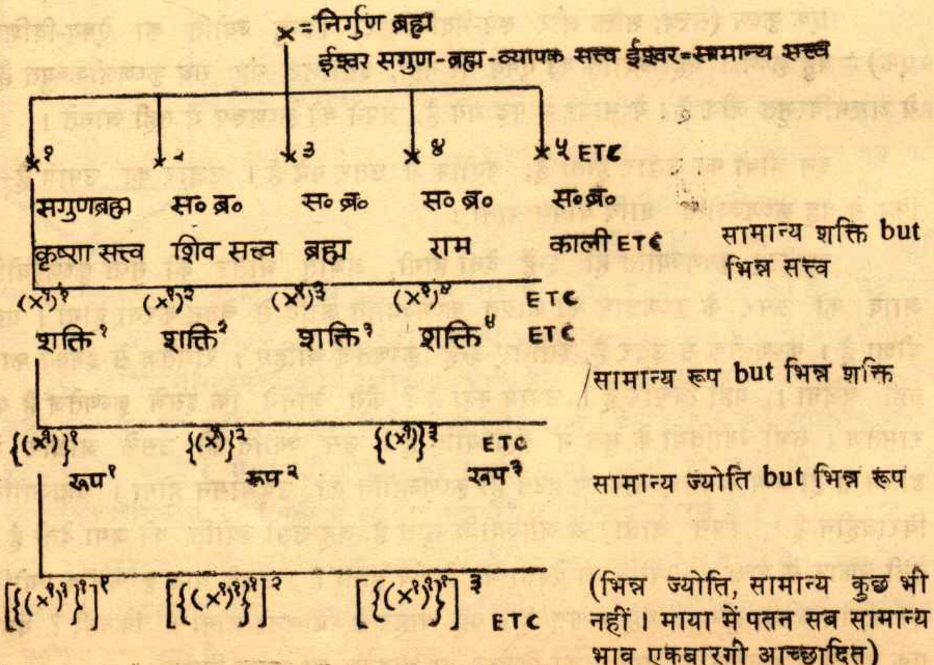

ज्योति[१] ज्योति[२] ज्योति[३]
बीज(अविद्या) बीज(अविद्या) बीज(अविद्या) कारण
अंकुर अंकुर अंकुर अंकुर अंकुर(कर्म)
वृक्ष वृक्ष वृक्ष स्थूलतत्त्व (फल-सुख-दुःख-मृत्यु)

१५.२.३८ :

१. जब किन्हीं देवता या भगवान् के बारे में सोचा जाता है, तभी उनकी दृष्टि पड़ती है। तभी एक खिंचाव होता है, आकर्षण होता है। बार-बार चिन्ता करने से यह खिंचाव भी चलता रहता है। साधक का दिव्यनेत्र खुला नहीं है, इसलिए उसके आगे आवरण है, इसलिए उस खिंचाव के प्रकाशित होते ही आवरण रहने के कारण मन काँपता रहता है, इसीलिए नाना चिन्ताएँ जाग उठती हैं। ध्यान करने में जो चंचलता होती है, उसका कारण यही है। दिव्य चक्षु खुल जाने से उस चिन्ता के साथ-साथ उस खिंचाव के जोर से मन बाहर होकर इष्ट स्थान में जाता है। बीच में नहीं रुक सकता।

पूर्ण—साकार-निराकार—सब कुछ—कुछ नहीं।

२. (चित्) शिव—निराकार

(चित्) शक्ति—साकार। यह आकार = चित् शक्ति, साथ में निराकार शिव हैं। पीछे पूर्ण।

महामाया शुद्ध सत्त्व = साकार। यह आकार = चिदाकार imposed on शुद्ध सत्त्व। चिदाकार के पीछे निराकार शिव। पीछे निराकार शिव।

माया प्राकृतिक सत्त्व—साकार। यह आकार = शुद्ध सत्त्वाकार imposed on त्रिगुण प्रकृति। यही कारण-देह है।

यह कारणदेह imposed on लिंग ज्योति = लिंगदेह

यह लिंगदेह imposed on तमः = स्थूल देह

Hence

शाक्तदेह (चित् शक्ति) एक ही नाना, नाना होकर विकृत होती है।

बैन्दव देह (शुद्ध सत्त्व) प्रतिबिम्ब द्वारा नानात्व, दर्शन नाना प्रकार, इसीलिए प्रकार का भेद।

कारणदेह (प्राकृतिक सत्त्व)

लिंगदेह (रजः या लिंगज्योति)

स्थूलदेह (तमः)

शाक्तदेह एक ही है । यही सभी वस्तुओं का मूल आकार है । यह आकार विशुद्ध सत्त्व में प्रतिबिम्बित होता है ।

शुद्ध सत्त्व में एक ही आकार है । वही ईश्वर-देह है । यह ईश्वर-देह खण्ड शुद्ध-सत्त्व में प्रतिबिम्बित होती है । यह नाना देवदेह है । (सत्त्व चूँकि खण्डित है, इसलिए मिथ्या का आभास है—महामाया)

यह एक-एक देवदेह प्रकृति में प्रतिबिम्बित होती है । वही एक-एक जीव की कारणदेह है । एक-एक कारणदेह बुद्धि या लिंगज्योति में प्रतिबिम्बित होती है । वही लिंगदेह है ।

एक-एक लिंगदेह तमः में प्रविष्ट होकर बाहर होती है—वही स्थूल देह है । इसी का ही गर्भ से प्रसव होता है । यह प्रतिबिम्बित नहीं; क्योंकि तमः स्वच्छ नहीं ।

शिव	reflected into	शक्ति = शाक्तदेह
शाक्तदेह	,, ,,	शुद्धविद्या बैन्दवदेह, व्यापक ईश्वराकार
ईश्वरदेह	,, ,,	माया = देवदेह
देवदेह	,, ,,	प्रकृति = कारणदेह
कारणदेह	,, ,,	बुद्धि लिंगदेह
लिंगदेह	,, ,,	भूतादि स्थूलदेह (तामस)

२६.२.३८ :

चित्त का लय होता कहाँ है ? चित्त जब काम करता है, व्यवहार-पथ में रहता है, संचरण करता है, क्रियाशील रहता है, तो नाना स्थान में जाता है । लेकिन, जब विश्राम करता है, तब अपने धाम या घर में रहता है । यही उसकी प्रकृति है । चित्त प्रकृति का कार्य है । उसे बाहर जगाये नहीं रख सकने से अपनी प्रकृति भीतर खींच ही लेगी । भोग और अपवर्ग ही चित्त को जगाये रखने का उपाय है । भोग में चित्त बहिर्मुख रहता है । अपवर्ग-चिन्ता में अन्तर्मुख ।

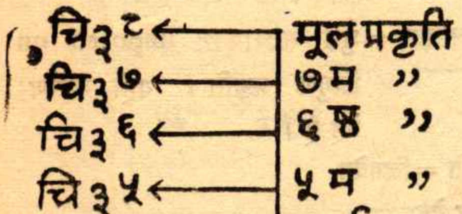

चित्त जिस स्तर में है, उसका भोग भी उसी स्तर का है। अयोगी अवस्था में अर्थात् क्षिप्त, विक्षिप्त या मूढावस्था में यही संसार-भोग है। इस स्थिति में चित्त अपनी प्रकृति से ऊपर नहीं उठता। चित्त की जो प्रकृति थी, वही रहती है। कर्मबल से चित्त जिस किसी प्रकार भी संचरण करे, प्रकृति पहले जैसी ही रहती है। उसका बिन्दुमात्र भी उत्कर्ष नहीं होता। वह ज्ञान के विना नहीं होता।

चित्त के एकाग्र होने से ज्ञान का उदय होता है। तब, उस प्रकृति का साक्षात्कार होता है, फलस्वरूप वैराग्य होता है—वह प्रकृति अन्तर्हित होती है। द्वितीय प्रकृति का विकास होता है। वहाँ भी भोग है। उसमें मत्त होने से उसी जगह स्थिति होती है। और भी, एकाग्रता होने से उत्कृष्टतर ज्ञान उत्पन्न होता है। तब उस द्वितीय प्रकृति का दर्शन होता है—फलस्वरूप वैराग्य होता है। वह प्रकृति छूट जाती है। तृतीय प्रकृति का आविर्भाव होता है। इस प्रकार, भोग और त्याग क्रम-क्रम से हो जाता है। ज्ञान के विना वैराग्य नहीं होता और वैराग्य के विना उच्चतर ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश नहीं होता।

एकाग्र होने से ही ज्ञान का विकास होता है, ऐसी बात नहीं। क्योंकि, ज्ञान का संचार रहना चाहिए। चित्त में यदि ज्ञान-बीज संचारित रहे, तो एकाग्रता से उसे बीन लिया जा सकता है। परन्तु, यदि ऐसा न हो, तो केवल एकाग्रता से क्या होगा? इसीलिए, दीक्षा की आवश्यकता पहले है। बाद में एकाग्रता के लिए साधन-अभ्यास। दीक्षा के विना केवल एकाग्रता के अभ्यास से क्या लाभ?

लेकिन, यहाँ एक रहस्य है।

मनुष्य के जन्म के समय भगवान् उसे दीक्षा दे देते हैं, अर्थात् वह ज्ञान का बीज लेकर ही जन्म लेता है। मनुष्य-मात्र के साथ ही ऐसा है—पशु आदि के साथ नहीं। इसीलिए, पशु आदि की साधना भी नहीं, दीक्षा भी नहीं। लेकिन, वह ज्ञानबीज किसी काम नहीं आता। वह बहुत दबा रहता है। कारण-विशेष से हठात् किसी का फूट सकता है। साधारणतः, दीक्षा आवश्यक होती है। दीक्षा उस ज्ञानबीज को उद्दीप्त करने के निमित्त ही है। ऐसा न हो, तो बाहर से गुरु ज्ञान नहीं दे सकते। भीतर जो नहीं रहता है, बाहर से वह नहीं दिया जा सकता।

जिस आधार में वह ज्ञानबीज अत्यन्त ही दबा होता है, वहाँ एकाग्रता के उद्यम से एकाग्रता नहीं आती। निरोध आता है। वास्तव में, वह निरोध नहीं, लयमात्र है। अपनी प्रकृति में लय, विना उद्यम से भी, प्राकृतिक संकोच-काल में, आता है।

चित्त का एक आलम्बन और एक प्रकृति या आश्रय होता है। आलम्बनहीन चित्त प्रकृति में लीन हो जाता है। जगा नहीं रह सकता। उसे जगाये रखने के लिए आलम्बन चाहिए। आलम्बन के उत्कर्ष के अनुसार ज्ञान का उत्कर्ष होता है। ज्ञान की चरम शुद्धता के बाद आलम्बन नहीं रहता; क्योंकि, आलम्बन भी चरम (अस्मिता) हो गया है। वह निरालम्ब ज्ञान ही चैतन्य-स्वरूप पुरुष है।

पुरुष या चैतन्य	●	प्रकृति या आश्रय
चित्त या ज्ञान	आलम्बन	,,
,,	,,	,,
,,	,,	,,

आलम्बन रहने से चित्त = ज्ञान। नहीं रहने से चित्त प्रकृतिलीन या जड। निरालम्ब चित्त की प्रकृति का तारतम्य क्यों होता है ? वैराग्यभेद से।

भोग के अन्त में वैराग्य और अपरोक्ष ज्ञानजन्य वैराग्य—ठीक एक नहीं। भोग के अन्त में वैराग्य भी अपेक्षाकृत अच्छा है; क्योंकि बहुतों के वह भी नहीं होता। वे फिर पहले की जगह में उतर जाते हैं। जिनके वैराग्य होता है, वे उस भूमि के कारण या प्रकृति में लीन होते हैं, उस भूमि का त्याग हो जाता है—फिर भी उच्चतर भूमि नहीं मिलती। ऊर्ध्वतर भूमि में लय होता है।

सभी चित्त का अपनी-अपनी प्रकृति में लय होता है। निम्न प्रकृति का लय उच्च प्रकृति में होता है। अन्त में मूल प्रकृति ही रह जाती है। किन्तु, उन्मेष-काल में उससे किसी विशिष्ट चित्त का व्युत्थान नहीं होता। पर सामान्य चित्त का व्युत्थान होता है। लय के समय वह सामान्य चित्त भी लीन हुआ था।

मूल प्रकृति
|
सामान्य चित्त (प्रकृति)
|
विशेष चित्त-प्रकृति — विशेष चित्त-प्रकृति — विशेष चित्त-प्रकृति
|
विशेष चित्त-विकृति — विशेष चित्त-विकृति — विशेष चित्त-विकृति

१७.२.३८ :

प्रकृति-लय और निरोध ठीक एक नहीं। लय होता है अपने कारण से, प्रकृति में। लय के बाद जो रहता है, वह है प्रकृति। चित्त का लय और चित्त का निरोध एक नहीं। लय के मूल में है अज्ञान, निरोध के मूल में है ज्ञान।

निरोध का क्रम :

(a) अपनी सुप्त ज्ञान-सत्ता (inborn) का जागरण by external जाग्रत् ज्ञानसत्व।

(b) अभ्यास with एक आलम्बन। चित्त नानामुखी—परन्तु एकमुखी करने का अभ्यास।

(c) एकाग्रता of चित्त and प्रज्ञा = चित्त यहाँ ज्ञानात्मक। यह ज्ञान वृत्ति-मुखी है। एकमुखी वृत्ति।

(d) प्रज्ञानिवृत्ति या निरोध। चित्त यहाँ वृत्तिहीन—संस्कार-रूपी।

(e) कैवल्य। चित्त यहाँ वृत्तिहीन और संस्कारहीन। सुतरां, नहीं है। प्रकृति-लय की अवस्था :

(a) चित्त के बहुत आलम्बन हैं— चित्तवृत्ति विक्षिप्त, या क्षिप्त या मूढ।

(b) नित्य सुप्त ज्ञानसत्ता (inborn) जागरण by बाह्य जाग्रत् सत्ता नहीं हुआ है।

पृथ्वीतत्त्व एक है—पृथ्वी नाना। उस तत्त्व का आश्रय लेकर उसमें लीन होकर बहुत विदेह जीव या देवता हैं। उस तत्त्व को आश्रय करके सदेह जीव भी हैं। वह लय नहीं है; क्योंकि उस तत्त्व में उस देवता का अहम्-अभिमान जगा रहता है। और फिर, उस तत्त्व को मम-भाव से देखते हैं, ऐसे देवता भी हैं। उस तत्त्व में जो लीन हैं, उनमें अभिमान नहीं— 'अहम्' या 'मम' कोई अभिमान नहीं। जैसे, यह प्रकृति है (विकृति होकर भी प्रकृति)। यह निरन्तर god, god, god ही प्रसव करती है। ये विकार हैं,

[प्रकृति का सदृश परिणाम
विकृति का असदृश परिणाम] ये परस्पर नाना रूप से युक्त होकर आरम्भन करते हैं।

इस प्रकार मूल :

१. आद्या प्रकृति एक ही। मान लीजिए 'क'। यह निरन्तर विकीरण कर रहा है क, क, क, क। सभी 'क'—लेकिन एक होते हुए भी अलग। इसलिए $क^1$, $क^2$, $क^3$, $क^4$ etc ये सब विकार हैं। ये आपस में तरह-तरह से मिलते हैं। यथा $क^1$, $क^3$। $क^3$, $क^1$, $क^4$ आदि।

२. अब $क^1$ $क^3$ रूपी विकार भी यदि self-radiate करे, तो प्रकृति। इससे निरन्तर $क^1$, $क^3$, $क^1$, $क^3$, $क^1$, $क^3$ विकीर्ण होता है। सब एक नहीं। जैसे, $(क^1\ क^3)^2$ आदि।

ऐसा ही क्रमशः चलता है। जहाँ जाकर फिर स्वविकीरण नहीं होता—जिसके बाद ही अहंकार है, वहीं प्रसव का शेष।

जैसे गुलाब प्रकृति। हम जो गुलाब देखते हैं, वह विकृति है। सुतरां, मिश्र है। गुलाब प्रकृति से निरन्तर गुलाब निकल रहा है। किन्तु, बाहर आकर वह सिर्फ गुलाब नहीं। क्योंकि, बाहर कमल, जवा आदि अनन्त सत्ताएँ विकीर्ण हुई हैं। वह विकीर्ण गुलाब उससे मिल जाता है। गुलाब के विकीरण-मण्डल में वह स्थूल गुलाब तो है, पर उसमें जगत् की अनन्त सत्ता मिश्र रूप में है। चूँकि गुलाब के मण्डल में है, इसलिए उसमें गुलाब की मात्रा अधिक है, इसीलिए नाम हुआ गुलाब। नहीं तो वास्तव में सभी हैं।

१९.२.३८ :

१. पुरुषकार और कृपा।

लकड़ी जलती क्यों है ? अपने भीतर की आग से जलती है। पर, उस आग का उद्‌बुद्ध होना जरूरी है। बाहर की जलती आग ही उद्‌बोधक है। उस बाहरी आग के स्पर्श करते ही वह सोई आग जल उठती है।

इस बाहरी अग्नि के दो प्रकार हैं :

(a) जब ज्वलन्त अग्नि स्वतः ही जाकर लकड़ी का स्पर्श करती है, तब सुप्त अग्नि क्षुब्ध होती है, चेतन होती है—लकड़ी को जलाती है।

(b) जब लकड़ी में घोर संघर्ष होता है—लकड़ी-लकड़ी में घर्षण होता है, तब बाहर से ज्वलन्त अग्नि उतर आती है और लकड़ी का स्पर्श करती है—सुप्त अग्नि उस स्पर्श से जल उठती है। प्राण व्याकुल होने से इसी कारण से गुरु आते हैं। कर्म करते-करते इसी कारण से ज्ञान का संचार होता है।

दोनों में ही बाहरी अग्नि की अपेक्षा है। लकड़ी-लकड़ी में घर्षण होने से भी बाहरी अग्नि के कारण ही आग जलती है। घर्षण से सुप्त अग्नि में क्षोभ होता है—और, बाह्य अग्नि खिचकर उतर आती है। क्षोभ भीतर ही रहता है—केवल क्षोभ से लकड़ी नहीं जलेगी, यदि ऊपर से ज्वलन्त अग्नि न उतर आये।

बहुत ही तीव्र आघात नहीं लगने से भीतर हलचल नहीं होती। भीतर हलचल होने से ही ऊपर से सहारा आता है।

१. पानी में सभी चीज है। कम-से-कम एक कण। गुलाब को कमल बनाया जा सकता है, सोना बनाया जा सकता है—सब कुछ बनाया जा सकता है। क्यों ? क्योंकि उसमें कमल, सोना कम-से-कम कण-भर है। नहीं होता, तो वैसा नहीं किया जा सकता। गुलाब में सब है—मात्रा का तारतम्य रहे, पर है। परन्तु, गुलाब की मात्रा सबसे ज्यादा है। इसीलिए, वह गुलाब के नाम-रूप से परिचित है। उसमें सोना है, इसलिए वह सोना हो सकता है। उस सोना को बढ़ाने से ही क्रमशः सोना प्रबल होगा, गुलाब न्यून होगा। उस सोना को देखना चाहिए। देखकर उसकी ओर सकाम ईक्षण करने से ही वह स्पन्दित होता है—वह प्रकृतिभावापन्न है, यह कार्य से समझा जाता है। कारण कि वह स्पन्दन ही सोना का सदृश परिणाम है। अर्थात्, उस सकाम दृष्टि से सोना सोना-रूप में बहु होता है—multiply करके—सदृश रूप में परिणाम प्राप्त होता है। यही सुवर्ण प्रकृति का आपूरण है। वास्तव में इस रूप में सोना प्रबल होता है—गुलाब निर्बल।

तो मूल बात :

(क) उस सोने के कण को प्रत्यक्ष देखना।

(ख) उस देखने के मूल में सकाम भाव है (क्योंकि, निष्काम दर्शन से सृष्टि नहीं होती।)

१९.२.३८

दृष्टि दो प्रकार की है :

सकाम और निष्काम । प्रार्थी या भिक्षुक की और अप्रार्थी या प्रेमिक की । बाह्य और आन्तर– सम और विषम; सरल और वक्र ।

मैं एक गुलाब को देख रहा हूँ । आन्तर दृष्टि से देखने से वह विकृति न होकर प्रकृति होगा । गुलाब प्रकृति । प्रकृति = ज्योतिस्वरूप । विकृति = साकार, सृष्टि, वैषम्य । उस दृष्टि के क्रमशः पड़ने से अधःप्रकृति क्रमशः ऊर्ध्व प्रकृति के रूप में दिखाई देती है । अर्थात्, गुलाब-प्रकृति पुष्प-प्रकृति होती है—आदि । अर्थात्, गुलाब-ज्योति पुष्प-ज्योति में बदलती है । सब ग्रीन-रूम का व्यापार । दृष्टि के नियमित पड़ने से मूल प्रकृति का आविर्भाव होता है । मूल प्रकृति को, निष्काम दृष्टि करने से, उसे आत्मरूप में देखा जाता है । अनात्मा नहीं । मूल प्रकृति में आत्मा का जो प्रतिबिम्ब होता है, वही दृश्य आत्मा है । मूल प्रकृति स्वच्छ है, इसलिए प्रकृति और आत्मा एकाकार लगती है—प्रतिबिम्ब नहीं लगती । यही आत्मदर्शन है । अर्थात्, मूल प्रकृति को निष्काम भाव से देखना ही शुद्ध आत्मदर्शन है । और, निम्न प्रकृति को तद्रूप निष्काम भाव से देखना ही तत्तत् आकार में आत्मदर्शन है । अर्थात्, गुलाब-प्रकृति को यदि निष्काम भाव से देखा जाय, तो गुलाब को आत्मा जैसा अर्थात् मैं गुलाब हूँ, इस रूप में देखा जाता है । अनात्मा के रूप में नहीं ।

मूल प्रकृति या निम्न प्रकृति को सकाम भाव से देखने से उसमें विकार होता है, क्षोभ होता है, सृष्टि का विकास होता है, अनात्म-भाव की वृद्धि होती है ।

गुलाब-प्रकृति = शुद्ध गुलाब, मिश्र नहीं । स्थूल नहीं, सूक्ष्म । वही गुलाब की आत्मा या idea है । गुलाब-प्रकृति को isolated भाव से देखा जा सकता है । isolated भाव से देखने से उससे जात्यन्तर परिणाम नहीं हो सकता । स्वप्रकृति के तरंग-रूप में देखने से उस गुलाब-प्रकृति की coordinate सोना-प्रकृति भी देखी जा सकेगी, यदि देखने की इच्छा की जाय । फिर, उस सोना-प्रकृति में सकाम ईक्षण करते ही उसकी आपूर्त्ति होकर सोने का आविर्भाव होगा । उस समय गुलाब का आविर्भाव नहीं रहेगा । मगर, गुलाब-प्रकृति अवश्य ही रहेगी । क्योंकि, प्रकृति का ध्वंस नहीं होता ।

इस प्रकार से एक विकार दूसरे विकार में बदलता है, अवश्य प्रकृति में लौटकर ।

सब प्रकृति का मूल है = सत्त्व (आपेक्षिक शुद्ध) । सुतरां, गुलाब-प्रकृति भी, अर्थात् वह ज्योति भी शुद्ध सत्त्वरूप में—उज्ज्वल ज्योति-रूप में—प्रकट होती है । सोना आदि की प्रकृति वहीं मिलेगी । प्राकृत सत्त्व ही मूल प्रकृति है—इसमें इस जगत् का सभी सत्त्व है । अप्राकृत सत्त्व में इस जगत् का कोई उपादान नहीं ।

साम्य प्रकृति को देखकर दो व्यापार हो सकते हैं ;

(क) ज्ञान गौण, इच्छा मुख्य ।

(ख) ज्ञान प्रधान, इच्छा गौण ।

पहला योग है । इसमें प्रकृति-दर्शन ही ज्ञानस्वरूप है । दर्शन करके सोना की इच्छा करने से वह प्रकृति सोना होकर दिखाई देती है ।

दूसरा है विज्ञान । इसमें व्यापक प्रकृति-दर्शन के अंग-रूप में सोना-प्रकृति-दर्शन (through गौण इच्छा) आवश्यक है । जल में जैसे तरंग, वैसे ही । सोना-प्रकृति देखकर—सकाम ईक्षण से सोना प्रकृति-विकृति-सोना रूप में प्रकट होती है । योग में ज्ञान गौण होता है । इच्छा ही प्रधान है । यह इच्छा ही प्रकृति को क्षुब्ध करती है और स्वविषय-रूप में आविर्भूत कराती है ।

विज्ञान में, अखिल प्रकृति में इच्छा की सहायता से सोना की प्रकृति को देख लेना होता है । इसके बाद सृष्टि तो दृष्टि (सकाम दृष्टि) के प्रभाव से होती है ।

१९.२.३८ :

सभी ज्ञानी या योगी सभी जीव का उद्धार नहीं कर सकते । सभी जीव में शुद्ध का कण है—कहीं-न-कहीं अवश्य है । लेकिन किसी के ऊपर होता है और किसी के नीचे दबा-सा । जो योगी उस सत्त्व को देख पायगा, वह उस सत्त्व को दृष्टि के द्वारा निखार या बढ़ा या उसमें बाहर का सत्त्व ढाल सकेगा । नहीं देख पाने से योगशक्ति की न्यूनता के कारण उस सत्त्व का उद्धार नहीं कर सकेगा । जो योगी अधिकतर शक्तिशाली है, वह उसे देख पायगा—इसलिए उस जीव का उद्धार कर सकेगा ।

जीव में वह विशुद्ध कण न हो, तो उस जीव का उद्धार करने की क्षमता किसी को नहीं । लेकिन, वह है ही । जीवसृष्टि के साथ-ही-साथ वह आता है । इसीलिए, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर (या बुद्ध etc.) ही सभी जीव का उद्धार कर सकते हैं, पर दूसरे ज्ञानी सबका नहीं कर सकते, बहुतों का कर सकते हैं । जगद्गुरु का अर्थ यही है ।

उस शुद्ध कण पर गुरु की दृष्टि रहती है, इसलिए वह कण क्रमशः बढ़ता है । गुरु दृष्टि न डालें, तो नहीं बढ़ सकता । लेकिन, भीतर आकुलता और चांचल्य होने से गुरु की दृष्टि आप ही आती है । फिर तो वह बढ़ेगा ही ।

२१.२.३८ :

१. प्रकाश का राज्य	अन्धकार का राज्य
सत्त्व	तमः

पहला सत्त्व—उसके विकास का क्रम है, चरम में पूर्ण सत्त्व । अर्थात्, कला पूर्ण । वही विशुद्ध सत्त्व है । सृष्टि के पहले जो महा-ऐक्य था, उसमें सभी वस्तुएँ एकाकार थीं । सृष्टि से अलग हो गईं, इसीलिए सब वस्तु में सब वस्तु का अंश रह गया है । अतएव, तम में भी एक कला शुद्ध सत्त्व है और सत्त्व में एक कला तम है । सृष्टि के पहले जब

सब एकाकार था, तब शुद्धावस्था थी। उस समय सत्त्व = शुद्ध, रजः = शुद्ध, तमः = शुद्ध। साम्यावस्था--विकार या वैषम्य नहीं। यही महासरस्वती, महालक्ष्मी, महाकाली है। त्रिकोण--। इन तीनों के ही मिश्रण होने से सृष्टि होती है।

तब शुद्ध सत्त्व-आश्रय में सत्त्वराज्य (उसमें रजः-तमः है)।
शुद्ध रजः-आश्रय में रजोराज्य (उसमें सत्त्व-तमः है)।
तमोराज्य का नामान्तर = पृथ्वी, अन्धकार-राज्य, भूत, पाताल आदि अधोलोक।
सत्त्वराज्य का नामान्तर = दिव्यधाम, ज्योतिर्मय धाम, स्वर्ग ऊर्ध्वलोक।
रजोराज्य का नामान्तर = अन्तरिक्ष, **firmament**, भुवर्लोक मध्यलोक।

२. सूर्य, चन्द्रग्रह, नक्षत्र, अग्नि, विद्युत्--इन सबकी ज्योति और हमारी इन्द्रियों की ज्योति सजातीय हैं। दोनों के मूल में एक ही ज्योति है। यह ज्योति तमोराज्य की उपयोगी ज्योति है। इस ज्योति के बाहर एक अन्धकार है। उसमें इस ज्योति का लय होता है। उस अन्धकार को भेदकर यह ज्योति नहीं जा सकती।

इसके बाद और एक ज्योति। उस ज्योति के इन्द्रिय आदि हैं। वही दिव्यचक्षु है। उस ज्योति के द्वारा हमारा यहाँ का दर्शनज्ञान नहीं होता। केवल वहाँ का होता है।

उस दूसरी ज्योति के बाहर अन्धकार है। वहाँ दूसरी ज्योति का लय होता है। उसके बाद तीसरी ज्योति और तदुपयोगी लोक और करण। वही मस्तक का चक्षु है। इस ज्योति से दिव्यलोक का दर्शन नहीं होता। उसके बाद फिर अन्धकार। वहाँ इस तीसरी ज्योति का लय होता है। उसके बाद जो है, वही पूर्ण ब्रह्म है।

प्रथम लोक पृथ्वी और downwards	अन्धकार और शून्य अन्तरिक्ष	द्वितीय लोक देवलोक से गोलोक तक शुद्धसत्त्व का	अन्धकार और महाशून्य	तृतीय लोक शाक्तधाम	अन्धकार और अतिशून्य	पूर्ण ब्रह्म
प्राकृतिक सत्त्व का आलोक	प्राकृतिक सत्त्व के प्रकाश की, पूर्णता और लय यहाँ	प्राकृतिक आलोक	शुद्ध सत्त्व के प्रकाश की पूर्णता और लय यहाँ		यहाँ शाक्त ज्योति की पूर्णता और लय	ज्योति नहीं। निर्वाण

३. शुद्धसत्त्व ज्योति ब्रह्मा--इस ज्योतिलय में ब्रह्मा = ब्रह्म।
शक्ति ज्योति नारायण--इस ज्योतिलय में नारायण = योगनिद्रित
शिवज्योति शिव--इस ज्योतिलय में शिव = शव
शुद्ध सत्त्व की पूर्णिमा = ब्रह्मा या सगुण ब्रह्म
शुद्ध सत्त्व की अमावास्या = ब्रह्म
शक्ति की पूर्णिमा = नारायण

शक्ति की अमावास्या = योगनिद्रा of नारायण

शिव की पूर्णिमा = महादेव

शिव की अमावास्या = शव

उसके बाद infinite

पूर्ण या infinite जब जड का प्रथम स्पर्श करते हैं, उसके पहले, अर्थात् चित्‌कला-संचार के पूर्व, जड south pole.

और, पूर्ण या infinite जड को चेतन करके चैतन्यरूप में निखारकर छूट जाते हैं, तो जड North pole होता है।

पहला है matter = निष्क्रिय; क्योंकि पूर्ण ने स्पर्श नहीं किया।

दूसरा है पुरुष = निष्क्रिय; क्योंकि स्पर्श करके छोड़ दिया है।

४. पुरुष प्रकृति का दर्शन करता है, इसलिए, प्रकृति का परिणाम है। समदृष्टि या निष्काम दृष्टि से सदृश परिणाम। केवल सत्ता का बहुत्व-सम्पादन करनेवाली प्रकृति प्रसव के स्वरूप योग्य होती है। विकार तब भी नहीं होता। विषम दृष्टि या सकाम दृष्टि के फलस्वरूप विसदृश परिणाम या सृष्टि या वैषम्य या विकार की सृष्टि करता है।

पुरुष यदि द्वितीय सोचकर समदृष्टि भी न बने, अर्थात् अपने को आप ही न देखे, तो वही आत्मज्ञान-दर्शन है। यदि पुरुष अपने को भी न देखे, तो आत्मा।

पुरुष नहीं देखता। (a)

पुरुष अपने को देखता है। यहाँ प्रकृति और प्रतिबिम्ब, दो होते हैं। स्वच्छतावश एक ही देखा जाता है। यही अपने को देखना है। वास्तव में, प्रकृति को देखना या प्रकृति में आत्मबिम्ब देखना। (b)

उसके बाद पुरुष द्वितीय सोचकर प्रकृति को देखता है—समष्टि। यहाँ काम नहीं। इसका फल सदृश परिणाम है। (c)

पुरुष प्रकृति का आलिंगन करता है, अर्थात् सकाम भाव से देखता है। फल—विसदृश परिणाम या विकार। (d)

२६.२.३८ :

जो पाप करता है, पर स्वयं उसका द्रष्टा होकर देखता है, वह पाप में लिप्त नहीं होता। एक प्रबल शक्ति की प्रेरणा से वह देखने को बाध्य होता है। इच्छा ही मूल शक्ति है। इच्छा दो प्रकार की होती है। एक पाप के अनुकूल, दूसरी उसके प्रतिकूल। अनुकूल उस समय प्रबल होती है, प्रतिकूलवाली दुर्बल। वह साक्षी का आश्रय लेती है। साक्षी का आश्रय लेने के कारण वह पाप के फल से मुक्त होता है।

उसके जरिये कौन कराता है? वह चाहती नहीं और चाहती भी है। उसकी पापेच्छा के मूल में कौन है? स्वभाव से ही इच्छा का उदय होता है। स्वभाव ही प्रवर्त्तक है। यह देखने का नाम स्वभावदर्शन है। यही विशुद्ध ज्ञान है।

जो अच्छा काम करता है और अच्छे काम के लिए स्वयं आनन्दित होता है, उसे स्वभावदर्शन नहीं होता। वह अभिमानी है, पुण्यवान् होते हुए भी अज्ञानी है। उसकी अच्छी इच्छा का प्रवर्त्तक भी स्वभाव है। जब वह यह समझता है, तब वह ज्ञानी है, साक्षी का आश्रित। उस समय वह पुण्यवान् नहीं।

पाप-पुण्य अज्ञान अवस्था में होता है। साक्षी का आश्रय लेने से पाप-पुण्य नहीं रहता। तब दोनों में साम्यदर्शन होता है--वही ज्ञान है। तब समझ में आता है, स्वभाव ही प्रवर्त्तक है--वही करा लेता है। स्वभाव में पाप-पुण्य नहीं, वह पाप-पुण्य नहीं समझता। वह केवल प्रवर्त्तक है। जिस आधार में जो है, वहाँ वही चलता रहता है। फलस्वरूप स्वभाव पाप या पुण्य--सब जगा देता है।

अतएव, यथार्थ ज्ञान से इस स्वभाव के प्रवर्त्तकत्व का दर्शन होता है। जाना जाता है, स्वभाव ही सर्वत्र चलाता है, आधार-भेद से चलाना भिन्न-भिन्न होता है।

यह आधार-भेद संस्कार-भेद से होता है और संस्कार-भेद कर्मभेद से। कर्मभेद के मूल में भी संस्कार-भेद है। अतएव, मूलत: जड की ओर से संस्कार-भेद ही प्रकृति-भेद का कारण होता है। चैतन्य की ओर से देखने से स्वभाव की लीला ही प्रकृति-भेद का कारण होती है।

अतएव, जो साक्षी हैं, वही प्रवर्त्तक हैं। वह समदर्शी हैं, इसलिए समरूप से सबके प्रवर्त्तक हैं।

साक्षी और शक्ति (एकत्र)-समदृष्टि सब पर। यही साक्षी। फल-विकास। शक्ति की लीला के कारण विकास का भेद होता है। यही मूल है। बाद में संस्कार-भेद विकास का भेदक है।

विचारक : अच्छा फुटे, तो फलसुख, बुरा फुटे, तो फलदु:ख। विचारक अच्छा-बुरा देखता है।

साक्षी और शक्ति को अलग देखने से शक्ति की लीला पकड़ में नहीं आती, इसीलिए विकास के भेद के मूल में संस्कार-भेद माना जाता है। क्योंकि, साक्षी अभेद द्रष्टा और समरूप में विकासक है। उस संस्कार-भेद से ही साक्षी से विभिन्न शक्ति का आत्मप्रकाश होता है। वह शक्ति = जड।

शक्ति यदि साक्षी से अभिन्न मालूम हो, तो वह शक्ति = चैतन्य। विकास का भेद वैसे में उस शक्ति की लीलामात्र होती है, संस्कार-भेद वैसे में कुछ नहीं रहता।

जो शक्ति को साक्षी से अलग जानता है, वही जीव अज्ञानी और अभिमानी है। इसीलिए, उसका सुख-दु:ख भोग होता है और पहले पाप-पुण्य होता है। उसका दायित्व है। उसके लिए साक्षी द्रष्टामात्र और समप्रवर्त्तक है। उसमें वैषम्य नहीं। वैषम्यमूल उसका (उस जीव का) अभिमान और अज्ञान है।

इस दृष्टि में साक्षी से सहायता नहीं मिलती। यहाँ साक्षी में करुणा या कृपा नहीं–केवल समदर्शिता है। वास्तव में, साक्षी जीव के पाप-पुण्य या सुख-दुःख को समझ ही नहीं सकते। क्योंकि, वह समदर्शी हैं।

किन्तु साक्षी शक्तिमय, शक्ति चैतन्यमय––दोनों एक हैं। यह युगल रूप जो देखता है, उसके लिए यह युगल रूप ही सर्वकर्म का प्रवर्त्तक है। उसका पाप-पुण्य नहीं रहता। वह ज्ञानी है, इसलिए सुख-दुःख के मूल का आनन्द-लाभ करता है।

वही सब करते हैं––यह जानने से आनन्द-ही-आनन्द है। किन्तु, ब्रह्मदर्शी भाव रहता ही है। क्योंकि, सुख में भी आनन्द, दुःख में भी आनन्द। पाप भी जो, पुण्य भी वही। सभी प्रपंच लीलारूप में ही देखा जाता है–– दृष्टि बदल जाती है।

अपने को यदि सुख-दुःखबोध रहता है, तो समझना होगा, वही सब कराते हैं। यह मात्र परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ नहीं है। वास्तव में, तब भी अपना कर्म है।

साक्षी और शक्ति को एक देखना या युगल-मिलन शिव-शक्ति का मिलन है। उसी समय शक्ति का जडत्व सम्पूर्णतया दूर होता है। उसी समय अज्ञान और अभिमान कटता है। इसीलिए, शिव-शक्ति एक हो जाते हैं। इससे पहले लीला-रूप में दर्शन नहीं होता, कर्मत्याग नहीं होता।

[२]

दृष्टि का उन्मेषमुखी भाव–त्राटकादि–शुक्लपक्ष साधन। फल–एकाग्रता–पूर्णिमा। प्रसारण।

दृष्टि का निमेषभाव-निरोध-कृष्णपक्ष, साधन-अमावस्या। संकोच। इसीलिए, एकाग्रता-सिद्धि के लिए कलासंचार आवश्यक है। इसीलिए, दीक्षा चाहिए। जिसने कला नहीं पाई, उसने शुक्लपक्ष में प्रवेश नहीं किया। उसकी कलावृद्धि और पूर्णता––एकाग्रता, असम्भव है। एकाग्रता के बाद निरोध।

शुक्ल प्रतिपद् की पूर्वावस्था–कलाप्रवृत्ति की पूर्वावस्था, अमावास्या की परावस्था-कलानिवृत्ति की परावस्था।

इन दोनों को लेकर एक-एक circuit वृत्त। ऐसे एक-एक वृत्त को पूर्ण करके तिल-तिल अग्रसर होना होता है। यही कालचक्र है।

कालचक्र में कला-संचार होता है और चरम में कला का अवसान होता है। कलाचक्र में कला थोड़ा-थोड़ा गिरती है, बढ़ती है, घटती है, समाप्त होती है। इस तरह कालचक्र के भीतर से होकर सब कला समाप्त हो जाती है। निष्कलावस्था बाद में आती है।

{ इस कला की वृद्धि ही=भोग } दोनों की पूर्णता ।
{ इस कला का ह्रास ही=वैराग्य } में निष्कलता ।

अव्यक्त जड से पूर्ण चैतन्य में जाने के लिए यह कालचक्र ही मार्ग है--भोग और त्याग ।

शिव और शक्ति का मिलन--मतलब क्या ? चैतन्य का एक साक्षीभाव है। एक कर्त्ताभाव है ।

Stages :

(a) 'चैतन्य' = जड शक्ति के जागरण की पूर्वावस्था [यहाँ शिव और शक्ति का मिलन नहीं है ।]

(b) 'चैतन्य' = शिव as ज्ञानमय । यही साक्षी शिव या पुरुष । शिव केवल द्रष्टा । कर्त्तृत्व कुछ नहीं । जो कुछ भी होता है, वह शिव से नहीं--सभी कर्मों का प्रवर्त्तक बाह्य ।

[शिवशक्ति का आंशिक मिलन । शक्ति का आंशिक जागरण ।]

वह = माया । जीवमात्र उसके अधीन । वही जीव में अज्ञान और अहंकार रूप में खेलती है । जीव अभिमानी, अज्ञानी ।

[दोनों का आंशिक मिलन । शक्ति का आंशिक जागरण ।]

(c) 'चैतन्य' = शिव as क्रियामय । यह जड शिव या प्रकृति । केवल कर्त्ता । ज्ञान नहीं ।

(d) 'चैतन्य' = शिव as ज्ञान-क्रियामय । यही दोनों का पूर्ण मिलन है । शक्ति का मुक्त चैतन्य । यही परमेश्वर । पूर्ण जागरण । इस पूर्ण मिलन के बाद ही लीलाब्रह्म । वैसे में शक्ति और शिव एक ब्रह्मरूप में आविर्भूत । यह ब्रह्म = लीलाब्रह्म । यह लीला भी बढ़ते-बढ़ते पूर्ण होकर । शून्य हो जाती है । वही शान्तब्रह्म या पूर्णब्रह्म है ।

infra ≡ जड (Transcendental)

जड Pure शक्ति सुषुप्त

भोक्ता, भोग्य, शक्ति स्वप्नावस्था विकार—भोगशक्ति, अचेतन ।

ज्ञाता, ज्ञेयशक्ति--पुरुष -- ज्ञानशक्ति, खण्ड चेतन (ईषत् जाग्रत्) }
कर्त्ता कार्यशक्ति--प्रकृति -- क्रियाशक्ति, खण्ड चेतन (ईषत् जाग्रत्) } * [विभूति या सिद्धि]

व्यापक सत्त्व

* यहाँ नाना और एक की दो धाराएँ हैं । सांख्य में नाना, वेदान्त में एक ऊपरवाली सांख्य की; वेदान्त में ज्ञानशक्ति = अखण्ड चेतन; क्रियाशक्ति = अखण्ड चेतन । पर दोनों में समानता नहीं । इसलिए दोनों ही तरह से प्रकृति या पुरुष जड है ।

ज्ञात & ज्ञेय & शक्ति चैतन्य-चेतनाशक्ति [सांख्य या वेदान्त (पूर्ण
कर्त्ता कार्य पूर्णजाग्रत् पथ से इस स्तर में
शिव = शक्तिमिलन चैतन्य) कैवल्य या
मिलन मोक्ष। परन्तु, वह अपूर्ण;
क्योंकि प्रकृति या माया
मिलित नहीं–योग नहीं–
वियोग]

ब्रह्म	लीला	आनन्द
(No शिव)	(No शक्ति)	(No चैतन्य)
पूर्णब्रह्म		
(No लीला)		(No आनन्द)
चैतन्य (pure)		शक्ति (even as आनन्द या लीला Nil)

Ultra चैतन्य Transcendental

२७.२.३८ :

[१]

सांख्य का पुरुष और प्रकृति—दोनों ही अंशतः जड, अंशतः चेतन। पुरुष जड; क्योंकि उसमें स्वातन्त्र्य या कर्तृत्व नहीं। प्रकृति जड; क्योंकि उसमें बोध नहीं। बोध और स्वातन्त्र्य (ज्ञान और क्रिया) एकत्र होने से ही पूर्ण चैतन्य।

पुरुष चेतन; क्योंकि बोध है। प्रकृति चेतन; क्योंकि स्वातन्त्र्य है। शुद्ध जड का बोध नहीं रहता, स्वातन्त्र्य भी नहीं रहता।

[२]

शुद्ध जड (Transcendental) Infra (सुषुप्ति)

जडप्रधान (चित् का उन्मेष नहीं)—बोध नहीं, स्वातन्त्र्य नहीं, ज्ञान नहीं, क्रिया नहीं। सुषुप्ति।

चिदाविष्ट जड (चित्त का उन्मेष हुआ है।) या जीव (अशुद्ध)

(a) Sub-human—ज्ञान और क्रिया अभिन्न, instinct, स्वप्न।

(b) Human—ज्ञान और क्रिया भिन्न Reason, स्वप्नाभास, जागरणाभास। जडाविष्ट चित् ईश्वर Human.

Celestial (दिव्य) ज्ञान और क्रिया अभिन्न Intuition
(चैतन्य) जागरण

शुद्ध चैतन्य या Transcendental ultra जागरण

जहाँ ज्ञान और क्रिया भिन्न है, वहीं कर्मराज्य है; वहीं अभिमान है। वहाँ क्रियांश = कर्म; ज्ञानांश = भोग या कर्मफल। क्रिया शुद्ध होने से (स्वाभाविक, निष्काम), ज्ञान शुद्ध होने (भोगात्मक नहीं रहने) से दोनों एक हो जाते हैं। तब अभिमान नहीं रहता। संस्कार नहीं रहता। फलदाता ईश्वर भी नहीं रहता।

[३]

पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध :

(क) वियोग, (ख) परस्पर आभिमुख्य (ग) योग।

वियोगावस्था में पुरुष = चित्, किन्तु द्रष्टा नहीं।

प्रकृति = अचित्; किन्तु परिणामशील, स्वतन्त्र नहीं।

पुरुष ज्ञानस्वरूप है, लेकिन क्रियाभास है, इसलिए कर्तृत्वविशिष्ट या स्वतन्त्र। अतएव, सांख्य का पुरुष और प्रकृति परस्पर वियुक्त नहीं और परस्पर मिलित भी नहीं। वैसा होने से दोनों मिलकर एक होते—वही चैतन्य है। वह ज्ञान और क्रिया का—बोध और स्वातन्त्र्य का मिलित रूप है। सुतरां, सांख्य का पुरुष और प्रकृति परस्पर अभिमुख हैं। पुरुष की अभिमुखता प्रकृति की ओर—इसीलिए चित् का आभास पाकर प्रकृति का स्वातन्त्र्य और सदृश परिणाम। उसी प्रकार प्रकृति की अभिमुखता से पुरुष द्रष्टा है। यही स्व-स्वामिभाव है।

[४]

ग्रन्थि-बन्धन और मोचन। मैंने जैसा देखा, वह है :

	विशुद्ध चैतन्य	ग्रन्थिहीन मुक्त
एकग्रन्थि	,,	+ प्रथम ग्रन्थि कारणदेहमय। शुद्धसत्त्व की ग्रन्थि।
विष्णुग्रन्थि	,,	+ द्वितीय लिंगदेहमय। प्राकृत सत्त्व की ग्रन्थि।
ब्रह्मग्रन्थि	,,	+ तृतीय स्थूलदेहमय। तामस ग्रन्थि या भौतिक ग्रन्थि।

तृतीय ग्रन्थि से ही स्थूलत्व। इसके टूटने से स्थूल के पाँच अवयव पृथक् होते हैं। उदाहरणस्वरूप, गुलाब का फूल। फूल का एक रूप है, रस-गन्ध आदि है। ब्रह्मग्रन्थि खुलने से द्रव्यरूपी फूल पाँच गुण हो जायगा। वह इन्द्रियग्राह्य नहीं रहेगा, मनोग्राह्य होगा। मन भी इन्द्रिय-वासना लेकर उसके एक-एक गुण को ग्रहण करेगा। जब इन्द्रिय-वासना नहीं रहेगी, तब मन = बुद्धि। बुद्धि के द्वारा फूल का सत्त्व पकड़ में आयगा। वही भीतरी ideal फूल है। वह उस रूप, रस आदि सार में ही था।

इसके बाद विष्णुग्रन्थि-भेद हो जाने से फूल का कारणभाव अधिगत होगा। यही शुद्ध सत्त्वरूपी फूल है = दिव्य फूल।

यहाँ भी ग्रन्थि है। रुद्रग्रन्थि। उसके भेद से फूल की कारणसत्ता नहीं रहती। तब फूल को ब्रह्मरूप में, चिन्मय रूप में जाना जाता है। यही साकार ब्रह्म है। यह फूल का शाक्तरूप है। फूल = चित्‌शक्ति। रुद्रग्रन्थि-भेद = शुद्ध सत्त्व से साकार फूलरूपी चित् (शक्ति) को विविक्त करना। इसके बाद और ग्रन्थि नहीं। क्योंकि, शक्ति और शिव एक ही वस्तु है। साकारऔर निराकार–इतना ही अन्तर। किन्तु, यहाँ प्राधान्य-अप्राधान्य है। इसीलिए, शुक्ल-कृष्णपक्ष हैं। किन्तु शिव-शक्ति-सामरस्य होने से अद्वैत होता है। अद्वैत साकार भी है, निराकार भी, युगपत् सभी। यहाँ कालचक्र नहीं है। महाकाल के बाद। इसीलिए शुक्ल-कृष्णपक्ष नहीं।

१.३.३८ :

सांख्य का पुरुष = शुद्ध सत्त्व, जिसमें चित् शक्ति संचारित है। प्रकृति = अशुद्ध सत्त्व, जिसमें अचित् शक्ति संचारित है।

(क) शुद्ध सत्त्व में जैसे चित् शक्ति रहेगी ही––किन्तु action के द्वारा साम्यावस्था प्राप्त की जा सकती है। तब शुद्ध सत्त्व अकेला, चित् शक्ति अकेली होगी। दोनों ही समान––अलग। दोनों के बीच की शक्ति ही संयोजक है। यही चित् शक्ति है।

(ख) अशुद्ध सत्त्व में वैसे ही अचित् रहेगा ही––परन्तु साम्य होता है। तब सत्त्व अलग होगा, अचित् शक्ति या रजः।

पहले का साम्य = त्रिकोण, consisting of चित् (शिव), चित् शक्ति (शक्ति) एवं (शुद्ध) सत्त्व।

द्वितीय का साम्य = त्रिकोण, consisting of अचित् (तमः), अचित् शक्ति (रजः) एवं (अशुद्ध) सत्त्व।

लिंग के दो रूप पाते हैं :

आन्तर रूप—अस्मिता। यह अणुमात्र है। यही लिंग-शरीर का nucleus है। इसी में रूप, रस आदि आश्रित होते हैं—यह (अस्मिता) जब वहिर्मुख होकर अहंकाररूपी होती है।

बाह्य रूप–अहंकार। इसके ५ मुख, रूप, रस, गन्ध etc.। इसीलिए, अहंकार पंचमुख रुद्र है। पर, यह अहंकार रूप आदि एक-एक लेकर आत्मप्रकाश करता है। पाँचों एकत्र नहीं होते। होने से ही स्थूलत्व आयगा। वस्तुतः, यही है रूप = रूपतन्मात्र; रस = रसतन्मात्र।

यह रूप एक unit है, इसीलिए तन्मात्र। जैसे गुलाब, इसका रूपमात्र (रस, गन्ध आदि नहीं, अर्थात् स्थूल गुलाब या द्रव्य गुलाब नहीं) = रूपतन्मात्र है। इस रूप की अणिमा या महिमा से––वह केवल शक्ति के संकोच और प्रसारण का फल है। रूप अणु

होकर भी, इसीलिए रहता है, महत् होकर भी इसीलिए रहता है। यह संकोच-प्रसार रूप का ही होता है (या रस का ही होता है—मतलब कि द्रव्य का नहीं, एक-एक गुण का)। रूप-संकोच करके भौतिक क्षेत्र में डालने से ही अणु द्रव्य होगा। द्रव्य करके अणु नहीं करना होता। यह रूप रूपतन्मात्र है।

द्रव्य गुलाब से इस रूप को या केवल एक गुण को खींच लेने से द्रव्य nucleus रूपी भूत आदि या तामस अहंकार होगा, वही अस्मिता या अस्तित्व है। बाद में अस्मिता हो जाती है। उस समय बाह्य दृष्टि से द्रव्य नष्ट हो गया।

यह रूप अलग होकर अपनी रूप-प्रकृति में लीन होगा, अगर मैं अपने रूप में लीन न करूँ। मेरे लीन करने से मुझमें लीन होकर भी अलग रहेगा और बोधशक्ति के शैथिल्य से ही बाहर हो जायगा। सजातीय सत्ता में लीन होने से विश्राम करता है— विजातीय सत्ता में लीन होने से केवल दबा रहता है। परन्तु, उन रूप, रस आदि का परस्पर सम्बन्ध है। इसीलिए, रूप को बाहर डाल देने से वह अपने सहचर रस आदि को खींच लायगा, स्थूल होगा। रूप को जोर देकर खींचने से वह जैसे प्रकृति में लीन नहीं होता, वैसे ही रस आदि भी प्रकृति में लीन नहीं होता। विजातीय सत्ता में लीन होता है। इसका कारण, उस फूल की अपमृत्यु हुई है। उसका evolution बीच में टूट गया है।

२.३.३८ :

सत्त्व = आधार-शक्ति। यह जड है। इसी को आश्रय करके चित् शक्ति प्रकाशमान होती है।

{ शिव
{ चित् शक्ति
शुद्ध सत्त्व
अशुद्ध सत्त्व ॥ प्रकृति
बैन्दव चक्र ॥

चित् शक्ति शिव के आश्रय में नित्य ही खेलती हैं। यही चिद्विलास है, चैतन्य का खेल। यह अव्यक्त है। यही व्रज (व् + रज) लीला है।

शुद्ध सत्त्व में उस शक्ति के संचार से ही व्यक्त लीला। शुद्धधाम में यह दिव्य लीला है। महामाया की लीला। प्रकृति में उस दिव्य तेज के संचार से माया की लीला।

चित् शक्ति }	शव —	शिव	—	सृष्टि
	सत्त्व —	देवता		
	सत्त्व (अशुद्ध)—mixed ३—मनुष्य आदि लीला			
	भूत		५	

३.३.३८ :

काली और सुन्दरी। महाशक्ति का चरम रूप है यह काली। सुन्दरी में—नीचे शवरूपी शिव, उसके नीचे पंचप्रेत (सदाशिव, ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र।)

वस्तुतः, शुद्ध सत्त्व के बाद चित् शक्ति। शिव शक्ति से अभिन्न। सत्त्व के पाँच द्वार या मुख या भेद हैं।

प्राकृतिक जगत् में :

अस्मिता—एकमुख,

अहम्—केन्द्र, **surrounded by** रूप, रस, गन्ध **etc.** पंचक।

अप्राकृत जगत् में :

उसी प्रकार सब। यहाँ भी पाँच मुख हैं। शुद्ध बिन्दु की पाँच धाराएँ हैं। इसी से सदाशिव आदि ५ होते हैं—पंचभूत का आदि यहाँ है। ये पाँच सत्त्व भाग ही पंचभूत और पंचप्रेत हैं।

सत्त्व से चित् शक्ति के उठ जाने से यह सब प्रेत या भूत-पदवाच्य होते हैं। इनके प्रेत या भूत होने से ही इनके अधिष्ठाता = शिव या रुद्र। उससे भी परे होने से चित् शक्ति महाशक्ति होती है।

सुन्दरी में सत्त्व निष्क्रिय होने से भी शून्य नहीं होता।

इसीलिए, शव-रूपी शिव के नीचे ५ प्रेत हैं। यही पंचमुण्ड आसन है।

४.३.३८ :

प्रतिपत् = ज्ञान

शुक्ल-प्रतिपत् से आरम्भ—पक्षान्त में पौर्णमासी, पूर्णज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण ऐश्वर्य—भोग।

कृष्ण-प्रतिपत् से आरम्भ—पक्षान्त में अमावास्या। कलाशून्यता, रिक्तता, त्याग।

प्रथम श्रीकूल; दूसरा कालीकूल।

महाशक्ति के दो प्रान्त, **pole**

जो शुक्ल से आरम्भ करता है, उस कला का विकास होता है। बाद में कला क्षय होती है, तब पूर्ण होती है। तब पूर्णिमा और अमावास्या एक होकर अकूल में। प्राकृतिक सत्त्व का विलोप पूर्णिमा में हो जाता है। अमावास्या में अप्राकृत का भी विलोप हो जाता है। इसका मास अमान्त है। जो कृष्ण प्रतिपत् में आरम्भ, उसका महीना पूर्णिमान्त (इस बात को ठीक से समझ नहीं पाता हूँ)।

[सद्वारक दीक्षा चित् शक्ति **acting through** शुद्ध सत्त्व]

[अद्वारक दीक्षा चित् शक्ति **acting direct**]

काली में सत्त्व शून्य। इसीलिए पंचप्रेत नहीं।

काली के नीचे = शव, **which is** सदाशिव।

इसमें पंचप्रेत लीन हुआ है।

सुन्दरी के नीचे = शव, which is परमशिव ।

इसे आश्रय करके पंचप्रेत व्यक्त है ।

शाक्तमत से चैतन्य = appears as शक्ति । शिव उसका अंग (अभिन्न) है ।

शक्ति = आधार ।

चैतन्य का पूर्ण प्रकाश ही सामरस्य (पूर्ण ब्रह्म) है। उस समय शिव और शक्ति का मिलन होकर साम्य हो गया है । यह मिलन-क्षेत्र ही आनन्द या लीला है । यह सृष्टि मुख में है, संहारमुख में भी है ।

महामिलन की तीन धारा चेतन शिव × चेतन शक्ति = मैथुन, आनन्द, लीला (नित्य)
यही विपरीत रति (प्रधान) (गौण) शिव-अवस्था से नित्य संहार
,, (गौण) × ,, (प्रधान) ,, ,, ,, [नित्य शक्त्यावस्था । फलतः, नित्य सृष्टि]
,, (सम) × ,, (सम) = ,, ,, [यह सामरस्य है । नित्य स्थिति । ब्रह्म]

४.३.३८ :

[प्राकृतिक सत्त्व के नीचे अन्धकार है]

प्राकृतिक सत्त्व और शुद्ध सत्त्व के बीच शून्य है । यही प्राकृतिक सत्त्व की अमावास्या है ।

उसी प्रकार, शुद्ध सत्त्व के बाद भी शून्य है । वह शुद्ध सत्त्व में अमावास्या है । यही महाशून्य में अव्यक्त पद—शिव-शक्ति की लीला और शान्ति ।

४.३.३९ :

कारणसोम
× कारणबिन्दु
अग्नि/सोम
अग्नि/सोम
अग्नि/सोम
अग्नि/सोम
अग्नि/सोम
× कार्यबिन्दु
कार्यसोम

कारणसोम ही शुद्धसत्त्व/कार्यसोम = मिश्रसत्त्व अग्नि से कार्यसोम की आहुति होती है, सत्त्व कुछ शुद्ध होता है, तम हट जाता है । वह शुद्धतर सत्त्व ऊपर की अग्नि से अक्षिप्त होता है—और भी तम हटता है, सत्त्व और भी शुद्ध होता है । इस प्रकार, ऊर्ध्वतम अग्नि से जब उठता है, तब शुद्धतम सत्त्व बाहर होता है—तम बिलकुल नहीं रहता । वही अमृतबिन्दु है—अमृत सरोवर में संचित होता है ।

कारणसोम देवभोग्य है, कार्यसोम मनुष्य आदि भोग्य । मनुष्य अपना भोग्य अग्नि में अर्पण करता है, तो वह शुद्ध होते-होते देवभोग्य रूप में ऊपर उठ जाता है ।

अमृत होता है। तब वह शुद्ध अमृत, देवभोग्य, देवता अग्नि में अर्पण करने से उतरते-उतरते कार्यसोम-रूप में मनुष्य का भोग उत्पन्न होता है। यही देवता का आशीर्वाद है।

जो कार्यसोम अर्पित होता है, वह शुद्ध और विवृद्ध होकर लौटता है—वह भी कार्यसोम ही है, लेकिन विशुद्ध। वही प्रसाद है। एक रास्ते से उठता है, दूसरे रास्ते से उतरता है। पिंगला-पथ से उठता है, इडा-पथ से उतरता है।

अग्नि-पथ से शोषण होता है, शोधन होता है, अमृत तैयार होता है। दूसरे पथ से आप्यायन होता है—आप्यायन करते-करते उतरता है। प्रति स्तर का आप्यायन करते-करते उतर आता है।

कार्यसोम जितना ही उठता है, रेखा उतनी ही संकुचित होकर बिन्दु की ओर अग्रसर होती है, बाह्य मन हट जाता है। चरम ऊर्ध्व में बिन्दु हो जाती है—अमृत-बिन्दु, उस समय शुद्धतम बाह्य मिश्रण नहीं। इसीलिए, अब वह रेखा नहीं, चन्द्रबिन्दु है। वह शुद्ध बिन्दु रेखा होकर उतरता है। यह रेखा ही वर्ण या रश्मि है, ह्लादक और आप्यायक। प्रति चक्र में ही ऐसा होता है।

प्रकृति के गर्भ में यह कर्म भी नियत चलता है—ऊर्ध्वगति—कलावतरण भी नियत चलता है—अधोगति। इसीलिए, जगत् चलता है।

इसी क्रिया से जगत्-यन्त्र चलता है।

४.३.३८ : १½ बजे रात्रि :

पूर्णब्रह्म

शिवशक्ति	शिव शान्त शक्ति	मिलन	चित् शक्ति
महेश्वरी	शक्ति का खेल—शिव	शक्तिधाम	चैतन्य
	शान्त शक्ति	मिलन	
नारायण महालक्ष्मी	नारायण शुद्ध सत्त्व	शुद्ध सत्त्व	दिव्यज्ञान
ब्रह्मा सरस्वती या	मिश्र सत्त्व का खेल		
सावित्री	ब्रह्मादित्रय मिश्रसत्त्व	प्राकृत सत्त्व	मर्त्यलोक

नाभि में ब्रह्मादि × सावित्री (=प्राकृत सत्त्व)—शुक्लपक्ष (महत्तत्त्व)
सरस्वती —कृष्णपक्ष (प्राकृतिक
त्रिपुरा सत्त्वहीनत्रय

हृदय और ललाट में } नारायण × महालक्ष्मी (=शुद्धसत्त्व).... शुक्लपक्ष (शुद्धतत्त्व की पूर्णिमा)
शिव × शक्ति ....
.... कृष्णपक्ष (शुद्धसत्त्व की शून्यता, अमावास्या),

मस्तक में शिव × महेश्वरी (= चित् शक्ति)—शुक्लपक्ष
या दुर्गा —कृष्णपक्ष

प्राकृत सत्त्व जबी शून्य होता है, तभी शुद्ध तत्त्व की प्रथम कला का संचार होता है। शून्य में ही बीज पड़ता है। यही योगसूत्र है।

शुद्ध सत्त्व जब शून्य होता है, तभी चित् शक्ति-मात्र की प्रथम कला का संचार होता है। शून्य में बीज-वपन।

चित् शक्ति जब शून्य होती है, तब शिव।

७.३.३८ :

ब्रह्मा — मिश्र तत्त्व — भेद bet. शिव & शक्ति
नारायण — शुद्ध सत्त्व — भेदाभेद शिव & शक्ति
शिव — चित् शक्ति — अभेद शिव & शक्ति

मस्तक के चक्षु-बोध का देखना ही दर्शन है। दिव्य चक्षु का देखना ठीक दर्शन नहीं।

संकल्प-इच्छा-प्रतिज्ञा करना क्या है? उसकी पूर्णता ही क्या है? वर्त्तमान में स्थूल-सूक्ष्म कारण—एक हो गया है।

[अतीत भूत; अनागत = शक्ति; वर्त्तमान = प्रकाश]

इच्छा = कारण से—वर्त्तमानस्थ कारण से—अनागत का स्फुरण, उसमें अहं लगा हुआ और अभाव-बोध उस विषय में।

यह स्फुरण कारण में तिरता है—तिरते ही उसे ग्रास करने के लिए, उससे मिलने के लिए चारों ओर से नाना वस्तुएँ आती हैं। उस स्फुरण में जो-जो परमाणु सहचर रहते हैं, वह सब प्रबल हो उठते हैं। इसलिए, स्फुरण फिर अनावृत नहीं हो सकता, ढक जाता है। यही बीज-निर्माण है—यही अतृप्ति का कारण है—यही वासना है।

स्फुरण शुद्ध हो, तो उसमें मिश्रण नहीं रहता—इसीलिए वह पूर्ण होता है, मिथ्या नहीं होता। वही सत्य संकल्प है—भाव।

इसी प्रकार, अनागत को आश्रय करके संकल्प उठता है। अपूर्ण रहने से वही भूत होकर वासना होता है और अतीत में जाता है। इसलिए, संकल्प से वासना होती है और फिर वासना से नया संकल्प होता है। संकल्प अगर शुद्ध हो, तो वह वासनाजन्य नहीं होता, वह पूर्ण होता है। उससे वासना नहीं होती; क्योंकि अतृप्त नहीं रहता है।

कारण से जो स्फुरण उठता हैं, वह वर्त्तमान होकर (स्थूल के बीच से) अव्यक्त हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। अव्यक्त में जाना = अतीत होना। अनागत से अतीत में जायगा ही, पर वर्त्तमान होकर जाने से वह अव्यक्त = अनाश्रय संस्कार-मात्र

(case of स्मृति) होता है, और, वर्त्तमान होकर नहीं जाने से वह अव्यक्त=सास्रव संस्कार (कर्माशय) होता है। वर्त्तमान होकर जाना=बोधक्षेत्र आश्रय करके अतीत होना। यही भोग है। इससे कर्मक्षय हो जाता है। क्योंकि यही भोगज्ञान है। अवश्य थोड़ा भेद है। वर्त्तमान होकर नहीं जाने से वह संचित रहता है। बन्धन का हेतु होता है।

अनागत की ओर दृष्टि— वर्त्तमान में स्थिति और भीतर प्रवेश	संकल्प करना—यह योगमार्ग है। इससे सिद्धि होती है। सत्त्व शुद्ध नहीं होने से संकल्प सिद्ध नहीं होता। शुद्ध सत्त्व गुणमय पथ है। देवता।

संकल्प नहीं करना—यह भक्तिपथ है। निवृत्तिपथ। निर्गुणपथ। पूर्ण ब्रह्म।

चित् शक्ति=कोषातीत

शुद्धसत्त्व= {आनन्दमय कोष, विज्ञानमय कोष}

प्राकृत सत्त्व-मण्डल=मनोमय कोष तक।

८.३.३८ : हरिद्वार

मनुष्य किसी विषय में चेष्टा करता रहता है—निरन्तर, जोर से। यही तपस्या है। चेष्टा बन्द नहीं करेगा। बीच में सफल हो या न हो, उससे कुछ आता-जाता नहीं; क्योंकि उस सफलता का कोई मूल्य नहीं।

इस चेष्टा पर जब भगवान् की कृपा पड़ती है, तभी सिद्धि होती है। उस समय चेष्टा करके जो फल नहीं मिलता था, वह अपने-आप हो जाता है। जो चेष्टासाध्य था, वह स्वाभाविक हो जाता है। इसीलिए, स्वभाव के साथ योग रखते हुए चेष्टा करनी चाहिए।

फल—सिद्धि।

कृपा यों ही नहीं होती। चेष्टाहीन के लिए कृपालाभ असम्भव है।

९.३.३८ :

[१]

ज्योति-दर्शन कब होता है ?

क्रिया से या ऊपर के influence से मस्तक के रास्ते शक्ति भीतर प्रवेश करती है। तत्कालीन आधार पूर्ण होकर अधिक होने से बाहर projected होता है। इसी से देखा जाता है। आधार पूर्ण नहीं रहने से देखा नहीं जाता। किन्तु, शक्ति का अवतरण व्यर्थ नहीं होता; क्योंकि आधार भरता रहता है। किन्तु, देखा नहीं जाता। जिसके अन्तर्दृष्टि है, वह सब समझ सकता है।

[२]

निर्माण, इच्छाशक्ति—सब ऐसा ही

आधार का सदा पूर्ण रहना ही सिद्धि है। वही योग है। उसके बाद जो कुछ आता है, वह बाहर जाता है। इच्छा रहने से वह तदाकार धारण करता है। यही सृष्टि है।

योग या आनन्द या पूर्णता से ही तो सृष्टि होती है।

पूर्ण के साथ infinite के योग से सृष्टि होती है।

९.३.३८ : हरिद्वार :

> **चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।**
> **आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।। (गीता, ७।१६)**

भक्त चार प्रकार के होते हैं :

(क) आर्त्त, (ख) जिज्ञासु, (ग) अर्थार्थी और (घ) ज्ञानी।

भक्त

- नाना भक्त =सामान्य भक्त =अज्ञानी भक्त
  - आर्त्त १
  - जिज्ञासु २
  - अर्थार्थी ३
- एकभक्ति भक्त =विशिष्ट =ज्ञानी भक्त

इससे यह पता चलता है—ज्ञान का उदय हुए विना भी भगवान् में भक्ति हो सकती है—बशर्ते कि सुकृति रहे और यदि सुकृति न रहे, तो ज्ञानी होते हुए भी भक्ति नहीं उत्पन्न होती है।

यह सुकृति ही भक्ति का बीज है। यदि यह हो, अथच आर्त्त हो, तो भक्ति होती है—वह आर्त्त भक्ति है। केवल आर्त्ति से आर्ति-भक्ति नहीं होती। यदि होती, तो जितने भी कष्टग्रस्त जीव हैं, सभी भक्त होते। इस प्रकार, केवल ज्ञान की इच्छा होने से ही जिज्ञासा भक्ति नहीं होती। सुकृति नहीं रहने से जिज्ञासु ज्ञान के लिए भगवान् की ओर नहीं ताकता—जगत् या ज्ञानी की ओर ताकता है। सुकृति जिज्ञासु भगवान् की ओर ही ताकता है। अर्थार्थी भी सुकृति होने से ही भक्त होता है, नहीं तो जागतिक धनी का मुखापेक्षी होता है।

जागतिक इच्छा तीन प्रकार की है :

(क) दुःख-निवृत्ति की इच्छा, (ख) भोगेच्छा और (ग) ज्ञान की इच्छा।

यह इच्छा लेकिन भक्तिबीज नहीं। इसीलिए, भगवत्-कृपा से यह इच्छा पूर्ण हो जाने पर भी भक्ति रह जाती है।

दुःख जब कट जाता है, तब भी भक्ति रहती है। भोग जब पूर्ण रहता है, तब भी भक्ति रहती है—ज्ञान जब प्राप्त होता है, तब भी भक्ति रहती है।

अतएव, यह मतलबी भक्ति नहीं, इसीलिए यह स्थायी होती है। आर्त्ति आदि निमित्त नहीं—उपरंजक-मात्र है। सुकृति ही निमित्त है।

और एक स्थान में है :

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ (गीता, ७।१५)

जो दुष्कृती है, वह भगवान् का शरणागत नहीं होता। वह नराधम है, मोहग्रस्त है, माया ने उसका ज्ञान हर लिया है। जो सुकृती है, वह नरोत्तम है, उसका स्वाभाविक ज्ञान अव्याहत रहता है। इसीलिए, वह भगवान् का आश्रित होता है। यहाँ कई प्रश्न उठते हैं :

माया से जिसका ज्ञान अपहृत नहीं हुआ है, जो ज्ञानी है—वह भगवान् की शरण लेता है ? वह भक्त होता है ? या जो भगवान् की शरण लेता है, उसका ज्ञान माया के द्वारा अपहृत नहीं होता ?

इसमें लगता है, अन्योन्याश्रय दोष है। सम्भवतः, वह ज्ञान भी नित्य है।

माया के ऊपर जीव का स्वाभाविक ज्ञान अक्षुण्ण रहता है—इसीलिए वह अपने को भगवान् का आश्रित समझता है। यही बोधभक्ति है। माया के ऊपर स्वभावसिद्ध ज्ञान ही भक्ति है। ये जीव ज्ञानी भक्त हैं। किसी लघु अपराध से उनका पतन होने से—ज्ञान संकुचित होता है, दुःख उत्पन्न होता है और अभावबोध होता है, परन्तु सुकृति लुप्त नहीं होती। इसीलिए, उनकी दृष्टि अ-ज्ञान (with ज्ञानेच्छा), दुःख और अभाव में भी भगवान् की ओर निबद्ध रहती है। ये माया से पतित नहीं होते। इसीलिए, अज्ञान में भी भगवान् को नहीं भूलते सदा। भगवदाश्रय ध्यान में रहता है। किसी गुरु अपराध से पतित होने पर सुकृति नहीं रहती। वह अपराध ही दुष्कृति है। तब वह माया के अधीन होता है। पहले पतन से माया उसे कष्ट देती है, वह सत्य है, ज्ञान का अपहरण करती, यह सत्य है, परन्तु अधीन नहीं कर सकती, इसीलिए जीव भगवान् को नहीं भूलता—ज्ञान का अभाव होने से भी उसमें ज्ञान की इच्छा रह जाती है।

और एक बात :

ज्ञानी और भक्त—कौन श्रेष्ठ है ?

(क) अ-ज्ञानी और अ-भक्त

(ख) अ-ज्ञानी और भक्त

(ग) ज्ञानी और अ-भक्त

(घ) ज्ञानी और भक्त

चौथा सर्वश्रेष्ठ है। पहला=निकृष्ट। दूसरा और तीसरा—कौन अच्छा? अ-ज्ञानी भक्त ज्ञानी अ-भक्त से अच्छा है। क्योंकि, अ-ज्ञानी भक्त सुकृती होता है, इसलिए भगवदाश्रित होता है। भगवान् का भजन करता है, इससे उसकी माया कट जाती है। ज्ञानी अ-भक्त सुकृतिहीन है, इसी से भजन नहीं करता। इसलिए, ज्ञानी होकर भी वह निकृष्ट है। भगवान् का आश्रित नहीं है। इसी से मायातीत नहीं है। क्योंकि, भगवदाश्रय प्राप्त किये विना माया नहीं कटती। अतएव, उत्कर्ष के अनुसार क्रम यों है—ज्ञानी भक्त, अ-ज्ञानी भक्त, ज्ञानी अ-भक्त, अ-ज्ञानी अ-भक्त।

उठने के दो पथ हैं :

अ-ज्ञानी | अ-भक्त

ज्ञान का विकास (अ-भक्त ज्ञानी)	भक्ति का विकास (अ-ज्ञानी भक्त)
भक्ति का विकास (भक्त ज्ञानी)	ज्ञान का विकास (ज्ञानी भक्त)
ज्ञानी=भक्त (समान) पूर्ण	

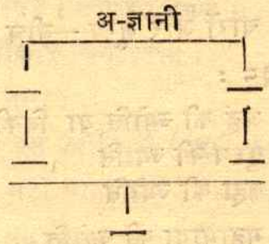

१२.३.३८ : कुशावर्त घाट, हरिद्वार :

[दो ही तीन दिन पहले इसे पाया है] सेतु पार होने के लिए। मन्त्र का सेतु भी वही। सेतु नहीं रहने से मन्त्र में आबद्ध रहने की आशंका है (महाप्रलय तक ?)।

मन्त्र (बीज)=ज्योति से सत्ता तक व्याप्त। सत्ता=केन्द्र, उसके बाद शक्ति, उसके बाद रूप, उसके बाद ज्योतिः या प्रभा-मण्डल—यही परिधि है। यही देवराज्य है।

सेतु नहीं रहने से दो मण्डल-भेद नहीं किया जा सकता। सत्ता से सत्ता मिलाकर सायुज्य प्राप्त करके मण्डलेश्वर या आधिकारिक होना चरम सिद्धि है। बाहर नहीं जाया जाता।

प्रणव ही सेतु है। इसीलिए, इससे बाहर जाने का मार्ग मिलता है।

१२.३.३८ :

एक स्थान में वितरण, विकीरण होता है—विक्षेप होता है, दूसरे स्थान में संग्रह होता है।

कोई दे नहीं तो, दूसरा पाये कहाँ से ? ऊपर से दान करके बिखेर देता है, तब नीचे से बीनकर पाता है। जिसको लक्ष्य करके दान करता है—वही पाता है, चाहे जिस प्रकार से हो।

१४.३.३८ :

एक और शून्य लेकर ही जगत् है। समष्टि हो या व्यष्टि हो—वह दृष्टिसापेक्ष है। ग्रहण करते समय एक भाव ही रहता है। क्योंकि, एक बुद्धि का विलय है। उस वस्तु को केन्द्र करके दृष्टि फैलाने से चारों ओर शून्य दिखाई देता है। इस प्रकार, सभी चीज के चारों ओर शून्य है। पृथक् भाव से प्रत्येक चीज शून्य में तिरती है।

समष्टि के अन्तर्गत प्रत्येक अवयव भी इसीलिए शून्य में तिरता है। परन्तु, शून्य शून्य में स्वरगत प्रभेद है। वास्तव में, संयोग कुछ नहीं है।

यह एक = बिन्दु : यही अवयवी है।
उसका नाना = कला, यही अवयव है।
चारों ओर शून्य—बीच में भी शून्य।

१४.३.३८ :

अहं की ज्योति या विकीरण	५ भूत।	भेद
पुरुष की ज्योति	३ गुण।	
ब्रह्म की ज्योति	माया।	
महामाया की ज्योति	महामाया	भेदाभेद
शिव की ज्योति	शक्ति	अभेद

१४.३.३८ :

सभी चीज शून्य में तिरती है—जैसे, 'क', 'ख' यह सब चीज है। सब अलग-अलग। 'क' = एक समष्टि। उसके अवयव हैं। सभी एकरूप में गृहीत होते हैं। शून्य भी एक ज्योति है। जब उस ज्योति का भेद किया जाता है, तब वे अवयव प्रत्यक्ष होते हैं। अखण्ड को सावयव समझा जाता है। इस समूह या समष्टि में बहु अवयव हैं—वे दूर रहते हुए भी परस्पर आबद्ध हैं। कौन खींचता है? केन्द्र (nucleus) वही बिन्दु है। द्वितीय ज्योति का भेद होने से वह देखा जाता है।

'क' (फूल)—प्रथम ज्योति में अखण्ड, एक फूल। स्थूल।

,, —द्वितीय ज्योति में सावयव। एक होते हुए भी समष्टिभूत, नाना अवयव विशिष्ट। केन्द्र दृश्य नहीं होता। लिंग।

,, —तृतीय ज्योति में बिन्दुमात्र केन्द्रभूत, nucleus, इस प्रकार प्रत्येक वस्तु तीन शून्य आश्रय किये हुए है।

तृतीय शून्य के भेद हो जाने से और किसी चीज का कारण या बीज का पता नहीं चलता। उस समय सब शक्ति ज्योति में, चिदाकार रूप में भासमान होती है। वह भेदाभेद है। मैं रूप में भान, किन्तु साकार। उसके बाद निराकार चित् या शिव-भाव। अभेद।

भेद { प्रथम ज्योति = इन्द्रिय-ज्योति। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, अग्नि, विद्युत् आदि की सामान्य ज्योति Physical light.
द्वितीय ज्योति = लिंगज्योति
तृतीय ज्योति = कारणज्योति }

भेदाभेद { चतुर्थ ज्योति = चिज्ज्योति।

अभेद { पंचम ज्योति = शिव-ज्योति या शुद्ध प्रकाश, निराकार।

१४.३.३८ :

ऊपर से प्रथम ज्योति—निराकार अखण्ड प्रकाश-मात्र।

द्वितीय ज्योति—साकार प्रकाश। शक्ति-स्तर। साकार जगत्। चित्-शक्त्याकार या सर्गाकार चित् शक्ति। यही शाक्त स्वर्ग है। आभास।

तृतीय ज्योति—यही कारणज्योति है। इस ज्योति में (ब्रह्म) वह शाक्त सर्ग विवर्त्तित होता है। यही माया सर्ग या अनिर्वचनीय सर्ग है। मूल जड़ सर्ग। यह शुद्ध सत्त्वमय है।

चतुर्थ ज्योति—यह शिव-ज्योति है। इस ज्योति में (पुरुष) वह मायासर्ग या शुद्ध सत्त्वमय सर्ग त्रिगुणात्मक या प्रकृतिरूपी होता है।

पंचम ज्योति—यह इन्द्रिय-ज्योति है (स्थूल), इससे भौतिक होता है।

अभेद

(शक्ति) चित्-सर्ग falls into महामाया & (महामायी-ज्योति), comes out as बैन्दव सर्ग (शुद्ध जड) (भेदाभेद)
[आभासेन]

बैन्दव सर्ग ,, माया & (ब्रह्मज्योति) comes out as मायिक सर्ग (अनिर्वचनीय जड) (भेद)
[विवर्त्तेन]

मायिक सर्ग ,, प्रकृति (तीन गुण) & पुरुषज्योति, comes out as लिंगमय सर्गबौद्ध (जड)
[परिणामेन]

लिंगसर्ग ,, पंचभूत & अहंज्योति, comes out as स्थूल सर्ग
[आरम्भणेन]

१. पूर्ण, अव्यक्त, क्रमहीन। त्रिपुटीहीन।
२. अव्यक्त, क्रमयुक्त—ईश्वर-भाव का गुप्त विकास।
३. तृतीय भूमि पूर्ण शुद्ध—ईश्वर-ज्योति।
४. ईश्वर-ज्योतिप्रधान। जीव-ज्योति उसके साथ मिली हुई है। ७ भूमि।
५. जीव-ज्योतिप्रधान। ईश्वर-ज्योति उसके साथ गौण। ७ भूमि।
६. शुद्ध पूर्ण जीव-ज्योति।
७. जीव-ज्योतिप्रधान। जड का अन्धकार उसमें क्रमशः है। ईश-ज्योति नहीं है। ७ भूमि।
८. जड के अधीन जीवराज्य। यह अन्धकार-राज्य है, लेकिन जीव-ज्योति से अन्धकार का ह्रास होता है। जीव-ज्योति क्रमशः म्लान।
९. पूर्ण जडत्व—अन्धकार।
१०. अव्यक्त, क्रमयुक्त, जडभाव में गुप्त ह्रास।
११. पूर्ण, अव्यक्त, क्रमहीन। त्रिपुटीहीन।

१७.३.३८ : हरिद्वार, रात्रि :

बिन्दु = महामाया या शुद्ध सत्त्व। यहीं से एक को पाया जाता है, इसलिए एकाग्रता यहीं होती है। यही ज्ञानस्थान है। एकाग्रता की पूर्णता से ही ज्ञान फूटता है। यही ज्ञानचक्षु या दिव्य चक्षु का स्थान है। इसी बिन्दुलाभ के लिए सम्प्रज्ञात समाधि की आवश्यकता है। अर्थात्, प्रज्ञा के लिए ही समाधि। किन्तु, व्यक्तिविशेष में समाधि-व्यतिरेक से भी प्रज्ञा फूट सकती है। वास्तव में, प्रज्ञा का संचार जाग्रत् बाह्य प्रज्ञा से ही होता है। उससे अपना सुप्त प्रज्ञा-बीज जाग उठता है। व्यक्तिविशेष में यह प्रज्ञा जगने से भी जमने, एक स्थान में संहत होने नहीं पाती। प्रज्ञा जगी ही रहती है, किन्तु विक्षिप्ततावश वह जम नहीं पाती। उनकी समाधि-एकाग्रता का अभ्यास आवश्यक है। अन्य के लिए यह आवश्यक नहीं होता। फलस्वरूप, समाधि के विना किसी की प्रज्ञा विकसित नहीं होगी, यह कहा नहीं जा सकता।

वस्तुतः, ज्ञान के विना एकाग्रता ही नहीं होती। एकाग्रता के विना ज्ञान नहीं होता—यह नहीं। एकाग्रता केवल ज्ञान को प्रकाशित करके प्रत्यक्ष पाने के लिए है। गुरुकृपा से यदि ज्ञान पहले अधिगत न हो, तो एकाग्रता ही सिद्ध नहीं होगी। इसीलिए, ज्ञान के बाद योग—और फिर योग के बाद उस ज्ञान की पूर्णता है।

बिन्दु के क्षोभ से ही भाव का विकास होता है। इसलिए, वह सब एकाग्रता-ज्ञान के बाद। भाव = शुद्ध सत्त्व की तरंग।

गुण = उसका स्वरूप। वही भावातीत है।

यही भाव प्रकृति-गर्भ में बीज-रूप में पड़ता है और सृष्टि का कारण होता है।

भाव का खेल है, षट्चक्र के ऊपर। वही आनन्द या लीला का राज्य है। भावों की समष्टि महाभाव। उसकी जहाँ शान्ति है, वहीं ब्रह्मपद है। भाव ही शक्ति है। भाव ही चेतन शब्द, उँकार, महानाद, परम ज्योति, दिव्यधाम, देवगण का प्राणस्वरूप है।

बिन्दु का प्रतिबिम्ब = आज्ञाचक्र।

[१]

१७.३.३८ :

जो सहस्रार रिपु के अत्याचार को सहता है, यहाँतक कि रिपु कुछ क्षण के लिए अधीन कर लेता है, वह भी भक्तों में गण्य है—यदि वह उन्हें न भूले। उन्हें नहीं भूलना, यही test है। इसके रहने से रिपु अधीन नहीं कर सकता। बनता, तो उन्हें भूल जाता, बल्कि यह भक्त उनका और भी प्रिय है। क्योंकि, बाहर के आकर्षण को इतना अधिक सहकर भी उन्हें नहीं भूलता। वह जो सदा याद रहते हैं, यह उन्हीं का अनुग्रह है।

[२]

ध्यान में जो रूप भास में भासता है—भास में नहीं भासता, अस्पष्ट रूप में तिरता है—वह कारण-वारि में तिरता है। उतरता ऊपर से है, शुद्ध सत्त्व धाम से। द्रष्टा को ऊपर से स्पर्श करके द्रष्टा की दृष्टि के साथ कारण-वारि में उतरता है। कारण-वारि में वह दृश्य होता है। स्पष्ट भाव से कारणगर्भ से बाहर हो आने से वह लिंगरूपी बुद्धि में प्रतिभात होता है।

चक्षु के बाहर दृश्य = स्थूल। चक्षु मूँदने पर अन्धकार है, उसमें स्पष्ट दृश्य = सूक्ष्म या लिंग। यही बुद्धिस्थ है।

चक्षु मूँदने पर जो अन्धकार है, उसके भीतर और एक अन्धकार है, उसमें दृश्य = कारण। यह भी पहले स्पष्टभाव से नहीं होता। होता है, फिर जाता है, फिर होता है। क्रम से स्थिर होता है। उसके बाहर दृश्य = शुद्ध = ऊपर।

१७.३.३८ :

पूर्णब्रह्म (भावातीत)

महाभाव (अखण्ड भावराशि तरंगित, लीलायित)

III आनन्द — लीलामय

मिलन (आनन्द में प्रवेश)

(मैथुन)

II चैतन्य — शिव — शक्ति

चेतन — चेतन

शक्ति सुप्त

I सत्त्व — उसमें सत्त्व का विकास

मिथ्या-बाह्य-जड

१९.३.३८ :

परोक्ष ज्ञान, अर्थात् सर्वत्र नारायण हैं—यह ज्ञान—यह ज्ञान और भक्तिमार्ग दोनों में समान है।

ज्ञानमार्ग | भक्तिमार्ग

ज्ञानमार्ग:

सर्वत्र नारायण-दर्शन, सुतरां मुझमें भी नारायण-दर्शन। मैं = नारायण, यह दर्शन। यही अपरोक्ष ज्ञान है।

↓

इस ज्ञान से पराभक्ति आ सकती है। तब मैं द्रष्टा होकर मैं-रूपी भगवान् का दर्शन करता हूँ। यहि अद्वैत भक्ति है।

भक्तिमार्ग:

सर्वत्र नारायण, केवल मुझमें दर्शन नहीं करना। 'मैं' को बचाये रखना। तभी भक्ति सम्भव होती है। यही द्वैतभक्ति है।

↓

उस भक्ति से पूर्ण ज्ञान आ सकता है। तब मैं भी नारायण-रूप में साक्षात्कृत होता हूँ।

↓

इसके बाद परा या अद्वैत भक्ति आ सकती है।

१९.३.३८ :

सर्वत्र नारायण हैं—यह बोध सबको होना जरूरी है। अवश्य यह परोक्ष हैं। प्रत्येक जीव में वह हैं—मुझमें भी हैं। प्रत्येक वस्तु में हैं।

इसके बाद ही मार्गभेद आता है।

प्रत्यक्ष करने या दर्शन के समय अधिकार-भेद रहता है। एक मामूली वस्तु में ब्रह्मदर्शन हो सकता है—जगत् के सभी जीव और वस्तु में भी समान भाव से ब्रह्मदर्शन हो सकता है। सभी जीव और वस्तु एवं मुझमें भी ब्रह्मदर्शन हो सकता है।

२२.३.३८ :

गुरु कौन हो सकता है ?

ज्ञानशक्ति का विकास पहले होना चाहिए। पुरुष-द्रष्टा रूप में अवस्थित होना चाहिए। केवल उसी से नहीं होता, यदि क्रियाशक्ति का विकास न हो। उसके बाद क्रियाशक्ति का विकास भी चाहिए। यही प्रकृति का जागरण है। फिर, दो मिलित होते हैं—एक होते हैं। यही चैतन्य है। इसके बाद इच्छाशक्ति का उदय चाहिए। यही ईश्वरत्व है।

ज्ञान जाग्रत्, क्रिया अजाग्रत्—उस ज्ञान से कोई काम नहीं होता। ज्ञान के साथ क्रिया का योग चाहिए। इसके लिए क्रिया का जागरण चाहिए। केवल ज्ञान = बोध।

केवल क्रिया या प्रकृति = कर्तृत्व। दोनों के मिलन से होता है सक्रिय ज्ञान या चेतन क्रिया—यही चैतन्य है। इस अवस्था में ज्ञान काम कर सकता है। परन्तु, यदि इच्छा न रहे, तो काम कर सकने से भी ज्ञान काम नहीं करेगा। केवल स्वरूप-योग्यता रहेगी। इसीलिए, इच्छा चाहिए। इसीलिए—ज्ञान-सर्वज्ञ; क्रिया—सर्वकर्त्ता (सर्वशक्तिमान्); इच्छा—इच्छामय, करुणामय। ये तीन धर्म जिनमें हैं—वही गुरु हैं। Bible में भी इसीलिए ईश्वर सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् और करुणामय हैं।

यह इच्छा करुणा-रूप में ही उदित होती है। कारण कि ज्ञान और क्रिया के मिलने से दूसरी इच्छा नहीं जग सकती; क्योंकि वह आप्तकाम अवस्था है। अपने बारे में कोई अभाव नहीं। जगत् का अभाव ही अभाव। इसको दूर करने को इच्छा जगती है। उसी को करुणा कहते हैं। इसी करुणा से शब्द फूटता है—उससे जगत् की सृष्टि और वेद-विस्तार समकाल में। सभी उपदेश इसी शब्द के अन्तर्गत।

वाचस्पति भी कहते हैं (योगसूत्र)—आप्त = जिसमें तत्त्वदर्शन कारुण्य और करण-पाटव है। तत्त्वदर्शन—यह ज्ञानशुद्धि की दिशा है—करणपाटव—यह क्रियासिद्धि की दिशा है; कारुण्य—यह इच्छाशुद्धि की दिशा है। आप्त ही गुरु हैं। वह ईश्वर हैं। उनका वचन ही शब्द-प्रमाण है।

वास्तव में, मन या सत्त्व की तीन दिशाएँ हैं। सत्त्व शुद्ध होने से ही ये तीन दिशाएँ हैं : (क) ज्ञान की दिशा, (ख) क्रिया की दिशा और (ग) इच्छा की दिशा।

यह जो जागरण की बात कही गई, इसका विभिन्न क्रम भी हो सकता है। १. ज्ञान जगता है, उसके बाद क्रिया जगती है, फिर इच्छा जगती है। २. क्रिया जगती है, ज्ञान जगता है, इच्छा जगती है। ३. इच्छा जगती है, ज्ञान जगता है, क्रिया जगती है। ४. इच्छा जगती है, क्रिया जगती है, ज्ञान जगता है। ५. ज्ञान जगता है, इच्छा जगती है, क्रिया जगती है। ६. क्रिया जगती है, इच्छा जगती है, ज्ञान जगता है।

[१]

२२.३.३८ :

कुण्डलिनी जगना तीन प्रकार का है। शुष्क क्रियाशक्ति का जागरण—यह अचेतन प्रकृति है। हठक्रिया—आसन, मुद्रा आदि द्वारा जो जागरण होता है, वह इस जड प्रकृति का जागरण है। सुतरां, इस जागरण में पुरुष नहीं जगता। इस जागरण में विकृति-मात्र फूटती है—छोटी सिद्धि। ज्ञान नहीं होता।

दूसरी ओर यह जागरण—सक्रिय ज्ञानशक्ति का जागरण है। इसके फलस्वरूप पुरुष द्रष्टामात्र होता है—प्रकृति का स्वामित्व नहीं रहता। यह कैवल्य है।

पूर्व का जागरण कर्ममार्ग है। यह जागरण ज्ञानमार्ग। यह भी वास्तविक जागरण नहीं।

यथार्थ जागरण ज्ञान और क्रिया के सम्मिलित भाव का होता है—चैतन्य का जागरण। इस जागरण से ज्ञानपथ का कैवल्य और क्रियापथ की सिद्धि या ऐश्वर्य एक ही साथ फूटता है। यही ऐश्वरिक शक्ति का जागरण है। इस जागरण के साथ-साथ ईश्वर-भाव (ज्ञान + क्रियाभाव) क्रमशः बढ़ता है। वास्तव में, यह जागरण एक प्रकार से मिलन-मूलक जागरण है। इसीलिए, पूर्ण जागरण है—महामिलन।

पहले-पहले जागरण में यह मिलन पहले नहीं होता। पहले ज्ञान को, फिर क्रिया को जगाना होता है। फिर, मध्यशक्ति के निपात से दोनों का मिलन होता है। या पहले क्रिया को, फिर ज्ञान को जगाना होता है—बाद में उस मध्यशक्ति या ऐशी शक्ति का निपात आवश्यक होता है—तब महामिलन होता है।

यथार्थ जागरण मन्त्र या देवता या भक्ति में, शुद्ध सत्त्व में है। केवल चित् शक्ति नहीं। केवल अचित् शक्ति नहीं। दोनों के नित्यमिलित रूप में। शुष्क क्रिया या शुष्क ज्ञान का जागरण बीच रास्ते में नहीं होता, बायें या दायें रास्ते में होता है। चैतन्य का जागरण मध्यपथ में होता है।

शुष्क क्रिया के जागरण से विभूति—चरम में अपर वैराग्य और प्रकृति लय होती है। शुष्क ज्ञान के जागरण से विवेकख्याति और परवैराग्य होता है—बाद में कैवल्य।

सम्मिलित ज्ञान-क्रिया के जागरण से भोग और मोक्ष युगपत् होता है—यही ऐश्वर्य है। इसकी पूर्णता होने से ब्रह्मपथ में प्रवेश होता है। वह निर्गुण-पथ है।

●

दूसरा अध्याय

अवरोह-क्रम

[१]

२३.३.३८ : रात्रि :

पहले ब्रह्मभाव जाकर ईश्वरभाव आता है। ब्रह्मभाव में आनन्द की अतीत अवस्था थी—ईश्वरभाव आनन्दमय अवस्था है। उसके बाद आनन्द टूट जाता है—तब विरह होता है, पुरुष और प्रकृति अलग हो जाते हैं।

पुरुष द्रष्टा, प्रकृति दृश्य। उसके बाद पुरुष भोक्ता और कर्त्ता होता है—उधर प्रकृति सुख-दुःखमय भोग्य हो जाती है। यही संसार है। इसके बाद महामोह।

[२]

(क) ब्रह्मभाव जाकर ईश्वरभाव आता है। इसका कारण नहीं पा रहा हूँ। एकमात्र स्वातन्त्र्य कहना होगा। ब्रह्म-भावातीत; ईश्वर = महाभाव।

(ख) ईश्वरभाव आनन्दमय है। प्रेम की अवस्था। क्या जाने, प्रेम नहीं रहता। विमुखता होती है। वैसे ही फिर भगवान् नहीं पाया जाता।

प्रेम खोने से ईश्वर-दर्शन नहीं होता। इसलिए, उस समय आत्मदर्शन नहीं होता। अर्थात् उस समय ज्ञान ढँक गया। अज्ञान प्रबल हुआ।

अज्ञान प्रबल होने से ही पुण्यकर्म (ज्ञानयुक्त कर्म) नहीं होता। तब पाप (लौकिक हिसाब से पुण्य और पाप) ग्रास करता है। इसी का फल है दुःख (सांसारिक सुख और दुःख)। ज्ञान वही, जो अज्ञान को देख पाता है। पुण्य वह, जो पाप को देख पाता है।

एक आदमी पाप कर रहा है और पाप कर रहा है, इसका बोध भी उसे हो रहा है। इस स्थल में समझना होगा, वह पुण्यवान् है। विशेष कारण से वह उसमें प्रवृत्त हो रहा है, जिसे बुरा समझ रहा है।

यह अज्ञान की अवस्था नहीं है। क्योंकि, वैसा होता, तो वह समझता नहीं कि पाप है और उसके लिए अनुशोचना नहीं होती। यह पुण्य की अवस्था है। ज्ञान की अवस्था में अ-ज्ञान देखा जाता है।

जब अ-ज्ञान देखा जा रहा है, अपना अ-ज्ञान प्रत्यक्ष हो रहा है—तब ज्ञान की अवस्था समझनी चाहिए। यह भक्ति की अवस्था नहीं है। क्योंकि, भक्ति की अवस्था में अ-ज्ञान नहीं देखा जाता, ज्ञान भी नहीं देखा जाता। भक्ति की दृष्टि से ज्ञान और अ-ज्ञान में वैशिष्ट्य नहीं है।

उसके बाद पूर्णदृष्टि। उसमें भक्ति और अ-भक्ति में कोई वैशिष्ट्य नहीं। (क) पूर्ण-दृष्टि में संसार from स्वातन्त्र्य, (ख) भक्त का संसार for वैमुख्य, (ग) ज्ञानी का संसार for अ-ज्ञान एवं (घ) कर्मी का संसार for पाप। फलस्वरूप, कर्मी होकर जो संसार से मुक्ति पाता है, वह पुण्य और उसका फल स्थायी रूप से पाता है। किन्तु, ज्ञानी की दृष्टि में वह भी संसार है। ज्ञानी होकर जो मुक्ति पाता है, वह ज्ञान और उसका फल कैवल्य स्थायी रूप से पाता है। किन्तु, भक्त की नजरों में वह भी संसार है। भक्त होकर जो मुक्ति पाता है, वह भक्ति और उसका फल भगवत्-आभिमुख्य स्थायी रूप से पाता है। परन्तु, पूर्णदृष्टि से वह भी संसार है। पूर्ण का मोक्ष भी एक पूर्ण ही रहता है।

सत्यपथ का क्रम

२५.३.३८ : प्रातःकाल :

प्रथम पुण्य (कृपा = ज्ञानमूलक कर्म) कर्म है। उसका फल है—पाप और दुःख से मुक्ति पाकर स्थायी सुख की प्राप्ति। (पाप और दुःख लौकिक धर्माधर्म और सुख-दुःख **i.e** संसारचक्र) कर्म से ही उपादान तैयार होता है। यह स्थायी सुख सिद्धावस्था है, सिद्धलोक। संसार और सिद्धलोक के बीच एक शून्य है। वह लयस्थान है। यह अज्ञान शून्य—अन्धकारमय है। वहाँ जाने से दुःख (सांसारिक सुख-दुःख) नहीं रहता जरूर; परन्तु फिर व्युत्थान होता है, ऊपर नहीं उठा जाता।

कभी इस सिद्धिलोक में भी अतृप्ति आती है। यह ऐश्वर्य-प्रधान लोक है। ऐश्वर्य का अभाव होता है, ऐसा नहीं, किन्तु समझ में आता है, यह भी अज्ञान में है। तब समझ में आता है, जब कुछ ज्ञान आ चुका होता है। संसार जैसे अज्ञान में है, यह सिद्धलोक भी वैसे ही अज्ञान में है। इसके बाद यह राज्य कट जाता है। ज्ञानी का राज्य आता है। वह मुक्त या ज्ञानी लोक है। बीच में (between सिद्धलोक और मुक्तलोक) एक शून्य है—वह ज्ञानमय शून्य है—ज्योतिर्मय शून्य।

ज्ञानशून्य में भी पाप-पुण्य नहीं। ज्ञानशून्य में जाने से अज्ञान रहता जरूर नहीं है (= सिद्धलोक के ज्ञान और अज्ञान के मध्य ही), किन्तु व्युत्थान होता है, ऊपर नहीं उठा जाता।

कभी मुक्तलोक में भी अतृप्ति आती है। यह ज्ञानमय लोक है। यह ज्ञान विशुद्ध ज्ञान है, जहाँ सिद्धलोक का ज्ञान भी अज्ञानवत् है। यह लुप्त होता है, ऐसा नहीं। लेकिन, समझ में आता है, यह भी अज्ञान में है। उस समय भाव कुछ आया होता है, प्रेमभक्ति कुछ आई होती है। यह मुक्तलोक भी अभाव में ही है। इसके बाद यह राज्य कट जाता है, भक्तिधाम आता है। मुक्तलोक और भक्तलोक के बीच एक शून्य है। वह बिखरा हुआ आनन्दस्वरूप है। उसमें लहर नहीं। इस भक्तलोक में ज्ञान और अज्ञान में कोई भेद नहीं। क्रमशः इसमें भी अतृप्ति आती है। क्योंकि, यह भी अपूर्ण है। बाद में

इसका भी भेद होता है। उसके बाद ही पूर्णत्व। पूर्णत्व और भक्तधाम के बीच महाशून्य, जिस महाशून्य में पूर्णत्व प्रतिबिम्बित है। इसमें भेद करना बड़ा कठिन है। भेद नहीं करने से भी पूर्णत्व नहीं आता।

	पूर्ण
	महाशून्य
शुद्धभाव	भावमय प्रेममय भक्तलोक
	भाव-प्रधान monad
	(शून्य of महाभावानन्द)
शुद्धज्ञान	ज्ञानमय मुक्तलोक। ज्ञान-प्रधान monad
	(शून्य of ज्ञान) विज्ञानार्पण, कैवल्य।
शुद्धकर्म (पुण्य)	सुखमय सिद्धलोक
	क्रिया-प्रधान monad
	(शून्य of अज्ञान। प्रलयाकल, प्रकृतिलय)
पाप	दुःख
	सत्यपथ

२४.३.३८ :

पूर्ण = तृप्ति। नीचे सर्वत्र अतृप्ति रहती है। यह अतृप्ति ही blessing है—ऊपर ले जाती है।

प्रवृत्ति या संसार

[१]

पहले संसार। जबतक संसार के सुख से विरक्ति या उदासीनता नहीं आती, तबतक प्रवृत्ति-पथ। वास्तव में यह पथ नहीं, भ्रमण-चक्र है। सत्यपथ निवृत्ति से आरम्भ होता है।

संसार में सुख-दुःख है, इसीलिए पाप-पुण्य है। इस पाप-पुण्य के फल से जहाँ तक गति होती है, वहीं तक संसार है। इसमें असंख्य पथ हैं, नरक आदि भी हैं। सब कुछ अज्ञान में। यहाँ का ज्ञान भी अज्ञान है। इसलिए, तन्मूलक कर्म = अज्ञान कर्म; पाप या पुण्य जो हो, इसी से चक्रगति।

निवृत्ति या सत्यपथ

संसार के सुख से विरक्ति आने से समझना चाहिए निवृत्ति शुरू हुई, ज्ञान का आभास आ रहा है। वैसे में वह सुख भी दुःख लगता है। इसीलिए, संसार का पुण्य-पाप दोनों ही = पाप। संसार का स्वर्ग भी दुःखमय लगता है। इसीलिए वैराग्य होता है। मूल में ज्ञान है।

पहले ज्ञानमूलक कर्म, यही शुद्ध कर्म है, यही पुण्य है।

२४.३.३८ : मध्याह्न :

संसार = { स्वर्ग, मर्त्य, पाताल } त्रिलोकी

दिव्य

सिद्धलोक—o due to कर्म (with ज्ञान)—अभ्यास

और

सिद्धज्योति—o due to वैराग्य only

मुक्तलोक—o due to ज्ञान (with कर्म)—अभ्यास

और

कैवल्यज्योति—o due to शुद्धज्ञान

भक्तलोक—o due to भक्ति

और

भावज्योति—o due to भक्ति

पूर्ण—o

महाशून्य—o

संसार में—स्वर्ग में—सिद्ध, मुक्त एवं भक्तधाम भी हैं। परन्तु, वे सब प्रतिबिम्ब-मात्र हैं। मर्त्य में भी है—वह प्रतिबिम्ब का आभास-मात्र है। ये सब न हों, तो जीवों का उद्धार कैसे हो? क्योंकि जीव तो विभिन्न योग्यता-विशिष्ट हैं। इसी प्रकार, सिद्धधाम में भी मुक्त और भक्तधाम का प्रतिबिम्ब है। मुक्तधाम में भक्तधाम का प्रतिबिम्ब है।

संसार का पाप-पुण्य दोनों ही पाप हैं। इसका फल { प्रथम, दीक्षा }

नित्यधाम–सिद्धलोक। और केवल वैराग्यशून्य या प्रकृतिलय।

सिद्धलोक=दिव्यलोक।

सांसारिक स्वर्ग और यह दिव्यलोक एक जैसा नहीं। यहाँ से पतन नहीं होता।

२६.३.३८ : प्रातःकाल :

कर्म और भोग एक ही हैं। क्योंकि, कर्म ही (=पाप-पुण्य) सुख-दुःख होता है। कर्म कैसे कटता है? भोग के द्वारा।

अज्ञानकृत कर्म :

(क) अज्ञान रहने से — प्रारब्ध भोग से कटता है। संचित रह जाता है। ढीला नहीं होता। इधर फिर नया कर्म उत्पन्न होता है, इसलिए समाप्त नहीं होता।

(ख) ज्ञान होने से

(१) संचित अलग हो जाता है। नया कर्म नहीं होता। (योग या क्रियाहीन) क्योंकि, अभिमान नहीं रहता। प्रारब्ध भोग के द्वारा कटता है।

(२) संचित अलग होता है। नया कर्म नहीं होता। (योगी या कर्मी) प्रारब्ध क्रिया द्वारा कटता है।

२९.३.३८

कृपा दो प्रकार की देखी जाती है—सापेक्ष और निरपेक्ष। यथार्थ कृपा निरपेक्ष होती है—और, प्रकारान्तर से देखने से वह भी कृपा नहीं। उसी प्रकार सापेक्ष कृपा कृपा नहीं। जैसे : जीव और ईश्वर।

जीव पर ईश्वर कृपा करते हैं, कृपा करके शक्ति का संचार या दान करते हैं। किन्तु, जीव में यदि उस शक्ति को धारण करने का आधार न रहे, तो ईश्वर की कृपा कोई फल प्रसव नहीं कर सकती। लकड़ी जलती है। क्यों? ज्वलन्त अग्नि का संघर्ष होता है, इसलिए। लेकिन और भी कारण हैं। लकड़ी के भीतर भी अग्नि है। भीतर उस अग्नि के नहीं रहने से बाहर की अग्नि लकड़ी को नहीं जला सकती। बाहर की आग नहीं रहने से भी केवल भीतर की आग जल सकती है। जैसे : लकड़ी-लकड़ी के घर्षण से। यद्यपि साधारणतया दोनों की ही आवश्यकता है, फिर भी भीतर की अग्निसत्ता ही प्रधान है। कई अवस्थाएँ विचारणीय हैं :

(क) लकड़ी के भीतर अग्नि नहीं है।

(ख) लकड़ी के भीतर अग्नि है।

(क) पहली अवस्था में बाहर की अग्नि लकड़ी को नहीं जला सकती। क्योंकि, लकड़ी बाहर की अग्नि को ग्रहण नहीं कर सकती। वास्तव में, यह कल्पित अवस्था है; क्योंकि यदि भीतर आग रही होती, तो लकड़ी की सत्ता ही नहीं रहती। सुतरां, ऐसी कोई लकड़ी ही नहीं हो सकती, जिसके भीतर अग्नि नहीं। किन्तु, अग्नि का रहना नाना प्रकार का नहीं हो सकता।

(ख) इस अवस्था में लकड़ी जल सकती है। यह ज्वलन लकड़ी-लकड़ी के संघर्ष से भी हो सकता है या बाहरी आग के संस्पर्श से भी हो सकता है। किन्तु, यह स्मरण रखना होगा, लकड़ी-लकड़ी में संघर्ष होने पर भी बाहरी आग आकर साथ देती है। लकड़ी-लकड़ी में संघर्ष तीव्र रूप से होने पर भीतर की सोई आग जल उठने को उन्मुख होती है। ठीक उद्दीपन के शेष बिन्दु में बाह्य नित्य अग्निस्तर से आकर्षण होता है—आग उतरकर उसे स्पर्श करती है। तब लकड़ी जलती है। बाहरी आग उतरने को बाध्य है। बाहर के ज्वलन्त अग्नि-स्पर्श से भी लकड़ी जल सकती है।

अनित्य ज्वलन्त अग्नि से नित्य व्यापक ज्वलन्त अग्निमण्डल का योग रहता है। लकड़ी-लकड़ी के घर्षण से लकड़ी जिस समय जलती है, उस समय यद्यपि बाह्य अनित्य अग्नि का स्पर्श नहीं होता, फिर भी नित्य अग्नि का स्पर्श होता है। तीव्र घर्षण से यह अवश्यम्भावी है। वैसा तीव्र घर्षण नहीं होने से वह नित्य-अग्नि आकृष्ट नहीं होती।

अनित्य अग्नि के लकड़ी के स्पर्श करने से लकड़ी जलती है—ऐसी स्थिति में लकड़ी के घर्षण की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु, यहाँ यही विवेच्य है :

लकड़ी की दाह-योग्यता उसकी अन्तःस्थित आग की सत्ता पर निर्भर करती है। मान लीजिए, उस सुप्त अग्निकण के बाहर १० आना आवरण है। अनित्य अग्नि यदि इस १० आना आवरण को भेद कर सके, तो वह सुप्त अग्नि को स्पर्श कर सकेगी—तब लकड़ी जलेगी। यदि बाहरी आग में उतनी क्षमता न हो, तो वह उस आग को नहीं जला सकेगी। इसीलिए, अग्नि के एक होते हुए भी उसकी मात्रा का तारतम्य है। और इसके अनुसार हर आग हर वस्तु को नहीं जला सकती।

भीतर की आग कितनी है, यहाँ यह आलोच्य नहीं। लेकिन, रहना चाहिए और बाहरी आग का उतना बल रहना चाहिए—जिससे आवरण-स्तर को भेद कर उसे स्पर्श कर सके।

अब हम इसे गणित के द्वारा समझने की चेष्टा करेंगे।

जहाँ सोलह आना आग है, वहाँ आग पूर्ण होकर अव्यक्त है। वहाँ दाह्य आग में समाहित है, लीन, भस्मावाशेष।

सुप्त आग १५ आना तक रह सकती है—कम जितनी ही हो। सतरां, सुप्त अग्नि का तारतम्य है। यह अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि है। क्योंकि, स्थूल दृष्टि से जाग्रत् की माप होती है, सुप्त का कोई परिमाण नहीं, ऐसा नहीं। जिसकी सोई आग चार आना है, वह बारह आना बाहरी आग पाये विना नहीं जलेगी। जिसकी सोई आग १५ आना है, वह १ आना आग से ही जलेगी। सुप्त अग्नि कम-अधिक होती है, इसलिए बाहरी अग्नि का तारतम्य होता है। वस्तुतः, दोनों अग्नि एक ही है। इसीलिए, सुप्त कम हो, तो बाह्य अधिक चाहिए, सुप्त अधिक हो, तो बाह्य कम चाहिए। दोनों दो order के हैं। दोनों का एकीकरण होने से दोनों की मात्रा युक्त होकर एक होती है। तब काम होता है। केवल भीतरी या केवल बाहरी आग काम नहीं कर सकती।

सुप्त अग्नि कम—आवरण-मात्रा अधिक।

सुप्त अग्नि अधिक—आवरण-मात्रा कम।

सुप्त अग्नि कितनी ही अधिक हो, १५ आना से अधिक नहीं होती। जिस प्रक्रिया से सुप्त अग्नि बढ़ती है, उसी में १५ आना के बाद नित्य बाह्य जाग्रत् अग्नि का आवाहन होता है।

लकड़ी जितनी ही सूखी होगी, बाहरी आग की उतनी ही कम मात्रा आवश्यक होगी। जितनी गीली होगी, मात्रा उतनी ही अधिक लगेगी। १६ आना व्यक्त अग्नि दुनिया में नहीं है। १६ आना सुप्त या अव्यक्त अग्नि भी दुनिया में नहीं है। १६ आना व्यक्त अग्नि जगत् में होने से जगत् नहीं रहता। केवल अग्नि ही होती। शान्त या अव्यक्त अग्नि। उसी प्रकार १६ आना अव्यक्त अग्नि रहने से आवरण कुछ नहीं रहता। इसलिए, जगत् नहीं रहता।

अनित्य व्यक्त अग्नि का व्यंजक है। (सत्त्व)

अनित्य अव्यक्त अग्नि का आवरण है। (तम)

लकड़ी में ४ आना सुप्त अग्नि, अर्थात् १२ आना आवरण है। बाह्य अग्नि १२ आना, अर्थात् १२ आना व्यंजक और ४ आना आवरण। सुतरां, इस बाह्य अग्नि से वह सुप्त अग्नि जाग्रत् होगी।

परिच्छिन्न वस्तु की सृष्टि के साथ-साथ सर्वत्र सुप्त अग्नि कमोबेश है ही—रहने को बाध्य है। कहीं बहुत निगूढ और कहीं कम।

साधना से होता क्या है? नित्य अग्निमण्डल से अग्नि आकृष्ट होती है और इस सुप्त अग्नि से योजना होती है। समष्टि अग्नि सुप्त ही है—पर क्रमशः जागरण की ओर उन्मुख। जब १६ आना होता है, तब सिद्धि होती है। तब जल उठता है।

साधना द्वारा नित्य अग्निमण्डल से अग्नि का आकर्षण कैसे होता है? दीक्षा के समय नित्य अग्निमण्डल के साथ सुप्त अग्नि का connection कराया गया था। साधना सिर्फ **pumping** है।

ऊपर से यह जो अग्नि आकृष्ट होकर उतर आती है, यह तो साधना का फल है। इसे प्रकृत कृपा नहीं कहा जा सकता।

उस अग्निमण्डल के जो अधिष्ठाता हैं, वह अगर अपने बल से उस अग्नि को साधक में उसकी सुप्त अग्नि में पैठा दें, तो वह कृपा है। साधना से जो नित्य अग्निमण्डल से अग्नि आकृष्ट होती है, यह अनित्य दीप्त अग्नि के बीच से ही होती है। जहाँ अनित्य दीप्त अग्नि मध्य में नहीं होती है, वहाँ साक्षात् भाव से होती है। वह जो योजना हुई थी, वह मध्यस्थ द्वार में हुई थी। इसीलिए, मध्यस्थ के भीतर से शक्ति उतरती रहती है। मध्यस्थ अवश्य चाहिए। शक्ति किसी centre में पुंजीभूत होकर तब वहाँ से उतर आती है। मनुष्य या सिद्ध या देवता—सभी मध्यस्थ हैं।

शुद्ध भाव से देखने पर—सुप्त अग्नि सबमें एक ही है। वह कण-मात्र। सर्वत्र वही। परन्तु, एक होने पर भी उसका आधार-सत्त्व सबमें समान नहीं। कहीं अधिक, कहीं कम है। उसके अनुसार वह अग्निकण कहीं गहरा दबा, कहीं पास-पास है।

अवस्थाएँ यों हैं :

सुप्त अग्नि कमोबेश सर्वत्र है ।

(क) जाग्रत् अनित्य अग्नि का स्पर्श । इस अग्नि से नित्य ज्वलन्त अग्नि युक्त ॥ लकड़ी और अग्नि की क्रिया ॥ लकड़ी का क्रमिक दाह ।

लकड़ी = ०; अग्नि = शान्त ।

एक बार यह स्पर्श हो जाने से जाग्रत् अग्नि से लकड़ी का सम्बन्ध रह जाता है। अग्निखण्ड को हटा लेने पर भी । चरम फल—सब लकड़ी का जाग्रत् अग्नि होना या शून्य होना । यही स्पर्श दीक्षा है । यह दो प्रकार से होती है । लकड़ी को आग में डालना या आग को लकड़ी से छुलाना, इस अग्नि-स्पर्श के बाद साधना होती है ।

(ख) लकड़ी-लकड़ी में संघर्ष । इस संघर्ष से सुप्त अग्नि की मात्रा बढ़ती है। संघर्ष अत्यन्त अधिक होने से नित्य ज्वलन्त अग्नि उतर आती है । इसके बाद साधना की आवश्यकता नहीं होती । आग अपना काम करती रहती है ।

साधना का उद्देश्य क्या है ? अहं को चरम तक बढ़ाना, फिर उसे चरम तक घटाना । संघर्ष में अहं पूर्ण होता है, इसीलिए आग आती है और अहं को पूर्ण करती है । किन्तु, जाग्रत् अनित्य अग्नि के स्पर्श-स्थल में अहं पूर्ण रिक्त नहीं रहता, मध्य भाव में रहता है । इसीलिए साधना की जरूरत होती है—रिक्त करके पूर्ण करने के लिए या पूर्ण करके रिक्त करने के लिए । साधना यदि अहं को बढ़ाने की ओर होती है, तो अग्नि उसे घटाने का काम करती है। और, साधना यदि अहं को घटाने की ओर होती है, तो अग्नि उसे बढ़ा देती है । मतलब यह कि शुक्ल और कृष्ण दोनों ही पक्ष समाप्त होना चाहिए । एक साधना के द्वारा, शेष अग्नि के द्वारा ।

प्रत्येक जीव में कम-से-कम एक कण सत्त्व का है। अधिक भी रह सकता है । उसी का आश्रय लेकर ईश्वर चैतन्य या कृपा का संचार करते हैं। जो दाता हैं, वह मेरा आधार समझकर ही देते हैं। नहीं भी दे सकते हैं । दें भी, तो आधार से अधिक नहीं देते, देने पर भी वह मुझमें रहेगा नहीं। इसलिए, मेरे अभाव की निवृत्ति सब समय उनसे सम्भव नहीं । ईश्वर कृपालु हैं, कृपा स्वभावतः उनसे विकीर्ण होती रहती है। परन्तु, सभी उसे नहीं पाते । उनकी कृपा के मूल में साम्यभाव है । इसीलिए, जीव का आधार सापेक्ष है ।

ईश्वर शायद हो कि दे रहे हैं, पर वह देखते हैं, लेनेवाला कोई नहीं । उनका दान उन्हीं में लौट रहा है । इधर जीव हाथ पसारे हुए है—वह देख रहा है, कोई उसे देनेवाला नहीं । अतएव, ईश्वर की कृपा से जीव का दुःख दूर नहीं हो रहा है । दान तभी सार्थक है, जब ग्रहीता को वह मिले । प्रार्थना तभी सार्थक है, जब दाता कुछ दान करे । जीव चूँकि असमर्थ है, इसलिए दानेच्छु ईश्वर को इस ढंग से दिखा नहीं पाता है कि

वह पा सके। ईश्वर भी असमर्थ हैं, इसलिए प्रार्थी और अभावग्रस्त जीव को इस प्रकार से लिवा नहीं सकते कि उनका दान सार्थक हो। दोनों ही नियति के अधीन हैं। इसी का नाम विधि-विधान है।

वास्तव में, ऐसा होता क्यों है? इसका कारण है। पूर्ण से जब जीवभाव और ईश्वरभाव का विकास होता है, तब दोनों ही अपूर्ण होते हैं। जीव छोटा है, ईश्वर बड़े। यह सत्य है, पर जीव को बाद देने पर ईश्वर जैसे अपूर्ण हैं, वैसे ही ईश्वर को बाद देकर जीव भी अपूर्ण है। इसीलिए, ईश्वर भी केवल अपनी इच्छा से जीव को सुखी नहीं कर सकते, यदि जीव का भाग्य या आधार उपयुक्त न हो। यदि वह ऐसा कर सकते, तो जगत् सुखमय होता। क्योंकि ईश्वर दयामय हैं और उनकी कृपा सदा जीव की ओर विकीर्ण होती है। जीव को सुख की प्राप्ति केवल उस 'ऐशी' शक्ति से नहीं होती—उसके साथ जीव की अपनी शक्ति भी चाहिए—जो कि आधार या सत्त्वरूपी है। उसी प्रकार जीव भी केवल अपनी इच्छा से, साधन-बल से सुखी या तृप्त नहीं हो सकता, यदि ईश्वर की कृपा उसकी सहायता न करे। इस प्रकार जीव की पूर्णता के लिए जीव और ईश्वर दोनों ही चाहिए। आधार-वृद्धि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। और अच्छी तरह से स्पष्ट करें—यह आधार-वस्तु है क्या? सबके मूल में भगवत्-शक्ति—चैतन्यकण—उसका पुट है शुद्ध सत्त्व। लौकिक जगत् में उसका पुट स्वकीय प्रकृति या कारणसत्ता है—अर्थात् अपना स्वरूप, परा प्रकृति, अपरा प्रकृति।

मनुष्य-मात्र ही शुद्ध सत्त्व + चित् शक्ति का कणमात्र है। लेकिन सुप्त। यही दिव्य आदि चक्षु और भाव का बीज है—यही विशुद्ध मन है। प्रकृति के आचरण का तारतम्य इस बीज का तारतम्य है। इस दिव्य शक्ति को जगाने के लिए जाग्रत् दिव्य शक्ति आवश्यक है। जगने से यह प्रकृति काम करती रहेगी—साथ-ही-साथ जड प्रकृति अभिभूत होगी और दिव्य प्रकृति का आपूरण होगा। उस समय पुरुषकार का विशेष स्थान नहीं—पर वह प्रतिबन्धक हटाने के लिए है, जिससे प्रकृति अबाध काम कर सके। पुरुषकार या साधना का मूल्य negative मात्र है। इस सुप्त दिव्य प्रकृति को जगाने के लिए पुरुषकार जरूरी है। दिव्य प्रकृति के जगने से उसके काम के लिए पुरुषकार चाहिए—वह आपही आता है। वह अकृत्रिम है। आग जलाने से हवा जैसे आप ही बहती रहती है; यह भी वैसा ही है। वायु नहीं रहने से आग नहीं जलती—आग जलने से हवा रहेगी ही। उसी प्रकार प्रकृति के जगने से उसकी क्रिया के लिए पुरुषकार आप ही फूट उठता है। यह कृत्रिम पुरुषकार नहीं है। उसका स्थान **negative** मात्र है।

शुद्ध सत्त्व ही यह दिव्य प्रकृति है। परन्तु सबका शुद्धसत्त्व समान नहीं—मात्रा का तारतम्य है, आकार का, सन्निवेश का तारतम्य है, आभा और भाव का तारतम्य है। शुद्धसत्त्व वास्तव में एक होते हुए भी अनन्त है—और अनन्त होते हुए उसका प्रत्येक अखण्ड निरवयव। वस्तुतः, चित् शक्ति निरवयव है, मिश्रसत्त्व सावयव, शुद्धसत्त्व गुण और

परिणामी है, इसलिए सावयव और चित् शक्ति के साथ अभिन्न रूप में भासमान है, इसलिए निरवयव। निरवयव होने पर भी व्यंजक सत्त्व सावयव है। यह अवयव=कला। अतएव, पृथक्-पृथक् आधार में कला का तारतम्य है। प्रत्येक दिव्य प्रकृति की एक unity है—जैसी कि प्रत्येक मर्त्य प्रकृति की है। शुद्धसत्त्व में कलाएँ अयुतसिद्ध सम्बन्ध से संसक्त होकर बिन्दु रूप धारण करती हैं, यह बिन्दु ही प्रकृति है। दिव्य और मर्त्य दोनों ही सदृश हैं। इसलिए, दिव्य प्रकृति की कलागत quantity और quality के भेद से यह प्रकृति नाना प्रकार की है। इसीलिए, प्रकृति तोड़ना बड़ा कठिन है। स्वरूप-प्रकृति चिन्मय है—वह हरगिज नहीं टूटती। दिव्य प्रकृति शुद्ध सत्त्वमय—ज्ञान-भक्ति-कर्ममय है; वह प्रायः नित्य ही है। तोड़ना बड़ा कठिन है। लेकिन, तोड़ी जा सकती है। मर्त्य प्रकृति अविद्यादिमय, जड़ तमोमय—उसे भी तोड़ना कठिन है। मर्त्य प्रकृति ही कारण सत्त्व है। दिव्य प्रकृति के द्वारा मर्त्य प्रकृति का जय करना चाहिए। दिव्य प्रकृति के द्वारा ही मर्त्य प्रकृति को तोड़ना होता है। हमारे अन्दर भी दिव्य प्रगति सोई है। हमारी दिव्य-प्रकृति जिस जाति की है, बाहर से उसी जाति की दिव्य प्रकृति (जाग्रत्) के द्वारा ही उसका जागरण होता है।

३०.३.३८ :

कृपा स्वतन्त्र है—निरपेक्ष है, इसमें condition नहीं, excuse नहीं। यह पूर्ण का ही एक मात्र **prerogative** है। ईश्वर कृपा नहीं कर सकते। लोग भूल से कर्मफल को कृपा मानते हैं।

पूर्ण shows	कृपा in	स्व-साम्यदान	unconditionally no past or future consideration.
पूर्णसम	,, ,,	ताटस्थ्यदान	,,
आनन्दमय	,, ,,	आनन्ददान	,,
चैतन्यमय गुरु	,, ,,	बोधदान	,,
ईश्वर, ऐश्वर्यमय ,,	,,	फलदान, सिद्धिदान, ऐश्वर्यदान	,,

ईश्वर कुछ दान करते हैं। यह कर्म-सापेक्ष होने से कृपा नहीं—कर्मफल है। सुतरां वह सुख-दुःखमय होता है। कर्म-निरपेक्ष होने से यही सिद्धि है। तब यह कृपा है। सिद्धि=सुख-दुःख की मिलनात्मक सुखमय शक्ति। वही ऐश्वर्य या विभूति है।

गुरु कुछ दान करते हैं। यह विश्व का ज्ञानबीज या योग्यता-सापेक्ष होने से कृपा नहीं। वह ज्ञान या अज्ञान दोनों होता है। योग्यता-निरपेक्ष होने से वही मुक्ति है। तब यह कृपा है। मुक्ति=ज्ञान और अज्ञान की मिलनात्मक ज्ञानमय शक्ति है।

आनन्दमय कुछ दान करते हैं। यह शिष्य की योग्यता के अधीन होने से कृपा नहीं। वह आनन्द होता है, दुःख भी होता है। योग्यता-निरक्षेप होने से वही कृपा। परमानन्द=आनन्द और निरानन्द का मिलित रूप। पूर्णसम ताटस्थ्य-दान करते हैं।

कोई पूर्णत्व नहीं दे सकते। यह एक पूर्ण ही दे सकते हैं। पूर्ण जो यह पूर्णता देते हैं, वह क्रमशः। यही शुद्धकृपा है। यह जिसपर पड़ती है, उसे फिर-फिर उठाकर पूर्णसम करके बाद में पूर्ण कर लेती है। जो पूर्णत्व में नहीं ले जाती, वह पूर्ण की कृपा नहीं। वास्तव में, वह कृपा ही नहीं।

पूर्ण की इच्छा से ही जगत् का विकास है। इसीलिए, जगत् में सर्वत्र ही पूर्ण का आभास है। उसको आश्रय करके ही पुरुष कर्म कर सकता है, ईश्वर फल दे सकते हैं, द्रष्टा दर्शन करता है, भोक्ता भोग करता है, गुरु ज्ञान देते हैं, भक्त आनन्द-भोग करता है, भगवान् आनन्द देते हैं। ईश्वर-भाव को आश्रय करके पूर्ण ही कृपा करते हैं, आश्रय न करके भी पूर्ण ही कृपा करते हैं। ईश्वर ईश्वरत्व के द्वारा कृतकर्म का सुख-दुःख-रूप फलदाता-मात्र है। पूर्ण ईश्वररूप में कृत कर्म नहीं रहते हुए भी सिद्धिसुख दे सकते हैं। दुःख नहीं देते। पूर्ण दुःख नहीं देते। दुःख सब समय कर्मफल है। सुख कर्म-फल हो सकता है—विना कर्म के पूर्ण का ईश्वर-रूप में कृपा का फल हो सकता है। पूर्ण देख पाते हैं। मूल में सबका पुण्यकर्म अवश्य है। ईश्वर नहीं देख पाते।

गुरुभाव को आश्रय करके पूर्ण ही कृपा करते हैं। पूर्ण-वियुक्त गुरु शिष्य की योग्यता या कुशलमूल या ज्ञानबीज देखकर उसको ज्ञान-दान करते हैं। विना देखे नहीं दे सकते। सबको नहीं दे सकते। सबको एकमात्र पूर्ण ही ज्ञान दे सकते हैं, अर्थात् पूर्ण देख पाते हैं—सबके ज्ञानबीज होता है।

भगवत्-भाव को आश्रय करके पूर्ण ही कृपा करते हैं। जिसमें आनन्द का बीज नहीं, उसे कृपा करके भगवान् आनन्द नहीं दे सकते। यही भक्तिबीज है। भगवान् सबमें भक्तिबीज नहीं देख पाते। कैवल्य में जितनी आत्मा केवली होती है, उनके उद्धार का काम भगवान् करते हैं। उन्हें निखार देते हैं। जिस-जिस में भक्तिबीज देखते हैं, उनमें आनन्द-संचार करते हैं। जिन्हें नहीं दे सकते, वे शुष्क केवली हैं। पूर्ण उसे भी आनन्द दे सकते हैं—उसमें भी भक्तिबीज पूर्ण देख पाते हैं, यह भगवान् के अतीत है। सम या शान्त भाव (साम्य) का आश्रय करके पूर्ण ही कृपा करते हैं। साम्यबीज रहने से परमेश्वर कृपा करते हैं, किन्तु पूर्ण देखते हैं, सर्वत्र ही साम्यबीज है—इसीलिए पूर्ण सबपर कृपा कर सकते हैं। फल-साम्यदान, पूर्ण साम्यभाव का दान।

इसके बाद ही पूर्ण का आत्मदान—या पूर्ण करके लेना। यह और कोई नहीं कर सकता; क्योंकि और कोई तो पूर्ण नहीं। यही चरम कृपा है। इसीसे समझ में आयगा—पूर्ण की कृपा ही कृपा है, वह स्वतन्त्र है। जहाँ कहीं भी वह काम करे, वह स्वतन्त्र है—निरपेक्ष है। अपूर्ण में सर्वत्र कार्य-कारणभाव या नियति है। अपूर्ण नियति के अधीन है, पूर्ण स्वतन्त्र।

अपूर्ण का दान और पूर्ण का दान एक-जैसा नहीं। अपूर्ण दान करे, तो एक ओर क्षीण होता है, दूसरी ओर बढ़ता है। जो दस रुपया दान करता है, उसका दस रुपया

लोक में कम हो जाता है; पक्षान्तर में, लोकान्तर में पुण्य से उसका हजार रुपया बढ़ जाता है।

पूर्ण जो देता है, देकर भी वह पहले जैसा पूर्ण ही रहता है—बढ़ता भी नहीं, घटता भी नहीं। पूर्ण में ह्रास-वृद्धि नहीं होती—हो नहीं सकती। पूर्ण से जो आता है, वह भी पूर्ण ही—पर आभास-मात्र। इसीलिए, इस जगत् में सर्वत्र पूर्ण का आभास है। वस्तुतः, अपूर्ण में सर्वत्र ही पूर्ण का आभास है। इसीलिए, अपूर्ण अतृप्त रहता है—यह अतृप्ति ही उसे पूर्ण की ओर खींचती है—पूर्णता ही तृप्ति है।

एक का पाप दूसरे के शुभकार्य से खण्डित हो सकता है। बशर्ते कि कोई मध्यस्थ हों। "God's grace operates freely by the law of vicarious redemption and atonement"—cf. Rom. V. 19 (Bills).

"For as by the disobedience of one man many sinned, so by the obedience of one, many were justified." cf. Also Ibid. V. 15–19 of Genesis XVIII, 23—32.

"I beseech thee, saith he (Abraham), be not angry Lord, if Is peak yet once more : what of ten should be found there ? And he (Lord) said : I will not destroy it for the sake of ten (good men)."

भगवत्कृपा तीन प्रकार के अज्ञान या भ्रम नष्ट करती है :

भ्रम

ज्ञानानुदय	अन्यथाज्ञान	विपरीत ज्ञान
=यह देह को आत्मा समझना है।	=भगवान् का दास्य नहीं स्वीकार करके दूसरे देवता का दास्य स्वीकार करना।	=जीव को स्वतन्त्र समझना। वस्तुतः, जीव ईश्वर के अधीन है।

तीसरा अध्याय

उपासना-तत्त्व

३०.३.३८ :

इन्द्रिय की गति स्वभावतः बाहर की ओर होती है, अर्थात् अपने विलय की ओर। मन की गति होती है इन्द्रिय की ओर, आत्मा की दृष्टि मन की ओर। परमात्मा की दृष्टि आत्मा की ओर होती है। इससे लगता है, परमात्मा से एक शक्ति-स्रोत बाहर की ओर धावित होता है। विषय में भी वह प्रवणता मौजूद है। इसीलिए, उजाला और शब्द चारों ओर विकीर्ण होता है। दीया जलाने से सारा घर आलोकित क्यों होता है? इसी के लिए।

आत्मा एक छोर पर, विषय या अनात्मा दूसरे छोर पर। शक्ति आत्मा से अनात्मा की ओर जाती है, अनात्मा से आत्मा की ओर जाती है। जो स्रोत आत्मा से जाता है, वह जाकर विषय से निर्गमशील स्रोत का स्पर्श करता है। उसके बाद मिलकर दोनों आत्मा में लौट आते हैं—तब विषय-ज्ञान होता है, आत्मशक्ति याद आती है। मन की शक्ति सोई थी—आत्मशक्ति के स्पर्श से वह जाग्रत् होती है। यह जाग्रत् (=चिदाभासमय) मनःशक्ति इन्द्रिय में जाती है—जाकर सुप्त इन्द्रिय-शक्ति को जगाती है। जाग्रत् इन्द्रिय-शक्ति विषय में जाती है। इधर, विषय से जो आभा निकलती है, वह इन्द्रिय-रश्मि द्वारा स्पृष्ट होती है। विषय के प्रान्त में निवृत्ति खेलती है, इसलिए, वहाँ से विषय प्रतिबिम्ब ग्रहण करके इन्द्रिय-शक्ति को लौटाता है। इस प्रतिबिम्ब में विषय का आकार रहता है, कुछ सत्त्व रहता है। इन्द्रिय में आकर वह आकार मन में लगता है, साथ में विषय और इन्द्रिय के कुछ कण रहते हैं। वह मानसाकार (विषय और इन्द्रिय-सह) आत्मा का स्पर्श करता है और बोध का आकार धारण करता है—तब प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। इस आकार में :

मन रहता है ∵ बोधमयता
इन्द्रिय रहती है ∵ चाक्षुषता
विषय रहता है ∵ सालम्बनत्व, साकारत्व

इसके अतिरिक्त विषय प्रकाशक रहता है ∵ स्फुरत्ता।

[यही बौद्धों का चार प्रकार का प्रत्यय है]

यह जो व्यापार होता है, इसमें एक गहरा रहस्य है। आत्मा से जो स्रोत जाता है, वह आत्मा में लौट आता है, तो चक्र पूरा होता है। इसके फलस्वरूप आत्मा में आत्मदृष्टि के सम्मुख एक आकार का प्रतिभास होता है। यह मनोमय जगत् में रह

जाता है, संस्कार के रूप में। रहने पर भी यह आकार क्रमशः टूटता रहता है। क्योंकि, आत्मशक्ति के लौटने के समय विषय आदि के कण लाते हुए विषय, इन्द्रिय और मन से भी एक स्रोत उन कणों के साथ-साथ उठ आता है। वह शक्ति स्वभावतया ही अपने-अपने केन्द्र को लौट जाने की चेष्टा करती है। फलस्वरूप, क्रमशः उन सब आकारों का **disruption** होता रहता है।

वस्तुतः, चित् शक्ति-रूपी चिदाकाश में सब आकार ही चिन्मय हैं, इसलिए विशुद्ध और नित्य हैं। शुद्धसत्त्व में उनकी अभिव्यक्ति होती है। वह एक हिसाब से नित्य है, एक हिसाब से अनित्य। प्रकृति में उसकी अभिव्यक्ति अनित्य है। आत्मा की दृष्टि के सामने के जिस आकार के बारे में हमने कहा, वह प्राकृतिक आकार है, अतएव अनित्य है। वह प्राकृतिक आकार इसलिए है; क्योंकि आत्मा की दृष्टि अविद्या से आच्छन्न है। यह जो क्रमिक disruption की बात कही, वह प्राकृतिक प्रलय के समय होगा ही। तबतक रह सकता है। इस प्रकार, अनवरत संस्कार संचित होता है। वास्तव में, ये सारे संसार सुख-दुःख के हेतु नहीं होते, बशर्ते कि मौलिक अनुभव के समय भला या बुरा लगने का भाव नहीं रहे। भला या बुरा लगना रहने से ही वह कर्माकार होता है—सुख-दुःख उत्पन्न होता है, नहीं तो केवल स्मरण का हेतु होता है। चूँकि अविद्या और अस्मिता मूल में है, इसलिए भला या बुरा लगना अवश्य होता है।

अतएव, ये सारे संस्कार दो प्रकार के हैं। जो भोगमूलक, रंगीन हैं—वे अगर प्रबल क्रियामान कर्म के प्रभाव से जमकर पिण्डीभूत और भोगोन्मुख हों, तो भोग से उनका disruption होता है। क्योंकि, परिपक्व होने से ही वे संस्कार भोग्य फल का रूप धारण करते हैं। वैसे में भोक्ता की अग्निदृष्टि से वे भस्म हो जाते हैं। जो संस्कार घनीभूत नहीं होने के कारण ज्ञान के दृष्टिगोचर नहीं हुए हैं; क्योंकि एकाग्रता तीव्र होने से उसमें एक ओर संस्कार घना होता है और दूसरी ओर ज्ञानज्योति उत्पन्न होकर उस घने संस्कार पर पड़ते ही वह पकना शुरू करता है—वे अन्दर-ही-अन्दर जमा रहते हैं। प्राकृतिक प्रलय में उनका **disruption** होता है। अवश्य उनमें से कुछ क्रम से विपक्व होकर पूर्वकर्म से भोग द्वारा नष्ट हो सकते हैं। किन्तु, वैसे नये संस्कार भी कितने पैदा होते हैं। लेकिन, इस बीच यदि ज्ञान का विकास हो, तो वे मनुष्य का फिर स्पर्श नहीं करते। प्रलय तक प्रकृति में पड़े रहते हैं।

ज्ञानज्योति दो प्रकार की है। किसी विषय में तीव्रता से चिन्ता करने से ही एकाग्रतावश ज्योति फूटती है—उससे वह ध्येय विषय प्रकाशित और आयत्त होता है। भोग के फल से क्रम से वह लीन होता है। सकाम चित्त की एकाग्रता से यह ज्ञान होता है। निष्काम चित्त की एकाग्रता से शुद्ध आत्मज्ञान पैदा होता है—उनमें आत्मा का प्रकाश होता है। सकाम चित्त के प्रत्यक्ष ज्ञान से भोग्य विषय का प्रकाश होता है।

सृष्टि-रहस्य

१.४.३८ : रात्रि :

मूल में जो है, वही पूर्णब्रह्म है। वह निष्कल और अनन्त कलामय है। युगपत दोनों ही। सक्रिय और निष्क्रिय। वह स्वातन्त्र्यमय, उल्लासमय, महाशक्तिमय आदि है। एक—अद्वय।

स्वातन्त्र्य का खेल। उसका फल कि एक ब्रह्म एक ओर दो हुआ, दूसरी ओर दो, तीसरा हुआ—सब ठीक समान-समान।

(i) कोई भेद नहीं—संख्या-व्यतीत—लेकिन अनेक।

(ii)△ एक=चिन्मय परमशिव

द्वितीय=चिन्मयी परमाशक्ति

(क)=अन्नतशक्ति साम्यमयी

(ख)=इच्छा+ज्ञान+क्रिया साम्यमयी

तृतीय=चिन्मय जीव

इस अवस्था में शिव और शक्ति समरस हैं—उसके साथ जीव भी समरस। किसी की प्रधानता नहीं। शिव शान्त, शक्ति भी शान्त। शिव नित्यशान्त। शक्ति अशान्त होती है, फिर क्रमशः शान्त होती है।

इसके बाद दो धाराएँ देखी जाती हैं। इसका मूल है पराशक्ति की क्रीडा। यही योगमाया का खेल है। यहीं से वैषम्य का सूत्रपात होता है। फलस्वरूप, शिव और शक्ति का वैषम्य होता है। एक ओर शिव प्रधान—शक्ति गौण, दूसरी ओर शक्ति प्रधान, शिव अप्रधान। जीव साथ-साथ, मध्य में सामरस्य। तीनों युगपत्, यही पूर्ववर्णित शिव, शक्ति और जीव का सामरस्य है।

शिवप्रधान दिक् नित्यसंहार दिक् है।
शक्तिप्रधान दिक् नित्यसृष्टि दिक् है।
समरस प्रधान दिक् नित्यस्थिति दिक् है।

अभी हम सृष्टि की ओर ही देखेंगे। यह शक्तिप्रधान दिक् है। वैषम्य में एक ओर जैसे शिव-शक्ति का वैषम्य, दूसरी ओर वैसे ही शक्ति का वैषम्य। पराशक्ति के वैषम्य से इच्छा, ज्ञान और क्रिया—तीनों की पृथक् सत्ता होती है, यद्यपि सबमें सब शक्ति होती है। सुतरां, विषम अवस्था तीन हैं :

[अभेद] इच्छाशक्ति-प्रधान (including ज्ञान+क्रिया)
(भाव) शिव अप्रधान। नाम शिव।

[भेदाभेद] ज्ञानशक्ति-प्रधान (including इच्छा+क्रिया)
शिव अप्रधान। नाम सदाशिव।

[भेद] क्रियाशक्ति-प्रधान (including ज्ञान + इच्छा)
शिव नाम ईश्वर। शिव अप्रधान।

इच्छा-ज्ञान, क्रिया—वास्तव में, एक ही चैतन्यशक्ति की तीन अवस्थाएँ हैं। सुतरां यह स्वरूपशक्ति ही है, लेकिन विषम।

इसके बाद महामाया का खेल।

महामाया वैषम्यरूपा इच्छादित्रय की समष्टि है। वास्तव में, इस महामाया से ही संकोचभाव आबद्ध होता है। पहला संकोच ही आणव मल है। शिव-आश्रित विषम चित् शक्ति क्षुब्ध होकर अणु की सृष्टि करती है। अर्थात् :

शिव × इच्छा = अणु (भावप्रधान)
शिव × ज्ञान = अणु (ज्ञानप्रधान)
शिव × क्रिया = अणु (क्रियाप्रधान)

तीन प्रकार के अनन्त अणु इस महामाया-स्तर में फूट उठते हैं। इच्छा आदि चित् शक्ति की ही तो विभिन्न अवस्था—इसलिए ये अणु ही एक हिसाब से चिदणु या चित् कला हैं। यही विज्ञानाकल पशु, यही जीवकण हैं। ये महामाया के अधीन हैं, किन्तु माया के अतीत। इन अणुओं में कोई भावप्रधान, कोई ज्ञानप्रधान, कोई क्रिया-प्रधान प्रकृतिविशिष्ट है।

२.४.३८ :

महामायास्तर के जीव को पाया। किन्तु, भगवान् ने दिखाया, महामाया के ऊपर योगमाया के राज्य में भी जीव हैं। ब्रह्म जब शिव और शक्ति हुए, तो जीव भी हुए। तब शिव और शक्ति बराबर, इसलिए जीव भी समान-समान। शक्ति स्वरूपभूत, उस समय जीव भी स्वरूपभूत। इस सामरस्य में जीव भी समरस होकर है। शिव और शक्ति जब एकबारगी समान न रहकर एक हो जायेंगे, तब जीव भी एक हो जायेंगे। वह सामरस्य नहीं—एकत्व है, साम्य नहीं।

योगमाया (पराशक्ति) उनकी स्वरूप-शक्ति है—जीव भी वहाँ उनका स्वरूपभूत है। महामाया उनकी तटस्थ शक्ति है—यह चित् शक्ति नहीं; यह विशुद्ध सत्त्वरूपा बैन्दवी शक्ति है; इसलिए जीव भी वहाँ तटस्थ बिन्दुमात्र है। भगवान् वहाँ महाबिन्दुभूत हैं।

योगमाया के प्रतिबिम्ब के महामाया-रूप धारण करने से ही पूर्णमण्डलस्थ स्वरूपभूत जीव जीवाणु होकर महामाया-राज्य में प्रकटित होता है।

महामाया-प्रतिबिम्ब के मयारूप धारण करते ही उन अणुजीवों का एक आभास माया-गर्भ में पड़ता है। माया = प्रकृति। जीव में शिव-भाव और शक्ति-भाव—दोनों हैं। उसकी आत्मा = शिवभाव, उसकी देह = शक्तिभाव। शक्ति जिस स्तर की हो, देह भी

उसी स्तर की होती है । उसके साथ-साथ उसकी आत्मा भी उसी स्तर की । भाव-विकास इस प्रकार होता है :

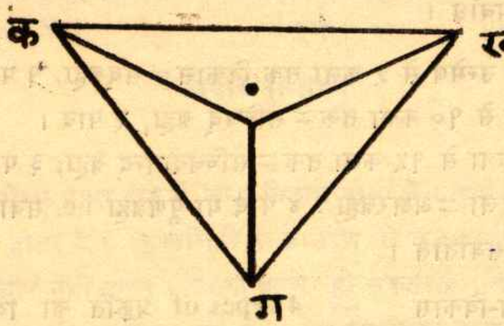

"o=एक । स्वातन्त्र्यवश जब उसमें क्षोभ होता है, तब एक धारा 'क' होती है, एक 'ख', एक (वासना) 'ग' होती है । 'क' और 'ख' =शिव और शक्ति । 'ग' = जीव । सब समान-समान । एक हिसाब से 'क' और 'ख' के मिलन से 'ग' होता है, यह नहीं कहा जा सकता ।

लेकिन इसमें कुछ रहस्य है । मूलवस्तु एक ओर सर्वातीत और एक ओर सच्चिदानन्द या सर्वात्मक पूर्ण है । सृष्टि-विचार दो ओर से होता है :

शून्य की ओर से :

पहले सद्भाव की स्फूर्त्ति,
बाद में उसमें चित्-भाव,
बाद में आनन्द । यही
सच्चिदानन्द पूर्ण ।

[Side of देह]

पूर्णब्रह्म
|
आनन्द (शिव+शक्ति)
|
चैतन्य
|
सत्त्व
(माया)
|
देहमय

पूर्ण की ओर से :

पहले आनन्द का ह्रास या लोप,
फिर चैतन्य का लोप, फिर सत्ता
का लोप । यही शून्य है ।

[Side of आत्मा]

पूर्णब्रह्म
|
आनन्द (आनन्दमय)
|
चैतन्य (विज्ञानमय)
|
सत्त्व (अन्न-प्राण-मनोमय)

६.४.३८ :

उपासना से भूमि प्राप्त होती है। यह कलापुष्टि के तारतम्य से होता है। मूल में सत्त्वोद्रेक, आत्मबोध।

कर्म सत्त्व के उन्मेष से ५ कला तक विकास = सद्‌ब्रह्म, १ पाद।
ज्ञान ६ कला से १० कला तक = सच्चिद् ब्रह्म, २ पाद।
भक्ति ११ कला से १५ कला तक = सच्चिदानन्द ब्रह्म, ३ पाद।
१६ कला = अक्षरब्रह्म : ४ पाद या पूर्णब्रह्म i.e. सर्वात्मक और सर्वातीत।

१ – ५ कला-विकास [5 × 4 = 20 varieties]	—	4 types of प्रकृति का विकास under शक्तिपात of (i) सत् or (ii) सच्चित् or (iii) सच्चिदानन्द or (iv) पूर्ण।
६—१० कला-विकास [15 varieties]	—	3 types of आत्मा का विकास under शक्तिपात of (i) सच्चित् or (ii) सच्चिदानन्द or (iii) पूर्ण।
११—१५ कला-विकास [10 varieties]	—	2 types of ईश्वर का विकास under शक्तिपात of (i) सच्चिदानन्द or (ii) पूर्ण।
१६ कला-विकास [1 variety]	—	1 type of पूर्ण स्फूर्ति under शक्तिपात of पूर्ण

प्रकृति-विकास under सद्‌ब्रह्म I
,, ,, ,, चिद्‌ब्रह्म II
,, ,, ,, आनन्दब्रह्म III
प्रकृति-विकास under पूर्णब्रह्म
आत्मा का विकास under चिद्‌ब्रह्म IV
,, ,, ,, आनन्द V
,, ,, ,, पूर्णब्रह्म Transcendental
ईश्वर-विकास under आनन्दब्रह्म VI
,, ,, ,, पूर्णब्रह्म
पूर्ण का विकास under पूर्णब्रह्म VII

कुण्डलिनी-जागरण I शुद्ध जाग्रत् शक्ति—सर्वत्र सत्ता।
,, ,, II उसमें आत्मभाव का विकास, चित् का आभास सत्ता में।
,, ,, III उसमें आनन्द का आभास।

आत्मा का शिवत्व या जागरण IV आत्मा = शुद्ध द्रष्टा।
[विषम का समीकरण] मिलन V शिव-शक्ति का मिलन, ईश्वराभास।
[सम] मिलन-मिश्रण VI मिलन पूर्ण, ईश्वरत्व पूर्ण, पूर्ण का आभास।
[एक] पूर्णत्व VII पूर्ण-पूर्ण।

उपासना-तत्त्व

१३.४.३८ :

सद्‌गुरु से दीक्षा प्राप्त होने से जन्म-निरोध होता है। तभी से कुण्डलिनी के विकास का कार्य आरम्भ होता है। कुण्डलिनी के जागरण से आत्मदर्शन होता है। आत्मदर्शन होने से फिर जन्मान्तर नहीं होता। उसके पहले हो सकता है, लेकिन साधारण मनुष्य की भाँति नहीं। अर्थात्, दीक्षा के बाद कुण्डलिनी का जागरण या मन्त्र का विकास आरम्भ होता है। यह उपासना का विकास है। मान लीजिए, शिव-मन्त्र की साधना। मरने के बाद साधक शिवलोक जायगा—अन्ततः। साधना और भी अच्छी हो, तो शिवरूप लाभ करेगा, सत्-सन्निधान में परिकर होगा (सामीप्य)। शिव के समान शक्तिलाभ करेगा—चरम स्थिति में शिव से तादात्म्य-लाभ करेगा। शिव = कार्यब्रह्म। शिव-तादात्म्य वस्तुतः कार्यरक्षात्मकता है। यह शिवांग में लय है। इस शिवलोक में रहते हुए उसका जन्म होता है—अधिक-से-अधिक तीन बार। हाँ, तब जबकि स्थूल देह-त्याग के पहले आत्मज्ञान-लाभ न हो। साधक का परिपाक अधिक रहने से तदनुसार तीन बार न होकर दो बार या एक बार भी जन्म हो सकता है। लेकिन, तीन बार से ज्यादा नहीं होता। यह गुरुदत्त शक्ति पर निर्भर करता है। अवश्य, जन्म नहीं भी हो सकता है—यदि शिवलोक में वह साधन में उन्नति करे। शिवलोक से भी परब्रह्म या आत्मज्ञान-लाभ सम्भव है। किन्तु, शिव का सायुज्य पाने से साथ-ही-साथ ब्रह्मज्ञान-लाभ होता है, पर ब्रह्मरूपता नहीं होती। वह महाप्रलय में होती है। जबतक यह सृष्टि है, साधक तबतक शिवात्मक होकर रहता है—यह कार्य ब्रह्मरूप (शिवभाव से) है। परन्तु, यदि मर्त्यलोक में जन्म हो, तो सद्‌गुरु पाने से इस देह में ही परब्रह्म-ज्ञान और परब्रह्मरूपता हो सकती है। यदि हो, तो देहान्त में शिवलोक नहीं जाना पड़ेगा।

शिवलोक की जो बात कही गई, यह देवलोक का उपलक्षण है। निर्मल सत्त्व के तारतम्य के अनुसार लोक का ऊर्ध्वाधोभेद है। ये सब लोक दो प्रकार के हैं—जो निर्मल या शुद्धसत्त्व के उन्मेष और विकास के क्रम से निम्न से उच्च तक विस्तृत हैं। जो सर्वोच्च लोक है, वह निर्मलतम सत्त्व का विकास है। यह चरम लोक साधक के भाव के अनुसार नाना प्रकार का हो सकता है। भाव के अनुसार इसे कैलास, गोलोक, वैकुण्ठ, देवीलोक आदि कहा जाता है। यह एक ही वस्तु का भावानुसार दर्शन है। परन्तु पृथक् भाव से लोकों का ऊपर-नीचे भाव है। उस हिसाब से शिवलोक और विष्णुलोक या अन्य लोक एक स्तर के नहीं।

अतएव, देवता-उपासना की दो दिशाएँ हैं। सभी देवता एक स्तर के नहीं। और फिर, ब्रह्मदृष्टि से सब देवता ही एक ही कार्यब्रह्म के भाव-भेद के अनुसार विभिन्न प्रकाश हैं। प्रथम साधना के समय में ब्रह्मदृष्टि तो रहती नहीं। इसलिए, भेद मानकर ही साधन करना होता है। लेकिन, कोई कल्पना या भावना-बल से ब्रह्मदृष्टि करते हैं—वह स्वाभाविक नहीं है। अकल्पित ब्रह्मदृष्टि की बात बाद में होगी।

बात को और स्पष्ट करें।

सब देवता ही भाव-विशेष हैं। यह भाव, चाहे जिस भाव से भी हो, शून्यमय होने से तब वहाँ ब्रह्मत्व प्रतिष्ठित होता है। क्योंकि, ब्रह्म से ही शून्य में से (self-negation) उस-उस भाव का आविर्भाव है। इसलिए, कुछ नहीं करने से भी विपरीत दिशा में वे भाव धीरे-धीरे उपक्षीण होकर शून्य होते हैं और ब्रह्मभाव का पुनरुदय आप ही होता है। साधन-बल से वह शीघ्र-शीघ्र हो सकता है। ब्रह्मतत्त्व की प्रतिष्ठा के मानी—यह भाव भी ब्रह्म का ही भाव है आदि।

उदाहरण के तौर पर शिव की साधना दो प्रकार की हो सकती है। यह साकार ब्रह्म की उपासना देवता के माध्यम से हो सकती है, या केवल देवता की उपासना हो सकती है।

(क) शिव को केवल एक देवता मानकर उपासना करने से शिवलोक में जाकर सारूप्यादिक्रम से शिव-सायुज्य-लाभ होता है। ब्रह्मज्ञान की आशा नहीं होती। शिव से सायुज्य होने पर भी थोड़ा-सा परदा रह जाता है। उन्हें ब्रह्मरूप में नहीं जान पाता। शिव की ब्रह्मरूपता होने के समय ये भी ब्रह्मज्ञान पाकर ब्रह्मरूप हो जाते हैं। अथवा उस शिवलोक में ही ये योग्यतानुसार शिव से ब्रह्मज्ञान लाभ करते हैं। उसके बाद शिव से ब्रह्मरूपता लाभ करते हैं। या कोई-कोई पहले भी ब्रह्मरूपता लाभ कर सकते हैं।

(ख) शिव को कार्यब्रह्म मानकर भी उपासना की जा सकती है। यह दीक्षाकाल में ब्रह्मज्ञान के बीजसहित शिवोपासना है। इसके फलस्वरूप इसी देह में ब्रह्मज्ञान हो सकता है। या फिर देहान्त में शिवलोक में गति होती है। वहाँ से ब्रह्मज्ञान की स्फूर्त्ति होकर भावातीत अवस्था मिल जा सकती है। वहाँ से ब्रह्मदीक्षा की फिर आवश्यकता नहीं होती।

जिन दो दिशाओं के बारे में कहा गया, यह ब्रह्मज्ञानी देवता की उपासना के सम्बन्ध में है। अज्ञानराज्य में भी देवता हैं। उनकी उपासना क्षुद्र उपासना है।

पहले जो कहा, उसका तात्पर्य यह :

देवता दो प्रकार के हैं—कोई ब्रह्मविद् और कोई ब्रह्मविद् नहीं। ब्रह्मविद् देवता की भी दो भाव से उपासना की जा सकती है—ब्रह्मरूप में अथवा मात्र देवता-रूप में। उसी प्रकार अब्रह्मविद् देवता की भी दो प्रकार से उपासना की जा सकती है।

अब प्रश्न यह है कि फल साधक की दृष्टि के अनुसार होता है या उपास्य की शक्ति के अनुसार ? साधक ब्रह्मदृष्टि नहीं कर पाकर भी ब्रह्मज्ञ देवता से ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकता है ? नहीं, नहीं कर सकता। इसके विपरीत, साधक ब्रह्मदृष्टि को भी तो अब्रह्मज्ञ देवता ब्रह्मज्ञान दे सकते हैं क्या ? सिद्धान्त यह--दोनों के मूल में एक ही पूर्ण ब्रह्म हैं--इसलिए दोनों ही हो सकता है। अब्रह्मज्ञ देवता भी ब्रह्मदृष्टि के कारण द्रष्टा के निकट ब्रह्मज्ञ रूप में प्रकाशित होते हैं और वैसा कार्य करते हैं। और फिर, ब्रह्मज्ञ देवता भी ब्रह्मदृष्टि के अभाव में साधक को ब्रह्मज्ञान नहीं देते।

साथ-ही-साथ यह भी सत्य है, स्वतन्त्र इच्छा या कृपा करने से ब्रह्मज्ञ देवता साधक को ब्रह्मदृष्टि नहीं रहते हुए भी खोल दे सकते हैं, परन्तु अब्रह्मज्ञ देवता स्वेच्छा से वह नहीं कर सकते। असली बात यह है :

साधारण साधक में ब्रह्मदृष्टि रहना सम्भव नहीं। यदि ब्रह्म ही लक्ष्य हो, अथच भाव के भीतर से जाना हो, तो यह उपाय है :

(क) संस्कार के अनुरूप देवता की उपासना। यह ब्रह्मज्ञ देवता हैं। उद्देश्य--ऐश्वर्यसिद्धि, सुखभोग।

(ख) पहले नहीं भी, तो बाद में साधक समझ सकता है--वह देवता ब्रह्म का ही रूप है। यह सायुज्य या समाधि से होता है। तब सब ब्रह्म ही समझ में आता है। उस समय की उपासना – ब्रह्मरूप में उपासना है। यद्यपि उस समय सब ब्रह्मरूप में ही देखा जाता है, तथापि निष्ठा और स्थिति के लिए एक को पकड़कर चलता है। कोई कई को पकड़कर चलता है। यह जो ब्रह्मदृष्टि है, वह कल्पित नहीं। ब्रह्मदर्शन के पहले जाग्रत् का ब्रह्मरूप में दर्शन असम्भव है, बाद में सम्भव।

एक लोक से बाहर होकर दूसरे लोक में जाना होता है अथवा एक लोक भेदकर दूसरे लोक में जाना होता है। पहला लोक, दूसरा लोक, तीसरा लोक—आदि क्रमबद्ध। इस अवस्था में पहले लोक का साधक उस लोक के केन्द्र में जाकर देवता का सायुज्य या समाधि-लाभ करके उसे भेद सकता है। और, पहले से यदि तीसरे लोक में जाना होता है, तो—क्योंकि साधक का संस्कार यदि वही हो तो—पहले लोक से बाहर आकर पुनः दीक्षा के द्वारा तीसरे लोक में प्रवेश करने का नियम है। यह दो अवस्थाओं में हो सकता है।

देवता-तत्त्व

१६.४.३८ : (revealed) :

देवता दो प्रकार के हैं—स्वाभाविक (आजान) और कर्मजन्य (कर्म)। स्वाभाविक देवता के बारे में फिर कहेंगे। कर्मदेवता वे हैं, जो पहले मनुष्य थे और बाद में पुण्यकर्म की अतिशयता से उन्होंने देवत्व पाया।

साधारणतः, मृत्यु के बाद ही देवत्व प्राप्त होता है। पहले पितृलोक जाता है, उसके बाद देवता होता है। अवश्य वह, जिसे योग्यता है। इन सब कर्मदेवताओं के विविध स्वर्ग हैं—वहाँ रहते हैं, सुख-सम्पद् भोग करते हैं। यह सब कुछ कामधातु के अन्तर्गत है। भोग क्षय होने पर ये सारे देवता अपने-अपने लोक से च्युत होकर मर्त्यलोक में जन्म लेते हैं। इन देवताओं का भोगकाल जब प्रायः समाप्त हो आता है, तब उनकी माला सूखती है, शरीर पर पसीना झलकता है—आदि-आदि लक्षण प्रकट होते हैं।*

एक और कोटि के देवता हैं, वे आजान और कर्मदेवता के सम्मिलित लक्षणाक्रान्त होते हैं। उनका पतन नहीं होता। हाँ, अवतरण हो सकता है, वह भी वासनावश बाद में लौटकर अपने स्थान में चले जाते हैं या और भी उन्नत स्थान में जाते हैं। जो लोग सद्गुरु से दीक्षा पाते हैं, जिनके कर्म ज्ञानमूलक (ज्ञानकर्मसमुच्चय) होते हैं, वे महर्लोक आदि ऊर्ध्वलोक में जाते हैं—अवश्य कर्म और ज्ञान में विकास के अनुसार। ऊपर-ऊपर के लोकों में ज्ञान का विकास अधिक है।

इन सब ऊर्ध्वलोकों में आजान देवता हैं—क्रमबद्ध। उनकी उपासना के फलस्वरूप मनुष्य उनका लोक, रूप इत्यादि प्राप्त करता है। गोलोक-वैकुण्ठ, कैलास, ब्रह्मलोक—ये शुद्ध सत्त्वलोकों (?) में श्रेष्ठ हैं। सत्त्व की मात्रा के अनुसार तारतम्य होता है। ये सब दिव्यधाम-भूमि के अनुसार विन्यस्त हैं। भूमिभेद का मूल है शुद्ध सत्त्व की मात्रा की अभिव्यक्ति। पृथ्वी में जो सब मनुष्य जन्म ग्रहण करते हैं—वे नाना प्रकार के हैं। कोई चौरासी लाख योनि अतिक्रम करके अभी-अभी मनुष्य-स्तर में पहुँचा है, कोई बहुत दिन पहले आया है—सम्प्रति कर्मफल से नाना स्थान से भिन्न योनियों में भ्रमण करके फिर मनुष्य शरीर पाया है। कोई सम्भवतः पूर्वजन्म के कर्मफल से पशु-पक्षी आदि होकर अब मनुष्य हुआ है—अवश्य पहले भी मनुष्य था। कोई सम्भवतः स्वर्ग या नरक-भोग समाप्त करके मनुष्य हुआ है। ये सब भी पहले मनुष्य थे। कोई सम्भवतः स्वर्ग, नरक या तिर्यग्देह धारण न करके मनुष्य-जन्म के बाद ही फिर मनुष्य-देह प्राप्त करता है।

लेकिन, ऐसे मनुष्य भी हैं, जो प्रारब्ध कर्म के फल से जन्म नहीं लेते, किन्तु वे अवतार भी नहीं। अवश्य, यह सत्य है कि वे कर्म-संस्कार से ही जन्म लेते हैं। ऊर्ध्व आजान देवता के लोक में जो साधक जाते हैं; वे सालोक्य, सारूप्य आदि जो अवस्था भी लाभ करें, जन्म ले सकते हैं, लेते भी हैं। क्योंकि, इनका जन्म देवांश में होता है। अवश्य,

---

* युक्तिदीपिका (पृ० १६७) :
रजोविपक्तिरङ्गेसु वैवर्ण्यं म्लानपुष्पता।
पतिष्यतां देवलोकात् प्राणिनामुपजायते॥

सायुज्य मुक्ति होने से आत्मदर्शन हो जाता है;* इसलिए जन्मरोध हो जाता है। उसके पहले तीन या निर्दिष्ट संख्यक जन्म मर्त्यलोक में हो सकता है—लेकिन होना ही पड़ेगा, ऐसी कोई बात नहीं। यदि मर्त्यलोक में जन्म होता है, तो मृत्युलोक के बाद अपने-आप उस देवलोक में अपने स्थान में जाता है। यदि मर्त्यलोक में सद्गुरु मिल जाय, तो मनुष्यदेह में ही पूर्ण ब्रह्मज्ञान लाभ कर सकता है, अथवा उतनी न सही, तो अनेक भूमियों से ऊपर उठ सकता है। ऐसी स्थिति में फिर देवलोक में लौटकर नहीं जाता। या तो पूर्ण ब्रह्म-पद प्राप्त करता है या साधनाजन्य भूमि के अनुसार ऊर्ध्वतर लोक में गति होती है। पहले के लोक में नहीं जाना पड़ता। जिस किसी स्थान में हो, किन्तु अधोलोक में नहीं लौटता।

१७.४.३८ :

देवताओं के जरा-मृत्यु नहीं—यह आपेक्षिक है। देवताओं की जन्म-मृत्यु मर्त्यलोक जैसी नहीं। वह आविर्भाव-तिरोभाव-मात्र है। दिव्यदेह क्षण में प्रादुर्भूत होती है—इसीलिए जन्म-दुःख+ देवताओं के नहीं होता। परन्तु, जरा (क्षय) देवभूमि में भी है। लेकिन, अत्यन्त ही धीरे होता है, इसलिए समझ में नहीं आता। स्वर्ग में नाना

* सायुज्यमुक्ति होने से लोकाधिष्ठाता के साथ अभेद स्थापित होता है। वह लोकनाथ आत्मदर्शी हो, तो साथ-ही-साथ साधक को भी आत्मदर्शन होता है। परन्तु, आत्मदर्शन होने पर भी उसकी परामुक्ति नहीं होती। क्योंकि, लोकाधिष्ठाता की विदेहमुक्ति या प्रारब्ध-निवृत्ति नहीं होने तक उस लोकाधिष्ठाता से तादात्म्य-प्राप्त साधक का परब्रह्मप्रवेश सम्भव नहीं होता। लेकिन, वह तादात्म्य अवस्था होने से उसका फिर मर्त्यलोक में जन्म नहीं होता, यह सत्य है। लेकिन एक बात है—वह लोकाधिष्ठाता देवता यदि पूर्ण आत्मदर्शी न हों, तो उस देवता से तादात्म्य होने के बाद उसे भेदकर ऊर्ध्वतर देवलोक में आविर्भाव होता है। अवश्य, दीक्षाप्राप्त ज्ञान के उत्कर्ष के अनुसार।

दो साधकों में एक का देवता से तादात्म्य-लाभ होकर यहीं स्थिति—यहाँ तक कि लय भी हो सकता है। बाद में कभी किसी की कृपादृष्टि पड़ने से नवीन दीक्षा के प्रभाव से फिर उद्धार होगा। यह प्रकृतिलय की न्याय अवस्था है, वही देवता वहाँ प्रकृति है। दूसरा साधक भी यद्यपि उसी देवता का उपासक है, तथापि अपने प्राप्त ज्ञान के उत्कर्ष के अनुसार वह उस देवता का तादात्म्य-लाभ करके वहाँ आबद्ध नहीं रहेगा—भेदकर ऊर्ध्वतर स्तर में चला जायगा।

यही साधक का व्यापार है। परन्तु, वह सब देवता भगवदंश-रूपी हैं—वे चिरबद्ध हैं, उनकी ऊर्ध्व या अधोगति नहीं होती—वह सब पद हैं।

\+ मानुषतिरश्चां जन्मकृतं दुःखं, भवति, न देवानाम्। कथम्?
तडिद्विलसितवत् क्षणमात्रेण शरीरप्रादुर्भावात्। (युक्तिदीपिका, पृ० १६७)

कारण से देहक्षय होता है—ऊर्ध्व शुद्धसत्त्व-लोक में वह नहीं होता। इन्द्र की व्याधि, प्रजापति का वायुजन्य क्षय, दक्ष के शाप से सोम का क्षय प्रसिद्ध हैं। प्रजापति ने नक्षत्रों के राजा सोम को अपनी कन्या का दान किया। किन्तु, सोम रोहिणी में आसक्त हुए। इस अमृत व्यवहार के कारण यक्ष्मा ने उनपर आक्रमण किया। सोम=राजा। इसीलिए, यक्ष्मा=राजयक्ष्मा। इससे सोम शुष्क हुए—बाद में प्रजापति के आदेश से सभी नक्षत्रों में समान आसक्ति होने से मुक्त हुए। लिंग-शरीर के निवृत्त नहीं होने तक दुःख रहेगा ही। इसीलिए, देवलोक में भी बहुत प्रकार के दुःख हैं (युक्तिदीपिका, पृ० १६७)। प्रजापति को अक्षिरोग, इन्द्र को कामोपताप, गौतमकृत परिभव और रम्भा के शाप से पाषाणभाव, नागों को सर्पसत्रजन्य भय, वैश्रवण का दक्ष के शाप से हस्तीभाव (?) जरत्कारु का पितृगण के गर्त्त का अवलम्बन, पिशाचों का मन्त्र-ओषधि मंगल प्रयोगवश उद्‌वासन (युक्तिदीपिका, पृ० १६८)।

सांख्याचार्यगण देवयोनि आठ प्रकार की बताते हैं :

ब्रह्मा = १
प्रजापतय :
इन्द्र i.e त्रिदशगण
पितृगण
गन्धर्वगण
नागगण
रक्षोगण.
पिशाचगण

इसीलिए, देवस्थान भी आठ हैं।

असुरगण इन्द्रस्थान में अन्तर्भुक्त है। क्योंकि, ये पर्यायक्रम से इन्द्रत्व-लाभ करते हैं (धन्वी आदि)। यक्ष=रक्ष के अन्तर्गत; किन्नर और विद्याधर=गन्धर्व के अन्तर्गत; प्रेतगण=पितृ के अन्तर्गत। साध्य, रुद्र आदि को भी वैसा ही समझना होगा। (युक्तिदीपिका, पृ० १६५)

चार प्रकार के स्रोत हैं :

ऊर्ध्व में° (सत्त्वबहुल)	दैवसर्ग (८) ब्रह्मा आदि
अर्वाक्° (रजोबहुल)	मनुष्यसर्ग (१)
तिर्यक्° (तमोबहुल)	तिर्यक्‌सर्ग (४) पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप।
मुख्य° ,,	(१) स्थावर

प्रधान से प्रवृत्त अष्टसिद्धिस्रोत सभी प्राणियों को नहीं प्राप्त होता; क्योंकि प्रतिबन्धक है। देवगण में तुष्टिरूप प्रतिबन्धक है, तिर्यक्-गण में अशक्ति-प्रतिबन्ध, स्थावरों में विपर्यय-प्रतिबन्धक। एकमात्र इस त्रिविध प्रतिबन्ध के नहीं होने से मनुष्य ही तारक आदि

आठ प्रकार की सिद्धि में प्रवृत्त होता है। किन्तु, गुणत्रय के अंगांगी भाव के कारण विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि का प्रतिघात होता है, इसलिए सभी मनुष्य भी सब समय सिद्धि नहीं पाते। विपर्यय आदि जैसे सिद्धि के बाधक हैं, वैसे ही सिद्धि भी इनकी बाधक है।

तुष्टि कुल नो प्रकार की है :

तुष्टि = सन्निहित विषय में सन्तोषवश चिकीर्षित अर्थ से ऊन भाव से ही निवृत्ति।

तुष्टि

आध्यात्मिक (४)
[This is राग-द्वेष-निवृत्ति]

प्रकृति (अम्भ) | उपादान (सलिल) | काल (ओघ) | भाग्य (वृष्टि)

८ प्रकृति upto तन्मात्र | ५ महाभूत

बाह्य (५)
[This is संगदोष-निवृत्ति पंचविषय का उपरम। The five are : संगदोष, रक्षा, क्षयप्रसंग एवं हिंसा-दोष आदि of विषय]

जो सब योगी प्रधान नामक भूमि को जय करके उसके प्रभाव से उसे अशून्य देखकर, उसके अलावा और कोई पदार्थ नहीं है, ऐसा सोच उस भूमि को ही कैवल्ल समझ लेते हैं, वे देह के अन्त होने पर प्रकृति में लीन होते हैं और बाद में पुनरावर्त्तित होते हैं। इस तुष्टि में महदादिकारणी ७ जन अवरुद्ध रहते हैं। प्राधानिक को जैसे पुरुष-विषयक ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार नीचे के ज्ञानी को ऊपर के तत्त्व का ज्ञान नहीं होता। महत्कारणी को प्रधान ज्ञान नहीं होता, अस्मिताकारणी को महत् का ज्ञान नहीं होता। तन्मात्रा-कारणी को अस्मिता या अहंकार का ज्ञान नहीं होता।

प्रधानकारणी	१
महत्कारणी	१
अस्मिताकारणी	१
तन्मात्राकारणी	५
	८

चौथा अध्याय

पितृलोक

(World of Spirits)

१७.४.३८ :

मनुष्य मरते ही इसी स्थान में आता है—यह स्वर्ग या नरक नहीं है। यहाँ से कर्म के अनुसार उसकी ऊपर या नीचे गति होती है।

मनुष्य में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति है। ज्ञान का विकास सत्य से होता है, इसलिए ज्ञान सत्यग्राहक है। मंगल (good) से क्रिया (will) का विकास होता है, इसलिए क्रिया शुभग्राही है। इसीलिए, मनुष्य के ज्ञान और चिन्तन के विषय को सत्य कहते हैं और क्रिया (will) तथा चिन्तन के विषय को मंगल कहते हैं। मनुष्य think कर सकता है, किन्तु उसके thought का मूल will हो सकता है, नहीं भी हो सकता है। जब मनुष्य काम करना चाहता है या करता है, तब उसके thought का मूल will होता है, दूसरे समय नहीं। लेकिन, ज्ञान के बल से वह चिन्ता कर सकता है एवं सत्य और मंगल को समझ सकता है।

Understanding	Will
|	|
Thought	Thought
(जब आदमी काम करना नहीं चाहता—तब thought इस अवस्था में सत्य और मंगल का बोध रहता है।)	(जब मनुष्य काम करना चाहता है और करता है, तब उसका thought इस प्रकार का होता है।)

जब आदमी पहले will करता है, बाद में काम करता है, तब सत्यज्ञान और will —दोनों में, अर्थात् मनुष्य में।

केवल ज्ञान या केवल will से आदमी नहीं—आदमी दोनों से है।

जो केवल ज्ञान है, वह मनुष्य में हो भी, तो उसका आत्मभूत नहीं—वह स्मृति में रहता है एवं मनुष्य समाहित न रहे, तो उस सम्बन्ध में वह चिन्ता कर सकता है। यह उसकी प्रकृति नहीं होती—उससे वह बोलता है, युक्ति करता है—इसका अभिनय चलता है।

मनुष्य का will जन्म से evil से आकृष्ट होता है, इसलिए आदमी आमतौर से अपने सिवाय और किसी का भला नहीं चाहता। फलस्वरूप, दूसरे के दुःख से उसे सुख होता है, यदि उसमें अपनी सुविधा हो। स्वार्थभाव, इस will का संशोधन आवश्यक है। परन्तु सत्यज्ञान हो सकता है और उसके कारण कुवृत्ति का दमन हो सकता है।

मनुष्य इसीलिए सत्य की चिन्ता, वर्णन और अनुसरण कर सकता है। फिर भी, will से वह पहले-पहले सत्यचिन्ता नहीं कर सकता। पर, धीरे-धीरे ऐसा भाव पैदा

होता है, जिससे सत्यमूल में इच्छा और काम कर सकता है—अपने से, अपने हृदय से। इस स्थिति में उसका ज्ञान चिन्ता faith में बदल जाता है। will चिन्ता love में परिणत होती है। फलतः, ज्ञान (understanding) और क्रिया की भाँति faith और love सम्मिलित होते हैं।

ज्ञान का सत्य और will का अच्छा भाव (good affections) मिलने से, अर्थात् आदमी उन सत्यों के अनुसार काम करे या करना चाहे, तो मनुष्य-स्वरूप में स्वर्ग का का विकास होता है। क्योंकि, स्वर्ग—सत्य और मंगल का मिलन है। और ज्ञान की मिथ्या तथा will का evil मिले, तो आदमी नरकस्थ होता है।

जबतक ज्ञान का सत्य और will का सुभाव नहीं मिलता, तबतक मनुष्य बीच की अवस्था में रहता है—पितृलोक में।

स्वर्ग में एकाग्रता है—नरक में भी एकाग्रता। वहाँ किसी का divided mind नहीं। अर्थात्, वहाँ जो रहता है, वह जैसा समझता है, वैसा ही काम करता है—ज्ञान और क्रिया मिले होते हैं। वह जो समझता है, वही करता है; जो करता है, उसे समझता है। understanding और will का विषय अलग नहीं। स्वर्ग में जो मंगल will करता है, वह सत्य think करता है। नरक में जो evil will करता है, वह मिथ्या think करता है, स्वर्ग में जो मंगल will करता है, वह सत्य think करता है।

मध्यावस्था में अच्छे spirit में मिथ्या को हटा लिया जाता है, उसे सत्य दिया जाता है, जिससे मंगल से उसका सामंजस्य हो सके। उसी प्रकार बुरे spirit से सत्य को हटाया जाता है और उसे मिथ्या दी जाती है, जिससे उसके will से समन्वय हो।

आजकल जगत् में मर्त्यलोक से सीधा स्वर्ग प्रायः कोई नहीं जाता। नरक भी नहीं। क्योंकि, मनुष्य की प्रकृति मिश्र है। मनुष्य पहले पितृलोक में रहता है—वहाँ से जिन्हें स्वर्ग में लेना होता है, उनमें सत्य और मंगल की योजना होती है। जो नरक में जायेंगे—उनमें भी मिथ्या और अमंगल की योजना होती है।

आजकल सत्य का कुछ ज्ञान सबको है—इस ज्ञान के होने से बहुतेरे ही सत्य के सम्बन्ध में कुछ चिन्ता करते हैं—परन्तु उसके अनुसरण से कोई कम करता है, कोई ज्यादा, कोई नहीं करता है। कोई इसके विरुद्ध आचरण भी करता है। इसका कारण है will की प्रीति और उससे उत्पन्न मिथ्या विश्वास।

पितृलोक में असंख्य जीव हैं; क्योंकि सभी को वहाँ जाना पड़ता है। वहाँ सबकी परीक्षा होती है, तैयारी होती है। स्थितिकाल नाना प्रकार के हैं। कोई वहाँ पहुँचते ही स्वर्ग में जाता है नरक में जाता है, कोई कुछ ही सप्ताह रहता है, कुछ वर्ष भी। किन्तु, वहाँ तीस साल से अधिक नहीं रहना पड़ता। Swedenborg की नाईं। ऐसा आन्तर और बाह्य मन के सामंजस्य के तारतम्य के कारण होता है।

पाँचवाँ अध्याय

आत्मदर्शन

१७.४.३८ :

पहले जब आत्मदर्शन होता है, वह अपनी स्थूल देह के अनुरूप भाव से ही होता है। स्थूल देह में अभिनिवेश या तादात्म्य-बोध कम नहीं होने से आत्मदर्शन नहीं होता। वह प्राथमिक आत्मदर्शन वास्तव में लिंगरूपी आत्मा का दर्शन है। लिंग = ज्योति-स्वरूप। आत्मा = कारण; लिंग के आविर्भाव का स्थल। कारणरूपी आत्मा की ज्योति को— जो चारों ओर विकीर्ण होती है—लिंग कहते हैं। देह में रहते हुए भी यह ज्योति कभी-कभी देखी जा सकती है। देह विस्मृत होने से इस ज्योति में प्रवेश होता है, उस समय देह की स्मृति नहीं रहते हुए भी दैहिक संस्कार प्रबल रहता है, बहुत दिनों के बाद आत्मा का अपना रूप देखने को मिलता है। सन्देह नहीं कि द्रष्टा उस समय भी लिंगज्योति में होता है, लेकिन अन्तर्मुख। बहिर्मुख रहने तक स्थूल का प्रतिबिम्ब लिंग में प्रकाशित होता है।

यह लिंगज्योति ही इस स्थूल देह के ज्ञान और क्रिया के सारे व्यापार का सम्पादन करती है। इस ज्योति का आभास देह में न हो या रहते हुए भी निष्क्रिय हो, तो यह देह शव या शववत् होती है। वह ज्योति कारण से आती है— वही आत्मा है। अवश्य यह पूर्ण या परम आत्मा नहीं, यह महाकारण है। स्थूल देह की इन्द्रिय आदि, प्राण आदि, मन आदि—सब वही ज्योति हैं। इसीलिए कारण-वर्ग की एकाग्रता से उस ज्योति का पुनरुद्धार होता है।

साधारणतया आत्मा या कारणतत्त्व का जो रूपदर्शन है, वह वास्तव में आत्मा की सालोक्य-अवस्था में होता है— आत्मज्योति में रहकर होता है। देह में रहकर आत्मा का रूप नहीं देखा जाता— केवल ज्योति होती है। आँख मूँदने पर सारा कुछ आलोकोज्ज्वल होता है, अन्धकार सदा के लिए हट जाता है। वह आलोक ज्ञान का ही होता है, वह आलोक आत्म-ज्योति है – वह आत्मा का लिंग है। उसमें सारा जगत् विलीन है। उसमें सब दिखाई देता है। इच्छानुरूप विश्वरूप का दर्शन होता है। यही कार्यब्रह्म है। आदि जीव, जन्य ईश्वर। उस ज्योति में जाकर रूपदर्शन होता है। वही वैश्वानर है। ब्रह्मलोक से अधोलोक तक, सब उसमें उसी रूप में भासमान हैं। वही आत्मा का रूप है।

१४.४.३८

इसके बाद उस रूप में और कुछ नहीं दिखता—सिर्फ वही। यही पराशक्ति की अवस्था, अर्थात् शिव और शक्ति है।

इसके बाद दोनों का मिलन होता है, तब वह नहीं दिखाई पड़ता। उस समय सब कुछ 'मैं' है, यह बोध आता है। सब आत्मा है, इसलिए अपरोक्ष बोध उदित होता है। अभी जो शिव और शक्ति की अवस्था के बारे में कहा, वह समान-समान है, वह साम्य है। उस अवस्था में पूर्ण कृपा का उदय होता है, जिसके फलस्वरूप एकत्व-लाभ या पूर्णता की प्राप्ति होती है।

देवता की उपासना से भी इसी भाव से जाता है। कारणात्मा जो कहा गया; वही देवता है और जो लिंगज्योति कहा, वही देवलोक है। सुतरां, देवलोक में जाना और स्थूल देह का परिष्कार करके लिंग में रहना, कार्यतः एक ही है। किन्तु, ठीक एक भी नहीं। क्योंकि आत्मलिंग का विस्तार अनन्त है—उसी का एक देश देवलिंग है। उसी प्रकार आत्मस्वरूप या कारण-रूपी आत्मा का एक-एक भाव एक-एक देवता है। इसीलिए, किसी देवता के साथ सायुज्य होने से भी आत्मा का केवल एक भावविशेष ही अधिगत होता है। पृथक् रूप से देखने पर आत्मा के अनन्त भाव हैं। फलस्वरूप, महाभाव का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है, इसलिए कि उसके विना भाव से भावातीत में जाने का उपाय नहीं है। उसी भाव में रहना होता है। इस महाभाव में जाने का क्रम है। उसी के अनुसार क्रमोन्नति होती है। गोलोक में महाभाव मिलता है। उसके बाद भावातीत।

देवता से सायुज्य होने से जहाँतक देवता का अधिकार है—जहाँतक उसकी लिंग-ज्योति या लोक है—उतनी दूर तक सब कुछ 'मैं' है, ऐसा बोध होता है। यह भी अपरोक्ष दर्शन है, लेकिन परिच्छिन्न। इसका फल जो आत्मस्थिति है, वह भी परिमित है। यह शरीर अभी जैसे 'मैं' जैसा बोध होता है, उस समय उससे भी अधिक स्पष्ट भाव से समग्र देवलोक 'मैं' जैसा लगता है। उस समय उस लोक में द्वैतबोध नहीं रहता। अभी जैसे पृथक् दर्शन करते हैं, उस समय वैसा नहीं होता। अभिन्न रूप में दर्शन होता है। अभेद-दर्शन ही आत्मदर्शन है।

इसके बाद महाभाव की अवस्था में कोई विशिष्ट लोक नहीं, समग्र विश्व ही 'मैं' जैसा लगता है। उस समय विश्व ही 'मैं' हो जाता है—'मैं' ही विश्वरूप में प्रतिभासमान होता है। यह भी अद्वैतदर्शन है।

यही कार्यब्रह्म-रूपी आत्मा का दर्शन है। फल—उसमें स्थिति। यही आत्मा का विराट् रूप है।

[ठीक-ठीक प्रकाश नहीं हो रहा है]

१८.४.३८ :

विकास का एक क्रम है। नीचे जो क्रम दे रहे हैं, वह पहले आभास-जगत् में, फिर ब्रह्मपथ में है। पहले बाह्य जगत् में, फिर आन्तर जगत् में।

* असत्

(क) असत् सत्

(i) असत्-सत्

(ii) असत्-सत्

(iii) असत्-सत्

(ख) सत्

(ग) सच्चित्

(i) सत्-चित्

(ii) सत्-चित्

(iii) सत्-चित्

(घ) चित् (सत् involved)

(ङ) चिदानन्द

(i) चित्-आनन्द

(ii) चित्-आनन्द

(iii) चित्-आनन्द

(च) आनन्द (सत्-चित् involved)

* पूर्ण

बहिर्जगत् में पहले देखते हैं :

असत् = शून्य, तमः महाप्रलय ।

(क) असत्-सत् की तीन अवस्थाएँ हैं । यह तम से सत्त्व में जाने का मध्यस्थ क्रम है । वास्तव में, रजोभूमि, जड जगत् का विकास है ।

(ख) सत्—यहाँ सत्त्व प्रस्फुटित हुआ है—पूर्णावयव । असत् या तम, और अंश सत् या रज इसके साथ है । यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति है ।

(ग) सत्-चित्—तीन है । जीवभाव का विकास आरम्भ हुआ है । यही चौरासी लाख योनि है ।

(घ) चित्—यहाँ विज्ञान-कोष का स्फुरण हुआ है, इसलिए आनन्द-धारण की योग्यता आई है । यही मनुष्य है । इसकी पूर्णता विज्ञान की पूर्णता है और वह भी पुरुषभाव से या कैवल्य से ।

(ङ) चित्-आनन्द—तीन अवस्थाएँ । यहाँ से दिव्यभाव का आरम्भ—क्रमशः अधिक । जितना ही ऊपर, उतना ही आनन्द ।

(च) आनन्द—यही स्वर्गलोक है, पुनरावर्त्ती लोक । यह है आभास की धारा । सद्गुरु की दीक्षा प्राप्त होने से उस धारा में गति नहीं होती । उस समय यह समग्र धारा, जो मिथ्या की धारा है, वही असत्य रूप में ग्राह्य होता है ।

१८.४.३८ :

पूर्वोक्त द्वादश भूमि :

१. असत्-सत्—शुद्धसत्त्व-उन्मेष प्राप्त हुआ है। कृपा का प्रथम स्फुरण। गुरु की कृपा से बल, आन्तर प्रयत्न से बल, अन्तःस्थ सुप्त सत्त्व के जागरण से ही बल—एक ही बात है। कुण्डलिनी-जागरण का क्षणिक आभास। इस अवस्था में यद्यपि नित्य वस्तु का आभास आया है, फिर भी बाह्य जगत् और पूर्वसंस्कार प्रबल रहता है।

२. असत्-सत्—यहाँ सत्त्व का प्रकाश और भी अधिक है—उस अनुपात में असत्य या मिथ्याजगत् म्लान। दोनों का बल बराबर।

वैराग्य आता है, स्थायी नहीं होता। भाव उत्पन्न होता है, रहता नहीं। कभी उत्तम, कभी असार।

३. असत्-सत—इस अवस्था में तीव्र वैराग्य होता है, मिथ्याजगत् का प्रभाव मन्द हो जाता है और भाव प्रबल होता है। मिथ्या तब भी कुछ-कुछ रहती है। लेकिन, बल का ह्रास हो जाता है।

४. सत्—यही मिथ्यावर्जित शुद्धसत्त्व है। यही आत्मशक्ति कुण्डलिनी की जाग्रत् दशा है। यहाँ प्रपंच (चित्-शक्ति) शून्य हो गया है। मिथ्या प्रपंच इस शक्ति के गर्भ में घुस गया है, इसीलिए तो शक्ति जागी है। हृदय श्मशान हो गया है। भाव, वैराग्य प्रतिष्ठित हुआ है।

५. सत्-चित्—यहाँ से आत्मा का जागरण आरम्भ होता है। शक्ति का जागरण पूर्ण हुए विना आत्मा का स्पष्ट जागरण नहीं होता, यद्यपि जाग्रत् शक्ति ही आत्मा को दिखाती है, तथापि आत्मा को दिखाकर स्वयं आत्मा में ही अन्तर्हित होती है। दोनों एक साथ बाहर नहीं रहतीं। इस भूमि में शक्ति प्रबल होती है, आत्मा दुर्बल। फिर भी, आत्मा सुप्त नहीं होती—जाग्रत् होती है। क्रम से आत्मा का जागरण बढ़ता रहता है। शक्ति जगकर आत्मा में थोड़ा-थोड़ा घुसती रहती है। जिस परिमाण में जाग्रत् शक्ति आत्मा में प्रवेश करती है, उसी परिमाण में आत्मा जगती है या शिवत्व-लाभ करती है। यहाँ शिव शक्ति के अधीन होते हैं।

६. सत्-चित्—यहाँ शक्ति आधी लीन होती है, इसलिए आत्मा अर्द्धजाग्रत् होती है। शिव और शक्ति (अर्द्धनारीश्वर) समान-समान। अर्थात्, शक्ति के आधे अंश ने लीन होकर आधे अंश में आत्मा को शिव किया है। दूसरे आधे में शक्ति-रूप में बाहर है।

७. सत्-चित्—यहाँ शक्ति का अधिकांश ही आत्मा में लीन है। शिवरूपी आत्मा यहाँ प्रधान है—शक्ति अप्रधान। शक्ति शिव के अधीन है। शक्ति शिव को जगाकर उनके अधीन हुई जा रही हैं। चरम में उन्हीं में पूर्णरूप से आत्मसमर्पण करती हैं।

८. चित्—यहाँ आत्मा का पूर्ण जागरण। [शिवत्व] यही पूर्ण शिवत्व है। यहाँ शक्ति पूर्णतया आत्मा में प्रविष्ट हो गई हैं।

९. चित्-आनन्द—शक्ति जैसे जगकर शिवभाव में अनुप्रविष्ट हुई हैं, फलस्वरूप शिवभाव प्रतिष्ठित हुआ है, वैसे ही शिवभाव भी जबतक आनन्दभाव में प्रवेश नहीं करेगा, तबतक शिवत्व रहेगा ही।

इस आनन्द का संचार और विकास ही कामबीज का खेल है। भगवान् की कृपा से जब यह होता है, तब शक्ति की भाँति शिवभाव थोड़ा-थोड़ा गुप्त होता रहता है। जितना शिवभाव गुप्त होता है, उतने ही परिमाण में उसका गुप्त शक्ति के साथ गोपन मिलन होता है। इस मिलन के फलस्वरूप शिव और शक्ति दो नहीं रहते, अद्वय भाव प्राप्त करते हैं। यह क्रम-मिलन ही मिलन-मिश्रण है।

यहाँ एक अद्भुत रहस्य का साक्षात्कार होता है। शक्ति के पूर्ण आत्मसमर्पण से शिवभाव पूर्ण हुआ है। इसके फल से बाह्यतः शक्ति रिक्त होते हुए भी अन्तर में वह आनन्दरूप धारण करती है। शिवभाव क्रमशः इस आनन्द को अद्वय रूप में आत्मविसर्जन के द्वारा निखार देता है। अर्थात्, शिव रिक्त होकर रिक्त शक्ति से मिलकर एक होते हैं—यह क्रमशः बढ़ता रहता है, यही आनन्द का विकास है। यहाँ चित् प्रबल होता है, आनन्द कम।

१०. क्रमशः वह मिलन समान-समान में होता है। चित् = आनन्द।

११. चरम में आनन्द ही प्रबल होता है, चिद्भाव कम हो जाता है।

१२. उसके बाद पूर्ण आनन्द। चिद्भाव (ब्रह्म) बिलकुल नहीं। यहाँ शिवत्व का विसर्जन हो गया है।

पूर्णत्व—पूर्णत्व और पूर्णानन्द में इस पीठ और उस पीठ का भेद है।

क्योंकि, आनन्द पूर्ण होने से वह आस्वाद्य (पूर्ण) नहीं होता है। वही पूर्णत्व है। वह सच्चिदानन्द और सर्वातीत है।

कामतत्त्व और प्रेमतत्त्व

अप्रैल, ३८ :

सृष्टि के मूल में एक वस्तु—अद्वय। उसमें काम उत्पन्न हुआ। वह दो हुए—एक पुरुष, एक प्रकृति। पुरुष में भी प्रकृति है और प्रकृति में भी पुरुष है। इस काम के प्रभाव से पुरुष दो हुए—पुरुष और प्रकृति। प्रकृति भी दो हुई—पुरुष (पु) और प्रकृति (प्र)। और फिर, प्रथम पुरुष और प्रथम प्रकृति मिलकर एक हुए—ये हुए सन्तान या जीव।

परम पुरुष और परमा प्रकृति से दो प्रकार से सृष्टि का विस्तार होने लगा। पहले पुरुष से पूर्ववत् पुरुष और प्रकृति का विकास हुआ। प्रति पुरुष से भी यही होता है। प्रत्येक स्तर में ऐसा होता है।

द्वितीयतः, पुरुष और प्रकृति के मैथुन से जीव पैदा होता है। चित्र में इसे सन्तान (स=*) कहा गया है। इस जीव में पुरुष का अंश प्रधान रह सकता है, प्रकृति का अंश भी रह सकता है।

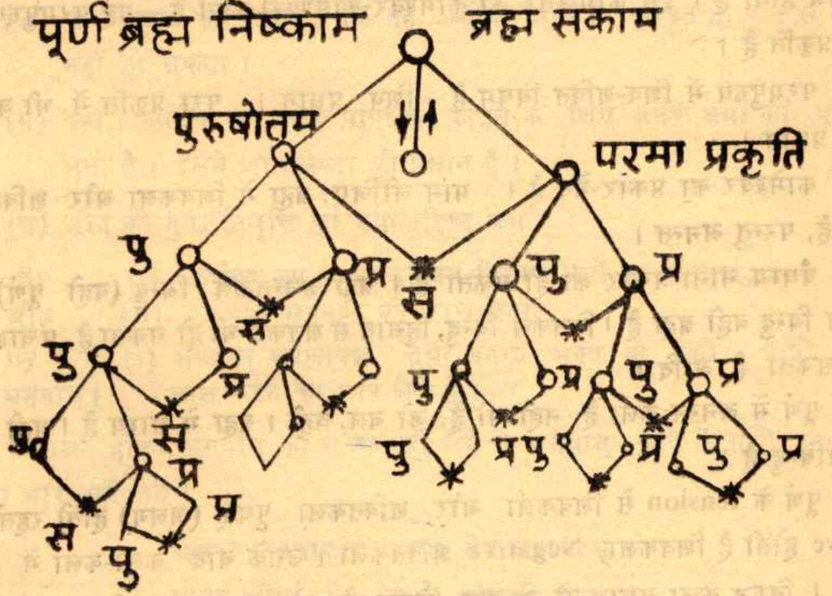

पुरुष और प्रकृति की सृष्टि ब्रह्मनिष्ठ काम से होती है। उसी मूल काम के वेग से इस सृष्टि का क्रमिक विस्तार होता है। यह अद्वैत काम है, जो एक को दो करता है। जीव की सृष्टि ब्रह्मनिष्ठ काम से नहीं होती। यह पुरुष-प्रकृति के काम से होती है। यह द्वैत काम है, जो दो में रहता है और दो को एक करता है।

ये दोनों ही काम बहिर्मुख हैं। अन्तर्मुख के बारे में बाद में कहेंगे। अतएव, पुरुषोत्तम में दो काम हैं (बहिर्मुख)—एक ब्रह्मनिष्ठ काम का प्रतिबिम्ब और दूसरा पुरुष का स्वकीय काम, जो द्वैत काम है और जो प्रकृति के मिलन की आकांक्षा करता है। परमा प्रकृति में भी यही है। नीचे के पुरुष और प्रकृति—सर्वत्र यही। केवल प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब इत्यादि भेद है।

ब्रह्म से सृष्टि दो रूप से होती है : (क) स्वभाववश और (ख) कामवश।

(क) स्वभावजात सृष्टि शुद्ध है। वह स्वभाव से ही निर्गत होती है, स्वभाव में ही लौट जाती है—स्थिति भी स्वभाव में ही। वह एक साथ सृष्टि-स्थिति-संहार नित्यलीला। वही इच्छा की उत्पत्ति, वही बीज का आविर्भाव-बीजनित्य उसकी अभिव्यक्ति है। यही स्वभाव सृष्टि है, कारण-जगत् का आविर्भाव।

ब्रह्म = शिव और शक्ति सम।

यही बहु, एक, उभय तदतीत—नाना प्रकार।

सर्वत्र ही शिव-शक्ति समान। साकार में नाना, निराकार में एक। साकार से निराकार या निराकार से साकार। क्रम है, नहीं भी है। इससे काम उत्पन्न होता है, स्वातन्त्र्यवशतः, यही शुद्ध सृष्टि है। क्योंकि, काम से काम उत्पन्न नहीं होता, स्वभाव से उत्पन्न होता है। इस काम-स्तर को कामेश्वर-कामेश्वरी कहते हैं – यह परमपुरुष और परमा प्रकृति है।

परमपुरुष में शिव-शक्ति विषम हैं—शिव प्रधान। परा प्रकृति में भी वही—शक्ति प्रधान।

कामेश्वर का प्रकार-भेद है। मान लीजिए, ब्रह्म में शिवकला और शक्तिकला समान हैं, परन्तु अनन्त।

वैषम्य नाना प्रकार का हो सकता है। ब्रह्म अनन्तकल बिन्दु (वही पूर्ण) और मितकल बिन्दु वही ब्रह्म है। मितकल बिन्दु, हिसाब से शतकल भी हो सकता है, पंचाशत्कल भी हो सकता है आदि।

पूर्ण में अनन्त कला है, नहीं भी है, जो बल, वही। ब्रह्म में साम्य है। यही साम्य ही मध्यबिन्दु है।

पूर्ण के tension से शिवकला और शक्तिकला पृथक् (अलग) होती रहती हैं। Positive होती है शिवकला, Negative शक्तिकला। उसके बाद कला-कला में घर्षण होता है। विरुद्ध कला समान हो तो ब्रह्म, विषम हो तो पुरुष या प्रकृति। पूर्ण में यह संघर्षण निरन्तर चलता है। यह संघर्ष दो रूप का है—एक से दो होता है, और दो से एक होता है। शिवकला शक्तिकला होती है, अर्थात् एक ही neutral कला tension से शिव या शक्तिकला होती है। उसके बाद शिव-शिव में मिलन होता है शिव-शक्ति में भी प्रति स्तर में मिलन होता है।

७.५.३८ :

कमल = चक्र। कर्णिका केन्द्र, दल है radiation, विकीरण केन्द्र या बिन्दु से हल्के रूप में विकीरण होता है। बाह्य सीमा = परिधि। बिन्दु में प्रवेश करने पर देखा जाता है, वह भी एक चक्र है। उस समय प्रथम चक्र दृश्य नहीं होता। उस चक्र का भी एक बिन्दु है। उस बिन्दु में जाने से बाहरी चक्र अव्यक्त होता है। वैसे में उस बिन्दु को भी चक्र रूप में देखा जा सकता है।

यथार्थ बिन्दु = ब्रह्म। ब्रह्म का अणु देखने से फिर वह सर्वत्र दिखाई पड़ता है—अवश्य बाहर आकर। वह अखण्ड ब्रह्म है।

१३.५.३८ : हिन्दुस्तान रोड, कलकत्ता :

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता, १८।६६)

इसमें बहुत-सी चीजें मिलती हैं ।

(क) जीव बहुत दुःखी हैं—भगवान् यह समझते हैं और चाहते हैं कि जीव को दुःख न रहे ।

(ख) उसके दुःख का कारण है कि वह अनेक पापों से जड़ित है, पाप से मुक्त नहीं हो सकता ।

(ग) क्यों ? क्योंकि वह अनेक पापों को कटाने के लिए अनेक धर्मों का आश्रय लेता है । इसमें आत्मचेष्टा ही प्रधान है ।

(घ) जीव की दुःख-निवृत्ति का भगवदुद्दिष्ट क्रम :

By जीव { (i) कर्त्तव्य रूप में अवलम्बित विभिन्न धर्मों का परिहार;
(ii) एकमात्र भगवान् की शरण लेना;

By भगवान् { (i) भगवान् शरणापन्न तथा अनन्य भक्त के सभी पापों को नाश करने का भार लेते हैं ।

निराश्रय होकर भगवान् की शरण नहीं लेने से भगवान् जीव के सभी पापों के नाश का भार नहीं लेते ।

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

यहाँ तीन तत्त्व दिखाये गये हैं :

१. चराचर जगत्–जगत् स्थिर और चल की समष्टि है । देखने में यह अखण्ड मण्डल की भाँति आकारविशिष्ट है ।

२. आत्मा—यह उपर्युक्त जगत् का व्यापक है । सुतरां चर में आत्मा है, अचर में आत्मा है और व्यापक होने के नाते उसके बाहर भी एक ही आत्मा रहती है । इसलिए, आत्मा सर्वात्मक और सर्वातीत है—यह बात पाई गई है ।

जो व्याप्त है वह शुद्ध आत्मा । वही जगत्-रूप में व्याप्त है—शबल आत्मा । शुद्ध आत्मा का पद ही तत्पद है ।

३. गुरु—जो वह शुद्ध आत्मपद-प्रदर्शन करते हैं, वही गुरु हैं ।

श्रीगुरु—शक्तिसहित गुरु । शक्ति नहीं होने से वह प्रदर्शन नहीं कर सकते । इससे यह समझ में आता है कि गुरु के दिखाये विना वह नहीं देखा जा सकता ।

२०.५.३८ : कलकत्ता :

साधारण आदमी स्थूल देहाविष्ट होता है । उसकी दृष्टि भौतिक आकाश में निविष्ट होती है । वह भौतिक रूप इन्द्रिय द्वारा देखता है, आँखों को बन्द करने से उसका अन्धकार-दर्शन होता है ।

स्थूलदेहाभिमान-विहीन होने से उसकी दृष्टि बौद्ध आकाश में, चित्ताकाश में निविष्ट होती है। वह बौद्ध-रूप या प्रतिविम्ब-रूप देख पाता है। उस समय उसकी बुद्धि में अहं-प्रतीति होती है। आँखें बन्द करने से आलोक-दर्शन होता है। दीखता है बुद्धि के द्वारा।

बुद्धिरूपी इस परदे के हट जाने से उसकी दृष्टि चित्ताकाश में निविष्ट होती है। वह स्वरूप-दर्शन करता है। उस समय उसकी अहं-प्रतीति आत्मा में रहती है। देखता भी आत्मा को है। और देखता है चित् शक्ति के द्वारा।

ये तीन अवस्थाएँ :

प्रथम अवस्था में आत्मदर्शन—स्थूल देह का दर्शन।
द्वितीय ,, ,, —बुद्धि या बौद्धदेह का दर्शन।
तृतीय ,, ,, —बुद्धि के अतीत आत्मा का दर्शन।
प्रथम अवस्था का ज्ञान=लौकिक इन्द्रियज्ञान।
द्वितीय ,, ,, =ध्यनज प्रज्ञा। यह दिव्यचक्षु है।
तृतीय ,, ,, =चैतन्य-शक्ति, यह ज्ञानचक्षु है।

द्वितीय अवस्था में ध्यान में दर्शन होता है—प्रतिबिम्ब-दर्शन। अपने को भी वही देखा जाता है, पराये को भी वही। यह दर्शन चित्ताकाश में होता है। तृतीय अवस्था में ध्यान-समाधि कट जाती है। बिम्बदर्शन होता है। अपना और औरों का—सबका। यह दर्शन चिदाकाश में होता है।

बुद्धि के अतीत आत्मा = कारण।

स्थूल, भूत=कार्य। सूक्ष्म, बुद्धि=लिंग, आत्मा=कारण। इन तीनों को एक करना होगा। दृष्टान्त :

राम

इसकी स्थूल या भौतिक देह यदि जाग्रत् हो।	स्थूल जगने से समग्र स्थूलजगत् दृश्य होता है।
इसकी यदि बुद्धि जाग्रत् हो।	वैसे ही बुद्धि जगने से विश्वबुद्धि दृश्य होती है—इच्छा से चुन लेना होता है।
इसकी यदि आत्मा जाग्रत् हो।	वैसे ही आत्मा के जगने से विश्वात्मा दृश्य होती है—इच्छा से चुनना होता है।

इच्छा समर्पित करने से अपनी इच्छा नहीं रहती। पूर्ण की इच्छा से दर्शन होता है अथवा तत्तत् स्तर की इच्छा से भी दर्शन होता है।

तीनों के जगने से तीनों एक बोध-रूप में जग उठता है। किसी एक के नहीं जगने से तीनों परस्पर अलग रहता है। कोई किसी की खबर नहीं रखता।

लेकिन एक बात है—कारण का अनुसरण करती है बुद्धि, यद्यपि उस अनुकरण में कुछ वैरूप्य रहता है। बुद्धि का अनुसरण करता है स्थूल—उसमें भी कुछ वैषम्य रह जाता है।

जैसे, 'क' की आत्मा 'ख' की आत्मा की बात कहती है, साथ में व्यवहार करती है, किन्तु 'क' या 'ख' कोई यह नहीं जानता। इसका कारण है, दोनों की आत्मा अ-जाग्रत् है। अर्थात्, आत्मबोध कारणमात्र-निबद्ध है—बुद्धि या स्थूल में अवतीर्ण नहीं।

ऐसा भी हो सकता है, 'क' की बुद्धि या लिंगशरीर 'ख' की बुद्धि से बात करता है। लेकिन, दोनों को पता नहीं होता, इसलिए कि दोनों की बुद्धि शुद्ध बुद्धिक्षेत्र में निबद्ध है, स्थूल में अवतीर्ण नहीं।

तीनों के जगने से तीन आकाश में युगपत् स्थिति होती है। चढ़ना, उतरना नहीं रहता। त्याग-ग्रहण नहीं रहता। इसी को 'सिद्धावस्था' कहते हैं। मान लीजिए, 'क' वही है। अर्थात्, इसका तीन अहम् एक अहम् हुआ है।

'ख' का लिंगगत व्यापार दो प्रकार का नहीं हो सकता। उसका conscious चिन्ता में, उसकी लिंगदेह या duplicate संचरण करता है चित्ताकाश में। और, unconscious चिन्ता या अन्य किसी कारण से भी यह हो सकता है।

'ख' का आत्मगत व्यापार दो प्रकार का होगा। उसकी आत्मा उसकी अज्ञात स्थिति में संचरण करती है। साधारणतया ज्ञात स्थिति में या इच्छा के प्रभाव से नहीं करती। लेकिन, यदि 'ख' का deeper भाव या आवेग-आकुलता काम करे, तो भी उसकी आत्मा संचरण करती है। साधारण चिन्ता के फल से यह नहीं होता।

१४.१२.३७ :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (गीता, ४।७)

धर्म की ग्लानि एवं अधर्म का अयुभ्त्थान—यह दोनों एक साथ ही होता है। कभी-कभी वह अवस्था होती है, यह निस्सन्देह है। यदि ऐसा नहीं होता, तो यह श्लोक निरर्थक होता। परन्तु, यह अवस्था होने से ही भगवान् 'आत्मसर्जन' करते हैं—करके धर्म की ग्लानि को निवृत्त करते हैं, अधर्म के उत्थान को भी निवृत्त करते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि भगवान् धर्म के रक्षक हैं। वास्तव में, वह क्या चाहते हैं? (क) धर्म ही रहे, अधर्म न रहे? (ख) धर्म और अधर्म दोनों ही रहें, पर धर्म प्रबल रहे—अधर्म दुर्बल रहे? (ग) धर्म और अधर्म दोनों ही समान प्रतिष्ठित रहें—गुणप्रधान भाव किसी प्रकार न रहे?

वह चाहे जो भी चाहें, वह स्थायी नहीं होता। यदि होता, तो यह श्लोक कहना नहीं पड़ता, तो फिर उन्हें प्रकट नहीं होना पड़ता। अतएव, यह समझना होगा कि एक

प्रतिकूल शक्ति संसार में काम करती है। वह भगवान्-विरोधी है। वह कभी-कभी प्रबल भी होती है। जब प्रबल होती है—जिससे धर्म की ग्लानि और अधर्म का उत्थान होता है—तब भगवान् की आत्मसृष्टि आवश्यक होती है।

सुतरां, यह अभिप्राय निकलता है—जीव और जगत् के कल्याण के लिए धर्म भगवान् का प्रिय और अधर्म अप्रिय होते हुए भी बीच-बीच में अधर्म प्रबल हो उठता है, धर्म अभिभूत होता है। भगवान् के अस्तित्व के बावजूद यह होता है। नहीं तो भगवान् को passive रूप छोड़कर इस बात में active नहीं होना होता।

इस हिसाब से, मूल में एक eternal dualism का आभास मिलता है। एक ओर धर्म, दूसरी ओर अधर्म। यह दो सदा संसार में हैं, सदा रहेंगे। ये दोनों ही शक्तियाँ जीव को आश्रय करके काम कर रही हैं। कभी धर्म प्रबल होता है, कभी अधर्म, और कभी दोनों समान। पहली दो अवस्थाएँ द्वन्द्व की हैं, तीसरी द्वन्द्वातीत की। द्वन्द्व की अवस्था वैषम्य की है। संसार वैषम्यमय है। यह वैषम्य रहेगा। किन्तु, शुद्ध जगत् में धर्म की प्रबलता स्वभाव-सिद्ध है। उसी प्रकार मलिन जगत् में अधर्म की प्रबलता। जगत् के बाहर साम्य। शुद्ध जगत् में धर्म की ग्लानि नहीं रहने के कारण भगवान् की आत्मसृष्टि आवश्यक नहीं होती। अधर्म अवश्य वहाँ भी है—इतना-भर नहीं रहने से धर्म का माधुर्य समझ में नहीं आता। उतना-भर नहीं रहने से वास्तव में धर्म भी नहीं रह सकता।

अतएव, भगवान् की आत्मसृष्टि अशुद्ध जगत् के लिए है। यह बिलकुल सत्य है। लेकिन, भगवान् करते क्या हैं? अशुद्ध जगत् में आकर साधु का परित्राण, दुष्कृतों का विनाश और धर्म की स्थापना करते हैं। धर्म की स्थिति भंग हुई थी, तभी साधु विपन्न हुए थे, दुष्कृत प्रबल हुए थे। धर्म या law यदि ठीक से काम करता होता, तो साधु विपन्न नहीं होते, दुष्कृत सम्पन्न नहीं होते। इस law को adjust करना ही धर्म की स्थापना है—इसी के लिए भगवान् की आत्मसृष्टि होती है।

इसलिए, law या धर्म inviolable नहीं। भंग होता है। अवश्य, उसका दण्ड भी है। लेकिन, violation हो सकता है। इस स्थिति में जीव का स्वातन्त्र्य मानना पड़ता है, free action मानना पड़ता है, free will मानना पड़ता है। नहीं तो दण्ड-विधान का कोई मतलब नहीं रहता।

जीव अधर्म कर सकता है—बाद में दण्ड मिले, वह अलग बात है। जिस धर्म के रक्षक भगवान् हैं, उसकी भी स्थिति-मर्यादा का भंग हो सकता है, तभी तो धर्मस्थापन की आवश्यकता बोधगम्य होती है। बाद में धर्म की जय अवश्य होती है। पर, अस्थायी भाव से अधर्म की प्रधानता सम्भव है।

प्रश्न यह है—अस्थायी भाव से अधर्म की प्रबलता हो क्यों सकती है? पल-भर के लिए भी धर्म की ग्लानि को भगवान् सहते क्यों हैं? यदि वह क्षण-भर को सह

सकते हैं, तो दीर्घकाल तक नहीं क्यों सहेंगे ? और, चिरकाल ही क्यों नहीं सहेंगे ? इसकी मीमांसा है :

पूर्ण—महाशक्ति

भगवान्——इच्छा–इसके विषय को मंगल, सत्यज्ञान कहा जाता है।

जीव—इच्छा। यह इच्छा भगवदिच्छा के अनुकूल हो सकती है, प्रतिकूल भी हो सकती है।

स्वातन्त्र्य है। तभी तो लीला सम्भव है। अनुकूल होने से वह जीव = दैवी प्रकृतियुक्त। प्रतिकूल होने से वह जीव = आसुरी प्रकृतियुक्त।

अतएव, इस दैवी और आसुरी शक्ति का संघर्ष सदा ही चलता है। दैवी प्रकृति के पीछे चूँकि भगवदिच्छा है, इसलिए चरम में इसी की जीत होती है। परन्तु, सामयिक तौर पर आसुरी प्रकृति की प्रबलता हो सकती है।

भगवत्-शक्ति अनन्त है; जीवशक्ति सान्त। लेकिन, भगवान् से युक्त रहने से वह भी अनन्त होती है। आसुरी प्रकृति युक्त नहीं होती, इसलिए वह सान्त ही रहती है। तपस्या, साधना करने से शक्ति बेहिसाब बढ़ सकती है। किन्तु, स्रोत प्रतिकूल होने से ऐशी शक्ति के स्रोत से लड़ना पड़ता है और सान्त होने के कारण किसी समय वह अवसन्न होने को बाध्य है।

किस समय अवसन्न होता है ? जब और नहीं चल सकता। पूर्णिमा में कला की पूर्णता हो जाने पर वह क्रम से क्षय होती है। अमावास्या की कला शून्य होने से क्रम से बढ़ती है। उसी प्रकार धर्म की ग्लानि, अर्थात् lowest level. अधर्म का उत्थान, मतलब highest level. इसके बाद course बदलता है, अथात् धर्म बढ़ता है, अधर्म घटता है। जिस moment से यह होता है, वही भगवान् का अवतरण है। यह भी प्राकृतिक नियम है। Divine intervention नहीं।

काल, देश और समाज के limit के अनुसार इसका भेद होता है। व्यक्तिगत रूप से भी यह हो सकता है।

'आत्मानं सृजामि'——इसका कर्त्ता मैं (आत्मा), कर्म भी आत्मा (मैं)। यह कर्म 'मैं' कर्त्ता 'मैं' का प्रतिबिम्ब या projection मात्र है।

'सम्भवाम्यात्ममायया'——इस स्थल में सम्भूति जो है, पहले की आत्मसृष्टि भी वही है। सम्भूति के कर्त्ता की स्थिति नहीं, सर्जन के कर्त्ता की स्थिति है। स्थिति है, इसीलिए वह स्थित रहते हुए भी projection निक्षेप करते हैं। वह स्थित है, वह सृष्ट नहीं होते, वह सम्भूत नहीं होते। सम्भूति objective आत्मा की है——स्थिति subjective आत्मा की। क्रम इस प्रकार है :

आत्मा
Split
Subjective आत्मा = स्रष्टा

Objective आत्मा
= सृष्ट या projected.
स्रष्ट हो रहा है, इसमें ऐसा बोध होता है। यही सम्भूति-व्यापार है।

इसमें स्थिति का बोध रहता है,
सृष्टि करने का बोध रहता है,
सृष्टि होने का बोध नहीं रहता।
यहाँ सम्भूति नहीं।

सम्भूति दो प्रकार की है :

१. स्वप्रकृति का अधिष्ठान, २. आत्ममाया-सम्भव। इससे यह मिलता है :

प्रथम अवस्था : स्वप्रकृति है, ईश्वर
आत्मा o स्वप्रकृति
पर प्रकृति है, o आत्ममाया
उसमें आत्मा का अधिष्ठान नहीं।

द्वितीय अवस्था : हैं दोनों प्रकृतियाँ, लेकिन अधिष्ठान स्वप्रकृति में है। अधिष्ठान होते हुए भी सम्भूति नहीं है। क्योंकि, आत्ममाया की क्रिया नहीं है।

इस स्थान में आत्ममाया की क्रिया नहीं है।

तृतीय अवस्था : आत्ममाया की क्रिया होती है, फलस्वरूप स्वप्रकृति-अधिष्ठित आत्मा सम्भूत होती है।

यह आत्ममाया के क्रियाधीन है। स्वप्रकृति-अधिष्ठित आत्मा। इसी का सम्भूतित्रय। यह अनात्ममाया है—गुणमयी माया नहीं। भगवान् की सम्भूति में गुणमयी माया की क्रिया नहीं होती।

जो जन्म-व्ययहीन और भूतगण के ईश्वर हैं, उनकी सम्भूति नहीं होती। जो सादि, सान्त और भूताधीन है, उसी की सम्भूति होती है। परन्तु, अनादि, अनन्त और भूतेश्वर की भी सम्भूति होती है — कब ?

धर्म की स्थिति की रक्षा के लिए स्वप्रकृति में अधिष्ठित होकर आत्ममाया की क्रिया से। स्वप्रकृति में अधिष्ठित हुए विना आत्ममाया क्रिया नहीं कर सकती। कराये कौन ? केवल आत्मा नहीं कराती, केवल प्रकृति भी नहीं।

१६.१२.३७ :

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ (गीता, ७।२५)

यहाँ यह मिलता है —'अहं' के बाहर योगमाया का घेरा —समावरण है, इसीलिए सबके आगे अहं का प्रकाश नहीं। किन्तु, किसी-किसी के निकट है। योगमाया भी एक 'आवरण' है। यह साफ कहा गया है और उसके प्रभाव से प्रकाश रुद्ध होता है—इससे भी समझ में आता है। लेकिन, किसी-किसी के निकट अहं प्रकाशमान होता है।

प्रश्न यह है कि योगमाया किसके लिए आवरण है और किसके लिए नहीं है। यह 'मूढलोक' अहं का अभिज्ञान नहीं कर सकता, पहचान नहीं सकता। यह लोक = इहलोक, इन्द्रियाधीन जगत्। **असौ लोकः** = परलोक, अतीन्द्रिय जगत्।

सुतरां, जो इन्द्रिय के अधीन नहीं, वही इहलोक के नहीं है, वही अहं को पहचान सकते हैं—योगमाया उनका आवरण नहीं होती। और, जो इन्द्रिय के अधीन, देहात्म-बोधयुक्त हैं, वह अहं को नहीं पहचानते, उनके लिए योगमाया आवरणस्वरूप है।

इससे समझ में आता है, जो मोहग्रस्त या इन्द्रिय के अधीन हैं, योगमाया उनके निकट 'अहं' का परिचय ढके रखती है। लेकिन, जो मोह के अतीत हैं, योगमाया उन्हें 'अहं' को पहचानने में बाधा नहीं देती। यह मोह ही माया है। जो मूढ है, वह क्या आत्मा को नहीं पहचानता? वह पहचानता है। मूढ भी उन्हें पहचानता है, लेकिन अज और अव्यय रूप में नहीं, जन्म-मृत्यु के अधीन रूप में। जो मूढ है, उसके निकट आत्मा जन्म-मृत्यु के अधीन है—संसारी-असंसारी आत्मा को वह नहीं पहचानता।

शुद्ध आत्मा जैसी नित्य है, वैसी ही उसकी आवरणरूपा योगमाया भी नित्य है, परन्तु माया नित्य नहीं; क्योंकि सदा और सब जगह माया नहीं रहती। जहाँ मोह-माया नहीं है, वहाँ योगमाया का आवरण नहीं है। आत्मा या भगवान् का अप्रकाश भाव नहीं है, योगमाया का आवरण नहीं है, पर योगमाया है—पर वह स्वच्छ है। योगमाया नित्य है।

छठा अध्याय

गीता में जीवन का लक्ष्य

१५.१२.३७ :

गीता (६।१) में है :

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।

संसार में दो प्रकार के साधक देखे जाते हैं— संन्यासी और योगी। संन्यासी कर्मत्यागी और फलत्यागी होते हैं; योगी कर्मी और फलाग्रही। अर्थात्, फल और कर्म कार्य-कारणरूप में बद्ध हैं। जिसे फल चाहिए, उसे करना ही होगा। यही फल सिद्धि, ऐश्वर्य इत्यादि है। योगी यह सिद्धि चाहता है, इसलिए कर्म करता है, फल भी पाता है।

जो फल नहीं चाहता, वह कर्म का त्याग करता है; क्योंकि वह सोचता है, जब फल ही नहीं चाहिए, तब परिश्रम करके मरें क्यों? वह नैष्कर्म्य का अवलम्बन करता है। वह संन्यासी है। योगी कर्ममार्गी है—सकाम, इसलिए फल की कामना करके कर्म करता है। फल की आशा से कर्म करता है। फल पाता भी है, लेकिन यह फल अनित्य है। ब्रह्मलोक का ऐश्वर्य होते हुए भी यह अनित्य है।

इसलिए इतना ज्ञान जिसे है, जो ज्ञानमार्गी है, वह निष्काम होता है, फल नहीं चाहता। वह जानता है, फलमात्र ही अनित्य है। उसके चाहने से ही केवल भोग के लिए चक्कर काटना पड़ता है। अशान्ति है। फल की आकांक्षा छोड़ देने से कर्म करने का प्रयोजन नहीं रहता। प्रयोजन नहीं रहता, केवल यही नहीं—कर्म करने से ही फल लेने को बाध्य होना पड़ता है।

भगवान् कहते हैं—ये दोनों ही आदर्श क्षुद्र हैं। वास्तव में, पूर्वोक्त योगी अपूर्ण योगी है, पूर्वोक्त संन्यासी अपूर्ण संन्यासी। पूर्ण योगी और पूर्ण संन्यासी अभिन्न हैं। उसमें कर्म और अकर्म एकाकार हैं; अर्थात् जो फल नहीं चाहता और कर्म करता है, अथवा जो कर्म नहीं छोड़ता, किन्तु फल का त्याग करता है। यह श्रेष्ठ आदर्श है।

पाता है—

ऐश्वर्य १. जो कर्म करता है और फल चाहता है—क्षर पुरुष (सर्वभूत)
[अपरा प्रकृति]

कैवल्य २. जो कर्म नहीं करता, फल भी नहीं चाहता है—अक्षर पुरुष
[परा प्रकृति]

परम ३. जो कर्म करता है, फल नहीं चाहता है—पुरुषोत्तम

४. जो कर्म नहीं करता, फल चाहता है—वह किसी पुरुष को नहीं पाता। क्षर पुरुष नहीं पाता; क्योंकि कर्म नहीं करता। अक्षर पुरुष नहीं पाता; क्योंकि वह सकाम है। पुरुषोत्तम को नहीं पाता—उन्हीं दो कारणों से, अर्थात् कर्म नहीं करता और सकाम है, इसलिए। ऐसा आदमी failure होकर संसार में दुःख पाता है। किसी प्रकार से भी सिद्धि नहीं पाता, स्थिति भी नहीं पाता–पूर्णता तो दूर की बात है। केवल आशा निष्फल होती है।

गीता का आदर्श पूर्ण योग या पूर्ण संन्यास है, जिससे क्षर और अक्षर दोनों लाभ होते हैं; और दोनों से ही निर्लिप्त भी रहा जा सकता है। पुरुषोत्तम लाभ होता है। इससे अपना भी लाभ है, औरों का भी।

अपना लाभ	वह निष्काम;
दूसरे का लाभ	वह कर्मी

उसके कर्म का फल जगत् का अपना हो जाता है; क्योंकि वह उसका दावा नहीं करता। सकाम कर्म से जगत् का उपकार नहीं होता, अपना भी नहीं।

गीता के आदर्श के अनुसार, अपना और पराया एक होना चाहिए। इसमें ज्ञान और कर्म का समन्वय है। ज्ञान की निष्काम दिशा को लेकर कर्म की मलिनता को नष्ट कर देने से या कर्म के वेग से ज्ञान की शुद्ध स्थिति को dynamise करने से दोनों ही पूर्ण होते हैं। पुरुषोत्तम ideal भी वही है। क्षर और अक्षर का समन्वय।

कर्म तो करोगे—कौन-सा कर्म करोगे? जो सकाम या फलार्थी है, उसका कर्म अपनी इच्छा के द्वारा नियमित होता है। अर्थात्, इष्टफल भविष्य—उसे वर्त्तमान करने के लिए जो कर्म है, अर्थात् जिस कर्म के relation से वह फल effect है, वही कर्म करोगे।

आदर्श योगी और संन्यासी कार्यकर्म करेंगे। उन्हें तो फल की स्पृहा नहीं होती, इसलिए उनके कर्म में उनका नियन्त्रण नहीं है। कार्य कर्म क्या है; स्वभावज कर्म = स्वकर्म = स्वधर्म = प्रकृति = हृदयस्थ ईश्वर की प्रेरणा।

उसके करने का मतलब है 'ईश्वर के आदेश का पालन करना' या 'स्वप्रकृति के नियोग से चलना।' यही स्वधर्म-पालन है। यही गुरुवाक्य का पालन है। यही voice of God मानना है। यही स्वकर्म-सम्पादन है। यही शास्त्र को मानना है। क्योंकि, शास्त्र

…माणं ते कर्याकार्यव्यवस्थितौ ।' कार्य कर्म क्या है ? शास्त्र जो कहता है । शास्त्र = शास्ता या गुरु या ईश्वर का निर्देश ।

इसी में अपना कल्याण है और जगत् का भी ।

१.६.३८ : पुरीधाम :

[१]

ब्रह्मज्ञान हुए विना आत्मज्ञान नहीं होता । और फिर, आत्मज्ञान हुए विना पूर्ण ब्रह्मज्ञान नहीं होता । जीवात्मा ब्रह्म का आश्रित, ब्रह्म का ही अंश है—आश्रित को जानना हो, तो आश्रय को जानना जरूरी हो जाता है, यदि वह जानना पूर्ण ज्ञान न हो ।

ब्रह्मज्ञान—आत्मज्ञान—इच्छा का विकास या योग (ऐश्वर्य)—इच्छा का समर्पण या भक्ति (परा) (माधुर्य)-पूर्ण ब्रह्मज्ञान—ब्राह्मी स्थिति ।

मूल में सब जीव ही ईश्वर का अंश है । पहले यह नहीं पाया जाता । मान लीजिए, कोई जीव देवीलोक में है । वह देवी के अंशरूप में ही वर्त्तमान और उसी रूप में प्रतीयमान होता है । देवी का ज्ञान होने पर वह जीव अपने को देवी के अंशरूप में देख पायगा । यह सालोक्य है । कारण, देवी के लोक या किरण का प्रत्येक कण ही देवी का अंशभूत जीव है । क्रम से वह जीव देवी का रूप और शक्ति प्राप्त करता है—इस प्रकार प्राथमिक देवीज्ञान बढ़ता रहता है । अन्त में, वह जीव देवी से अपने को अविभक्त—अभिन्न देख पाता है । उस स्थिति में वह अपने को देवी समझता है । पहले अपने को देवी का आश्रित या दास समझता था । जब देवीरूप में समझता है, तब वह ऐश्वर्यावस्था है ।

मूल में वहाँ भी दास्य है ।

४.६.३८ :

स्वप्न का रहस्य क्या है ? जब हम स्वप्न देखते हैं, तब सब कुछ एक धारा में ही देखते हैं, ऐसा लगता है । परन्तु जागने पर ऐसा नहीं लगता । जागकर स्वप्न को याद किया जा सकता है—स्वप्न को जागरण में याद नहीं किया जा सकता ।

असल बात है, जाग्रत् ज्ञान एक विशाल ज्ञानराज्य है, उसका कुछ-कुछ अंश लेकर स्वप्न रचित होता है । यह जाग्रत् राज्य त्रिकाल में एक है, सब देश में एक । यह एक प्रकार का अनुभव है । इस विराट् स्तर से ही स्वप्नराज्य गठित होता है—वासना के अनुसार, हमारे अजानते, प्रकृति के नियम से । स्वप्न टूटने पर जाग्रत् ही सत्य लगता है । इसीलिए स्वप्न मिथ्या है ।

परन्तु, यह जाग्रत् भी एक प्रकार का स्वप्न है ।

८.६.३८ :

बाह्य-ज्योति-रूप-शक्ति-भाव या सत्त्व-भावातीत ब्रह्म । बाहर से केवल ज्योतिर्दर्शन होता है, रूप आदि का दर्शन नहीं होता । जैसे, एक आदमी की शिवमन्त्र में दीक्षा हुई ।

वह पहले (अवश्य ही, प्रबल पूर्वसुकृति नहीं रहने से) शिव की ज्योतिमात्र का दर्शन करेगा। यह ज्योति ही शिवलोक है। अतएव, ज्योतिर्दर्शन का अर्थ है कि बाहर से शिवलोक का दर्शन हो रहा है। यद्यपि बाहर से हो रहा है, तथापि द्रष्टा में उस ज्योति का किंचित् है, नहीं तो दर्शन नहीं होता। [अवश्य ही, प्रतिबन्धक रहने से देह में ज्योतिर्दर्शन भी नहीं हो सकता है।]

उस ज्योति या लोक में स्थान पाने से फिर ज्योतिर्दर्शन नहीं होता; क्योंकि उस समय स्वयं भी उस ज्योति से ज्योतिर्मय होता है। समान-समान इसीलिए देखा नहीं जाता। उस समय ज्योतिर्मय रूप में दर्शन होता है। जिसे शिवसालोक्य हुआ है, वह ज्योतिर्मय है। उसका रूप तब भी मर्त्यलोक का अन्तिम रूप होता है। वह जैसा गोपाल था, वहाँ भी वही आकार (दीक्षा के समय का आकार)। वह आकार तबतक रहता है, जबतक उसका शिवाकार नहीं होता। उस ज्योति में पहले से शिवरूप का प्रतिबिम्ब पड़ता है, इसलिए शिवाकार पहले से ही रहता तो है, लेकिन प्राचीन आकार प्रबल होता है, इसलिए वह प्रकट नहीं होता। क्रम से प्राचीन आकार ज्योति में लीन होता है और तब शिवाकार में ही प्रकट होता है। तब वह अपने को शिवाकार देखता है। अपने को ही शिवाकार देखने से फिर सामने शिवाकार नहीं दीखता। तब सामने एक शक्ति प्रत्यक्ष होती है, वह शैवी शक्ति है। उसी शक्ति का बाहरी उन्मेष शिवरूप है। प्रत्येक देवता की शक्ति अलग होती है, जैसाकि रूप अलग होता है। शिवरूपी साधक शैवी शक्ति का दर्शन करते-करते अपने शिवरूप से अभिभूत होता है—अपने में वह शक्ति आपूरित होती है। वैसी स्थिति में अपने को ही उस शक्ति-रूप में देख पाता है। उस समय सामने फिर शक्ति नहीं दिखाई देती। तब, अर्थात् स्वयं शिवशक्ति होकर शिव के सत्त्व या भाव या शिव की आत्मा को देखता है। शिवात्मा को यही शक्ति ही देख पाती है—बाहर कोई नहीं देख पाता। देखते-देखते शक्ति, अर्थात् साधक स्वयं शिव हो जाता है। यही शिव-सायुज्य है। उसके बाद फिर शिवात्मा को नहीं देख पाता। यह शिवभाव में स्थिति है। यदि ब्रह्मज्ञ गुरु की दीक्षा से इस शिवभाव में स्थिति होती है, तो स्वयं शिव से अभिन्न हो, अर्थात् शिव होकर पूर्ण ब्रह्म का दर्शन करता है।

अब्रह्मज्ञ, किन्तु शिवभाव में प्रविष्ट-मात्र गुरु की दीक्षा से शिव-सालोक्य से सायुज्य की प्राप्ति तक हो सकती है। किन्तु, सायुज्य होने पर भी शिव से एक व्यवधान रह जाता है, इसीलिए ब्रह्मज्ञान नहीं होता। समय पर सायुज्य पूर्ण होने से शिव से ही ब्रह्मदीक्षा प्राप्त होती है, इसीलिए दूसरी बार दीक्षा की आवश्यकता है।

देवता दो प्रकार के हैं—कोई-कोई ब्रह्मज्ञ हैं, कोई-कोई नहीं हैं। प्रथम देवता में दीक्षा होने से भोग और मोक्ष, दोनों की ही सिद्धि होती है; द्वितीय देवता में दीक्षा होने से केवल भोग और ऐश्वर्य सिद्ध होता है।

द्वितीय प्रकार की दीक्षा में उस छोटे-से देवलोक में फिर दीक्षा ले सकता है। उससे ऊपर उठ सकता है। वहाँ से फिर ऊपर—इस प्रकार ब्रह्मज्ञ देवता के लोक में जाने से

ब्रह्मदीक्षा का सुयोग मिलता है—निम्न देवलोक में ब्रह्मज्ञ पुरुष नहीं है। इसलिए, वहाँ से ब्रह्मदीक्षा का उपाय नहीं।

लेकिन, यदि जन्म ले और मर्त्यलोक में आये, तो ब्रह्मज्ञान की दीक्षा हो सकती है। होगी ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु, सम्भावना है। क्योंकि, मर्त्यलोक में ब्रह्मज्ञ पुरुष सदा ही रहता है।

९.६.३८ :

आज्ञा से सहस्रार—यह योगपथ है। प्रथम द्विदल से अन्तिम द्विदल।

आज्ञा—सविकल्प समाधि ज्ञानचक्षु-ज्ञान का उदय।

सहस्रार के बाद—निर्विकल्प समाधि—पूर्णज्ञान। बीच में योग। इच्छा।

[१]

१०.६.७८ :

अपूर्ण {
ब्रह्मज्ञान—सामान्याकार—योग।
इस अवस्था में इच्छा रहती है।
वही इच्छाशक्ति है। वही
विशेष आधारक है।
}
ब्रह्मज्ञान—विशेषाकार (पूर्ण)
ब्रह्मस्थिति।

इच्छा की निवृत्ति दो प्रकार की है :

१. पूर्णता—इस निवृत्ति के बाद फिर इच्छा नहीं जागती।

२. बलपूर्वक निरोध (repression, supression)—यह सामयिक है। बाद में इच्छा फिर जग आती है।

ऐसी कोई बात नहीं कि सामान्य ब्रह्मज्ञान आने से ही इच्छा की पूर्णता होगी। यदि होती, तो सामान्य ज्ञान ही पूर्णज्ञान होता। विशेष ज्ञान का स्थान नहीं रहता। सामान्य ज्ञान के बाद विशेष ज्ञान होता है—विशेष ज्ञान होने से फिर इच्छा नहीं उद्बुद्ध होती।

विशेष ज्ञान नहीं होने तक इच्छा उद्बुद्ध होगी। वस्तुतः, विशेष के कारण ही इच्छा है।

सामान्य ज्ञान से पहले जो सामान्य-विषयक इच्छा रहती है, वह सामान्य ज्ञान से पूर्ण होती है। इसलिए, उस समय सामान्य जिज्ञासा नहीं रह जाती। लेकिन, चूँकि विशेष अधिगत नहीं हुआ होता है, इसलिए उसकी इच्छा रह जाती है। सामान्य के अधिगत होने से वह ज्ञान फिर आच्छन्न नहीं होता। वह सभी समय रहता है। परन्तु तब भी अभाव-बोध जगता है—लेकिन सामान्य प्राप्त रहने के कारण, वह उसी समय विशेषाकार में प्रकट होकर अभाव को पूरा कर देता है—आनन्द आता है। अभाव की निवृत्ति से ही

तृप्ति या आनन्द आता है। सामान्य ज्ञान से सामान्य प्रभाव निवृत्त होता है, फलस्वरूप, सामान्य आनन्द। यह व्यापक आनन्द है। सामान्य ज्ञान होने से यह होगा ही। परन्तु, इस व्यापक आनन्द के, जो एक बार होने से जाता नहीं, उत्पन्न होने से भी विशेष-विषयक अभाव-बोध रहता है। इसलिए, उस विषय में इच्छा का उदय होता है। बाद में, उसकी निवृत्ति होती है और उसके परिणामस्वरूप विशेष आनन्द-लाभ होता है। लेकिन, अशेष विशेष का आनन्द नहीं होता। क्योंकि, अशेष विशेष का ज्ञान नहीं—इसका भी कारण है कि अशेष विशेष के इच्छा नहीं होती। युगपत् अशेष विशेष की इच्छा हो भी नहीं सकती। इसीलिए, केवल योग से या इच्छाशक्ति के द्वारा पूर्णतम तृप्ति होने का उपाय नहीं। पूर्ण ब्रह्मज्ञान आवश्यक है। सामान्य ब्रह्मज्ञान से विशेष या पूर्ण ब्रह्मज्ञान का पथ :

यह पथ = इच्छा का उपसंहार। यही त्याग है। सामान्य ब्रह्मज्ञान होने से ही प्रकृत भोग की अवस्था होती है—फिर सब भोग हो जाने से ही इच्छा उद्‌बुद्ध नहीं होती। तब पूर्ण ब्रह्मज्ञान होता है। अशेष विशेष का ज्ञान होता है।

अतृप्त आकांक्षा ही पूर्ण ब्रह्मज्ञान की बाधक है। पर, वह सामान्य ब्रह्मज्ञान की बाधक नहीं।

पूर्ण ब्रह्मज्ञान होने पर भी ब्रह्मरूपत्व नहीं होता। बाधक कौन? संस्कार। देह रहते साधारणतया वह नहीं जाता। परन्तु, किसी-किसी का जाते देखा जाता है।

(परा) भक्ति के विना ब्रह्मज्ञान नहीं आता।

[२]

इसी से लगता है—सामान्य ब्रह्मज्ञान = निर्विकल्पक ज्ञान। इससे व्यापक आनन्द की उपलब्धि होती है।

एक बार होने से यह सदा रहता है।

इसके बाद इच्छाशक्ति की अवस्था

प्रयोग करने की अवस्था

प्रयोग नहीं करने की अवस्था
यही पराभक्ति का स्तर है

पूर्ण ब्रह्मज्ञान

ब्रह्मरूपता

[३]

अज्ञान-राज्य

द्वैतभक्ति {
भेद। 'क' उपास्य राम को पृथक् रूप में जानता है और भजन करता है।
भेदाभेद। उपासक और उपास्य मिले-जुले।
अभेद। उपास्य राम ही है—'क' उसमें मग्न है। 'क' साक्षी होकर अभेद का दर्शन करता है।

ब्रह्मज्ञान :

सामान्य। व्यापक ब्रह्म देखता है। नामरूप नहीं रहता। एक चैतन्य और आनन्द-मात्र रहता है।

पराभक्ति : त्रिगुणातीत भक्ति।

ब्रह्मज्ञान। विशेष या पूर्ण।

ब्रह्मरूपता

११.६.३८ :

[१]

बाहर नहीं आने से अनुभूति नहीं होती।

बाहर आना = मन में अवतीर्ण होना। अथवा बाहर आने पर भी मन यदि ग्रहण नहीं कर सके, तो अनुभूति नहीं होती।

कहना और करना—और भी बाह्य।

हमारा मन देहजड़ित है। देह की बाधा के कारण अनुभूति होती है। इसीलिए, देहात्मबोध रहने तक पता नहीं चलता।

[२]

अज्ञान

जड़ समाधि — **बाह्य** — **त्रिलोकी**

गुरु सविकल्पक ज्ञान {
गणेश—मूलाधार—मर्त्यलोक
सूर्य— आज्ञा—सत्यलोक } ४ लोक—अधः, ब्रह्मलोक
|
शक्ति — देवीलोक — प्रकृति

निर्विकल्पक — | — ज्ञान — ऊर्ध्वब्रह्मलोक

शिव — कैलास
|
सद्गुरु — विष्णु — वैकुण्ठ, गोलोक

पूर्णब्रह्म

११.६.३८ : रात्रि, पुरीधाम :

दीक्षा—यह एक प्रकार से engrafting है।

बीज=भाव (=सत्ता)—शक्ति—रूप—ज्योति—नाद की समष्टि। यही देवता है। क्षेत्र=चित्त या मन, जो दर्पणवत् है। चित्तदर्पण में सदा नाना चित्र बनते और मिटते हैं—भिन्न-भिन्न चिन्ता के फलस्वरूप। चित्त एकाग्र नहीं, इसलिए चित्र एक नहीं रहता। यह दर्पण ही सूक्ष्म देह है।

सूक्ष्म देह—एक ज्योति, जो स्थूल देह को निचोड़ने से मिलती है। यह ज्योति तृतीय नेत्र के द्वारा बाहर सामने आती है। बाद में उसपर स्थूल की छाया पड़ती है। तब वह स्थूल-सी दीखती है। इस देह में सर्वदा नाना रंग, चित्र तिरते हैं। लेकिन, कोई भी नहीं रहता। जब चिन्ता की जाती है, तब रहता है, बाद में फिर नहीं रहता।

मान लीजिए, रामरूप। चिन्ता के साथ-ही-साथ मन में उदित होता है। फिर, चला जाता है। दीक्षा के मामले में गुरु जब चित्त में रामबीज बोते हैं, तब चित्त के साथ वह उसकी योजना करा देते हैं। फिर, वह चित्त से अलग नहीं हो सकता। एक रासायनिक क्रिया होती रहती है। चित्त को गलाकर उसमें ढाल देना होता है। तब चित्त में वह बीज रह जाता है। चित्त जीवन्त है, इसलिए वह बीज धीरे-धीरे बढ़ता रहता है। अन्ततः जीवित रहता है। पहले एक ज्योति का विकास होता रहता है। दीक्षित के सूक्ष्म शरीर में यह ज्योति दिखाई पड़ती है। यद्यपि, नाना चिन्ता आयें—पर, वह ज्योति नहीं जाती। बाद में एक रूप फूट उठता है—अस्पष्ट, फिर स्पष्ट। मान लीजिए—रामरूप। वह रामरूप जितना ही अस्पष्ट रहे, रहता ही है। चिन्ताजनित और रूप आते-जाते हैं। रामरूप वैसा नहीं। चित्त का जो अपना रूप है, अर्थात् स्थूल का प्रतिबम्ब-रूप—क्रम से वह रामरूप में बदलता जाता है। यही है उपादान-परिवर्त्तन। क्रम से ऐसा समय आता है, जब चित्त, अर्थात् सूक्ष्म देह स्थूल के अनुरूप आकार-विशिष्ट न रहकर रामाकार हो जाती है। द्रष्टा चित्त को रामरूपी देखता है।

१२.६.३८ :

इस दीक्षा में और भी थोड़ा रहस्य है। जैसे, यदु ने गोपाल को राममन्त्र से दीक्षा दी। इसके फलस्वरूप, गोपाल का चित्त या सूक्ष्म देह रामाकार—राममय होने लगी। परिणामतः, वह चित्त एकबारगी रामभाव प्राप्त करेगा। यदु कौन और क्या? यदु स्वयं राममन्त्र में सिद्ध है। तभी वह उस मन्त्र में दीक्षा दे सकता है। अर्थात्, यदु स्वयं राममन्त्र में दीक्षित है, इसलिए उसमें रामज्योति है। परन्तु, स्वयं ज्योति-मात्र रहकर ज्योतिर्दान नहीं किया जा सकता। यदु रामरूप प्राप्त करने पर दीक्षा-दान दे सकता है। वह दीक्षा-ज्योतिर्दान। यदु रामशक्ति प्राप्त करके उनकी दीक्षा के कारण रामरूप प्राप्त हो सकता है। यदु रामसायुज्य प्राप्त हो, तो उस दीक्षा से रामशक्ति प्राप्त हो सकती है।

अवश्य चरम अवस्था में सर्वत्र ही गुरु के बराबर उठना भी सम्भव है। लेकिन, थोड़ी-सी बाधा है।

रामसायुज्य प्राप्त होकर यदु द्रष्टा हो सके, तो यथार्थ गुरु-पदवाच्य होता है। सायुज्य-अवस्था = राम की सत्ता के साथ अभेद या बीजभाव। द्रष्टा होने से ही ब्रह्मभाव का उदय होता है। सुतरां, राम तब ब्रह्मज्ञ होता है, इसलिए यथार्थ गुरु है। उस अवस्था में बीज या सत्त्व से ज्योति तक समस्त देवता-स्वरूप ही या मन्त्र ही उसके अधीन होता है। यही मन्त्रेश्वर-अवस्था है।

मन्त्र = देवता। मन्त्रेश्वर = गुरु (ब्रह्मज्ञ) (सिद्ध, देवता-तत्त्वज्ञ)। मन्त्रमहेश्वर = सद्‌गुरु (पूर्ण ब्रह्मज्ञ)।

मन्त्रेश्वर उस मन्त्र के द्रष्टा या अधिष्ठाता हैं। मन्त्रमहेश्वर सभी मन्त्रों के द्रष्टा या अधिष्ठाता हैं। यही गुरु-रूपी पूर्णब्रह्म या सदाशिव का स्फुरण है। यही जगद्-गुरु का आदर्श है।

मन्त्र से मन्त्रेश्वर का सम्बन्ध क्या है? मन्त्र मन्त्रेश्वर का बीज, वीर्य, **idea** (शुद्ध) है।

सदाशिव = अनन्त शुद्ध बीज-सम्पन्न अवस्था। यही गुरुतत्त्व है। शिव = बीज-हीन अवस्था। यह गुरु नहीं। मन्त्र = विद्या = शुद्ध विद्या। यही सदाशिव की शक्ति है।

१३.६.३८ :

सूक्ष्मदर्शन इतना कठिन क्यों है? हमें बाहरी ज्ञान होता है—देह में चेतन है, इसलिए। मूल देहात्मबोध। यह बाह्यज्ञान इन्द्रियज ज्ञान है।

इस बाह्यज्ञान से ज्ञान या बोध को रखकर बाहरी को बाद कर पाने से ही भीतरी जगत् देखा जाता है। तब भीतर और बाहर एक ज्ञान का ही विषय होता है।

बाह्यज्ञान का लोप होने पर ज्ञान ही लुप्त नहीं होता, बाह्य भी लुप्त हो जाता है। उसके बाद नया ज्ञान आता है, जिससे जगत् देखा जाता है। इन दोनों ज्ञान के मूल में साक्षी रहता है, इसलिए स्मरण होता है। साक्षीभाव प्रबल नहीं रहने से स्मरण नहीं होता।

ज्ञान को पकड़े रहकर बाह्य को बाद दे सकने से बाह्य के निवृत्त होने के साथ-ही-साथ और एक स्तर का उदय होता है। क्योंकि, ज्ञान निरालम्ब नहीं रहेगा।

१६.६.३८ :

निर्विकल्पक समाधि। यह आत्मदर्शन की अवस्था है। आत्मा को ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप में देखा जाता है। यही ब्रह्मदर्शन है—उसके बाद अपूर्ण। क्योंकि, आत्मा ब्रह्म का अंश है—उसका साक्षात्कार ब्रह्म-साक्षात्कार है, सन्देह नहीं। लेकिन आंशिक। यही

अभेद-ज्ञान है । इस अवस्था में मन नहीं रहता--वृत्तिज्ञान भी नहीं रहता । अतएव, यह वृत्तिज्ञान से ऊपर है । इसलिए, सविकल्पक समाधि के बाद । सविकल्पक समाधि से शुद्ध आत्मदर्शन नहीं होता ––मनोमिश्र आत्मदर्शन । यही देवता-दर्शन है । यह इदन्तया देखा जाता है ।

निर्विकल्पक के बाद मन नहीं रहता, इसलिए वृत्तिज्ञान फिर नहीं रहता। निर्विकल्पक समाधिजात आत्मदर्शन होने से ही साधक द्रष्टा हो जाता है । असंग होता है ।

उस समय समाधि में—दृश्य स्वयं, अर्थात् चिदानन्द । व्युत्थान में दृश्य जीव और जगत्—किन्तु चिदानन्द भी background में रहता है। नहीं तो स्रष्टास्वरूप सिद्ध नहीं होता। फलस्वरूप, जीव और जगत् उस चिदानन्द-सागर के तरंग-रूप में दीखता है। वह चिदानन्दरूपी स्वात्मा ही तब सत्य होने के नाते जीव और जगत् मिथ्या-रूप में प्रतीत होता है । समाधि में अवश्य इसका भान नहीं रहता । उस समाधि की पूर्णता से कैवल्य— तब जीव और जगत् का भान नहीं रहता। द्रष्टा स्वरूप में अवस्थित रहता है। बृत्तिहीन अवस्था । यह अभेद-दर्शन ब्रह्म के निर्विशेष या सामान्य रूप का दर्शन है। परन्तु, ब्रह्म का विशेष रूप भी तो है—जीव और जगत् । वह इस अवस्था में समाधि में दृष्ट नहीं होता, व्युत्थान में मिथ्या प्रतीत होता है । लगता है, वह संस्कारोत्थ है ।

किन्तु, पूर्ण ब्रह्मदर्शन में विशेष दर्शन भी युगपत् रहता है । तब जाना जाता है— जीव और जगत् ब्रह्म का ही रूप है। उन्हीं का अंश। वही । सुतरां सत्य । अतएव, पूर्ण ब्रह्म ही पूर्ण सत्य है । यह पूर्ण दर्शन पराशक्ति के विना नहीं होता। पराभक्ति-जनित जगत् और जीवनदर्शन = शुद्धसत्त्व रूप में दर्शन । यह दर्शन पूर्ण होने से मिथ्याभाव निवृत्त होता है ।

कैवल्य से विशेष दर्शन नहीं होता। गोलोक आदि से सामान्य दर्शन नहीं होता। लेकिन, कैवल्य की स्वाभाविक अवधि तक जाने पर विशेष दर्शन भी मिलता है। पूर्ण में। उसी प्रकार, गोलोक-स्थिति के समाप्त होने पर सामान्य दर्शन भी मिलता है। जैसे, एक radius से चलने के समय दूसरा radius नहीं देखा जाता है—किन्तु, centre में जाने से सब radius दीखता है, वैसे ही ।

निर्विकल्पक में जो सामान्य दर्शन मिलता है, पराभक्ति में वह नहीं मिलता— विशेष का ही भान होता है । लेकिन, सविकल्पक भूमि में विशेष दर्शन मनोजन्य होता है— उस समय मन था । अभी मन नहीं है – आत्मा ही तत्तत् आकार में प्रतिभात होती है— उसमें परब्रह्म की आभा पड़ती है ।

निर्विकल्पक की अवस्था—रूप नहीं ।

निर्विकल्पक की पूर्ण अवस्था-—रूप है । वह मनोमय है ।

आत्मा का आभास है ।

निर्विकल्पक की पर अवस्था---रूप है । वह आत्ममय है ।

परमात्मा के आभास से युक्त ।

शिव — शक्ति

निर्विकल्पक अवस्था में शिवत्व-लाभ होता है ।

[सिद्धि] शक्ति का जागरण—सविकल्पक क्रम ।

[कैवल्य]	शिव का जागरण : no मिलन with शक्ति । यही तृतीय नेत्र या ज्ञानचक्षु का खुलना है ।	 — निर्विकल्पक । आत्मा द्रष्टामात्र । क्रिया नहीं; क्योंकि शक्ति अलग अथच चेतन ।

[यहाँ से ब्रह्मभाव आरम्भ होता है । पराभक्ति का विकास और परिणति ।]	शिव का मिलन with शक्ति	— आत्मा द्रष्टा और कर्त्ता यही —चैतन्य— ज्ञान + क्रिया-मिलित—क्रिया की अवस्था । 'Do' की अवस्था, जिसे भाषा में 'करना' कहते हैं ।
	दो युगल	—महामिलन । लीला ।
	एक	—ब्रह्मभाव – पूर्णत्व ।

अतएव, निर्विकल्पक समाधि के बाद जो कैवल्य में जाते हैं, उनका फिर शक्ति से मिलन नहीं होता है । जबतक यह नहीं होता, तबतक द्वैतनिवृत्ति नहीं होती, ब्रह्मत्व नहीं आता । शुद्ध द्रष्टाभाव रहता है ।

			दृश्य	दृश्यस्वरूप
[कर्म]	इन्द्रिय द्वारा दर्शन	— विषय	— मनोजन्य	विकार ।
[ज्ञान]	मन द्वारा दर्शन	— देवता	— आत्मजन्य	विकार ।
[भक्ति]	आत्मा द्वारा दर्शन	— लीला	— परमात्मजन्य	विकार ।
[पूर्ण ब्रह्मविद्या]	परमात्मा द्वारा दर्शन	— परमात्मा	— परमात्मा	No. विकार ।

सातवाँ अध्याय

कुल-कुण्डलिनी

१७.६.३८ : (८-९ प्रातःकाल) :

१. जीवशक्ति का जागरण; (जीव के नहीं जागने से इस जाग्रत् शक्ति को नहीं देखा जा सकता। २. (क) जीव का जागरण और जाग्रत् जीवशक्ति का दर्शन। (ख) बाद में जीव का आत्मदर्शन।

अ-कुल-कुण्डलिनी :

३. ऐशी शक्ति का जागरण = जीव और जीवशक्ति का मिलन। ४. (क) शिव का जागरण और जाग्रत् ऐशी शक्ति का दर्शन। (ख) बाद में शिव का आत्मदर्शन। ५. ब्रह्मशक्ति का जागरण या ब्रह्मविद्या का उदय = शिव और ऐशी शक्ति का मिलन। ६. (क) ब्रह्म का जागरण और जाग्रत् ब्रह्मशक्ति का दर्शन। (ख) ब्रह्म का आत्मदर्शन। ७. पूर्णत्व का उदय (ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति का मिलन)। ८. पूर्णत्व।

१. शक्ति जगी, लेकिन जीव नहीं जगा। यह कुण्डलिनी-जागरण के बाद से जीव-शक्ति के दर्शन के पहले तक। इस अवस्था में साधक कुछ देख नहीं पाता। अथच शक्ति जाग गई। इसका कारण कि साधक स्वयं नहीं जगा।

२. (क) जीव या साधक जगा। जगकर अपनी शक्ति को देख रहा है। यही सिद्धि है। विभूति।

(ख) इसके बाद साधक अपने को ही देखता है, यही सिद्धि के बाद आत्मदर्शन है। यही है द्रष्टाभाव।

३. यही भक्ति का उदय है, जिसका नाम ऐशी शक्ति है। कामबीज। वास्तव में, उस समय जाग्रत् जीव और जाग्रत् जीवशक्ति आलिंगन में बद्ध होते हैं। यही ऐशी शक्ति है = माता—जगदम्बा। यह मातृदर्शन तबतक चलेगा, जबतक शिव नहीं जगेगा। इस माता का आत्मशक्ति-रूप में दर्शन नहीं होता।

४. (क) शिव जगे, यानी जीव ने शिवत्व-लाभ किया और ऐशी शक्ति को आत्म-शक्ति के रूप में देखता है, यही ऐश्वरिक सिद्धि है।

(ख) उसके बाद शिव अपने को ही देखते हैं—शिव का आत्मदर्शन। यही परम द्रष्टाभाव है।

५. इसके बाद शिव-शक्ति का मिलन आरम्भ होता है। वही ब्रह्मविद्या का उदय है। उस समय ब्रह्मभाव प्रकट नहीं होता, इसीलिए ब्रह्मविद्या की उपलब्धि नहीं होती है।

६. (क) ब्रह्मभाव के जगते ही ब्रह्मविद्या का साक्षात्कार होता है ।

(ख) उसके बाद ब्रह्म का आत्मदर्शन । यही है 'अहं ब्रह्मास्मि' ।

७. उसके बाद ब्रह्म और ब्रह्मविद्या का मिलन होता है । उस समय फिर 'ब्रह्माहं' भाव भी नहीं रह जाता, क्रमशः लुप्त होता है । यही मिलन पूर्णत्व है ।

८. मिलन के अन्त में जो है, वह पूर्ण है । ब्रह्मत्व । स्थिति ।

इस जागरण में भी रहस्य है । हम इसे जीव और जीवशक्ति के रूप में लें ।

पहले शक्ति जगती है—क्रमशः । शक्ति का जागरण पूर्णतम होने पर स्वभाव के नियम से जीव स्वयं जगता है । यही प्रकृति का नियम है । लेकिन, कारण-विशेष से—गुरु या देवता की इच्छा से—शक्ति कुछ जगने पर भी जीव जाग सकता है और जीव का जागरण भी क्रमिक होता है, इसलिए कम या अधिक जाग सकता है ।

अतएव, यदि कुछ-कुछ शक्ति जागे, और कुछ-कुछ जीव जागे, तो वह जीव अपनी शक्ति को देख पाता है और प्रयोग कर सकता है । सद्गुरु साधारणतया शक्ति के पूर्णरूप से जागने के पहले जीव को नहीं जगाते । क्योंकि, उससे जीव के बद्ध हो जाने का डर है । जीव के जागने पर भी शक्ति के पूर्णतया नहीं जागने तक आत्मदर्शन नहीं होता ।

शक्ति के बिना जागे जीव नहीं जाग सकता, ऐसी बात नहीं । लेकिन, वह स्वाभाविक नियम नहीं । गुरु जगा सकते हैं । किन्तु, जीव के जागने पर भी शक्ति के नहीं जागने तक वह सिद्धि भी नहीं पाता; आत्मदर्शन भी नहीं पाता । प्रकारान्तर से शक्ति के जागने पर भी, जीव के नहीं जागने से सिद्धि नहीं, आत्मज्ञान भी नहीं, किन्तु शक्ति के पूर्ण रूप से जागने पर जीव आप ही जागता है, इसलिए सिद्धि पाता है । सिद्धि की पूर्णता में आत्मदर्शन होता है ।

एक बात और । शक्ति जागी, जीव भी जागा—यदि शक्ति का जागरण पूर्ण हो, जीव का जागरण अपूर्ण हो, तो आंशिक सिद्धि होगी । वैसे ही जीव का जागरण पूर्ण और शक्ति का जागरण अपूर्ण होने से सिद्धि आंशिक होगी । दोनों में अन्तर है ।

ऐसी भी अवस्था है, जीव जागकर जाग्रत् शक्ति को देखता है, आत्मदर्शन नहीं होता । एक विचित्रता है । जब दोनों का जागरण पूर्ण होता है, तभी जीव को आत्मदर्शन होता है । यह चाहे जिस क्रम से हो, कोई हानि नहीं । अर्थात्, पहले जीव जागकर क्रम से पूर्णता लाभ कर सकता है, बाद में शक्ति के जागरण से धीरे-धीरे पूर्ण हो सकता है—या पहले शक्ति जागकर पूर्ण होती है, बाद में जीव जागकर पूर्ण होता है—या दोनों ही कुछ-कुछ जागकर धीरे-धीरे पूर्ण होते हैं । कभी यदि जाग्रत् जीव जाग्रत् शक्ति को देखते ही भोग करना चाहे, तो पूर्णता नहीं आती—दोनों का ह्रास होता है । पूर्णता नहीं आने से आत्मदर्शन नहीं होता । शक्ति के प्रयोग करने का मतलब ही है शक्ति को भोग करना । द्वैतभाव से ही भोग होता है । आत्मदर्शन नहीं होने तक द्वैतदर्शन रहेगा ही । आत्मदर्शन

के बाद शक्ति से जो मिलन होता है, वह भोग नहीं है। क्योंकि, तब शक्ति =स्वरूपशक्ति। आत्मदर्शन के पहले शक्ति = बाह्य शक्ति। आत्मदर्शन से शक्ति का बाह्यत्व या जडत्व निवृत्त होता है—वह चित्-शक्ति या स्वरूपशक्ति-रूप में परिणत होती है। अन्तरंग शक्ति होती है। इसीलिए उस समय जीव और उसकी शक्ति जडित हो जाती है—अलग नहीं रहती। वही भक्ति की अवस्था है। आनन्द का विकास। इसीलिए, शक्तिदर्शन करके उसके निकट कुछ प्रार्थना नहीं करता है। करने से उसे आत्मरूप में देखने में बाधा आती है। क्योंकि, पूर्णता पाने में विलम्ब होता है।

शक्ति जागी, आत्मा भी जागी—अंशतः। तब क्या करना होगा? द्रष्टा होकर केवल शक्ति को देखना होगा। वही उपासना है। देखते-देखते दोनों की पूर्णता आयगी। फलस्वरूप आत्मदर्शन होगा। पूर्ण होने से द्रष्टा अपने ही आपको देखता है। या दृश्य स्वयं अपना द्रष्टा हो जाता है। वही आत्मदर्शन है। वही चैतन्य है।

१८.६.३८ :

[१]

कमल = ज्योति। पंखुड़ियाँ = रश्मि।

इस ज्योति या कमल में पहले चरण आविर्भूत होता है। वही पद है। उसके बाद मूर्त्ति निखरती है।

[२]

मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं ध्यानमूलं गुरोः पदम्।
पूजामूलं गुरोर्मूर्त्तिर्मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥

मन्त्रजप--गुरुवाक्य। ध्यान--गुरुचरण। पूजा--गुरुमूर्त्ति।

मोक्ष—गुरुकृपा। इसलिए, पहले गुरुवाक्य का जप करना चाहिए। उसके बाद ज्योति और उसमें चरण प्रकाशित होता है। तब ध्यान चलता है। ध्यान करते-करते गुरु का रूप फूट उठता है। तब पूजा करनी चाहिए। पूजा करते-करते साधक उस मूर्त्ति में प्रवेश करता है--मुक्त हो जाता है।

[३]

पुरुष का जागरण = प्रकाश		प्रकृति का जागरण = विकास	
अक्रम	चित्	सक्रम	सत्त्व
१ कला,	अमृत	१५ कला,	नश्वर
अवयवी		अवयव	
द्रव्य		गुण	
अखण्ड		सखण्ड	
Continum		Discrete	
द्रष्टा		दृश्य	

प्रकाश में क्रम नहीं है। विकास नहीं होने से भी प्रकाश खुल सकता है। तब वह प्रकाश = स्वयम्प्रकाश नहीं होता। अपने को नहीं जान सकता--विकास नहीं होने तक।

इसीलिए, **'न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।'** शक्ति के विना शिव जड, शववत्। उसके बाद विकास आरम्भ होता है : क्रमशः बढ़ता है। प्रकाश देखता रहता है। प्रकाश द्रष्टा। विकास पूर्ण नहीं होने तक यह दर्शन रहता है। यही जगत् का लीला-दर्शन है। विकास पूर्ण होने पर प्रकाश से समरस होता है--वही आत्मदर्शन है।

वास्तव में, पुरुष को जगा देने से वह द्रष्टा होता है। चित्। प्रकृति नहीं जगने से वह क्या देखता है? शुद्धसत्त्व उसे घेरे रहता है—उसी को देखता है। यह शुद्ध-सत्त्व स्थिर है—निस्तरंग। प्रकृति उसके बाहर ही रहती है—परन्तु, प्रकृति की छाया शुद्धसत्त्व पर नहीं पड़ती। क्योंकि, शुद्धसत्त्व निर्मल है—उनमें प्रकृति का मल नहीं। इसलिए, पुरुष चारों ओर केवल शुद्धसत्त्व का आवरण देखता है। यह क्षोभहीन है।

प्रकृति जगने से जितना जागता है, वह चेतन होकर शुद्धसत्त्व में प्रविष्ट करता है-पुरुष यह देखता है। यह पुरुष का स्वसत्त्व होता है। इस प्रकार, प्रकृति का पूर्ण जागरण शुद्धसत्त्व, वह स्वसत्त्व-मम-हो जाता है। वही उसकी अपनी शक्ति है। पूर्णत्व के साथ-साथ पुरुष अपने को ही देखता है।

प्रथम—अपनी शक्ति का दर्शन। द्वितीय—अपनी शक्ति में अपना दर्शन। तृतीय—स्वयं का दर्शन। चतुर्थ—स्वयं निज हो जाना।

[४]

१७.६.३८ :

जीवशक्ति = प्राकृत सत्त्व। ऐशी शक्ति = शुद्धसत्त्व। प्राकृत सत्त्व के शुद्धसत्त्व में परिणत होने से जीव में शिवत्व आता है।

शुद्धसत्त्व शिवशक्ति।

शुद्धसत्त्व में युगलरूप में प्रकट चित् के साथ—अन्तरंग। प्राकृत सत्त्व भिन्न और द्वितीय भाव से प्रकट होता है—इसी से उसमें काम या मोह आता है। वही मोहिनी माया है, जिसने पुरुष को मोहित कर रखा है। आत्मदर्शन के पहले तक वह मोहिनी रहती है। इसीलिए डर रहता है।

१९.६.३८ :

(i) गुरुशक्ति—इस शक्ति के प्रभाव से कुण्डलिनी जागती है। यह शक्ति आज्ञाचक्र तक कार्य करती है। वही सत्यलोक है।

तृतीय भूमि। [देवीलोक तक नहीं क्या ?]

सद्गुरु-कृपा।

कर्त्तव्य-ज्ञान है, लेकिन क्रिया में प्रवृत्ति नहीं; अकर्त्तव्य-ज्ञान है, पर क्रिया से निवृत्ति नहीं। ऐसा क्यों होता है ?

(A) इच्छा नहीं होने के कारण। ज्ञान रहते हुए भी इच्छा के नहीं रहने से प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं होती। इच्छा रहती क्यों नहीं है ?

यह काम करना चाहिए, ऐसा बोध यदि हो, तो काम करने की इच्छा क्यों नहीं होती ? औचित्यबोध से इच्छा का सम्बन्ध क्या है ?

प्रश्न जटिल है। औचित्यबोध का मूल क्या है ? उसे कर्त्तव्य क्यों समझते हैं ? इष्ट-साधनता विश्वासवशतः।

इच्छामात्र ही शक्ति है। वह कार्य में परिणत होगी ही। परन्तु, इच्छा हलकी हो, तो बहुत दिन की आवश्यकता होती है। पर, दूसरी इच्छा प्रबल होकर उसे अवरुद्ध रख सकती है। प्रबल इच्छा होने से उसका दमन नहीं किया जा सकता। वह उसी समय कार्यरूप में परिणत होती है। वही इच्छाशक्ति है। नहीं तो सब इच्छा ही शक्ति है। मूल में शुद्ध ज्ञान के रहने से इच्छा प्रबल होती है—वह इच्छाशक्ति है।

देवता की दया भी वही है। दया भी तो इच्छा है। उन्होंने दया की, किन्तु जीव ने पाई नहीं—ऐसा नहीं होता।

लेकिन हाँ, प्राप्ति देर से हो सकती है, हलकी हो सकती है। देवता की इच्छा और जीव की इच्छा विरुद्ध हो, तो प्रबल होगी, वही फलेगी। लेकिन, विरुद्ध होती है क्या ? हो सकती है। देवता की इच्छा के मूल में ज्ञान होता है, जीव की इच्छा के मूल में अज्ञान, इसलिए विरोध हो सकता है।

१९.६.३८ :

जड समाधि = अ-ज्ञान में लय। ज्ञान नहीं रहने से स्थिरता होने पर भी आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। इस अवस्था में मन नहीं रहता, परन्तु व्युत्थित होने से मन उद्‌बुद्ध होता है।

यह सुषुप्ति नहीं। सुषुप्ति में अ-ज्ञान होता है। जड समाधि में भी अ-ज्ञान रहता है, ठीक है, किन्तु भेद है।

सुषुप्ति में भी चित् एकाग्र नहीं होता—केवल अन्धकार में ढक जाता है। जड समाधि में चित्त एकाग्र होता है—पर, अन्धकार में ढक जाता है। जड समाधि का भेद होने से ही प्रज्ञा मिलती है। जड समाधि का स्तरभेद है। क्योंकि, जड़ का स्तरभेद है। परन्तु, किसी भी स्तर में ज्ञान नहीं रहता।

जड समाधि का भेद होने से इन्द्रिय का आकर्षण नहीं रहता। भेद नहीं होने से समाधिकाल में जरूर नहीं रहता है—किन्तु व्युत्थान में रहता है। सच तो यह कि रहता है, इसीलिए व्युत्थान होता है।

इन्द्रियाँ एक स्थान में जाकर मन में लीन होती हैं—मन किसी जड वस्तु या प्रकृति में लीन होता है। शुद्ध चित्-ज्योति मन में नहीं पड़ने के कारण जड में लय होता है। वह शुद्ध चित्-ज्योति जड में नहीं है। इसलिए भी जड में लय होता है—ऐसा कहा जा सकता है। (चिज्ज्योति = चित् = शुद्ध सत्त्व)। यह चिज्ज्योति नहीं पाने तक जड समाधि-भेद नहीं होता।

किन्तु, एक बात है। बार-बार सुषुप्ति होने से भी चित्-ज्योति पाने में सहायता नहीं मिलती। परन्तु, बार-बार जड समाधि होने से दीर्घकाल के बाद वह सहायता हो सकती है।

स्वर्ग और महर्लोक के बीच का अन्धकार ही जड समाधि का राज्य है। यहाँतक शुद्धसत्त्व नहीं है। उसके बाद से वास्तव में थोड़ा-थोड़ा बढ़ता है।

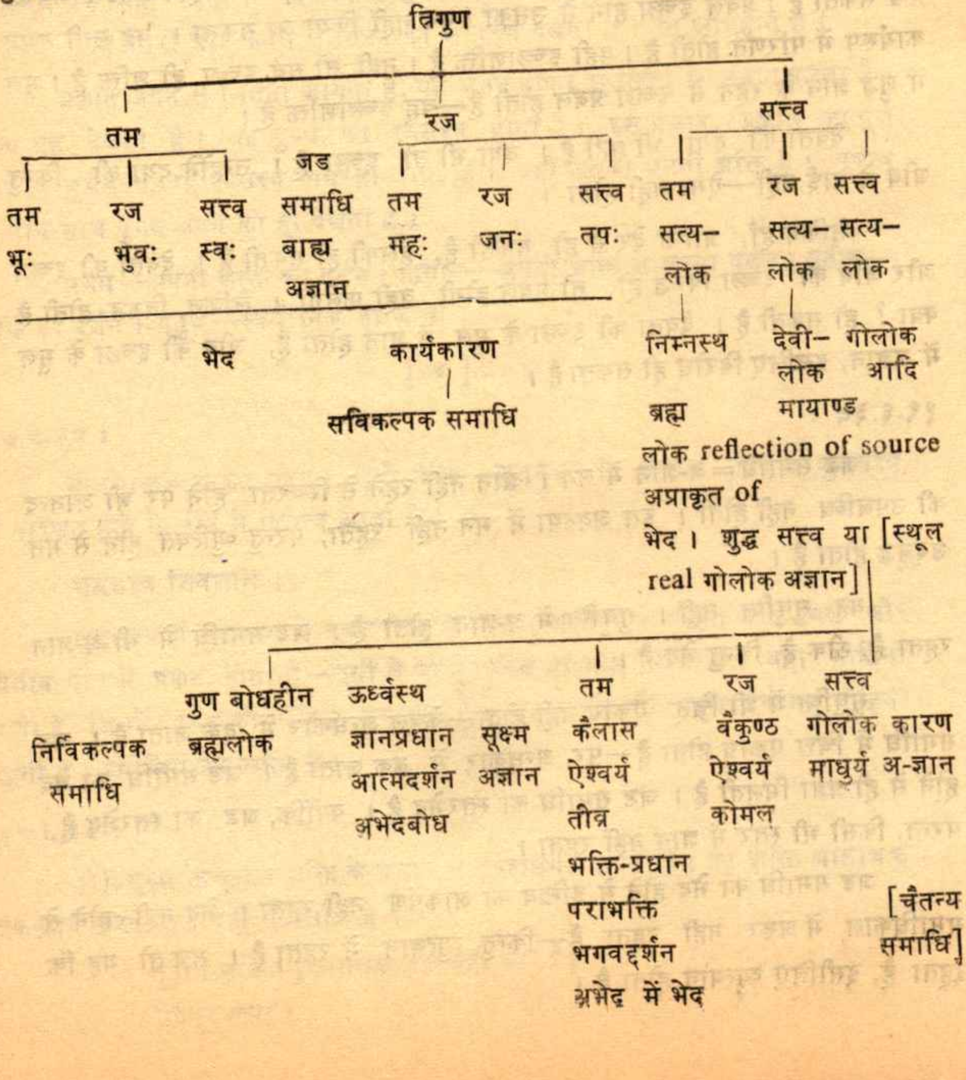

कृपा

कृपा

साधारण	विशेष
[इससे सब कर्म नहीं कटता। प्रारब्ध कर्म भोग के द्वारा कटता है। लेकिन, नया कर्म नहीं हो सकता। संचित कर्म कट जाता है। कर्म समाप्त होने पर इसकी उपलब्धि होती है।]	[इससे कर्म कटता है। संचित कर्म नहीं रहता और नया कर्म तो होता ही नहीं—पिछला सब कर्म भी भोगना नहीं पड़ता। अत्यन्त तीव्र होने से प्रायः सब प्रारब्ध कट सकता है।]

सूर्य प्रकाश देता है—यह कृपा है। किन्तु, अन्ध वह प्रकाश नहीं पाता। उसमें सूर्य का दोष जरूर नहीं, परन्तु वह कृपा निष्फल होती है। साधारण कृपा किसी को लक्ष्य करके नहीं होती। इसलिए, यह एक प्रकार का स्वभाव है। साधारण कृपा से ही गुरुत्व का आरम्भ होता है। जो आश्रय लेता है, वही कृपा पाता है। कृपा की कृपणता नहीं--ले सके तो, कोई वंचित नहीं होता। परन्तु, सभी ले तो नहीं सकते। क्योंकि कर्म बाधा देता है। योग्यता या receptivity सबकी समान नहीं। साधारण कृपा किसी की योग्यता नहीं बढ़ाती। योग्यता कर्म के द्वारा बढ़ानी पड़ती है। बढ़ाने पर ही कृपा पाई जाती है। परन्तु, विशेष कृपा इतनी प्रबल होती है कि वह योग्यता की अपेक्षा नहीं करती—योग्यता उसी से उत्पन्न होती है। उसके बाद कृपा प्राप्त होती है।

पूर्ण ब्रह्म के सिवाय कोई विशेष कृपा नहीं कर सकता। क्योंकि वह अद्वैत है। योग्यता के भी मूल में वही है, कृपा करने के भी मूल में वही है। जो द्वैत हैं, द्वैतदृष्टि—वह साधारण कृपा कर सकते हैं—उसकी सफलता ग्रहीता की योग्यता पर निर्भर करती है। विशेष कृपा वह नहीं कर सकते। पूर्ण ब्रह्म यदि कृपा करें, तो पहले जीव में उपयुक्त योग्यता आती है, अनन्तर ईश्वर की कृपा आती है—एक ही व्यापार में दो हो जाता है। इसमें अयोग्य पर कृपा नहीं की जाती, लेकिन कृपा होती है; क्योंकि अयोग्य को योग्य करके तब कृपा की जाती है। वास्तव में, विशेष कृपा ही कृपा है। साधारण कृपा कर्मफल-दान नहीं होते हुए भी कर्मजनित चित्तशुद्धि या योग्यता-लाभ सापेक्ष है।

दोनों ही कृपा अहेतुक है। किन्तु, साधारण कृपा की सफलता सहेतुक होती है। क्योंकि, कृपा रहने पर भी हेतुविशेष के अभाव से उसकी उपलब्धि नहीं होती। विशेष कृपा ऐसी नहीं—वह सर्वथा अहेतुक है।

पूर्णब्रह्म या भगवान्—विशेष कृपामय परमात्मा—साधारण कृपामय। ब्रह्म—no कृपा। ईश्वर या हिरण्यगर्भ including देवता आदि—केवल फलदाता।

१९.६.३८ :

१	२	३	४	५
इन्द्रिय-शक्ति	मनःशक्ति	जीव-आत्मशक्ति	ऐशी शक्ति	ब्रह्मशक्ति
	[कर्म]	[ज्ञान]	[भक्ति]	[ब्रह्मविद्या]

अभी पहली शक्ति काम कर रही है। इसीलिए स्थूलाभिमान है। दूसरी शक्ति के जागने से पहली शक्ति उस अनुपात में स्तम्भित होती है। पहली शक्ति के स्तम्भित होने से दूसरी शक्ति जाग भी सकती है, नहीं भी जाग सकती। दूसरी शक्ति के जागने से स्वर्ग तक का दर्शन होता है। बाद में अ-ज्ञान में—जड समाधि में—स्थिति होती है। सब अ-ज्ञान-राज्य।

तीसरी शक्ति जागने से दूसरी शक्ति स्तम्भित होती है। दूसरी शक्ति के स्तम्भित होने से तीसरी शक्ति जाग सकती है और नहीं भी जाग सकती है। तीसरी शक्ति के जागने से सत्यलोक या देवीलोक तक का दर्शन होता है। आगे चलकर, आत्मस्वरूप में निर्विकल्प समाधि में स्थिति होती है। कैवल्य।

चौथी शक्ति के जागने से तीसरी शक्ति स्तम्भित होती है। तीसरी शक्ति के स्तम्भित होने से चौथी शक्ति जाग सकती है, नहीं भी जाग सकती है। चौथी शक्ति के जागने से गोलोक तक का दर्शन होता है।

पाँचवीं शक्ति के जागने से चौथी शक्ति स्तम्भित होती है। चौथी शक्ति के स्तम्भित होने से पाँचवीं शक्ति जाग सकती है, नहीं भी जाग सकती है। इससे पूर्णब्रह्मत्व-लाभ होता है।

२०.६.३८ :

[१]

पूर्ण (Including अक्षर, ईश्वर)

मुक्तजीव	बद्धजीव
सिद्धजीव	बद्धजीव

पूर्ण ही यथार्थ कृपा कर सकते हैं; क्योंकि पूर्ण ही स्वतन्त्र और अद्वैत हैं। उनकी इच्छा ही मूल है। वहाँ कर्म नहीं है।

मुक्त जीव कृपा कर सकता है, लेकिन कर्म के अधीन होकर। सिद्धजीव (देव आदि) कृपा नहीं कर सकता, कर्मफल दान करता है।

दुःख से बाहर ले जाना ही कृपा का उद्देश्य है। यही ज्ञानदान है। जो स्वयं ज्ञान पाकर दुःख के बाहर नहीं गये, वह क्या कृपा करेंगे?

मुक्तजीव साधारण कृपा कर सकता है। कारण, वह भी अद्वैत है। विशेष कृपा नहीं कर सकता। पूर्ण के नीचे इच्छा पृथक्-पृथक् होती है। अतएव, मुक्त की इच्छावश जीव कर्म नहीं करता, इसलिए जीव की इच्छा के ऊपर मुक्त की इच्छा क्रिया नहीं करती। मुक्त की इच्छा साधारण कृपारूप में प्रकट होती है। परन्तु, जीव जबतक अपनी इच्छा से उसे ग्रहण नहीं करता, या नहीं कर सकता, तबतक मुक्त की इच्छारूपी कृपा सार्थक नहीं होती, अर्थात् जीव का दुःख दूर नहीं होता। यही ब्रह्म की सामान्य कृपा है। क्योंकि, मुक्त या अ-परमुक्त ब्रह्म की सामान्यभाव तक प्रविष्टि है। इस कृपा से जीव का संचित कर्म कट जाता है—नया कर्म और नहीं होता। परन्तु, नियति रहती है, प्रारब्ध रहता है। परमुक्त पुरुष या पूर्णब्रह्म के सिवाय वह प्रारब्ध नहीं कट सकता। क्योंकि, पूर्णब्रह्म की

इच्छा ही प्रारब्ध है। अतएव, अ-परब्रह्म या अ-परमुक्त पुरुष की इच्छा से वह नहीं कटता। वह प्रारब्ध भोग से कटता है। दुःख-भोग से पाप कटता है, सुख-भोग से पुण्य कटता है। वास्तव में, प्रारब्ध-रूपी पाप और पुण्य पूर्णब्रह्म की इच्छा का विकास-मात्र है।

मुक्त होकर यदि भक्त हो, तो चूँकि कुछ-कुछ ईश्वरत्व आता है, इसलिए कुछ-कुछ प्रारब्ध-खण्डन कर सकता है. पूर्णतया नहीं। कम-से-कम थोड़ा-सा भोग जीव को करना ही पड़ता है। अधिकांश भोग कट जाता है। इसका कारण यह है कि पूर्णब्रह्मज्ञ होने से सम्यक् पूर्णब्रह्मज्ञरूपता नहीं होने तक ब्रह्मसाम्य नहीं होता — ब्रह्मत्व या एकत्व तो दूर की बात है। ब्रह्मसाम्य होने पर भी, जो स्थूलदेह रहते हुए भी हो सकता है, being its highest perfection—पूर्ण भोग नहीं कटता। थोड़ा-सा आभास रहता ही है। ठीक-ठीक ब्रह्मत्व देहान्त से ही सम्भव है। स्वयं पूर्णब्रह्मसम होने पर भी, देह में रहकर दूसरे का देहधर्म एकबारगी नहीं मिटा सकता।

सिद्धजीव या देवता कृपा नहीं कर सकते। लेकिन, वह यदि मुक्त हों और भक्त हों, तो सामान्य और अंशतः विशेष कृपा पूर्व नियम से अवश्य ही कर सकते हैं।

सिद्धजीव या देवता कर्मफल दे सकते हैं। वही कर्मानुसार जीवों के फलदाता हैं। लेकिन, वे कर्म को adjust कर दे सकते हैं—इतनी क्षमता उन्हें होती है। दुःख को दबाकर वहाँ दूर से उसी जीव के पुण्य को खींचकर सुख-विधान कर सकते हैं—आदि। ऐसा उपकार वे कर सकते हैं। सुख के बारे में यही है। असुरगण विपरीत भाव-विशिष्ट हैं। दोनों ही जीव के किये कर्म को नष्ट नहीं कर सकते।

अतएव, अनुग्रह तीन प्रकार के हैं :

अनुग्रह

पूर्णब्रह्म या भगवान् का	मुक्तपुरुष का		सिद्धपुरुष या देवता का
Through विशेष कृपा fully आभास भी भोगना नहीं होता। यही सर्वशक्तिमान् हैं।	परमुक्त या भक्त के Through आंशिक विशेष कृपा। वही कुछ, कर्म भी काफी कट जाता है। आभास-मात्र भोगना पड़ता है	अपरमुक्त या ज्ञानी के Through सामान्य कृपा। अनेक कर्म। कट जाता है। कुछ कर्म रहता है।	Through कर्म। वस्तुतः, यह अनुग्रह कृपा नहीं। जीव अपना कर्मफल ही पाता है, तब adjust कर देते हैं। कर्म कटता नहीं। एकमात्र भोग कटता है।
सर्वस्वदान	**भक्तिदान**	**ज्ञानदान**	**फल या सिद्धिदान**

[२]

आत्मदर्शन नहीं होने तक भगवान् की साधारण दृष्टि में भी नहीं पड़ता। पराभक्ति के उदय से उनका विशेष दृष्टिपात होता है। परन्तु, कुण्डलिनी के चेतन भाव या दीक्षा के साथ-साथ उनकी शक्ति की दृष्टि में पड़ता है। पहले देवता की दृष्टि में, फिर कुण्डलिनी के पूर्ण जागरण से महामाया की दृष्टि में पड़ता है। जिसकी दीक्षा नहीं हुई, वह देवता की दृष्टि से बाहर है। वह काल की दृष्टि में है।

[३]

जिसकी चिन्ता की जाती है, मन वहाँ जाता है। सद्ब्रह्म में समस्त जगत् अवस्थित है। जैसे, मैं जगन्नाथ प्रभु के मन्दिर की सोचता हूँ। ऐसी अवस्था में मेरे मन से एक धारा उस मन्दिर में जाती है। शुद्ध स्तर में वह सरल रेखा में जाती है। और भी ऊपर जाना-आना नहीं है। चिन्तनीय विषय का आविर्भाव-भर होता है। नीचे जो दैशिक व्यवधान है, वहाँ वह केवल मायिक आवरण है। जो भी हो, मैं जगन्नाथ के मन्दिर की सोचता हूँ। मन वहाँ जाता है। जबतक चिन्ता रहती है, तबतक यह धारा रहती है। चिन्ता नहीं रहने से यह धारा नहीं रहती। दूसरी चिन्ता में दूसरी धारा रहती है। चिन्ताहीन होने से कोई धारा नहीं रहती।

शुद्ध स्तर में यह धारा सीधी चलती है। निम्न स्तर में मन के साथ मलिनता (भौतिकांश) रहती है, इसलिए धारा वक्र हो जाती है। जो चिन्ता करता है, उसे उस विषय की चिन्ता की आवश्कता नहीं होती। यह जो वक्र रेखा होती है—उसका प्राकृतिक कारण है। यह अपने-आप होती है। सरल रेखा में जो धारा जाती है, उसमें बीच में आवरण नहीं रहता। वक्र रेखा में अनेक प्रकार का आवरण रहता है—इसी से वक्रता आती है। सरल रेखा में जो मन जाता है, वह शुद्धदेह है। वक्र पथ से जो जाता है, वह प्राकृतदेह है—यद्यपि अपेक्षाकृत सूक्ष्म है। शुद्धदेह की गति में बाधा नहीं, उसके सामने ध्येय के अलावा और कुछ आता भी नहीं; परन्तु अशुद्ध धारा के सामने अनेक वस्तुएँ पड़ती हैं—बाधा भी आती है, पार करके जाना पड़ता है। बाधा वैसी तीव्र हो, तो जाना नहीं हो सकता। लौट आता है। विलम्ब होता है।

इस अशुद्ध मन से बहुत-सी वस्तुओं की भेंट होती है। जैसे, मन जगन्नाथ के मन्दिर में जा रहा है—रास्ते में कोई दृश्य, कोई वस्तु भी उसे दिखाई दे सकती है। यही चंचलता और अशुद्धता का परिचय है। यही विकल्प है—शुद्ध दृष्टि से यही घूमना-फिरना है। जिससे मन की भेंट होती, वह भी मन को देख पाता है। अवश्य उसी स्तर में। जैसे, जगन्नाथ-मन्दिर की चिन्ता करते-करते मैंने गोपाल को देखा (मन-ही-मन), तो उस समय गोपाल भी मुझे देखता है। हाँ, वह यदि अभिमुख न रहे, तो मुझे नहीं भी देख सकता है। लेकिन, उसका साक्षी जरूर देखता होता है। उसकी ओर होने से वह भी

उसी ओर से देखता है। परन्तु, निम्न स्तर जगा न हो, तो निम्न भूमि में स्मरण नहीं भी हो सकता है। जगा हो, तो स्मरण होगा—ऐसा कि, अनुभव भी होगा।

गोपाल जीवित नहीं भी हो, तो गोपाल को उस समय देखना सम्भव है। क्योंकि, गोपाल का प्रतिबिम्ब या छाया है। सभी चीज की एक छाया रह जाती है। वह महाप्रलय तक रहती है। नहीं रहती होती, तो उसका कोई स्मरण नहीं कर सकता।

इस प्रकार, आत्मदर्शन के पथ में विकल्प-रूप समस्त जगत् का दर्शन हो जाता है। लेकिन, चित्त शुद्ध होने से अन्य कुछ दर्शन नहीं होता। जो देखना चाहता है, वही देखता है। उस समय गति की वक्रता नहीं रहती। वायु सरल हो जाती है।

[४]

द्रष्टा – आत्मसाक्षात्कार। निर्विकल्प समाधि। उस समय द्रष्टा कुछ भी नहीं देखता है, अपने को ही देखता है। जो प्रभा आकाश के रूप में उसे घेरे रहती है, उसी को देखता है। उस प्रभा में जागतिक वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। पड़े तो समझना चाहिए कि आत्मदर्शन नहीं हुआ है। यही ज्ञान है।

इस आत्माकाश में भगवान् फूट उठते हैं—भक्ति के माहात्म्य से। या उनके उदित होने पर भक्ति उत्पन्न होती है। तब उन्हीं को देखा जाता है।

यह आत्माकाश = हृदय। जो शुष्क हो गया है, जिसमें जगत् की परछाईं नहीं। इस हृदय का शोधन कुण्डलिनी के जागरण से होता है। उस समय सब स्वच्छ हो जाता है। कुण्डलिनी के नहीं जागने पर हृदय में अन्धकार रहता है। दृश्य बाहर देखा जाता है। अन्तर में देखने को कुछ नहीं होता। स्वप्न आदि में जो देखा जाता है, वह छाया-जगत् का। उसे शुद्ध करना चाहिए।

२१.६.३८ :

पूर्ण (जीव सत्ता है—परन्तु उसे पूर्णत्व का बोध नहीं और इससे पूर्ण आनन्द नहीं) **जीव महासुषुप्त।**

२१.६.३८ :

जागरण of जीव :

शुद्धमन चिदाकाश में संचरण करता है। यह सरल गति है।

अशुद्ध मन चित्ताकाश में संचरण करता है। यह वक्रसूक्ष्म गति है।

भौतिकमन या इन्द्रियाकार मन	भूताकाश में संचरण करता है। यह वक्रस्थूल गति है।

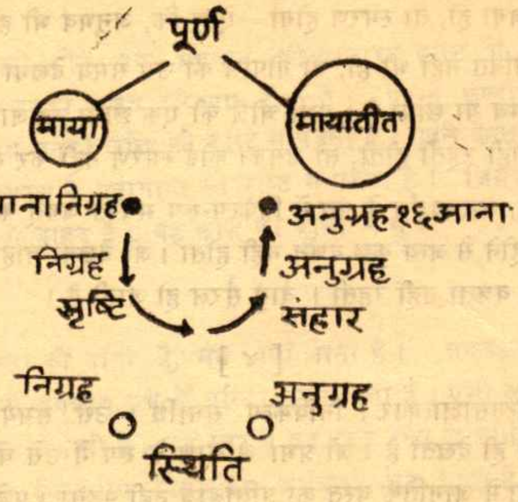

Descent		Ascent
जीव—भगवत्-स्मृति नहीं। pure आत्मविस्मृति नहीं।	merged मुक्त in माया	जीव—भगवत्-स्मृति है in आश्रय आत्मस्मृति है as भगवत्-, पार्षद या अंश।
जीव—भगवत्-स्मृति नहीं। impure आत्मस्मृति है as ब्रह्म।	ब्रह्माहम्भाव	
जीव—भगवत्-स्मृति नहीं। impure आत्मस्मृति है as महाकारण।		
जीव—भगवत्-स्मृति नहीं। impure आत्मस्मृति है as कारण।		
जीव—भगवत्-स्मृति नहीं। impure आत्मस्मृति है as सूक्ष्म।		
जीव—भगवत्-स्मृति नहीं। impure आत्मस्मृति है as स्थूल		

२२.६.३८ :

१. पुरुष और प्रकृति एकत्र बोध नहीं ज्ञाता etc. और ज्ञेय etc. एक ही point में। उपलब्धि नहीं। Maya. उपलब्धि आई। पुरुष अलग, प्रकृति अलग।	जडत्व। No time & space

२. प्रकाण्ड व्यवधान । देशगत और कालगत } Time & space आरम्भ

कर्त्ता—कर्म ज्ञाता—ज्ञेय भोक्ता—भोग्य	दोनों में विराट् व्यवधान

३. क्रमशः व्यवधान घटता है ।

फलस्वरूप, कर्त्ता और कर्म

एकत्व = क्रियाशक्ति

ज्ञाता और ज्ञेय एकत्व = ज्ञानशक्ति भोक्ता और भोग्य एकत्व = इच्छाशक्ति सत्य, ज्ञान और आनन्द की उत्पत्ति	चित्-शक्ति-स्फुरण

२३.६.३८ :

कभी-कभी पुण्य की अपेक्षा पाप भी उत्कर्षज्ञापक होता है। 'क' कोई कर्म करता है—करके अनुताप करता है कि काम ठीक नहीं हुआ। खूब आत्मग्लानि होती है। 'ख' भी वही काम करता है। लेकिन, वह उसे बुरा नहीं समझता।

ऐसी स्थिति में 'ख' को विशेष पाप नहीं होगा—सामान्य पाप हो सकता है।

[१]

२६.६.३८ :

पहले देखना, उसके बाद होना, उसके बाद भेद करना।

पहले देवता का दर्शन चाहिए, दर्शन के बाद देवता होना होगा, उसके बाद देवता से आगे जाना होगा। देवता को अंगीभूत करना होगा, तभी देवता शक्तिरूप में परिणत होंगे।

देवता का दर्शन क्यों नहीं पाते हैं? इसलिए कि आवरण है। इसे तोड़ना ही प्रथम साधना है। देवता को देखकर भी स्वयं देवता क्यों नहीं हो सकता? इसलिए कि आवरण है। यह आवरण तोड़ना ही द्वितीय साधना है। देवता होकर भी देवता के अतीत नहीं हो सकता—आवरण होने के कारण। इसे तोड़ना ही तृतीय साधना है।

प्रथम आवरण टूटता है कर्म से।

द्वितीय आवरण टूटता है उपासना से।

तृतीय आवरण टूटता है भक्ति से।

उपासना का पर्यवसान ही ज्ञान है—जिससे देवता से अभेद होता है। इसके बाद कृपा के फल से भक्ति आप ही आती है।

देवता भूत से ढके हैं—आत्मा देवता से। पहले भूत से extract करके देवता को बाहर करना होता है—यही कर्म है। देवता के बाहर होने से, प्रकट होने पर ही, उपासना

आरम्भ होती है—जिसका फल है तादात्म्य-लाभ। इसके बाद ज्ञान के द्वारा देवता से extract करके आत्मा को बाहर करना। आत्मा पूर्णरूप से बाहर निकल आये, तो ज्ञान शेष होता है। तब एकमात्र आत्मा ही रहती है—तब आत्मा परमात्मा से अभिन्न होती है। उसके बाद भक्ति के द्वारा आत्मा से परमात्मा अलग होकर बाहर होते हैं। परमात्मा की पूर्णता ही भक्ति का चरम है। तब परमात्मा और पूर्णब्रह्म अभिन्न होते हैं। उसके बाद पूर्ण ब्रह्मज्ञान में परमात्मा से पूर्णब्रह्म अलग होते हैं। यह पार्थक्य पूर्ण होने से ही फिर ब्रह्मज्ञान नहीं रहता।

एक पूर्णब्रह्म ही रहते हैं।

प्रथम अवस्था—भूत indentical with देवता। भूतरूप में ही प्रकाश। कर्म नहीं करने तक। कर्म करने से देवता अलग होता है। तब भूत उसी के अन्तर्गत और शक्ति-स्वरूप होता है। भूत की पृथक् सत्ता नहीं रहती। यही है भूत-जय। कर्म का शेष = भूत का देवता-स्वरूप दर्शन होता है। कर्म का आरम्भ = देवता का भूत-रूप में दर्शन।

द्वितीय अवस्था—देवता indentical with आत्मा। देवता-रूप में ही आत्मा का प्रकाश। उपासना के द्वारा आत्मा अलग होती है। तब देवता उसी के अधीन और शक्तिस्वरूप होता है। देवता की अलग सत्ता नहीं रहती। यही है देवता-जय। उपासना का शेष = देवता का आत्मरूप में दर्शन। उपासना का आरम्भ = आत्मा का देवता-रूप में दर्शन।

तृतीय अवस्था—आत्मा indentical with परमात्मा। आत्मा-रूप में परमात्मा का प्रकाश। ज्ञानबल से परमात्मा अलग होते हैं। तब आत्मा उसी के अन्तर्गत और शक्ति-स्वरूप होती है। आत्मा की पृथक् सत्ता नहीं रहती। यही है आत्मजय। ज्ञान का शेष = आत्मा का परमात्मा-रूप में दर्शन। ज्ञान का आरम्भ = परमात्मा का आत्मरूप में दर्शन।

चतुर्थ अवस्था—परमात्मा indentical with पूर्णब्रह्म। परमात्मा-रूप में भान होता है। भक्तिबल से पूर्णब्रह्म अलग होते हैं। तब परमात्मा उसी के अन्तर्गत और भक्तिस्वरूप होते हैं। परमात्मा की पृथक् सत्ता नहीं रहती। यही है परमात्मा-जय। भक्ति का शेष = परमात्मा का पूर्णरूप में दर्शन या ब्रह्मविद्या। भक्ति का आरम्भ = पूर्ण का परमात्मा-रूप में दर्शन।

पंचम अवस्था—पूर्ण में स्थिति। तब ब्रह्मविद्या या पूर्ण ज्ञान उसी के अन्तर्गत होता है।

बाह्य भाव = भूतदर्शन।
बाह्य अन्त = भूत में स्थिति।
कर्म का आरम्भ और कर्म का विकास = भूत–देवता।
कर्मान्त या ज्ञान no. 1 i.e. उपासना = देवता-दर्शन
(भूत subject) leading to देवता में स्थिति।

उपासना-विकास = देवता = आत्मा ।

उपासनान्त या ज्ञान no. 2 i.e. ज्ञान proper } = आत्मदर्शन (देवता subject) और आत्मस्थिति = पुरुषकैवल्य ।

ज्ञान का विकास = आत्मा परमात्मा

ज्ञानान्त या भक्ति—परमात्मदर्शन (आत्मा subject) और परमात्मस्थिति ।

भक्ति का विकास = परमात्मा पूर्णब्रह्म

भक्ति की आत्मा या ब्रह्मविद्या—पूर्णब्रह्म-दर्शन

ब्रह्मविद्या का अन्त = पूर्ण में स्थिति ।

२८.६.३८ :

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमय
आविराविर्म एधि ।

असत् (तम, मृत्यु)

सत्-तम (मृत्यु) = सत् । प्रथम दीक्षा, सत्त्व-उदय (शुद्धसत्त्व—शुद्धा प्रकृति—कुण्डलिनी-जागरण) ।

सत्-ज्योति (मृत्यु) = सच्चित् । द्वितीय दीक्षा, उससे चैतन्य (पुरुष का जागरण)

सत्-ज्योति (अमृत) = सच्चिदानन्द ब्रह्म । तृतीय दीक्षा, उससे आनन्द (महामिलन)

सत्-ज्योति (अमृत) = सच्चिद्ब्रह्म ।
सत्-(ज्योति, अमृत) = सद्ब्रह्म ।

२.७.३८ :

[आज एक गहरे तत्त्व का अनुभव किया ।]

चक्षु वस्तुतः एक है । वह दोनों बाहरी चक्षुओं के बीच में भीतर की ओर है । वही शुद्ध मन है । वहाँ द्रष्टा की स्थिति है । वहाँ एक point है—इसीलिए वह बिन्दु-स्थान है । वह एक चक्षु जब उस point से मिलित होता है, अर्थात् जब वह बाहर नहीं आता, तब दृश्य जगत् का भान नहीं होता, तब जगत् नहीं रहता । क्योंकि, वहीं से प्रकाश आकर ही तो जगत् को प्रकाशित करता है । जगत् उस मन का विजृम्भण-मात्र है । जगत् से समेटकर मन को उस स्थान में स्थापित करने से ही मन शुद्ध होता है—जगत् अव्यक्त हो जाता है । निर्विकल्पक समाधि या मनोनिरोध वहीं पर होता है । वही द्रष्टा की स्वरूप-स्थिति या आत्मसाक्षात्कार है । वहाँ गुण की क्रिया नहीं है, इसीलिए, वहाँ ज्योति भी नहीं है । केवल स्वप्रकाश आत्मचैतन्य है । नीचे, बुद्धितत्त्व

तक ज्योति है—इसलिए कि गुण है। ज्योति सत्त्वगुण से ही विकास पाती है। सत्त्व या मन शुद्ध आत्मसम आत्मा के साथ अभिन्न है और सत्त्वक्रिया नहीं होने से **(सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्)** आत्मा परमात्मा से अभिन्न।

[उस समय भिन्न भाव से परमात्मा का दर्शन नहीं होता। उसके लिए गुण चाहिए—विक्षुब्ध शुद्ध सत्त्व चाहिए।]

यह अवस्था मन की ओर से निर्विकल्पक समाधि है—आत्मा की ओर से आत्म-साक्षात्कारजन्य, स्वरूप-स्थिति या पुरुष-कैवल्य, परमात्मा की ओर से कार्यब्रह्मस्थिति है।

मन का निरोध आत्मा में भी हो सकता है, अनात्मा में भी हो सकता है। जड या अनात्मा में होने से वह जड समाधि है और मिश्र या चेतन में होने से सविकल्पक समाधि। शुद्ध आत्मा में या चैतन्य में होने से वह निर्विकल्पक समाधि है। सविकल्पक और निर्विकल्पक उभयत्र चैतन्य है, इसलिए उभयत्र आनन्द है। लेकिन, सविकल्पक आनन्द रूपाश्रित है। निर्विकल्पक में अरूप—यही भेद है। जड समाधि में आनन्द नहीं है।

इसके ऊपर ही एक परदा है—veil, उसे हटाये विना ब्रह्मराज्य में प्रवेश नहीं होता, जीवत्व नहीं कटता।

अधोदृष्टि से जगत्-दर्शन (ब्रह्माण्ड)—कर्म।
समदृष्टि से आत्मदर्शन (कैवल्य)—ज्ञान।
ऊर्ध्वदृष्टि से भगवत्-दर्शन (भगवद्धाम)—भक्ति।
अपनी चेष्टा से जीव उस परदे को नहीं हटा सकता।

कैवल्य-अवस्था में भी वह परदा रह जाता है—वह दीक्षा से नष्ट होता है। परमेश्वर या गुरु दीक्षारूप क्रिया द्वारा उस परदे को (तिरोधायक द्रव्य या मल) फाड़ देते हैं।

[द्वैत शैवागम में यह मूल परदा = मल। यह **परावाक्** है—जिसके नहीं कटने से पशुत्व नहीं मिटता,—शिवत्व का संचार नहीं होता। पश्यन्ती में आत्मसाक्षात्कार होता है—परा में कैवल्य। पुरुष-स्वरूप में यह **परावाक्** स्वच्छतम रूप में जड़ित है—इसीलिए पुरुष शिवत्व से वंचित होता है। विज्ञानाकल-अवस्था में इस परदे का अनुभव होता है।]

इस परावाक्-रूप शब्दब्रह्म को भेदन करना ही पूर्णज्ञान या बोधलाभ है। बोध-रूपी असि के द्वारा ही यह भेदन होता या कटता है।

बौद्धों के दो आवरण हैं—क्लेशावरण और ज्ञेयावरण। पहले के कटने से ही कैवल्य या अर्हत्-भाव तक हो सकता है; लेकिन ज्ञेयावरण रहता है, अर्थात् तब द्रष्टाभाव-मात्र सिद्ध होता है। दृश्य या ज्ञेय पृथक् रह जाता है। उसके बाद unification में दोनों क्रमशः मिलित रहते हैं। चरम में ज्ञेयावरण नहीं रहता। यही अद्वैत स्थिति है।

शिवत्व-लाभ होने से शक्तिमत्ता होती है। क्रमशः शक्ति का विकास होता है, चरम में शक्ति और शिव समान होकर समरस होते हैं। यह मिलन की पूर्णता से होता है।

वह समान शिव और समान शक्ति = आनन्द की पूर्णता; अब शिव = कृष्ण, शक्ति = राधा। दोनों सर्वथा समरस—लेकिन मिलन-विरह है। अद्वैत में यह नित्यलीला चलती है। पूर्णब्रह्म में सर्वसमन्वय।

कैवल्य से जीव का उद्धार करना ही सद्गुरु की दीक्षा का मुख्य उद्देश्य है। प्रकृति-लय अथवा कर्मचक्र से उद्धार के लिए सद्गुरु की आवश्यकता नहीं होती। अवश्य सामयिक। स्थायी उद्धार सद्गुरु के हाथ में है।

४.७.३८ :

मर्कटकिशोरन्याय = बच्चा माँ को पकड़ता है।
मार्जारकिशोरन्याय = माँ बच्चा को पकड़ता है।

जीव जब देव को पकड़ता है, तब भी जीव के गिरने का डर रहता है। देव जब जीव को पकड़ते हैं, तब डर नहीं रहता। यही वास्तविक आश्रयदान है।

आठवाँ अध्याय

अनुग्रह

जुलाई (?) : ३८ पुरीधाम :

जीव का निग्रह अनादि, अनुग्रह अनन्त है। निग्रह का अन्त अनुग्रह का आदि समकालीन है। वास्तव में, अनुग्रह का सूत्रपात होने से ही निग्रह घटना शुरू हो जाता है। इससे पहले जीव विशुद्ध स्वरूप में पूर्ण चैतन्य के अंश-रूप में अवस्थित था। पूर्ण चैतन्य के एकांश में नित्य गुणमयी माया रहती है। मायावच्छिन्न चैतन्य के अनन्त अंश हैं। एक-एक अंश अणुस्वरूप एक-एक जीव। ये अणु चिन्मात्र, दुःखहीन और गुणातीत हैं।

[अनादिनिगृहीत जीव-स्वरूप : आदिसृष्टि की पूर्णकालीन महासुषुप्ति]

माया में सब जीव अनादि काल से महानिद्रा में निमग्न हैं। निद्रित रहने के कारण उनका माया से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसीलिए, वह विज्वर और निर्गुण कहे जाते हैं। यद्यपि, वह पूर्ण में ही हैं, तथापि सुषुप्त भाव से हैं, इसलिए पूर्ण से नहीं मिल सकते और पूर्ण आनन्द का आस्वादन नहीं कर सकते।

भगवान् पूर्ण चैतन्यस्वरूप हैं। उनके तीन हिस्से में माया नहीं है, एक हिस्से में माया है। मायाहीन अंश अविकृत है। जिस अंश में माया है, वह भी अविकृत है, लेकिन माया के कारण विकृत लगता है। उसे आश्रय करके माया विकृत जगत् और जीव की सृष्टि करती है।

जीव भगवदंश है। सृष्टि से पहले यह इस माया में प्रसुप्त था। उस समय स्व या पर—यह बोध इसे नहीं था। तथापि, यह तब भी विशुद्ध ही था—कारण, विशुद्ध का अंश। माया का आवरण-मात्र था।

शुद्ध जीव की प्रसुप्ति = शुद्ध जीव मायावृत होकर भी माया से क्रियाहीन है—यही उसकी सुप्ति है।

पूर्ण चैतन्य के मायाधिकृत अंश से ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय पुनः-पुनः चलता है।

भगवान् = अविकृत मायाहीन नित्य चैतन्य। वह सुप्त जीव के अन्तर में ज्ञान का संचार करने से जागता है। जीव जागकर पूर्ण या मूल चैतन्य की ओर लक्ष्य स्थिर कर सकता है और माया की ओर भी लक्ष्य स्थापित कर सकता है।

पहले में—मायामुक्ति ही फल है।
दूसरे में—मायाबन्धन फल है।

जागकर जीव सन्धि में अवस्थान करता है—एक ओर पूर्व प्रसुप्ति, दूसरी ओर जागरण। यह सन्धिस्थल ही उसकी मुक्ति और बन्धन का केन्द्र है। यह स्थिति ही सान्ध्य-स्थिति है। इस स्थिति से (क) जीव अपने प्रभु की ओर ऊपर लक्ष्य करके मायामुक्त होकर मुक्ति पाता है। तब सन्धिस्थिति अमृततुल्य होती है, लक्ष्यभेद में औषध बनती है। (ख) और अधः की ओर लक्ष्य करने से माया में आबद्ध होकर संसारी होता है। यहाँ वह स्थिति विषतुल्य होती है, व्याधि का काम करती है। पूर्ण चैतन्य स्वभावतः करुणा-

परायण हैं। वह सुप्त जीव को नाद से जगा देते हैं, ताकि जीव जागकर उनकी ओर अभिमुख हो, उनमें मिल सके, मुक्त और सुखी हो। जीव जागता तो है, पर जागकर अपनी धारणा नहीं कर सकता। जागना माने चेतन होना। प्रसुप्त अवस्था में चिन्मात्र था, चेतन नहीं था। चेतन होकर भी धारणा क्यों नहीं कर सकता? कारण, जीव अणु है, इसलिए स्वरूपानुभूति-हीन है—इसीलिए धारणा नहीं आती।

प्रकारान्तर से, प्रबुद्ध जीव पूर्ण चैतन्य को ही स्वकीय स्वरूप समझता है—इस ज्योति को बृहत् या ब्रह्म समझता है। यानी, उसे यह बोध उत्पन्न होता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ।' यही सर्वप्रथम अहम्भाव का आश्रय है---यह अशुद्ध जीवभाव है। शुद्ध दृष्टि अपने प्रतिबिम्ब पर पड़कर मलिन प्रतिबिम्ब-दृष्टि होती है—स्वयं को मलिन समझती है। 'एकोहं' भाव ही यह ब्रह्मज्ञान है। यही प्रमाद है।

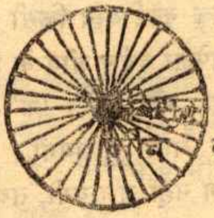
ब्रह्म

विशुद्ध जीव = दीपकलिका (घन ज्योति) (या बिम्ब)।

ब्रह्म = दीपप्रभा या प्रकाश (प्रतिबिम्ब) या छाया।

अतएव, ब्रह्म = विशुद्ध जीव की बिखरी हुई अवस्था।

विशुद्ध जीव भगवदंश होने के नाते विशुद्ध।

विशुद्ध जीव धीर या स्थिर चैतन्यस्वरूप होता है—वह रसरूप और अस्ति-रूप है। रसरूप में उसका अस्तित्व है। यह (शुद्ध जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध) सब अवस्था में (आस्वादित और अनास्वादित) अनिर्वचनीय होता है, इसलिए रसरूप में वर्णित होता है। स्व-स्वरूप में वह अस्तित्व-रूप में बोधगम्य होता है। वह एक भी नहीं, अनेक भी नहीं। उसकी सत्ता में ब्रह्म की सत्ता होती है, ब्रह्म की सत्ता में जीव की सत्ता।

दीपकलिका और उसका प्रकाश या प्रभा वास्तव में दो नहीं, भिन्न नहीं—किन्तु दीपकलिका (= शुद्धजीव) चेतन होकर अपने प्रकाश को दूसरा समझता है और तद्गत होता है—फलस्वरूप स्वरूप-च्युत होकर बहुत स्थान अधिकृत करता है। वही बहुस्वरूप होता है।

विशुद्ध जीव का स्वरूप मनुष्य-रूप, नर-रूप है। पूर्ण चैतन्य का स्वरूप भी वही। पहला अंश है, दूसरा अंशी। यही अन्तर है। यह मनुष्य-रूप स्थिरता-सम्पन्न है—मुक्तावस्था में यह (विशुद्ध जीव भी पूर्ण का स्वरूप) स्थिति पाई जाती है। हम जो मनुष्य देखते हैं, वह स्थायी नहीं, जन्मग्रहण से बदलता है। प्रकृत मनुष्यत्व-लाभ होने से (मुक्ति से) वह फिर नहीं बदलता। आदि मनुष्यरूपी जीव ब्रह्मरूप भास प्राप्त करके नाना वाणी-प्रकाश करता है—वह असार है।

मूल मनुष्य = आदिपुरुष = गुरु (प्रकाशविशिष्ट) = हंस।
= राम (सभी जीवों में रमण किये हुए हैं)।
= चैतन्य = शुद्धजीव = आत्मा।
मनुष्य की भूल से ही सब कुछ होता है—ब्रह्म और जगत्।

नवाँ अध्याय

विश्वास

७.७.३८ :

मैं अगर आग को आग न जानूँ और न ही विश्वास करूँ, किन्तु उसमें हाथ डालूँ, तो हाथ जलेगा। द्रव्यशक्ति बिना किसी विचार के अपना काम करेगी। उसे हमारे विश्वास-अविश्वास से कोई वास्ता नहीं। लेकिन, ऐसी अवस्था भी है—हाथ नहीं जलता। उस समय द्रव्यशक्ति काम नहीं करती। क्यों? प्रतिबन्धकवश। कौन-सा प्रतिबन्धक? जो भी हो, मूल में प्रबल विश्वास होता है। विरुद्ध द्रव्य हो, मन्त्र हो, इच्छाशक्ति हो—सारी बात वही है। अतएव, असल बात यह है :

द्रव्यशक्ति भी किसी की विश्वासजात होती है। मुझसे प्रबल कोई यदि किसी द्रव्य में किसी शक्ति को स्वीकार करें, इच्छा करें, मानें—तो उसकी अपेक्षा दुर्बल जीव के लिए वह नियत होती है—उसका विश्वास रहे या नहीं रहे। जैसे, 'क' और 'ख'। 'क' बड़ा योगी है। उसने विश्वास किया, आग जिसमें जलाये। फलस्वरूप आग जलायगी। 'ख' यद्यपि 'क' से दुर्बल हो, तो वह जितना ही विश्वास करे कि आग नहीं जलायगी, तथापि आग जलायगी। प्रबल की इच्छा से जो आग है, दुर्बल की इच्छा से उनकी सत्ता और क्रिया नष्ट या अभिभूत नहीं हो सकती। इसलिए, 'ख' विश्वासी या अविश्वासी जो भी हो, आग उसे जलायगी। लेकिन, 'ग' यदि 'क' के बराबर या उससे श्रेष्ठ हो, तो आग उसे नहीं जलायगी, यदि उसकी इच्छा जलाने की न हो।

एक बात और—'ख' यदि 'क' से श्रेष्ठ योगी का भक्त हो, तो भक्ति के प्रभाव से 'क' या उस योगी की इच्छा के कारण आग नहीं भी जला सकती—'ख' के दुर्बल होने पर भी।

अतएव, द्रव्यशक्ति मूलतः इच्छा का फल है। दुर्बल जगत् के मंगल के लिए बड़े-बड़े इच्छाशक्तिमान् योगी इस प्रकार प्रयोजन के अनुसार वस्तु में शक्ति-आधान कर गये हैं। अवश्य, यह भेददृष्टि से। नहीं तो ईश्वर की इच्छा मानने से और किसी की इच्छा मानने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु, पहले ही ईश्वरेच्छा मानना विधेय नहीं। सबके लिए यह मानना सहज नहीं। 'क' की इच्छा से यदि 'अ' सादा हो, 'ख' की इच्छा से वह लाल हो सकता है—बशर्त्ते कि 'ख' श्रेष्ठतर हो। 'ग' यदि और भी बड़ा हो, तो वह उसे फिर से सादा कर सकता है या दूसरा रंग दे सकता है। सर्वत्र ही ईश्वरेच्छा मूल है—परन्तु उपाधि है। इसलिए, पहले नाना इच्छा मानना ही अच्छा है।

किन्तु, अन्त में ईश्वरेच्छा को मानना ही होगा। ईश्वरेच्छा-रूप में दिखाई देने पर दूसरी इच्छा के द्वारा उसे बदला नहीं जा सकता। क्योंकि सारी इच्छाएँ ही उसके नीचे हैं—प्रतिबिम्ब-मात्र।

ईश्वरेच्छा साधारणतः गुप्त होती है—इसीलिए वस्तु का यथार्थ रूप गुप्त होता है। अन्य इच्छा जैसे-जैसे प्रबल होती है, वैसे-वैसे वस्तु प्रतीयमान होती है। परन्तु, अन्तराल में ईश्वरेच्छाजन्य वस्तुरूप अप्रतिहत ही रहता है। रूपान्तर जितना भी हो, मूल रूप नष्ट नहीं होता।

पर, वह भी हो सकता है, ईश्वरेच्छा यदि बदले। ईश्वर स्वतन्त्र हैं—बदलेंगे या नहीं, कहा नहीं जा सकता। बदल भी सकते हैं। और, यदि पूर्ण का स्वातन्त्र्य माना जाय, तो ईश्वरेच्छा भी नहीं रहती; क्योंकि वह भी उस स्वातन्त्र्य का ही विलास है।

अतएव, वस्तुशक्ति तीन प्रकार की है :

१. पूर्ण की इच्छाजात; २. ईश्वर की इच्छाजात; ३. योगी जीव की इच्छाजात।	सहज शक्ति और आधेय शक्ति का भेद इस आलोचना से समझा जा सकेगा।

सहज शक्ति वस्तुसृष्टि के साथ-साथ वर्त्तमान रहती है। वही उस वस्तु की स्वाभाविक शक्ति है। यही इश्वरेच्छाजन्य शक्ति है। वस्तु और उसकी शक्ति का आविर्भाव समकालीन है—तिरोभाव भी वही। सृष्टि से प्रलय तक, जबतक वह वस्तुसत्ता है, तबतक वह शक्ति रहती है।

आधेय शक्ति जीवकृत है। यह परवर्त्ती है—अपेक्षाकृत अल्पकाल स्थायी। इससे भी लोगों का उपकार होता है—बड़े के संकल्प से छोटे शक्ति पाते हैं। लेकिन, छोटा आधानकर्त्ता यदि बड़े के बराबर हो, तो वह शक्ति काम नहीं करती है।

वैसी स्थिति में सहज शक्ति का सहारा लेना होता है। जीव जब ईश्वरभावापन्न होता है, तो सहज शक्ति उनकी अपनी शक्ति या इच्छा के विकास-रूप में ही हो जाती है।

फिर भी, नित्य-ईश्वर और कार्य-ईश्वर की इच्छा में भेद रहता ही है। इसीलिए, कार्य-ईश्वर की इच्छा से स्तम्भित होने पर भी सहज शक्ति नष्ट नहीं हो सकती। स्तम्भन भी सर्वदेश और सर्वकालगत नहीं हो सकता।

विश्वास से ही शक्ति का आधान होता है। सहज शक्ति और आधेय शक्ति नहीं रहने पर भी विश्वास के बल पर वस्तु में अभीष्ट शक्ति का आधान होता है। लेकिन, दुर्बल व्यक्ति को विश्वासबल नहीं होता। अतएव, उसके लिए वस्तुनिष्ठ शक्ति (सहज या आधेय) आवश्यक है।

जितना ही प्रत्यक्ष किया जाय, विश्वास की आवश्यकता रह ही जाती है। किसी की शक्तिमत्ता देखी—उससे क्या ? मेरे उद्धार की शक्ति है या नहीं—कैसे जानूँगा ? जो दो सेर उठा सकता है, वह दस सेर उठा लेगा, इसकी कोई निश्चयता नहीं। और पूर्ण शक्ति है या नहीं, इसकी तो कोई परीक्षा नहीं चल सकती।

दया देखी। उससे क्या ? मुझपर दया करेंगे कि नहीं, यह कैसे समझूँ ? दस लोगों पर सम्भवतः की है— फिर भी सन्देह रह ही जाता है। सर्वजीव पर दया है या नहीं, जानने का उपाय नहीं है।

सर्वज्ञत्व भी यही है। इसलिए, जितनी ही विभूति क्यों न देखो, विश्वास का scope रहेगा ही।

जीवभाव की परीक्षा है, भगवद्‌भाव की परीक्षा नहीं है। हो नहीं सकती। जिसे मैं जाँचकर या विचार से समझ सकता हूँ, वह भगवान् नहीं है। वह जितने ही बड़े क्यों न हों, जीव ही हैं। उन्हें पकड़ने का प्रधान साधन विश्वास ही है।

८.७.३८ :

सब स्थान में सब शक्ति है। अटल विश्वास के अनुसार उसका स्फुरण होता है। संशय रहने से नहीं होता। संशय negative है, विश्वास—positive.

प्रश्न हो सकता है, आग की दाहिका शक्ति पर संशय हो, तो क्या आग नहीं जलायगी ? जलायगी; क्योंकि दाहिका शक्ति तो विश्वास का ही फल है। स्रष्टा की संकल्पजात शक्ति। मैं साधारण जीव, संशय करके उसे अन्यथा नहीं कर सकता। लेकिन, यदि मैं सत्य संकल्प की अवस्था तक पहुँचूँ, और तब यदि मैं विश्वास करूँ कि 'दाहिका शक्ति नहीं है', तो शक्ति काम नहीं करेगी। यद्यपि पूर्वसिद्ध का विश्वास दीर्घकाल-व्यापक है, इसलिए मेरा विश्वास exhausted होने से वह फिर काम करेगी।

इसलिए—

विश्वास से मिलती है वस्तु,
तर्क से वह बहुत दूर रहती है,
तर्क संशयप्रधान होता है।

८.७.३८ :

[१]

अपना आदर्श कारण में पाया जाता है। सूक्ष्म में बहुत कुछ कम—किन्तु कुछ मिलता है। सूक्ष्म स्थूल में सन्निहित है, इसलिए स्थूल के द्वारा कुछ प्रभावित होता है। मान लीजिए, गोपाल में खूब सेवक-भाव है। वह भगवान् की सेवा करना पसन्द करता है। परन्तु, स्थूल में वह शायद एक साधारण विषयी है। शायद कि वह सूक्ष्म में मन-ही-मन इच्छानुरूप सेवा करता है। परन्तु, सब समय उसमें वह खयाल नहीं जागता या याद नहीं रहता। सम्भवतः वह हृदय से वस्तुतः संयमी और ब्रह्मचर्यप्रिय है। वह सच ही संयमी है, उसे वह प्यार करता है। परन्तु, स्थूल जीवन में शायद हो कि वह असंयत है। ऐसी अवस्था में गोपाल के कारण को देखने से ही ideal गोपाल को देखा जायगा। वहाँ देखिएगा कि वह संयत ब्रह्मचारी, भगवान् का अनन्य और ऐकातिन्क सेवापरायण है।

उसके प्राणों की जो गूढतम आकांक्षा है, वह वहाँ पूर्ण होती है—कोई बाधा नहीं आती। सारी बाधाएँ स्थूल में ही हैं। कारण में ही निर्मल सत्त्व की सत्ता और लीला पाई जाती है।

मनुष्य के जीवन में कितना struggle है—होता है। वह इसी कारण से अस्फुट स्मृति और स्थूल के संघर्ष से उत्पन्न होता है। इस संघर्ष के मूल में है कर्म। कारण, कर्म के अतीत है।

मैं शुद्ध होना चाहता हूँ, फिर भी पाप करता हूँ, क्यों? कर्म-संसार मुझे जकड़कर कर्मजाल में डाल देता है। परन्तु, उससे अनुताप क्यों होता है? इसलिए कि, उस शुद्ध भाव या Inner ideal की स्मृति कुछ-कुछ जागती है। सबके अनुताप नहीं होता—उनकी वह स्मृति ठीक से नहीं जागती। एक घोर आवरण है। समय पर हृदय-आकाश के स्वच्छ होने पर अपना आदर्श जीवन हृदय में साफ दिखाई पड़ता है। मैं जो चाहता हूँ, वहाँ ठीक वही हो रहा होता है। परन्तु बाह्य जीवन वैसा नहीं।

इस बाह्य को अनुरूप कर पाने से ही आदर्श की प्राप्ति है। स्थूल में सम्पूर्ण नहीं होता जरूर, परन्तु बहुत-कुछ हो सकता है।

[२]

८.७.३८ : प्रातः :

दर्शन का माहात्म्य है।

[३]

८.७.३८ :

नित्यकर्म किये बिना दूसरा कर्म नहीं करना चाहिए। हृदय का परिष्कार करने के लिए ही, नित्यकर्म के अधिकार के लिए ही उपनयन या दीक्षा है। दीक्षा लिये बिना ठीक-ठीक नित्यकर्म नहीं चलता। इस कर्मफल से एक आलोक तैयार होता है और हृदय को आलोकित करता है। दीक्षा नहीं होने से वह आलोक कर्म द्वारा तैयार नहीं होता। लेकिन, ऐसा नहीं कि तीव्र कर्म होने से नहीं हो सकता। प्रतिदिन कुछ-कुछ आलोक पैदा करना चाहिए—फलस्वरूप, प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा करके हृदय शुद्ध होता है, धीरे-धीरे होता है। परन्तु प्रतिदिन जो अनेक प्रकार की पाप-चिन्ता होती है, पापाचरण होता है, उससे फिर आवरण आता है। नित्यकर्म से वह आवरण हट जाता है। दैनिक पापक्षय होकर चित्त का Standard—शुद्धि बरकरार रहती है।

यह कर्म तीव्रतर भाव से हो, तो वह आगन्तुक मल को हटाकर चित्त को और भी higher standard की शुद्धि प्राप्त कराता है।

इस प्रकार, सोलह आने के आसपास शुद्धि होने से ही ज्ञान का उदय होगा। तब पूर्ण शुद्धि होगी। पूर्ण शुद्धि ज्ञान के बिना नहीं होती।

कर्म के द्वारा पौने सोलह आना पवित्रता पाने पर ज्ञान आयगा ही। विलम्ब का कोई कारण नहीं। परन्तु, पहले भी आ सकता है—कृपा से। तब ज्ञान ही शोधन करता है। कर्म जो करता, वह ज्ञान ही करता है--बाद में अन्तिम क्षण में, ज्ञान अपनी मूर्त्ति धारण करता है।

[४]

८.७.३८ : प्रातः :

प्रकृति का आवरण हटते ही कर्म आरम्भ होता है। वही स्वाभाविक कर्म है--स्वभावज कर्म। अपने-आप होता है, सिखाना नहीं पड़ता।

आत्मा का आवरण हटने से ज्ञान जागता है। वही प्रकृत ज्ञान है। भगवान् का आवरण हटने से भक्ति जागती है। वही प्रकृत भक्ति है। पराभक्ति।

स्वाभाविक कर्म होते-होते आत्मा का आवरण कट जाता है। ज्ञान का उदय होने से उसकी साधना के द्वारा भगवान् का आवरण हट जाता है, पर भक्ति का उदय होने से उसकी साधना के द्वारा पूर्ण ब्रह्म का आवरण कट जाता है।

पहला आवरण काटना अपने हाथ में नहीं—शेष आवरण (परब्रह्म का) के कटने के बारे में भी यही है।

प्रथम आवरण कटने से ही मुक्ति होती है। यह अपरा मुक्ति है। इसके तीन स्तर हैं : (क) सिद्ध-स्तर, (ख) ज्ञानी-स्तर और (ग) भक्त-स्तर।

इन तीनों ही अवस्थाओं में जीव अपूर्ण रहता है। शेष आवरण कट जाने से परामुक्ति होती है। यह पूर्णब्रह्मभावापन्नता है। यहाँ जीव की पूर्णता सिद्ध होती है।

अपूर्ण जीव मुक्त होकर भी तीनों स्तर में युगपत् नहीं रहता। सिद्धि में ज्ञान और भक्ति नहीं, ज्ञान में सिद्धि और भक्ति नहीं, भक्ति में सिद्धि और ज्ञान नहीं।

पूर्ण जीवसिद्धि (परामुक्ति) में समान रूप से सिद्ध, ज्ञानी और भक्त होता है।

[५]

८.७.३८ : अपराह्न :

हम विकार में पड़े हुए हैं। इसकी लयावस्था आँखें बन्द करने से देखी जाती है। खोलने पर विक्षेपावस्था देखी जाती है। यही अधोदृष्टि और बाह्यदृष्टि का दर्शन है।

अधोदृष्टि से प्रकृति का आवरण दृष्टिगोचर होता है—अन्धकार-रूप में। बाह्य-दृष्टि से जो जगत् दिखाई पड़ता है, वह उस अन्धकार से उत्पन्न है---अन्धकार में ही स्थित और अन्धकार में ही लीन होता है।

यही संसार है। इससे गुरु की कृपा से उद्धार होता है।

सबसे पहले प्रकृति का जागरण चाहिए। विकृति से प्रकृति में जाना चाहिए। वह अन्धकार ही हमारी प्रकृति होकर वर्त्तमान रहता है—वही प्रलय का अन्धकार है। उस अन्धकार से बाहर जाना होगा—'तमसः परस्तात्।' यथार्थ प्रकृति ज्योतिर्मय है।

कुण्डलिनी निद्रित होने के कारण वह अन्धकार व्याप्त है। वही जडत्व, वासना, क्लेश आदि है।

गुरु के कटाक्ष से हृदयाकाश आलोक से भर उठता है। भीतर एक व्यापक स्वच्छ आकाश प्रकाशित होता है। उस समय चित् स्थूल देह से बहुत-कुछ निर्मुक्त होता है—देहात्मबोध लगभग नहीं रहता। देह से बाहर होते ही चारों ओर एक अनन्तव्यापी आलोक समुद्र में स्वयं तिरता रहता है। स्वयं द्रष्टा होता है। द्रष्टा होने से स्वच्छ आकाश देखता है। जिसे पहले स्थूल जगत् समझता था, वह उस समय उस आलोक-समुद्र की तरंग-सा लगता है। यह समझ में आता है कि वह तरंग प्राक्तन इच्छा से उद्भूत हुई है। इच्छा के उदित होते ही तदनुरूप दृश्य दिखाई देता है। पहले का दृश्य लुप्त हो जाता है। परन्तु, यह लोप उसकी अपनी दृष्टि से होता है, जगत् की दृष्टि से नहीं। यह दृष्टि भी इसलिए subjective है।

[क्रम से समष्टिमूलक जीवदृष्टि लेकर देखने से वह सृष्टि या लोप practically objective होता है—परन्तु, फिर भी, वास्तव में subjective ही रहता है। ऐश्वरिक दृष्टि पाने पर objective होता है।]

ज्योति का विकास या विस्तार होने से ही स्थूल का एक प्रतिबिम्ब उस ज्योति पर पड़ता है। उसी का सहारा लेकर द्रष्टा कार्य करता है। द्रष्टा की चिन्ता ही क्रिया है।

प्रकृति का विकास सम्यक् होने पर वह प्रतिबिम्ब—जो स्थूल का आकार था—अपने आकार में प्रकट होता है। पहले चिन्त्य आकार उसमें देखा जाता है—देव-देवी आदि। तन्मयता गहरी होने से वह समग्र आकार ही वह सूक्ष्मरूप धारण करता है तथा वह आप ही अपने को देखता है। इसमें एक क्रम है—जैसे गणेश-दर्शन। पहले अपने विराट् आकार में (प्रतिबिम्ब) गणेश-दर्शन (in हृदय)। बाद में, वह प्रतिबिम्बाकार पूरा-का-पूरा गणेश हो जाता है। ऐसे ही और-और आकार भी होते हैं। इन सबके बाद प्रकृति आविर्भूत होती है। यही प्रकृति ही जगज्जननी है—देवता आदि की भी प्रसूति।

क्रम से एक समय आता है—तब समझ में आता है—'मैं' स्वयं ही प्रकृति हूँ। जीव तब प्रकृति के स्वरूप में दर्शन करता है—अपने को जगत् का प्रभव समझता है। उसके बाद फिर प्रकृति का दर्शन नहीं होता। अपने को जाग्रत् पुरुष-रूप में देख पाता है। किन्तु, अकेले।

निर्विकल्पक अवस्था

विकास नहीं है। संकल्प है।	विकल्प भी नहीं। संकल्प भी नहीं। यही यथार्थ निर्विकल्पक।

निर्विकल्पक में सत्त्व और पुरुष अलग होते हैं, इसलिए दोनों ही शुद्ध होते हैं। जबतक बिलकुल अलग नहीं होते, तबतक अस्मिता रहती है—अभिमान रहता है। वह शुद्धज्ञान नहीं। अस्मि-रूप में जो पूर्वनिर्विकल्पक है, वही आत्मज्ञान है। उसके बाद आत्मस्थिति या कैवल्य। उस समय सत्त्व में पुरुषज्योति पड़ती नहीं। इसीलिए, ज्ञान नहीं रहता। पुरुष से जो चित्-शक्ति विकीर्ण होती है, वही पुरुषज्योति है। आत्मस्थिति में वह चित्-शक्ति विकीर्ण नहीं होती, सत्त्व का भी विसदृश परिणाम नहीं होता। तब वह सत् असतकल्प और वह चित् अचित्कल्प होता है। भगवत्कृपा से दोनों ही जागते हैं—इसलिए कि ह्लादिनी पड़ती है। तब दोनों मिलना शुरू करते हैं। इसी से पराभक्ति। उस समय जीव की अपनी इच्छा आदि नहीं रहती। लीलाराज्य—योगमाया-राज्य। विशुद्ध सत्त्वमय धाम ही कारणजगत् है। शुद्ध धाम। योगमाया-राज्य। आनन्दमय कोष।

दसवाँ अध्याय

जपतत्त्व

१२.७.३८ :

वाचिक जप—अधम है। क्योंकि, तेज बाह्यवायु द्वारा बाहर बिखर जाता है। ज्यादा संचित नहीं हो सकता।

उपांशु जप, कण्ठजप

मानसजप

हृदयजप

असंख्यजप

सभी जप में वायु की क्रिया है। सूक्ष्म जप में वायु की क्रिया भी सूक्ष्म होती है। मानसजप या चिन्ता भी वायु की क्रिया के विना नहीं होती। जहाँ क्रम है, वहीं वायु है। आकाश में जो जप है, उसमें क्रम नहीं, अर्थात् क्रम एकत्वानुबिद्ध है। वह निरन्तर है। स्थूलाभिमान या बाह्यबोध रहते हुए जप स्थूल होता है, सूक्ष्माभिमान रहते हुए जप सूक्ष्म होता है। इस स्थूल जप का भी सूक्ष्मत्व है और सूक्ष्म जप की भी स्थूल दिशा है।

मानस जप की परावस्था ही ध्यान है। मानस जप मन तक। समाधि तक बुद्धि। उसके बाद ज्ञान।

जप करते-करते तेज उत्पन्न होता है। वह अन्तर्दृष्टि के सम्मुख देखा जाता है।

१३.७.३८ :

[१]

बिन्दु या वीर्य की अधोगति ही मृत्यु है, उसकी ऊर्ध्वगति ही अमृत। बिन्दु की गति से ही सृष्टि। अधोगति से प्रपंच-सृष्टि—ऊर्ध्वगति से दिव्यधाम की सृष्टि। बिन्दु जहाँ स्थिर है, वहाँ सृष्टि नहीं। जो अमृत है, वही आनन्द है।

पुरुष और प्रकृति के अशुद्धावस्था में मिलित होने से अधोगति होती है—वही संसार है। पुरुष और प्रकृति शुद्ध या चेतन होकर मिलित हों, तो बिन्दु की ऊर्ध्वगति होती है—तभी से आनन्द का आविर्भाव। वही है भक्तिरसास्वादन। अमृत।

[२]

ऊर्ध्व और अधः—दोनों में स्थिति।

जीव कैवल्य तक उठे (ज्ञानबल से), तो उसकी अधोगति नहीं रहती। लेकिन, वह पूर्णत्व नहीं है। जीव शिव होकर (भक्तिबल से) यदि कैवल्य प्राप्त हो, तो उसकी ऊर्ध्वगति भी नहीं रहती। उसके बाद पूर्णत्व।

जीवभाव का शोधन किये विना कैवल्य में जाने से—कभी-न-कभी शिवभाव की प्राप्ति के लिए दीक्षा लेनी ही होगी। वैसी स्थिति में भक्ति के पथ से चलकर ऊर्ध्वगति समाप्त करके शिवभाव की पूर्णता में कैवल्य पूर्ण रूप से प्राप्त होगा। उसके बाद पूर्णत्व।

जीवभाव की पूर्णता से आत्मदर्शन होता है—आत्मस्वरूप में स्थिति होती है—उसके बाद शिवभाव का उदय होता है। उसके बाद शिवभाव की पूर्णता से परमात्मदर्शन होता है और बाद में परमात्मस्वरूप में स्थिति होती है। उसके बाद पूर्णत्व।

अपरोक्ष आत्मदर्शन की एक अवस्था है। उस अवस्था में त्रिगुणात्मिका प्रकृति से अपने को विविक्त पाया जाता है। बाद में स्थिति भी होती है।

जो भगवद्धाम में पहुँचते हैं, उनके अपरोक्ष भगवद्दर्शन की भी एक अवस्था है। उस अवस्था में शुद्ध सत्त्वात्मिका प्रकृति से अपने को विविक्त रूप में पाया जाता है। बाद में स्थिति भी होती है।

इसके बाद पूर्णता। उस समय अपने आत्मरूप का परमात्मरूप में तो दर्शन होता ही है, उसके अलावा शुद्ध और अशुद्ध प्रकृति-रूप में भी दर्शन होता है। वह भी, जो अपने बाहर नहीं, यह समझ में आता है। इसलिए, आत्मदर्शन अपूर्ण है—व्यापकतर होने पर भी परमात्मदर्शन अपूर्ण है।

आत्मदर्शन पहले परोक्ष भाव से होता है—बाद में अपरोक्ष भाव से। अनात्मदर्शन द्वैतदृष्टि है—परोक्ष आत्मदर्शन भी वही है। लेकिन, उच्चतर। दोनों में ही प्रकृति का सम्बन्ध रहता है।

१३.७.३८ :

यहीं बैठे-बैठे मुँदी आँखों से सभी तीर्थों के सभी देवी-देवताओं की पूजा की जा सकती है या दूर की सारी चीजें भी देखी जा सकती हैं।

मान लीजिए, मैं आँखें बन्द करके विश्वनाथजी की पूजा करता हूँ। इस स्थिति में भीतर का परदा चराचर जगत् है। विश्वनाथ के मन्दिर आदि का स्मरण करते ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। फिर, मन वहाँ जाकर स्वेच्छा से पूजा आदि करता है। यह विश्वनाथ और बाहरी विश्वनाथ एक ही हैं। बाहरी विश्वनाथ के पास यदि अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न कोई भक्त हों, तो वह मुझे देख पायेंगे। मेरा मनोमय शरीर उन्हें दिखाई पड़ेगा। यहाँतक कि मैं जब मन-ही-मन विश्वनाथ की पूजा कर रहा हूँ, तब यदि दूसरे भक्त अपनी जगह में बैठकर भी मन-ही-मन विश्वनाथ की पूजा करें, तो वह मुझे विश्वनाथ के पास देख पायेंगे और मैं भी उन्हें विश्वनाथ के पास देख पाऊँगा। सुतरां, यह सब व्यापार objective है, sbjective बिलकुल नहीं।

पूजा के समय, मैं यदि विश्वनाथ को प्रत्यक्ष कर सकूँ, तो मेरी मनोमय मूर्त्ति वहाँ स्पष्ट रूप से आविर्भूत होगी, नहीं तो अस्पष्ट रूप से। चिन्ता करते ही मूर्त्ति का आविर्भाव अवश्य होगा।

इसके विपरीत, उन विश्वनाथ को अपने हृदय में—मध्यबिन्दु में भी खींचकर लाया जा सकता है। अवश्य विश्वनाथ का प्रतिबिम्ब ही आयगा। उसके बाद उनकी पूजा। किन्तु, यह पूजा और ही प्रकार की है। यह पूजा अभेद से है। यह विश्वनाथ-रूप में आत्मा की ही पूजा है। यह उत्कृष्ट है। एक प्रकार से साकार आत्मोपासना।

इस प्रकार, समग्र जगत् मध्यबिन्दु में आते ही आत्मदर्शन होता है। चारों ओर विशाल ज्योति दिखाई पड़ती है।

१३.७.३८ :

अन्तःसंहार में क्रम :

१. अन्धकार में जगत् का लय। यह अन्धकार आँखें बन्द करने से देखा जाता है।

योगाचार
२. उसके बाद ज्योति का उदय और विकास। भीतर ज्योतिर्मय। इस ज्योति में समग्र जगत् मनोमय रूप में तिरता है। इच्छा से दिखाई पड़ता है।

३. उसके बाद ज्योति का शोधन। इस ज्योति में समग्र मनोमय जगत् आत्मारूप में भासित होता है। यह आत्मदर्शन है।

माध्यमिक
४. बाद में यह आत्मदर्शन नहीं रहता। आत्मा रहती है—शून्य रहता है।

५. फिर, भागवत ज्योति का विकास।

१४.७.३८ :

सत् शिष्य हो, तो सद्गुरु आप ही आयेंगे। सत् शिष्य = जिसे पूर्ण विश्वास है, जिसे संशय नहीं, जो वास्तव में श्रद्धालु है—स्वभावतः श्रद्धालु—बाहरी गुण या विभूति के लिए श्रद्धालु नहीं।

सद्गुरु हों, तो सत् शिष्य आप ही होगा। शिष्य का सारा दोष कट ही जायगा—यहाँतक कि अविश्वास भी। सद्गुरु = पूर्ण ब्रह्मज्ञ, जो सामान्य और विशेष ज्ञानवान् हैं, जिनमें सामान्य दया और विशेष दया दोनों हैं, जो सर्वशक्तिमान् हैं।

सद्गुरु और सत् शिष्य में स्वाभाविक सम्बन्ध होता है।

गुरुभाव का क्रमोत्कर्ष :

गुरुत्व १-४ कला। सामान्य कृपा। Supplemented by शिष्य का कर्म— विशेष।
,, ५-८ ,, । ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
,, ९-१२ ,, । विशेष ,, ,, ,, ,, ,, सामान्य।
,, १३-१६ कला ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
,, १६ कला = सद्गुरु। शिष्य का कर्म = O

सद्गुरु-भाव के स्फुरण से अपेक्षित = शिष्य का आत्मसमर्पण। शिष्य को कुछ करने को नहीं रहता।

गुरु जब सचमुच ही गुरु हों—सद्गुरु हों—तो शिष्य सत् शिष्य होता है। तब शिष्य को और कुछ करने को नहीं रहता—वह आत्मनिवेदन करता है। वह पूर्ण निर्भर का भाव है। गुरु तब शिष्य को अंगीकार-आत्मसात् करते हैं।

इसके विपरीत जब शिष्य प्रकृत शिष्य होता है—passive होता है, शासन-योग्य होता है—तब उसका कर्मत्याग हो जाता है, सर्वधर्म परित्याग होता है और शरणागति होती है, तो सद्गुरु आविर्भूत होते हैं।

शिष्य के शिष्यत्व का उत्कर्ष—

शिष्यत्व	—१-४	कला।	शिष्य का पुरस्कार होता है विशेष।
,,	४-८	,,।	,, ,, ,, ,,।
,,	९-१२	,,।	,, ,, ,, ,, सामान्य कर्म।
,,	१३-१६	,,।	,, ,, ,, ,,।

,, १६ कला=सत् शिष्य। पूर्ण निर्भर और आत्मनिवेदन की अवस्था। यहाँ शिष्य का पुरुषकार=O। वह गुरु के द्वारा यन्त्रवत् चालित होता है।

अतएव, गुरु और शिष्य के सम्बन्ध से समझ में आता है कि शिष्य का पुरुषकार जब पूर्णतम होता है, तब गुरु की सामान्य कृपा होती है। कृपा की वृद्धि के साथ-साथ पुरुषकार कम हो आता है या पुरुषकार कमने के साथ-साथ कृपा बढ़ती है।

बात यह—दीक्षा के समय गुरु ऐसा कुछ देते हैं, जिसके फलस्वरूप देहात्मबोध और कर्त्तव्य का अभिमान कट जाता है। कर्म करते-करते एक विशिष्ट भाव आता रहता है। तब समझ में आता है कि मैं कर्त्ता नहीं हूँ, मात्र द्रष्टा हूँ—कोई कराता है, इसीलिए क्रिया होती है। यह भाव क्रमशः बढ़ता है। इसलिए, पुरुषकार कमता है। अर्थात्, कृपा बढ़ती है। शिष्य जब सत् शिष्य है, तब उसमें कर्तृत्व का अभिमान कुछ भी नहीं=०। इसलिए, गुरुकृपा ही उस समय एकमात्र बल होता है। उस समय गुरु= सद्गुरु। तब शिष्य=अकर्त्ता। शिष्य उस समय यन्त्रवत् होता है। शिष्य तब=साक्षी, द्रष्टा। इसलिए, जो निरभिमान होकर गुरुशक्ति का खेल देखता है, वह सत् शिष्य है, द्रष्टा।

यह द्रष्टा-भाव आने से, कर्म समाप्त होने से, पूर्ण कृपाराज्य में प्रवेश होता है। इसी को भक्तिराज में प्रवेश कहते हैं। तब, अपना अभिमान, इच्छा आदि कुछ नहीं रहता। इश्वरेच्छा ही मूल है।

१४.७.३८ :

कोई कहता है, प्रत्यक्ष दिखाने से उनका विश्वास करूँगा। वह कहते हैं—विश्वास करने से तब प्रत्यक्ष दिखाऊँगा। या तो वह yield करेंगे, नहीं तो मैं yield करूँगा। जिसे गरज होगी, वही yield करेगा। साधारण अवस्था में आदमी को ही

yield करना चाहिए। क्योंकि, गरज उसे है। और, भगवान् की मर्यादा रखनी चाहिए। एक बार उन्हें बड़ा करने से—उनपर अहेतुक विश्वास करने से—उसके बाद देखा जायगा कि विश्वास unjustified नहीं है। पर, जब भगवान् को गरज होती है (जीव के पूर्व कर्मवश या जगत् के काम के लिए) तब पहले वह प्रत्यक्ष दिखाते हैं। पहले विश्वास का दावा नहीं करते।

१४.७.३८ :

शक्ति जागती है—उससे उनकी उपासना होती है। और फिर, शक्तिरोध करके—उनकी समर्पण-रूप उपासना। इसी समय ज्ञान का विकास होता है।

इस ज्ञान से उनकी उपासना चलती है। बाद में ज्ञानरोध करके—उनकी समर्पण-रूप उपासना। तभी, भक्ति का विकास होता है।

भक्ति द्वारा उपासना चलती है। बाद में, भक्तिरोध द्वारा—भक्ति-अर्पण द्वारा उनकी उपासना। तब भक्ति नहीं रहती। इस समय पूर्ण महाशक्ति का विकास होता है।

यही उपासना श्रेष्ठ ब्रह्मोपासना है। यह कर्म-ज्ञान-भक्तिहीन, लेकिन तीनों का सारांशमय और तदतीत है।

१४.७.३८ : ९½ बजे रात्रि :

पूर्ण विश्वास (अर्थात्, विश्वास १६ कला) रहने से गुरु साथ-साथ हैं। उन्हें खोजना नहीं पड़ता। बाहर किसी भी चीज में उन्हें निखारा जा सकता है। जिन्हें अपने में देखा जाता है, उन्हीं को औरों में भी देखा जाता है—गरचे दूसरा अपने में उसका पता नहीं पाता।

वैसे ही, गुरु जब पूर्ण ब्रह्मरूप में १६-कला कृपा करेंगे, तब शिष्य की योग्यता नहीं देखेंगे। शिष्य जो भी हो, गुरु की कृपा से ही वह सिद्ध होता है। द्रष्टा हो जाता है। कर्तृत्व कट जाता है। उसे कुछ करने को नहीं रहता।

पूर्ण विश्वास अहेतुक होता है—गुरु-माहात्म्य-निरपेक्ष। पूर्ण कृपा भी अहेतुक होती है—शिष्ययोग्यता-निरपेक्ष।

१४.७.३८ : रात ९½ बजे :

परदे कितने हैं? आपाततः तीन—

(क) काला परदा। इस पार बाह्य जगत्। काले परदे के ऊपर सूर्य-चन्द्र-अग्नि की ज्योति से प्रकाशमान दृश्य प्रकाश।

(ख) [काले परदे के बाद] सादा परदा। यह दिव्य ज्योति से आलोकित होता है। उसपर दृश्य फूटता है। दिव्य दृष्टि। सादा परदा प्रकाश से ढक जाता है, तो कोई दृश्य नहीं दिखाई पड़ता। इसी सादे परदे में जगत् प्रकाशमान होता है। इसके दो स्तर हैं :

एक मनोमय—दृश्य देखा जाता है, दूसरा बुद्धिमय—बोधरूप में दृश्य देखना।

इस परदे के हटने से ही आत्मदर्शन होता है। वह बोधात्मक स्थितिरूप है। भीतर और बाह्य—यह भेद वहाँ नहीं है।

१५.७.३८ :

[१]

शुद्धसत्त्वमय गोलोक आदि में भी वासना (शुद्ध) है—नहीं होता, तो आनन्द का आस्वादन नहीं होता—लीला नहीं होती। अशुद्ध जगत् से उत्तीर्ण होकर (आत्मज्ञान के फलस्वरूप) जो ब्रह्म-कैवल्य-लाभ करता है, उसकी अवस्था अपूर्ण होती है। क्योंकि, उस गोलोक के आनन्द से वह आकृष्ट होने को बाध्य है। वह वैराग्यवान् है—जागतिक वासना-त्याग के सम्बन्ध में। लोकोत्तर आनन्द और सौन्दर्य-सन्निकर्ष से वह वासना अवश्य ही जगेगी। वह जितना ही सोचे कि उस प्रकार की वासना उसमें नहीं है—लेकिन, उसमें भी वह वासना है। क्योंकि, मनुष्य-देह में जन्म लेने से शुद्धसत्त्व का बीज रहेगा ही—पर सद्गुरु की कृपा के अभाव से दबा रह जाता है। इसीलिए, कैवल्य से उद्बोध होता है—उस आनन्द का भोग करना होता है।

इस प्रकार, शुद्धाशुद्ध सब वासना पूर्ण होने से पूर्ण ब्रह्म में स्थिति होती है। वही यथार्थ कैवल्य है। पूर्व की स्थिति भी उसी ब्रह्म में, पर उसमें आवरण है। सुषुप्ति में जैसे ब्रह्मसम्पत्ति होती है, पर उसका कोई मूल्य नहीं होता, व्यवधान नष्ट नहीं होता है, इसलिए वैसे ही कैवल्य में भी ब्रह्मसम्पत्ति होती है, परन्तु वह भी ठीक सम्पत्ति नहीं—सुप्त वासना के अतृप्त रहने के कारण। सुप्त वासना तृप्त होने से जो सम्पत्ति होती है, वही सम्यक् (सम्पत्ति) है।

[२]

(अशुद्ध और शुद्ध) वासना-निवृत्ति का क्या उपाय है? ब्रह्मसाक्षात्कार के अलावा और कोई उपाय नहीं। आत्मदर्शन और सम्भोग से अशुद्ध वासना की तृप्ति और उपशम होता है। परन्तु, शुद्ध वासना आत्मसाक्षात्कार होने पर भी रहती है, इसीलिए आत्म-साक्षात्कारजन्य कैवल्य की चरम सार्थकता नहीं। भगवद्दर्शन और सम्भोग से शुद्ध वासना की निवृत्ति होती है।

अशुद्ध वासना रहने से भगवद्दर्शन नहीं होता। और फिर, शुद्ध वासना नहीं रहने से भी भगवद्दर्शन नहीं होता। इसलिए, वह सकाम के लिए दुर्लभ हैं; निष्काम के लिए भी दुर्लभ हैं। सकाम कहने से साधारणतया अशुद्ध कामना ही समझी जाती है।

१७.७.३८ :

आँख मूँदने से जो अन्धकार होता है, वह अविवेक की अवस्था है। थोड़ा-थोड़ा विवेक आने से प्रकृति या सत्त्व ढीला होता रहता है। उसकी प्रत्येक फाँक से पीछे से ज्योति छिटक-छिटक जाती है।

काली कोरवाली पत्थर की थाली में अमावट जैसे पूरी थाली में फैली होती है, अविवेक भी वैसा ही है। अमावट उठाते समय वह थाली में होते हुए भी जैसे थाली से अलग होती है, देहावस्था में विवेक-ज्ञान वैसा ही है।

आँखें बन्द करने से एक गोला दिखाई देता है—चारों ओर आलोक की किनारी, गोला हिलता-डुलता है। वह आलोक फाँक की रोशनी है, ऊपर से आती है—सहस्रारगत ज्योति।

पुरुष और सत्त्व—दोनों के जरा फाँक होते ही वह आलोक मिलता है। वह आलोक जितना ही आता है, उतना ही गोला शुद्ध, साफ और ज्योतिर्मय होता है। वह गोला बुद्धि है—महत्तत्त्व, ब्रह्माण्ड।

वह आलोक क्या है? शुद्ध सत्त्व का (चिदुज्ज्वल)।

आलोक = [पुरुष (= चित्-शक्ति) · शुद्ध सत्त्व] धारा।

उस गोले में ही सप्तलोक विद्यमान रहता है—वही विराट् है। उस गोले में जो अँधेरा है, वही अविवेक का निदर्शन है। जब वह गोला उज्ज्वल, अन्धकारविहीन होता है, तब ज्ञान का उत्कर्ष होता है। यह सम्प्रज्ञात की अस्मिता से होता है।

वह उज्ज्वल गोला = बुद्धिसत्त्व + ज्योति।
= बुद्धिसत्त्व + शुद्ध सत्त्व + चित्-शक्ति।
= बुद्धिसत्त्व + शुद्ध सत्त्व + चित्-शक्ति with चित्-स्वरूप।

क्रमशः जब गोले से बुद्धिसत्त्व प्रायः eliminated हो जायगा, तब जो रहेगा, वह होगा आत्मदर्शन में निर्विकल्प समाधि। उसके बाद ही आत्मस्थिति। उस अवस्था में बुद्धिसत्त्व के नहीं रहने से भी व्युत्थान रहता है।

इसके बाद ही अप्राकृत राज्य है। वह गोला ही शुद्ध सत्त्व है। इसी का परिणाम ही भक्ति है। यह भी ज्ञानविशेष है, पर साधारण ज्ञान नहीं। यह त्रिगुण की अतीत अवस्था है। भगवान् के आत्मविकास की सूचना और प्रसारण।

शुद्ध सत्त्व की सीमा नहीं, इसलिए पराभक्ति अनन्त है। लेकिन एक बात है। पूर्णब्रह्म में स्थिति और शक्ति का खेल—दोनों ही नित्य हैं, किन्तु युगपत् वर्त्तमान।

१७.७.३८ :

उस गोले के बाहर जाना गुरुकृपा के विना सम्भव नहीं। उस परदे के ऊपर ही सारी सृष्टि तिरती है। इसके बाद ही सत्य। वह परदा ही सत्य को ढके हुए है। 'हिरण्मयेन पात्रेन सत्यस्यापिहितं मुखम्।' उस ढक्कन को खोलना होगा। तब सत्य का दर्शन होगा। वही बौद्धों की संवृति है। बुद्धि को ही 'संवृति' कहते हैं। वास्तव में शुद्ध सत्त्व का जो परदा है, वह भी एक आवरण है; क्योंकि वह भी गुण है। पूर्ण सत्य, उसके भी उस पार।

प्रथम आवरण-भेद होने से ही बुद्धि को अतिक्रम करके पुरुषस्वरूप में स्थिति होती है। कैवल्य। बौद्धों में यह प्रथम आवरण-हानि की अवस्था है। यह =क्लेशावरण—विमुक्ति। द्वितीय आवरण कटने से बौद्धों की ज्ञेयावरण-विमुक्ति होती है। यही बुद्धत्व है। यही अद्वयभाव है। प्रथम आवरण कटने से भी द्वैतभाव की निवृत्ति नहीं होती, लेकिन मलिन वासना नहीं रहती।

प्रथम आवरण कटने के बाद सारी अवस्था ही ज्ञान की अवस्था होती है। बुद्धि उसी अवस्था का परिपक्व फलमात्र है।

१. शुद्धसत्त्वरूप उज्ज्वल गोला = सूर्य in चिदाकाश।
२. बुद्धिसत्त्वरूप ,, ,, = सूर्य in हृदयाकाश या चित्ताकाश।
३. बाह्यसूर्य = in भूताकाश।

बाह्यसूर्य में इन्द्रियग्राह्य जगत् प्रकाशित होता है। आन्तर सूर्य (बुद्धिसत्त्व) में मानसजगत्—सूक्ष्म जगत्—आलोकित होता है। चिदाकाश के सूर्य से सब नित्य धाम आलोकित होते हैं—कारणजगत् प्रकाशित होता है।

प्रत्येक मनुष्य आँखें बन्द करने से वही एक ही गोला देख पाता है। बाह्यजगत् में जिस प्रकार हम नाना स्थान से एक ही सूर्य देख पाते हैं, उसी प्रकार भीतर भी वही एक ही सूर्य देखते हैं। क्योंकि बुद्धि एक ही है। किन्तु, देहभेद से उसका प्रतिबिम्ब ही केवल भिन्न होता है।

[१]

१९.७.३८ :

ज्ञानभिन्न स्थिति नहीं। यही स्थिति आसनसिद्धि है। कर्म से जो-जो आसन-सिद्धि होती है, वह रहती नहीं। आसन हिलाने से ही पतन होता है। ज्ञान में पतन नहीं। किन्तु, ज्ञान एकबारगी शुद्ध नहीं होने से दो-एक बार आकांक्षा पूरी करने के लिए अंश उतर जा सकता है—पर स्थिति ठीक रहती है।

[२]

शुद्धसत्त्व—सन्धिनी शक्ति
आत्मा—संवित् शक्ति } सब मिलाकर पूर्णशक्ति।
ईश्वर—ह्लादिनी शक्ति

पराशक्ति या पूर्णशक्ति के द्वारा कृपा हो सकती है।
सन्धिनी शक्ति के द्वारा कृपा हो सकती है।
संवित् शक्ति के द्वारा कृपा हो सकती है।
ह्लादिनी शक्ति के द्वारा कृपा हो सकती है।

सन्धिनी मलिन सत्त्व या मन या बुद्धि के ऊपर काम करती है। फल—चित्तशुद्धि। चित् के पूर्णतया शुद्ध होने से मन निष्क्रिय हो जाता है। वही शुद्ध मन या शुद्ध सत्त्व है। तब उसके ऊपर संवित्-शक्ति काम करती है। फलस्वरूप, आत्मदर्शन और स्थिति होती है। क्रमशः समस्त शुद्ध मन ही आत्मा-रूप में परिणाम प्राप्त होता है और स्थिति होती है। उसके बाद ह्लादिनी शक्ति की क्रिया होती है, तब मन (शुद्ध) और आत्मा (शुद्ध) का मिलन होता है।

एक ओर व्यष्टिरूप में	दूसरी ओर समष्टिरूप में
बहु आत्मा + बहु मन	एक आत्मा या परमात्मा + एक मन
फल :	फल :
अनन्त प्रकार अनन्त आस्वादन	एक महा-आस्वादन अनन्त आस्वादन अन्तर्भुक्त

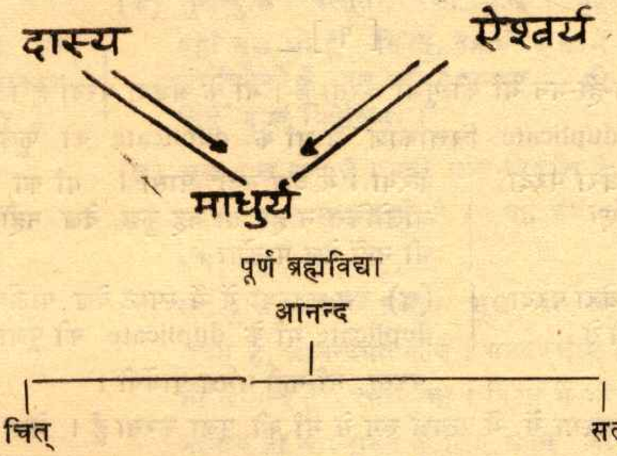

चित् और सत् का विवेक जहाँ पूर्ण है, वहाँ आनन्द बिलकुल नहीं।

सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति के फलस्वरूप आनन्द नहीं रहता। उसके पहले घुला-मिला-सा था, इसलिए आनन्द था—यद्यपि वह लौकिक है।

बाद में, फिर उन दोनों के मिलन से आनन्द होता है—वह अलौकिक। वह भगवद्धाम का आस्वादन है—भक्तिरस।

दोनों का मिलन जहाँ पूर्ण—वहाँ आनन्द पूर्ण। सुतरां, अव्यक्त लीलातीत।

शैव और वैष्णव साधन में पार्थक्य है। वैष्णव साधन दास्यप्रधान है। शैव = ऐश्वर्यप्रधान। वैष्णव = जीव अणु, उसका सत्त्व भी शुद्ध होने पर भी अणु है। आपूरण से वह सत्त्व क्रमशः व्यापक होता है। तब उसमें शैवी शक्ति होती है। फलस्वरूप, अणु आत्मा भी व्यापक आत्मारूप में = (शिवरूप में) प्रकाश पाता है।

उस व्याप्ति का रहस्य वैष्णव साधन में नहीं है।

१९.७.३८ : पुरी, प्रातःकाल :

चिन्ता करने से ही चित्ताकाश में अपना duplicate संचरण करता है। जिसकी चिन्ता की जाती है, उसका duplicate भी आता है। इसके तीन स्तर हैं :

	(क) जबतक हृदय तमसाच्छन्न है, तबतक वह व्यापार नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु होता है। परन्तु, उसका प्रभाव मन्द होता है।
अन्धकार का परदा हट जाने से	(ख) जब हृदय आलोकित होता है, तब यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है। फल खूब स्पष्ट।
प्रकाश का परदा हट जाने से	(ग) जब वह उज्ज्वल गोला या बुद्धि का स्वच्छ परदा हट जाता है, तो प्रत्यक्ष रूप से यह होता है। व्यवधान नहीं रहता—कालगत या देशगत। दृष्टान्त दे रहा हूँ :

[१]

जैसे, मैं मन-ही-मन माँ की पूजा करता हूँ। माँ के अँधेरा परदा है।

(क) मेरा duplicate चित्ताकाश में माँ के duplicate को फूल देकर पूजा

मेरा अँधेरा परदा रहते हुए	करेगा। मैं देख नहीं पाता। माँ का भीतर यदि आलोकित न हो, तो वह कुछ देख नहीं पायेंगी—मैं भी नहीं देख पाऊँगा।
मेरा अँधेरा परदा हट जाने से	(ख) इस अवस्था में मैं स्पष्ट देख पाऊँगा कि मेरा duplicate माँ के duplicate की पूजा करता है। परन्तु, माँ नहीं समझ पायेंगी।

(ग) इस अवस्था में, मैं प्रत्यक्ष रूप से माँ की पूजा करता हूँ। मेरा duplicate पूजा नहीं कर रहा है—duplicate उस समय नहीं। परदा-रूप (बुद्धि) दर्पण

मेरा प्रकाश का परदा हट जाने से	नहीं है, इसलिए duplicate नहीं है। मेरा duplicate नहीं, माँ का duplicate भी नहीं। माँ भी जानेंगी।

यहाँ तक कि पूजा का फल उनके पास उसके बाद भी पड़ा रहेगा।

[२]

माँ का अगर अँधेरा परदा हट गया हो :

(क) इस अवस्था में, मैं अँधेरे में होते हुए भी और अपने मन-ही-मन उनकी पूजा करके उन्हें देख नहीं पाने से भी वह मेरी पूजा देख पायेंगी। देखेंगी कि मेरा duplicate उनके duplicate को पूज रहा है।

(ख) इस स्थिति में माँ मेरे duplicate की पूजा देख पायेंगी—मैं भी पाऊँगा।

(ग) इस स्थिति में, मैं पूजा करूँगा कि माँ देखेंगी, उनके हृदयस्थ मेरे duplicate ने तुरत स्थूलाकार धारण कर पूजा शुरू की है।

[३]

अगर माँ के आलोक का परदा हट गया हो :

(क) माँ के कोई duplicate नहीं। वह अपने सामने मेरे duplicate को पूजा करते देखेंगी। अपने duplicate के सामने नहीं। उनके duplicate नहीं। यद्यपि अन्धकार में होने के नाते मैं नहीं देख पाऊँगा।

(ख) माँ देखेंगी कि अप्रत्यक्ष रूप से मेरा duplicate उनकी पूजा कर रहा है। मैं भी देख पाऊँगा। प्रत्यक्ष माँ को देखूँगा, उनके duplicate को नहीं।

(ग) माँ देखेंगी—अप्रत्यक्ष भाव से मैं स्वयं उनकी पूजा कर रहा हूँ। मेरा duplicate नहीं। मेरा duplicate नहीं है, माँ के भी नहीं। मैं भी देखूँगा कि मैं प्रत्यक्ष भाव से माँ की पूजा कर रहा हूँ।

२१.७.३८ :

यहाँ दुःख ही सुख का आकार धारण करता है

(क) सुख-दुःख = वस्तुतः, सभी दुःख। यही प्रपंच है। यहाँ सुख भी है—किन्तु, वह भी दुःख में गणनीय है। जो विवेकी है, वह उसे दुःख-रूप में ही देखता है। 'सर्वं दुःखं विवेकिनः।'

(ख) सुख-दुःख नहीं है। यही दुःख-निवृत्ति है। यहाँ दुःख नहीं—जिसे सुख कहते हैं। वह भी नहीं। शान्ति, कैवल्य।

(ग) सुख-दुःख = सभी वस्तुतः सुख या आनन्द। यही जगत् है, आनन्दमय कोष। भगवद्धाम। यहाँ दुःख भी आनन्द है। रसावस्था। विरह में भी आनन्द है। आनन्द ही आस्वादन के लिए अनेक आकार धारण करता है। दुःख, शोक, रुदन, क्रोध—यह सब भी आनन्द का ही विलास है।

पूर्ण—यहाँ सब कुछ है—वास्तव दुःख अथच प्रतीयमान सुख-दुःख (प्रपंच) सुख-दुःखाभाव या शान्ति, वास्तव सुख, अथच प्रतीयमान सुख-दुःख (लीला) —अथच सर्वातीत।

२२.७.३८ :

संकल्प करके जप—संकल्प से घेरे का निर्माण होता है—आधार या पात्र तैयार होता है। जप से शक्ति का आकर्षण होता है। जपजनित आकृष्ट तेज उस घेरे में संचित होता है, बाहर नहीं हो जाता। वह घेरा या आधार सत्त्वगुणमय है, इसीलिए संकल्प के बिना सिद्धि नहीं होती।

२१.७.३८ :

जहाँ जैसा atmosphere है, वहाँ वैसा ही जीव वास करता है और यातायात करता है। यह atmosphere = सत्त्व का विकीरण (तेज, वायु etc.)।

चित्त में अनेक प्रकार की चिन्ता-मूर्त्ति का संचार होता है। क्यों? इसलिए कि चित् में उनके योग्य Atmosphere है। चित्त में यदि उच्च स्तर का तेज संचालित कर दिया जाय, तो उस तेज के उपयोगी भाव चित्त में उदित होंगे—निम्नस्तर का भाव चित्त में उठेगा ही नहीं। और फिर, ऐसा भी तेज ढाला जा सकता है, जिसमें कोई भाव नहीं आ सकता, स्थिति भी नहीं मिलती।

२२.७.३८ :

क्रम ऐसा मिलता है :

१. कर्म (= देवता की उपासना)। यह बाह्य है। फल स्वर्ग तक।

२. उपासना = कर्म + ज्ञान (या आत्मा की उपासना)।

भक्ति
- (क) सगुण निराकार उपासना (= कर्म + सगुण निराकार आत्मा की उपासना) स्थिति ईश्वर में।
- (ख) सगुण साकार उपासना (= कर्म + सगुण साकार आत्मा की उपासना)। फल—इष्टदेवता से एकात्मबोध। इष्टदेवता = ब्रह्मज्ञ लोकाधिष्ठाता मुक्त पुरुष। स्थिति—लोकाधिष्ठाता में upto वैकुण्ठ गोलोक।

ज्ञान
- (ग) निर्गुण उपासना (= कर्म + निर्गुण आत्मा की उपासना) फल—कार्यब्रह्म से एकात्मता-बोध। स्थिति अक्षर ब्रह्म में।

२२.७.३८ :

शुद्धकर्म—अ-ज्ञानराज्य (देवता की उपासना)।

ज्ञानमिश्र कर्म—ज्ञान-आलोक से आलोकित अज्ञानराज्य (देवता की उपासना—उसमें आत्मदर्शन) क्षणिक आत्मदर्शन या ज्ञान।

कर्ममिश्र ज्ञान—अ-ज्ञानमिश्र ज्ञानराज्य (आत्मा की देवता-रूप में उपासना)।

शुद्धज्ञान—भक्तिमिश्र ज्ञान (आत्मा का भगवद्‌रूप में या ब्रह्मरूप में दर्शन)। यह भजन नहीं। शुद्धज्ञान आनन्द नहीं—इसमें आनन्द है, भगवद्‌रूप में देखने के कारण। यहाँ आत्मा में भगवान् का प्रतिबिम्ब-मात्र दिखाई पड़ता है। इसी से आनन्द। ठीक भक्ति नहीं। क्षणिक भगवद्‌दर्शन या भक्ति का उदय। यह सत्य भगवान् का दर्शन है।

ज्ञानमिश्र भक्ति—(भगवान् का आत्मारूप में भजन)।
शुद्धभक्ति—(भगवान् का भगवद्रूप में भजन)।

देवता की उपासना करते-करते—यदि ज्ञानोदय हो—तो आत्मदर्शन होता है। उस समय देवता-दर्शन नहीं होता, केवल आत्मा ही दिखाई देती है। यह आत्मदर्शन फिर जाता नहीं। लेकिन, चित्त की जिस अवस्था में यह हुआ था, उसके नहीं रहने से भी आत्मदर्शन रह जाता है। चित्त निरुद्ध रहने से शुद्ध आत्मा ही दीखती है। व्युत्थित होने पर आत्मा नहीं देखी जा सकती। जगत् को देखा जाता है। पर, आत्मा को नित्य, चित्-रूप देखा जाता है, अविच्छिन्न—जगत्-रूप, तरंग-रूप। जगत् की सारी ही वस्तुओं में भीतर-बाहर आत्मदर्शन बरकरार रहता है। ये वस्तुएँ मिथ्या, जड प्रतीत होती हैं।

यह दर्शन—सर्वत्र आत्मदर्शन है—सर्व का आत्मा-रूप में दर्शन नहीं। अब भी जगत् और जीव को आत्मा या चित् और नित्य सत्य के रूप में नहीं जाना गया है।

इस अवस्था में देहत्याग होने से साधक ज्ञानी की, जीव और जगत्-भाव से आपाततः मुक्ति होकर निर्गुण आत्मभाव में स्थिति होती है। जैसा दर्शन, वैसी स्थिति।

परन्तु यह अपूर्णता है। क्योंकि, जीव-जगत् छूट गया है। जैसे कि देवता की आराधना से आत्मदर्शन होने पर देवता मिथ्या प्रतीत होता है। किन्तु, अधिक दूर अग्रसर होने पर जब भूत और चित्त शुद्ध होता है—तब जगत् और जीव शुद्ध होता है, जब स्थूल और सूक्ष्म शुद्ध होता है, तब देवभाव अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है—चिन्मय हो जाता है। वह देवभाव तब चिदाकार होने के कारण आत्मा का रूप ही प्रतीत होता है। इसलिए, जड और मिथ्या की प्रतीति उस समय नहीं रहती। यही 'आश्रयपरावृत्ति' है। उस समय लगता है, वह देवता आत्मा का ही साकार रूप है। क्लेशावरण और ज्ञेयावरण नहीं कटने से 'आश्रयपरावृत्ति' नहीं होती।

जिसका आश्रय लेकर चैतन्य या आत्मा का साक्षात्कार किया, उसका परावर्त्तन (transmutation) होना चाहिए। यह आत्म-साक्षात्कार अपनी देह और मन को आश्रय करके होता है। इसीलिए, इन दोनों को चिन्मय नहीं करने से पूर्णत्व नहीं होता—'आश्रय-परावृत्ति' नहीं होती। इस आत्मदर्शन के बाद स्थूल और सूक्ष्म का परावर्त्तन होना आवश्यक है। नहीं तो '**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**' नहीं होता।

२४.७.३८ :

सत्यमुख—यही सूर्य या आत्मा का 'कल्याणतम रूप' है। यह एक हिरण्मय पात्र द्वारा ढका हुआ है। यह पात्र ज्योतिर्मय है—किरणें बिखरी हुईं, तेज विक्षिप्त।

यह रूप जिसका है, वही इस ज्योतिर्मय पात्र को हटा सकता है, दूसरा नहीं। जिसका कल्याणतम रूप है, वह अगर उस विकीर्ण—चारों ओर व्याप्त—रश्मिजाल से अवगुण्ठन करे, तो साधक उस रूप का दर्शन कर सकता है। स्वयं भी वह रूप—वह पुरुष हो जाता है, अर्थात् अपने को भी वही रूपवान् जैसा देख पाता है।

यह जो कल्याणतम रूप का दर्शन है, वही सत्यधर्म-दर्शन है। वह हिरणमय पात्र ही सत्य का आदिम आवरण है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।। १५ ।।
पूषन्नेकर्षे यम-सूर्य-प्राजापत्यव्यूहरश्मीन् ।
समूहतेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।।१६ ।।

(ईशोपनिषद्)

इससे कई सत्य मिलते हैं :

(क) वह पात्र = बुद्धि (चिदुज्ज्वल)। यही हिरण्यगर्भ नाम का बीज है। बुद्धि के उस पार सत्य। बौद्ध भी कहते हैं—संवृति और बुद्धि के बाद ही परमार्थ। बुद्धि के बाद ही विकारसृष्टि का शेष।

(ख) यह ज्योति ही योगमाया है—जिसमें भगवान् समावृत हैं, इसलिए वे सबके सामने प्रकाशमान नहीं होते।

(ग) अपने बल से इस ज्योति का भेद करना जीव के लिए असम्भव है। इसीलिए, यह प्रार्थना—'त्वम् अपावृणु'—तुम खोल दो। इसीलिए प्रार्थना—'**व्यूहरश्मीन्**' और '**समूहतेजः**'। ['ते रूपम्' कहने से जाना जाता है, सत्य जिनका कल्याणतम रूप या स्वरूप ही है, केवल वही आवरणात्मक ज्योति-समूह को समेटकर द्वार खोल सकते हैं। दूसरे नहीं खोल सकते। यही भक्तिवाद या निर्भर का बीज है।]

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।

(गीता, ७।१४)

(ङ) बीच में यह ज्योति है, इसीलिए द्वैतबोध है। बुद्धि-अतिक्रम करने से अभेद-स्थिति होती है। वही सत्य है। वह जो कल्याणतम रूप है, उसे अभी प्रतिबिम्ब-रूप में देख रहा हूँ, इसलिए कल्याणतम नहीं है। वह ज्योतिर्मय पात्र ही बुद्धिदर्पण है, जिसमें प्रतिबिम्ब दिख रहा है। तेज का उपसंहार होने से वह रूप प्रत्यक्ष होगा—विश्वरूप प्रकाशमान होगा। वह रूप मैं ही हूँ, यह प्रत्यक्ष होगा।

२६.७.३८ :

[१]

नाम—सम्बन्ध रूप के साथ।
मन्त्र (बीज)—सम्बन्ध ज्योति के साथ।

बीज से ही जन्म होता है—ज्योति या लोक या धाम में प्रवेश होता है। तब नाम और रूप दोनों ही पाये जाते हैं।

जब देवता का आविर्भाव होता है, तब उपास्य-उपासक एकाकार होते हैं। तब उस देवता में 'मैं अमुक हूँ' ऐसे एक अस्मितात्मक अभिमान का उदय होता है। उसके बाद ही उपासक के अलग होने पर उसमें भी वह स्मृति जागती है। उस स्थिति में उस नाम से पुकारने पर वह देवता का उत्तर पाता है। बीज में केवल चैतन्यभाव अच्छा होता है। 'मैं अमुक हूँ' यह भावग्रह नहीं होता। वह नाम से होता है।

देवता को नाम से नहीं जगाया जाता। वह यदि जागा हो, तो नाम से उसका आभिमुख्य होता है, attention draw किया जा सकता है। उस समय बात होती है, भाव-निवेदन चलता है। बीज से जगाया जाता है। प्रणव से तो जागता ही है। समग्र विश्व प्रणव से जागता है।

तो नाम-जप करते-करते होता क्या है? उन सब देवता-भक्तों की दृष्टि आकृष्ट होती है। यही गुरुप्राप्ति है। उस समय बीज मिलता है। तब देवता जागता है। और, तब मेरा वह नाम फूटता है। यह नाम चिन्मय है।

पहले का नाम था जड़।

ज्योति के राज्य में नाम चिन्मय, रूप भी वही। बाहर यह नहीं हो सकता।

२६.७.३८ :

समुद्र में पानी है—तरह-तरह की लोनी चीजें हैं। Evaporation द्वारा विशुद्ध जल ही ऊपर उठता है और वहाँ जमा होता है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी समुद्रवत् है। उससे भी विशुद्ध सत्त्व उठकर अलग रहता है। कैवल्य में इस सत्य का extraction पूर्ण रूप से सम्पन्न होता है।

सत्त्वशुद्धि यही है।

२६.७.३८ :

बुद्धिसत्त्व। मन-ही-मन मैं किसी को प्रणाम करता हूँ। यह प्रणाम मेरा duplicate करता है=बुद्धि का परिणाम प्रतिबिम्ब। यह प्रणम्य=प्रणम्य का प्रतिबिम्ब या बुद्धिस्थ। लेकिन, वस्तु से उसके प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध है।

बुद्धिभेद विना किये असली चीज को पकड़ा नहीं जा सकता। उपास्य-उपासक दोनों ही वास्तव में बुद्धि के बाहर हैं।

पिण्ड—ज्ञानानन्द के पथ में पिण्डभेद होता है।

ब्रह्माण्ड—यही बुद्धिसत्त्व गोलक है। ब्रह्मरन्ध्र-पथ से ब्रह्माण्ड-भेद होता है।

दयालदेश—बुद्धि के बाद ही दयालदेश। सत्यराज्य।

२६.७.३८ :

बुद्धिस्थ प्रतिबिम्ब बिम्ब का प्रतिरूप है—यदि ठीक-ठीक बुद्धि शुद्ध हो, यदि मन का दौरात्म्य (कल्पना) नहीं रहे। मन की कृत्रिमता से वह प्रतिबिम्ब विकृत होता है-- फिर भी मूल प्रतिबिम्ब का कुछ अंश रहता है।

इसलिए, कुछ सामान्य भाव से भी कोई रूप सोच सकने से पूरा रूप पाया जा सकता है—बशर्ते कि हृदय में रूप-प्रकाश हो।

२७.७.३८ :

आँख बन्द करने से जो अन्धकार है, वही कलियुग का चिह्न है। वही शूद्रवर्ण है। उसके बाद जो पूर्ण प्रकाश होता है, वही सत्ययुग है। वही ब्राह्मणवर्ण है।

कलियुग में जन्म लेकर थोड़ी या सटीक साधना द्वारा, कोई या विशेष चेष्टा विना किये ही सत्ययुग तक जा सकता है। इसीलिए, हम जितने लोगों को देखते हैं, सभी कलियुग में ही वास करते हैं, ऐसा नहीं। कोई द्वापर, कोई त्रेता, कोई सत्य में भी वास करता है। लेकिन, यह सत्य है कि अधिकांश लोग कलि में वास करते हैं। जो इच्छानुसार कलि से सत्य तक आ-जा सकता है, वह चार युग की लीला देख पाता है।

सत्ययुग में निद्रा नहीं है, आलस्य नहीं है, अन्धकार या अ-ज्ञान नहीं है--अवश्य बीज है। कारण, काल का व्यापार है।

२७.७.३८ :

१. पहले अन्तराकाश अन्धकार होता है। बाद में उषाकाल की नाईं प्रकाश, सूर्य नहीं देखा जाता। बाद में गोलक i.e. बुद्धिसत्त्व (इष्ट देवता या मन) देखा जाता है।

तब आकाश (चित्ताकाश) आलोकमय होता है, उस आकाश में ज्योति-गोलक तिरता है।

२. धीरे-धीरे सारा आकाश गोलक-रूप में परिणत होता है। अर्थात्, द्रष्टा तब गोलक-रूप (i.e. third eye) रन्ध्र में प्रवेश करता है। स्वयं गोलक हो जाता है।

३. फिर, गोलक-भेद होने से और एक आकाश (शुद्ध सत्त्वाकाश) प्रकाशित होता है। धीरे-धीरे और एक गोलक (truth appearing in Surya or ब्रह्मरन्ध्र) दिखाई पड़ता है। उसमें प्रवेश होता है, अभेद होता है। (sunya sthiti), बाद में उसका (transcending sunya) अतिक्रम होता है।

४. और तब सत्यदर्शन।

२९.७.३८ :

बुद्धिसत्त्व गोलक = चित्त। व्यापक ज्योतिर्मय। मन एक अणु, उसमें तिरता डूबता है। इस चित्त में स्मृति-रूप में संसार का उद्‌बोध होता है। आकार देखा जाता है। गढ़ना नहीं पड़ता। गढ़ी हुई चीज जाग उठी है।

मन चेष्टा करके आकार गढ़ता है—ठीक गढ़ नहीं सकता। विकृत कर डालता है।

मन चूँकि सदा ही काम करता है, इसलिए आकार नहीं मिलता—सब विकृत। मन ठीक प्रतिबिम्ब को पकड़ नहीं सकता। वह स्थिर है। मन उसके आभास को लेकर खेलता है और उसे नाना भाव से विकृत करता है।

मन के स्थिर हो जाने से चित्त शान्त होता है। उस समय यदि उसमें प्रकाश जलाया जाय, तो सारा विश्व उसमें प्रतिबिम्ब-रूप में दिखाई पड़ता है—युगपत्। आपात दृष्टि में वह अवश्य ज्योतिरूपी है। परन्तु, लेशमात्र भी इच्छा रहने से तदनुरूप साकार ज्ञान या प्रतिबिम्ब-भूत आकार खड़ा हो जाता है—बाकी रूप दब जाता है। क्योंकि वह इष्ट नहीं। यह **इष्टदर्शन** है। यह दर्शन प्रतिबिम्ब-दर्शन तो है, पूर्ण सत्य नहीं है, फिर भी सत्यदर्शन है। यथार्थ सत्य चित्त के अतीत है।

चित्त निवृत्त होने पर या दर्पण के टूटने पर द्रष्टा इस प्रतिबिम्ब से एक होता है। अर्थात्, द्रष्टा ही बिम्ब हो जाता है—अर्थात् बिम्ब स्वप्रकाश-रूप में फूट उठता है। विश्व = चिन्मय, वही आत्मरूप में दर्शन है।

जिसे जगत् कहते हैं, वह आत्मा ही है - उस समय यह समझ में आता है। ज्ञान न होने से चित्त-निवृत्ति में दोष क्या है? अनन्त दोष है।

ज्ञान होने का मतलब है, चित्त शुद्ध होना। चित्त स्वच्छ और आलोकमय होने पर सत्य का प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक धारण कर सकता है। उस समय द्रष्टा के आगे प्रतिबिम्ब रूप में सत्य का प्रकाश होता है। यही सत्यदर्शन है, यद्यपि यह बुद्धि का धर्म है। उसके बाद चित्तदर्पण के निरुद्ध हो जाने पर वह प्रतिबिम्ब ही बिम्ब हो जाता है—पर वह चिन्मय होता है। अर्थात्, अबतक वह द्रष्टा था—अलग; दृश्य—प्रतिबिम्ब—अलग।

तब फिर, प्रतिबिम्ब नहीं रहता, चित् नहीं रहता। उस समय दृश्य होता है बिम्ब, द्रष्टा भी वही रहता है। अर्थात्, द्रष्टा जान सकता है कि स्वयं ही वह बिम्ब है या बिम्ब अपने को आप ही बोध करता है—स्वप्रकाश या चिन्मय या आत्मस्वरूप होता है। दोनों एक ही हैं। आत्मा = बिम्ब। बिम्ब = आत्मा। इस तरह सब कुछ आत्मा हो जाता है। परन्तु, प्रतिबिम्ब-स्वरूप में सबको नहीं पाने से दर्पण या चित्त के निरोध के बाद भी सर्वात्मभाव नहीं आयगा।

क्या होगा? मैंने यदि प्रतिबिम्ब-रूप में शिव को पाया हो, तो उस समय जो 'मैं शिव हूँ', यह भाव फूट उठेगा—वही शिवात्मबोध है। आत्मा = शिव। शिव = आत्मा। और, मैंने यदि प्रतिबिम्ब-रूप में एक पत्थर को पाया हो, तो चित्त-निरोध से वह पत्थर, जो मेरी आत्मा है, मैं वही पत्थर हूँ— दोनों अभिन्न हैं, यह पता चलेगा।

जितना चैतन्य होगा, उतना आत्मरूप में पाया जायगा या यह पाया जायगा कि आत्मा उस विशिष्ट आकार का है।

दूसरा आकार unredeemed होकर मायाराज्य में रहेगा।

२७.७.३८ :

ऐसी कोई बात नहीं कि जड समाधि सबकी होगी ही। समाधि के बाद निर्यास-रूप में ज्ञान मिलता है। कैवल्य के बाद भक्तिरस पाया जाता है। गुरु की कृपा से बीज-रूप में जो ये दो चीजें पाते हैं, उनकी समाधि भी नहीं होती, कैवल्य भी नहीं होता—होने का रास्ता भी नहीं रहता। पर, चैतन्य समाधि हो सकती है। जिस कारण से जड समाधि होती है, वह उस बीज के जप से क्रमशः निवृत्त हो जाता है।

२७.७.३८ :

इन्द्रिय-पथ से तेज बाहर होता जाता है। उस बाहरी गति को बन्द करने से एक ज्योति का प्रकाश होता है। इन्द्रिय निष्क्रिय होने से वह ज्योति प्रकाशमान रहती है। वह आत्मा से आई चित्-शक्ति के मन में पड़ने पर जो ज्योति-रूप धारण करता है, वही है। वह ज्ञान-क्रियासमष्टि है। वही इन्द्रिय-मार्ग से बाहर होता है। ज्ञानपथ में ज्ञान अधिक होता है—पर, क्रिया रहती है। क्रियापथ में क्रिया अधिक होती है, परन्तु ज्ञानांश रहता है। ज्ञान + क्रिया = चैतन्य। वैषम्य है, इसलिए शुद्ध चित्-शक्ति नहीं है।

इस प्रकार, पुरुषकार द्वारा आत्मा की अपनी चित्-शक्ति इन्द्रिय-संयम के फल से भीतर ज्योतिर्मय होकर प्रकाशित होती है। क्रमशः वह मन को उज्ज्वल करती है—यहाँ-तक हो सकता है। शुद्ध आत्मदर्शन इससे नहीं होता। सर्वदा जो तेज आत्मा से जाता था, वही मुँह फेरकर मनोभूमि में संचित हुआ है, बस। इस प्रकाश से मन का नाश नहीं होता—यहाँतक कि मन की आत्यन्तिक शुद्धि भी नहीं होती। क्योंकि, जो चित्-शक्ति मन पर पड़ती है—पड़ने के पहले ही वह कुछ मल से संस्पृष्ट हो जाती है। मलयुक्त नहीं होने से इस रास्ते से विषय की ओर नहीं दौड़ती। साक्षात् भाव से ही विषय के ऊपर—अर्थात् तदाकार आत्मा के ऊपर—पड़ती है। मलिन तेज संचित और एकाग्र होने पर भी मलिन ही रहता है। यह एकाग्रता भी ठीक-ठीक एकाग्रता नहीं।

किन्तु, ठीक-ठीक एकाग्रता होने से दाहिका शक्ति जागती है। तब मल कट जाता है। आत्मदर्शन होता है। परन्तु, मलिन तेज के द्वारा एकाग्रता कठिन है।

इसीलिए, दीक्षा का प्रयोजन है। शुद्ध तेज या शुद्ध विद्या या मन्त्र बीज-रूप में किंचित् शुद्ध सत्त्व प्राप्त होने से वह एकाग्रता ठीक होती है। आग जलती है। अग्नि में मन का सारा मैल कट जाता है। मन स्वयं निरुद्ध हो जाता है। तब आत्मा ही रहती है।

२७.७.३८ :

शिव के माथे पर गंगा है। शिवत्व-लाभ होने पर माथे में एक धारा मिलती है। तब, उस धारा के सहारे ऊपर उठने से ही उस धारा का मूलस्थान मिलता है। वही विष्णुपद है।

वह धारा शिव से उतर आती है। फिर, ब्रह्मा के कमण्डलु में बन्द हो जाती है। यही ब्रह्मकुण्ड है। कुण्ड = आधार। यह ब्रह्म = हिरण्यगर्भ। आदि—एक—जीव यहाँ से जगत् में अवतीर्ण होता है।

विष्णुपद to शिवजटा = १
शिवजटा to ब्रह्मकुण्ड = २
ब्रह्मकुण्ड to धरातल = ३

२७.७.३८ :

जीव एक—फिर भी अनन्त।
शिव एक—फिर भी अनन्त।
ब्रह्म एक—किन्तु अनन्त।

पूर्ण में सब है।

कार्यब्रह्म एकमात्र जीव। उसी में सभी जीव की प्रतिष्ठा है। वैसे ही ईश्वर ही शिव—उन्हीं में सभी शिव हैं। ब्रह्म भी वही।

तत्तत् धाम में जाने से जाना जाता है—किसी ने वहाँ स्थान पाया है या नहीं। मैं यदि शिवत्व-लाभ करूँ, तो मैं 'मैं' रहते हुए भी शिवाकार होऊँगा। मेरा उपादान भी शिवमय होगा। ऐसे असंख्य शिव हैं—शिवसत्ता सर्वत्र एक ही है—आकार शिव का, लेकिन अलग-अलग। जो मूल शिव हैं, वह प्रकृत शिव हैं। अन्यत्र उन्हीं का प्रतिभास है। वहाँ जाने पर पता चलेगा कि किसी विशिष्ट आदमी ने शिवत्व पाया है या नहीं। ये सब शिव शिवधाम से बाहर होकर अन्यत्र जाते-आते हैं। मगर, स्थिति वहीं।

सशक्तिक शिव हैं, और अशक्तिक शिव भी हैं। ब्रह्मभूमि में भी वही। व्रजभूमि, गोलोक आदि सर्वत्र वही।

नरलोक में जैसे सभी नर हैं, किन्तु अलग-अलग—शिवलोक में भी वैसे ही सभी शिव हैं, लेकिन अलग-अलग।

२९.७.३८ :

अवतारों, मुक्तपुरुषों का duplicate नहीं होता। बुद्धिसत्त्व रूप गोले में उनका duplicate नहीं तिरता।

ग्यारहवाँ अध्याय

स्थिति-क्रिया

२९.७.३८ : रात्रि :

इधर स्थिति, उधर क्रिया। बीच में इच्छा। इच्छा नहीं रहने से स्थिति और लीला युगपत् रहने से वही द्वार होता है। जिस क्रिया के मूल में इच्छा नहीं, उसके साथ स्थिति का विरोध नहीं—वही लीला है। जिस स्थिति में इच्छा नहीं, उससे लीला का विरोध नहीं।

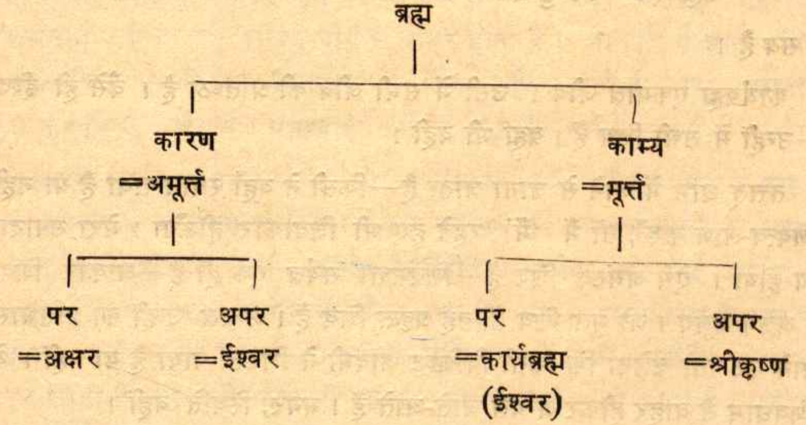

अक्षर = द्रष्टा only—no दृश्य (आनन्द), दृश्य द्रष्टा में मग्न। अकेला द्रष्टा। द्रष्टृत्व अव्यक्त। चिन्मात्र।

ईश्वर = द्रष्टा of दृश्य as one and as अनेक, युगपत् no क्रम। This दर्शन is अभिन्नतया दर्शन। There is आत्मदर्शन।

कार्यब्रह्म—(विराट् पुरुष) = द्रष्टा as दृश्य as one and as अनेक, युगपत्। No क्रम। This दर्शन is भिन्नतया दर्शन। No आत्मदर्शन।

व्यष्टि जीव = द्रष्टा of दृश्य as अनेक in क्रम। भिन्नतया दर्शन No आत्मदर्शन।

मुक्तजीव = द्रष्टा या दृश्य as अनेक in क्रम। अभिन्नतया दर्शन। There is आत्मदर्शन।

साधनमुक्त जीव का दर्शन—क्रम रहता है, अभिन्नतया और भिन्नतया दर्शन।
नित्यमुक्त जीव का दर्शन—क्रम रहता है।
विदेहमुक्त का दर्शन।
जीवन्मुक्त का दर्शन।

३.८.३८ :

चिन्ता के शब्द, रूप आदि हैं। मन में जो चिन्ताएँ उठती हैं, वे भाषा के सहयोग से ही उठती हैं। वह सब ध्वनि है। वह अधिक जोर से भी हो सकती है, कम जोर से भी हो सकती है। यह सब सुनी जाती है। यह सब चित्त की तरंग या वृत्ति है, विकल्प। इसका उपशम होने से चिन्ताशून्यता होती है। वही शुद्ध चित्त, वही निर्विकल्प समाधि है।

सविकल्प में ध्वनि रहती है।

१२.८.३८ :

कार्यब्रह्म=ऊँ। यही **सब**।

पिण्ड की कैवल्य-अनुभूति ब्रह्मलोक की अनुभूति कार्यब्रह्म की अनुभूति	एक

यह अनुभूति निर्विकल्प समाधि के बाद उपलब्ध होती है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड और वैकुण्ठ में कोटि-कोटि पिण्ड तैरते हैं। पिण्ड के बाहर बाह्य जगत्।

प्रति पिण्ड से स्वकीय ब्रह्माण्ड में जाने का रास्ता है।––वही तृतीय नेत्र है। एक-एक ब्रह्माण्ड में असंख्य पिण्ड हैं। उस पिण्ड से उसी के व्यापक ब्रह्माण्ड में जाने का रास्ता है। प्रति ब्रह्माण्ड से उत्संसृष्ट वैकुण्ठ या शुद्ध धाम में जाने का रास्ता है।

वैकुण्ठ भी असंख्य हैं। परन्तु, सबके शिखर पर गोलोक। वह एक है। गोलोक-भेद होने से ही कार्यब्रह्म या विराट् पुरुष। कार्यब्रह्म-भेद होने से परब्रह्म। उसी में ईश्वर और अक्षर रास्ते में मिलते हैं।

गोलोक तक निर्विकल्प अनुभूति और कैवल्य नहीं। अर्थात्, ब्रह्माण्डस्थ लोक, वैकुण्ठ या शुद्धलोक या गोलोक––कहीं भी अधिवासी की स्वाभाविक अनुभूति निर्विकल्प अनुभूति और कैवल्य नहीं। सर्वत्र अनुभूति सविकल्पक। परन्तु, क्रमोत्कर्ष है।

अतएव, मनुष्य-देह में किसी को निर्विकल्पक अनुभूति और कैवल्य होने से वह किसी लोक में स्थिति नहीं पायगा। कार्यब्रह्म में स्थिति मिलेगी। गतिकाल में वह सबसे पहले ब्रह्मलोक में जायगा––वहाँ से क्रममुक्ति के नियम से कार्यब्रह्म में जायगा। इसका कारण है—स्थूल देह का त्याग होने से भी सूक्ष्म और कारणदेह रहती है। इसीलिए, उसे भी त्यागने के लिए ब्रह्मलोक और वैकुण्ठ-भेद करना होता है। सभी की सूक्ष्मदेह का उपादान ब्रह्मलोक से और कारणदेह का उपादान वैकुण्ठ से आता है।

ब्रह्मलोक में भी किसी की निर्विकल्पक समाधि होकर कैवल्य हो सकता है। वैकुण्ठ में भी हो सकता है। वह होने से यदि देह रहे— तो परब्रह्म ज्ञान के सूचनार्थ पराभक्ति का आस्वादन होता है। परब्रह्मज्ञ होकर भी वहाँ रह सकते हैं। और अगर, कोई न हो, तो ऊपर के इहलोक को भेदकर कार्यब्रह्म में गति होती है।

ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत भी पिण्डों को बाहर नहीं देखते—अपनी देह के अंगरूप में देखते हैं। वह अपनी देह के बाहर की अन्यान्य ब्रह्माण्ड-गति को देख सकते हैं—नहीं भी देख सकते हैं।

पिण्ड से ब्रह्माण्ड में जाने का द्वार तृतीय नेत्र है। ब्रह्माण्ड से कार्यब्रह्म में जाने का द्वार मस्तक का चक्षु है—वास्तव में, यही चक्षु शुद्ध धाम है—वैकुण्ठ आदि। विशुद्ध तेज।

कार्यब्रह्म से परब्रह्म में जाने का द्वार है—वह है ऊर्ध्वरन्ध्र, ब्रह्मरन्ध्र।

कार्यब्रह्म से ब्रह्माण्ड में उतरने का रास्ता है। इसके उतरने का मतलब है—अवतरण। नहीं तो सब कुछ ब्रह्माण्ड और कार्यब्रह्म में स्थित ही है।

कार्यब्रह्म ब्रह्माण्ड-समूह को अपने शरीर के अन्तर्गत देखता है। कार्यब्रह्म के बाहर ही परब्रह्म है। कार्यब्रह्म नराकार है। यही सहस्रशीर्षा पुरुष है। ब्रह्माण्ड नराकार है। यह भी एक हिसाब से सहस्रशीर्षा पुरुष है।

ईश्वर = समग्र द्रष्टा, अभिन्नरूप में, आत्मरूप में—दोनों रूप में द्रष्टा

तुरीय	(त्रिगुण के अतीत होकर भी गुणाधिष्ठाता। इसलिए, is it पुरुषोत्तम? चित्-शक्ति है।) इसलिए, मायातीत।	उनका आत्मदर्शन नित्य। अनात्मदर्शन नहीं।

अक्षर—यहाँ दर्शन-व्यापार अव्यक्त है। इसलिए, द्रष्टा और दृश्य—

तुर्यातीत	(त्रिगुणातीत not गुणाधिष्ठाता। चित्-स्वरूपमात्र। No चित्-शक्ति। कूटस्थ)	इस बात का प्रयोग नहीं चलता। पर स्वरूप जब दृक् है, स्वप्रकाश भाव है।

कार्यब्रह्म—महासमग्र[1] द्रष्टा, भिन्न रूप में। द्रष्टा यहाँ अपने में भिन्नरूप से समग्र

जाग्रतादित्रय	(दर्शन युगपत्) महासमग्र प्रकृति	दृश्य को युगपत् देखता है। परन्तु, भिन्न रूप में होते हुए भी अपनी देह के रूप में देखता है—देहातिरिक्त बाह्य रूप में नहीं।

ब्रह्माण्डपति = समग्र[2] द्रष्टा +। भिन्नरूप में। द्रष्टा समग्र को अपने से भिन्नरूप

(इनका दर्शन क्रमिक। पिण्डापेक्षा युगपत् भी है।)	में, लेकिन स्वदेहरूप में देखता है। महासमग्र को स्वदेहरूप में नहीं देखता—स्वदेह के बाह्य रूप में देखता है। अवश्य व्युत्थान-काल में ही दोनों दर्शन होता है।

---

१. महासमग्र = प्रकृति।

२. समग्र = बुद्धिसमष्टि।

पिण्ड=खण्डद्रष्टा, (दर्शन क्रमिक) भिन्नरूप में क्रमिक द्रष्टा। दृश्य को अपने देहरूप में भी और उसके बाहर भी देखता है। बाहर जो देखता है, वह स्वब्रह्माण्ड का अंश है।

स्वब्रह्माण्ड के बाहर दृष्टि नहीं जाती—कार्यब्रह्म का दर्शन नहीं पाया जाता—परब्रह्म तो बहुत दूर है।

पिण्ड ब्रह्माण्डपति और कार्यब्रह्म—सर्वत्र ही जाग्रत् आदि अवस्थात्रय है। उसके बाद नहीं।

कार्यब्रह्म की जाग्रत् दशा ही महासृष्टि है, निद्रा ही प्रलय है। महासृष्टि का मतलब ब्रह्मा या ब्रह्माण्ड का जन्म। और, महाप्रलय के माने ब्रह्मा—ब्रह्माण्ड का नाश।

परन्तु, एक बात याद रखनी होगी। एक ब्रह्माण्ड के नाश से महाप्रलय नहीं होता। जब सारे ब्रह्माण्डों का नाश होगा, तब यथार्थ प्रलय होगा। वही कार्यब्रह्म की सुषुप्ति है।

किन्तु, प्रत्येक ब्रह्माण्ड के नाश में भी उस महासुषुप्ति का अभिनय देखा जाता है। यही सुषुप्ति योगनिद्रा है—नारायण की योगनिद्रा।

नारायण कार्यब्रह्म का एक aspect है। कार्यब्रह्म को महानारायण कहा जा सकता है। यही परमपुरुष है। सोये हुए हैं—प्रकृति में। यही प्रकृति कारणवारि है। यही आनन्द है। तन्त्र में इसको 'अमृत' कहते हैं, 'कारण' कहते हैं—सुरा। वेद में 'भूतगण का मूल' कहा जाता है। (cf. **'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। —तैत्तिरीय उपनिषद्।**)

ब्रह्माण्डपति बुद्धिसत्त्वाभिमानी (cf. भागवत् ३।९।२४ **'विज्ञानशक्तिरहमासमनन्त-शक्तेः'** said by ब्रह्म।), कार्यब्रह्म प्रकृत्यभिमानी महाब्रह्माण्डपति समष्टिबुद्धि-अभिमानी। पिण्ड—भूताभिमानी। महापिण्ड भी है।

कार्यब्रह्म से ब्रह्माण्डपति का आविर्भाव होता है। वह साधन-बल से सभी लोकों को एकबारगी खुले रूप में अपने हृदय में देख सकते हैं। उसके बाद भक्तियोग और साधन-बल से अपने में और सभी लोकों में व्याप्तरूप में भगवान् को (कार्यब्रह्म को) देखते हैं, और फिर उस कार्यब्रह्म में लोकसकल और जीवात्मा-सकल को भी देख पाते हैं। (भागवत, ३।९।३०-३१)।

१८.८.३८ : कलकत्ता, १ नं०, हिन्दुस्तान रोड :

घनीभूत सत्त्व गोलोक [भगवान्]
त्रिगुणसाम्य कार्यब्रह्म [परमात्मा]
त्रिगुणातीत परब्रह्म [ब्रह्म]

कार्यब्रह्म = शब्दब्रह्म, ऊँकार, नाद, अनाहत। यही प्रकृति या माया है।

स्वरूप-चैतन्य के एक ओर शुद्ध सत्त्वगुण का आविर्भाव होता है—वह चैतन्य उसमें प्रविष्ट होता है। (as अन्तर्यामी ईश्वर और as भोक्ता जीव)

शुद्धसत्त्व के एक ओर मिश्रसत्त्व का (with रजः) आविर्भाव होता है etc.

उस ,, ,, ,, का (with तमः also) ,, ,,

उसके एक ओर बुद्धि या ब्रह्माण्ड फूटता है।

यह कार्यब्रह्म ही व्याकरण का पश्यन्ती वाक् है। God, the son Logos. यह एक ज्योति है—जिसमें शब्द, रस आदि सब एकाकार हैं। कैवल्य-अवस्था में, आविर्भाव होता है। इसी रूप में दर्शन होता है। उस ज्योति में विश्व-जगत् प्रतिभासमान होता है।

निर्विकल्प : निर्विकल्पक = आत्मदर्शन in समाधि। No जगत्।

सर्वत्र आत्मदर्शन (व्यष्टि) ,, = आत्मदर्शन या भगवद्दर्शन in व्युत्थान pervading every वस्तु in जगत्।

सर्वत्र आत्मदर्शन (समष्टि) ,, = आत्मदर्शन pervading जगत् (and प्रकृति)।

विश्वरूपदर्शन ,, आत्मदर्शन including जगत् (प्रकृति)-दर्शन।

शुद्ध आत्मदर्शन ,, आत्मदर्शन only. No जगत्-दर्शन any more. यहाँ से समाधि का समाधान हो जाता है। सुतरां, समाधि-व्युत्थान का भेद नहीं रहता। चित्त ही नहीं रहता।

यही कैवल्य और कार्यब्रह्म में स्थिति है।

पराभक्ति : पराभक्ति का उदय, जिसका विषय परब्रह्म है।

परब्रह्मज्ञान : परब्रह्मज्ञान का उदय।

ब्रह्मरूपता : ब्रह्मरूपता।

९.११.३८ : प्रातःकाल :

(१) वासना के गये विना उन्हें (ब्रह्म) नहीं पाया जाता। उन्हें नहीं पाने से वासना नहीं मिटती।

दोनों ही बातें सत्य हैं। प्रथम 'उन्हें' = निराकार या पूर्ण, द्वितीय 'उन्हें' = साकार, भगवान्।

अतएव, सिद्धान्त यह है—पहले साकार को पाना चाहिए—साकार का संग करते-करते वासना (शुद्ध) कट जाती है। तब, निराकार की प्राप्ति होती है। वास्तव में, निराकार = साकार, दोनों एक ही।

अतएव, पूर्ण को पाना आरम्भ करने से ही वासना मिटने लग जाती है। पूर्ण को पहले साकार-प्रधान भाव से पाया जाता है—फलस्वरूप अशुद्ध वासना कटती रहती है।

साकार को पाने के साथ-साथ थोड़े-थोड़े निराकार की प्राप्ति होती है। बहुतेरे, इसे समझ नहीं सकते। क्योंकि, साकार का जोर रहता है। चरम में साकार बढ़ता रहता है, अशुद्ध वासना घटती रहती है, शुद्ध वासना भी साथ-ही-साथ कम होती रहती है। उस अनुपात में निराकार निखरता रहता है। अन्त में निराकार—तब शुद्ध वासना नहीं, साकार नहीं, अशुद्ध वासना भी नहीं।

९.११.३८ :

उनकी कृपा नहीं होने तक सभी तो 'मैं'। वह, उनका रूप, उनका ध्यान, जप, सेवा—सब मुझे ही करनी होगी। मेरे सिवाय उस समय कौन है? यही पुरुषकार है। भावना कहो, कल्पना कहो, मानसपूजा—सब 'मैं'-कर्त्तृक।

कृपा आने पर सब आप ही फूटता है। पुरुषकार क्रमशः कम हो आता है। 'मैं' कम हो आता है। यही चेतना का, जागरण का आरम्भ है। फलस्वरूप, 'तुम-तुम' भाव।

चरम में फिर सब 'मैं-मैं' भाव। 'तुम' नहीं रहता।

१९.११.३८ :

प्रत्यक्ष पाया।

देह के भीतर एक विशिष्ट स्थान है, वहाँ जाने से सूर्य को देखा जाता है। अवश्य वह अन्तःसूर्य है। कल्पना करके देखने की दरकार नहीं होती। यदि बाहर के सूर्य को देखा जाय या उसकी भावना की जाय, तो नहीं जानने से भी देहस्थ वह स्थान उत्तेजित होता है—काम करता है। क्रम से उस अन्तःस्थान में सूर्य को देखा जाता है।

दोनों सूर्य के एक हो जाने से ही यथार्थ सूर्य को देखा जाता है। तब, अन्तःसूर्य और बहिःसूर्य, दोनों के अतीत हुआ जा सकता है। तब समझ में आता है—दोनों स्थान में एक ही मूलसूर्य—भीतर और बाहर प्रतिबिम्बित हो रहा है। वही चित्-सूर्य है। अन्तःसूर्य—मनोमय सूर्य; बहिःसूर्य=भौतिक सूर्य। मूलसूर्य—आत्मसूर्य।

समाधिदर्शन=बहिःसूर्य की भावना के फल से अन्तःसूर्य का दर्शन! यह सविकल्पक दर्शन। फिर मूलसूर्य का दर्शन—यह निर्विकल्पक दर्शन।

इधर, पहले यदि अन्तःसूर्य को देखा जाय, तो उसमें भावना करने से बहिःसूर्य का दर्शन होता है। और फिर, दोनों के एक होने पर मूलसूर्य का दर्शन होता है। वही साकार आत्मदर्शन है। जिस आकार का ही हो, यहाँ अवश्य सूर्याकार होगा।

शुद्धसत्त्व में भीतर-बाहर नहीं। मलिन सत्त्व में है। तब, भीतर=सत्त्वप्रधान; बाहर=तमःप्रधान।

चिदाकार in चिदाकाश।

चिदाकार का प्रतिबिम्ब चित्त में पड़ रहा है, बुद्धि में, बौद्धाकाश में;

बुद्धि में

चित्त में
=चित्ताकाश में

भूत में
=भूताकाश में

८.१२.३८ :

चरम ध्यान दो प्रकार का है :

(क) जैसे कोई खड़ा हो—Leg सहित पाद, (ख) पाँव के नीचे का दृश्य।

पहला पूर्वमुख दर्शन में ध्येय—उपास्य का ध्यान। दूसरा उत्तर या ऊर्ध्वमुख दर्शन में ध्येय—ज्ञेय का ध्यान।

Transcendental और नराकार—सर्वोपरि संस्थित। उनके चरण से धारा निकल रही है। नीचे के रास्ते के ऊर्ध्वनेत्र से देखने से पदतल ही दिखाई पड़ता है। इसीलिए ज्ञानी का ध्येय पदतल है। यही है (ख)।

८.१२.३८ :

शोभा मा की भूमि शायद यही है :

भूमि=विश्व का विभाग, objective. यह विश्व=भगवत्-आवेश के आरम्भ से अन्त तक। केवल भूमि से अनुभूति का निर्णय नहीं होता। साधक की उपासना और चित्तभाव भी विवेच्य है। यह subjective है। साधक के चित्त और भूमियोग में अनुभूति होती है।

११.२.३९ :

स्थूलतत्त्व, सूक्ष्मतत्त्व, कारणतत्त्व—उसके बाद महाकारण। यही क्रम है। स्थूल तत्त्व में सूक्ष्मतत्त्व निहित रहता है—उसे स्थूल से मुक्त करना होता है। यह अवश्य क्रम-क्रम से होता है। सूक्ष्म का जितना-सा मुक्त होकर विविक्त होता है, वह ऊपर रहता है। लेकिन, ऊपर उठने की भी एक सीमा है। वहाँ तक जाकर और नहीं जा सकता। विविक्त सूक्ष्मांश कम होने से ज्यादा दूर तक नहीं उठ सकता। जितना अधिक होता है, उतना ही ऊपर उठता है, परन्तु आभास-रूप में उठने की क्षमता जरा-सा अंश को भी है। वह उतना प्रतीतिगम्य नहीं होता।

उसी प्रकार सूक्ष्म में निहित कारणतत्त्व भी मुक्त होता है—क्रमशः। मुक्त होकर उठता रहता है। पूर्ववत्।

कारण में महाकारण। महाकारण का उठना-उतरना नहीं होता। कारण के क्षोभ से ही महाकारण का आभास मिलता है। सूक्ष्म उठता क्यों है?

वह उठता है, सूक्ष्मसमष्टि के खिंचाव से—उसकी ओर। उसी प्रकार कारण भी उठता है।

सबसे पहले जो उठता है, वह कुछ स्थूल ही होता है। उठकर वह स्थूल की समष्टि में जाना चाहता है। परन्तु, उठे हुए स्थूल और गिरे हुए स्थूल में अन्तर है।

जितना-भर उठता है, उतना ही जागता है। उतना ही भर शुद्ध होता है—ब्रह्म में प्रवेश करने योग्य होता है।

क्रम यों है :

उत्थान, जागरण, आनन्द या काम्यलाभ, पूर्ण बोध of 'उत्तिष्ठत जाग्रत' आदि।

११.२.३९ :

शिवशक्ति का मिलन। इस मिलन की पूर्णता में ही ब्रह्मभाव। शिव क्रमशः शक्ति में प्रवेश करते हैं—अनुप्रवेश करते हैं। किन्तु, शिवभाव पूर्ववत् अच्युत रह जाता है। जो प्रविष्ट होते हैं, वह आभास शिव हैं—यह कहा जा सकता है। शिव के लिए शक्ति में प्रवेश—पतिरूप और पुत्ररूप में—दोनों ही।

प्रविष्ट होकर शिव शक्ति का आकार धारण करते हैं। शक्ति ही हो जाते हैं मानों। और, शक्ति तब शिवाकार होती हैं।

दूसरी बार वह शक्तिरूपी शिव शिवरूपी शक्ति को आलिंगन करते हैं।

फल—सच्चिदानन्द ब्रह्म।

आगम में है :

शुक्लः शिवो रक्तशक्त्यां पराशाम्भववेधतः।
रक्तशाम्भवरूपेण परातत्त्वेन शक्तितः॥
रक्तः शिवः शुक्लशक्त्यां परशक्त्यैक्यभावतः।
रक्तः शिवः शुक्लशक्त्यां सच्चिदानन्दलक्षणः॥

२२.२.३९ : सूर्योदय के पहले :

एकाग्रता, उसके बाद निरोध—उसके बाद ध्यान। पहले जमाना जरूरी है, बिखरे कणों को एकत्र करना चाहिए। जमने से ही सख्त, कठिन होता है। उसके बाद आघात करने से ही आग निकलती है। सख्त चीज ही आघात से तेज निकालती है—नरम नहीं करती। इसलिए, पहले एकाग्रता चाहिए।

२१.३.३९ :

आज एक अच्छी चीज पाई।

साधारणतया देखा जाता है—श्वास-प्रश्वास की गति के प्रति हमारा ध्यान नहीं रहता। लेकिन, ध्यान रखने का अभ्यास किया जाता है। उस समय प्राण से मन का योग होता है। यह योग बीच-बीच में टूट जाता है। अभ्यास की दृढता से ऐसी कए

अवस्था आती है, जब वह योग नहीं टूटता। तभी ठीक साक्षी-अवस्था का एक आभास पाया जाता है। उस आभास के साथ-ही-साथ अन्तराकाश में प्रकाश खुलता रहता है। और साथ-ही-साथ प्राण-अपान बराबर हो जाता है– श्वास-प्रश्वास धीमा होकर बन्द हो जाता है। आँखें मूँदने से जो अन्धकार दिखाई देता है—उस समय वह—प्रकाशमान हो जाता है।

६.४.३९ :

द्वैतदर्शन : सम्मुख में देखा जाता है—जैसे एक गोलक हो। निर्गुण उपासना में वह ज्योतिर्मण्डल-मात्र है। सगुण उपासना में वह है मध्यस्थ इष्टमूर्त्ति का मण्डल।

अद्वैतदर्शन : वह मण्डल अपने चारों ओर प्रकाशमान होता है। अपने को उसके Centre में पाया जाता है। स्वयं रूपधारी या अरूप बिन्दु (अस्मि point) जो भी क्यों न हो, Centre और radiation का घनत्व समान होने से दर्शन नहीं रहता। स्थिति होती है।

६.४.३९ :

अनन्त प्रकार के वर्ण—यह सब अ-ज्ञान के बहि:प्रकाश हैं। इस वर्णसमष्टि को एक स्थान में लाने से—पिण्डीभूत रहने से कोई वर्ण नहीं रहता। ज्योति होती है। वही विद्या या ज्ञान है।

१३.४.३९ : ८-३० **प्रातःकाल**

Centre और Circumference—चक्र (circle) मात्र ही रहता है। शक्ति क्रियाशील होने से केन्द्र से radiate करती है—जहाँतक जाती है, उसकी सीमा ही परिधि है। यह शक्ति उठती है, इसलिए उसका अवसान है—वह अनन्त नहीं।

जो अनन्त है, उसमें केन्द्र नहीं, अतएव परिधि भी नहीं, इसलिए केन्द्र से परिधि और परिधि से केन्द्र radiation भी नहीं।

Circle ही बिन्दु है। Centre का आत्मप्रकाश ही circle है, इसलिए centre भी बिन्दु है। Circle या Centre के अतीत = बिन्दु अतीत। वही Infinite है।

Centre से धारा निकलती है; फिर मुड़ती है। मुड़कर centre में लौट आती है। जहाँ मोड़ लेती है, वही परिधि या तदंश है। मोड़ नहीं लेने से circumference नहीं मिलता। वह circle नहीं होता। उसे circle कहना हो तो कहना होगा, ऐसा circle जिसके बिन्दु और परिधि की खोज नहीं मिलती। वास्तव में, उस circle का centre भी अव्यक्त है। Centre व्यक्त होने से व्यक्त परिधि जरूर होगी। रेखा का एक छोर हो, तो दूसरा छोर रहेगा ही।

एक धारा केन्द्र से परिधि की ओर जाती है—यही सृष्टि या प्रकृतिधारा है। एक और धारा परिधि से केन्द्र की ओर आती है—यही संहार या निवृत्तिधारा है।

सीमाबद्ध चक्र में क्रमशः ये दोनों ही धाराएँ खेलती हैं। क्रमशः इसलिए कि जो धारा बाहर जाती है, वह अन्त तक जाकर फिर लौटती है। जाना और लौटना—साथ-साथ नहीं, जाने के बाद लौटना। परन्तु, सामान्यतः बाह्य और आन्तर प्रवाह साथ ही चलते हैं।

परन्तु, जब एक विशिष्ट प्रवाह ही युगपत् सृष्टि और संहारात्मक होता है—उस समय की अवस्था = स्थिति। वह अनन्तप्रवाह है—motion in the or towards the infinite. यहाँ absolute motion और absolute rest मानवीय भाषा में अभिन्न प्रतीत होते हैं। यही अद्वैत-भाव का रहस्य है। यह motion space- के अतीत है, यह infinite, unlimited, unconditioned है। यही position है। आन्तर और बाह्य की साम्यावस्था का भेद करने से ही यह रहस्य पकड़ में आता है।

यह जो infinite circle की बात कही गई—जिसका केन्द्र अव्यक्त है, परिधि भी अव्यक्त है, जिसका radiation असीम, अबाधित है, वही महाशक्ति है। और, एक ओर से देखने से कहा जा सकता है—वहाँ केन्द्र नहीं, परिधि नहीं, विकीरण भी नहीं। वही परशिव है। किन्तु दोनों ही एक।

सारा जगत् बिन्दु के ही अन्तर्गत है।

१३.४.३९ :

मूलप्रकाश—अवर्ण } = चित् (दिखाई नहीं देता)।
उपमूलप्रकाश—श्वेत वर्ण } = शुद्धसत्त्व (दीखता है)।

सृष्टि का आदि प्रकाश पीतवर्ण = प्राकृतसत्त्व। ज्ञानवृत्ति।

सृष्टि का वैचित्र्यभाव नानावर्ण = गुण का खेल। भोगवृत्ति सुख-दुःख।

नाना प्रकार का रंग खेल रहा है—भावजगत् का केन्द्र = अहंकार। कर्म और कर्मफल यहाँ दोनों विद्यमान रहते हैं। कर्तृत्वाभिमान और सुख-दुःखभोग यहाँ होता है।

इन विभिन्न वर्णों का संघट्टन करने से एक ज्योति फूटती है। यह संघट्टन ही एकाग्रता है—समाधि—उसका फल वह ज्योति, वही प्रज्ञा है। यह पीतवर्ण है। यह भी वृत्तिज्ञान है। दूसरी सारी वृत्तियों का यह भक्षण करता है। यह एकाग्रवृत्ति है। अगर कोई वृत्ति एकाग्र हो, तो चरम में वह प्रज्ञा निखरेगी ही।

इस पीत ज्योति के शान्त होने से ही बिखरी—व्यापक—उज्ज्वल ज्योति देखने में आती है। पीत ज्योति में दो चीजें हैं—उज्ज्वल ज्योति + प्राकृतसत्त्व। पीत ज्योति से प्राकृतसत्त्व के विश्लिष्ट होने से—जो रहती है, वही वह उज्ज्वल ज्योति है।

उस उज्ज्वल ज्योति में भी दो चीजें हैं, उन्हें अलग करना बड़ा कठिन है। उज्ज्वल ज्योति = चित् + शुद्धसत्त्व। इसे ज्ञानचक्षु कहते हैं। चित् ही वास्तव में प्रकाश-स्वरूप है, पर वह देखा नहीं जाता। शुद्धसत्त्व के योग से वह उज्ज्वल ज्योति के रूप में

दृश्य होता है। इसे ही साधारणतया चैतन्य कहा जाता है। वस्तुतः चित् और शुद्ध सत्त्व सदैव रहता है।

Abstraction से अलग किया जाता है।

२३.४.३९ :

जाग्रत् सारांश-लाभ करने से सचेतन रूप में स्वप्न-दर्शन किया जा सकता है। जगकर स्वप्न-दर्शन आवश्यक है। साधारणतया अचेतन होकर, नींद में स्वप्न-दर्शन होता है। लेकिन चेतन रहकर स्वप्न-दर्शन करना चाहिए। यह जाग्रत् का सत्त्व पाये विना सम्भव नहीं। यह द्रष्टा होने के अभ्यास से होता है। स्वप्न-दर्शन = सूक्ष्म जगत्-दर्शन। चेतन रहकर स्वप्न-दर्शन अर्थात् ध्यानावस्था। इस प्रकार, समग्र स्वप्न जगत् को ग्रास करके—उसका सारांश लेकर—पुष्ट द्रष्टा सुषुप्ति के सम्मुखीन होता है। सुषुप्ति का द्रष्टा होता है। पूर्ण रूप से सुषुप्ति का भेद कर पाने से—उसका सारांश पाने से—तुरीय अवस्था प्राप्त होती है। तब जगत्-स्वप्न – सुषुप्ति – युगपत् दर्शन। चेतन द्रष्टा के सामने स्थूल, सूक्ष्म और कारण का क्रिया-खेल समान चलता रहता है। यह तृतीय द्रष्टा ही पुरुष है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण = प्रकृति। जबतक जाग्रत् 'स्वप्न और सुप्ति में' स्थूल, सूक्ष्म और कारण के भीतर था, भोक्ता था, तबतक उनका द्रष्टा नहीं था। अब यथार्थ द्रष्टा होने से तीनों ही समान दर्शन करते हैं। वास्तव में, यही त्रिकालदर्शन है। पहले जाग्रत् को काटकर स्वप्न में, स्वप्न को काटकर सुप्ति में जाना पड़ता था—क्रिया थी। अब निष्क्रिय होकर समग्र प्रकृति का खेल युगपत् चलता रहता है। स्वयं चेतनभाव में प्रतिष्ठित होने से यह खेल स्वप्न-सा लगता है—ठीक युवक के bioscope देखने जैसा। मिथ्या है, मालूम है—फिर भी दर्शन हो रहा है। ऐसे ही जगत् मिथ्या है, यह प्रतीत होता है। सुषुप्ति-भेद = निर्विकल्पक समाधि। भेद होने से जिस चैतन्य या आत्मा का स्फुरण होता है, वह सदा रहती है—इसीलिए जगत्-दर्शन या अनात्म-दर्शन मिथ्या लगता है।

क्रमशः यह स्वप्न-दर्शन उपसंहृत होता है (संस्कार क्षीण हुआ)। तब पुरुष सुषुप्ति-दर्शन करता है—अव्यक्त प्रकृति का दर्शन करता है। इस सुषुप्ति का भेद होने से अव्यक्त प्रकृति पुरुष में लीन होती है। उस स्थिति में पुरुष = महापुरुष। प्रकृति उसका अंग होती है। यही ईश्वर-भाव है।

३.५.३९ :

सात्त्विक पुरुष का प्रभाव और त्रिगुणातीत पुरुष का प्रभाव—मनुष्य पर एक-सा नहीं होता। शुद्धसत्त्व गुण के प्रभाव से मनुष्य का चित्त सात्त्विक भाव से भावित होता है– उसकी संस्कारगत मलिनता अभिभूत हो जाती है। लेकिन, यह स्थायी नहीं होता; क्योंकि उस प्रभाव के दूर होते ही पूर्वोक्त मलिन संस्कार-समूह वृत्ति के रूप में जाग उठता है। किन्तु, निर्गुण चित् शक्ति का प्रभाव ऐसा नहीं। उससे मलिन संस्कार उत्तेजित होता रहता है—

जिसके आधार में जैसा भाव रहता है, वही जाग उठता है। जागता है और विनष्ट होता है। क्रमशः ऐसी अवस्था आती है कि सारे संस्कार कट जाने से मनुष्य द्वन्द्वातीत और संस्कार-विहीन अवस्था प्राप्त करता है—यही मुक्तावस्था है।

त्रिगुणातीत पुरुष के संसर्ग में प्रथमतः कोई धार्मिक होता है, कोई अधार्मिक होता है—चरम अवस्था में दोनों ही धर्माधर्म से परे होकर मुक्तिलाभ करते हैं। सात्त्विक पुरुष के संसर्ग में मनुष्य सात्त्विक होता है।

निर्गुण शक्ति=साम्य शक्ति। इसके प्रभाव से मनुष्य साम्य में प्रतिष्ठित होता है। इसलिए, मनुष्य में जो भाव प्रबल रहता है, वही पहले प्रकटित होता है। यह साम्यशक्ति ही ब्रह्मशक्ति है—सात्त्विक शक्ति और दिव्यशक्ति है। ब्रह्मशक्ति के दो कार्य हैं—(क) जगाना, (ख) जगाने के भाव को आयत्त करना, भस्म करना, विनष्ट करना, दग्ध करना।

मनुष्य की प्रकृति में भला-बुरा—दोनों ही मिले होते हैं। जो भाव जिस मात्रा में अधिक होता है, वही भाव उतना उत्तेजित होकर दग्ध होता है। जैसे, भला दस आना, बुरा छह आना। इस स्थिति में चार आना (दस आना—छह आना=चार आना) व्यक्त होता है, कार्य करता है और निवृत्त होता है। छह आना भला और छह आना बुरा अव्यक्त रहता है। ये दोनों साथ ही समान भाव से जागते और दग्ध होते हैं। इस सम-भाव में जागने का एक रहस्य है। Neutral होकर जागता है—लेकिन, जागरण की मात्रा है। जैसे, यहाँ छह आना।

५.५.३९ :

कारण=ज्योति; स्थूल=घट; सूक्ष्म=घटच्छाया; घट रहने से ही उसकी छाया रहेगी। क्योंकि, चारों ओर ज्योति है। यह जो ज्योति है, उसका एक source है। जिससे यह निकलती है। घट से उसके source के विपरीत की ओर छाया पड़ती है। घट जितना ही source की ओर बढ़ेगा, वह उतना ही अधिक luminous होगा, उसकी छाया उतनी ही व्यापक होगी। घट जब source में प्रविष्ट होगा, तब उसकी छाया व्यापक ज्योति से अभिन्न होगी। अवश्य घट भी उस समय source से अभिन्न होगा।

इसके विपरीत कहा जा सकता है—source की जैसी ज्योति है, वैसी ही घट की छाया है। घट जब source से एकीभूत होता है, तब उसकी छाया भी ज्योति से एकीभूत होती है। अर्थात्, तब एक हिसाब से घट नहीं होता, source ही रहता है; छाया नहीं, ज्योति ही रहती है। किन्तु, घट का व्यक्तित्व सदा रहता है।

असल बात यह है—घट='क', 'क' एक अभिमान-केन्द्र है।

२७.५.३९ : प्रातःकाल :

[१]

व्यष्टिभाव से प्रत्येक जीव का समग्र जीवन कारण में देखा जाता है। महाकारण से युगपत् यह आविर्भूत होता है। कारण से कार्यरूप में क्रम-क्रम से प्रकाश। जो कारण में नहीं, वह कार्य में नहीं होता। प्रकृति=कारण।

[२]

प्रयत्न या भक्त संख्या रखकर जप नहीं करता। संख्या रखने से हिसाब रखना होता है। फल यह होता है कि कृपा नहीं आती—कर्मफल आता है।

[३]

निर्विकल्पक माने निराश्रय। इस अवस्था में जाकर बोध रहने से, और आश्रय की आकांक्षा रहने से भगवान् को पाया जाता है।

सूक्ष्म या लिंग को बाहर करके भेजना और सूक्ष्म का या लिंग का बाहर होकर यातायात—दोनों अलग व्यापार हैं। कारण में स्थित होने से लिंग को बाहर किया जा सकता है—कारण के अंशरूप इच्छावशतः। अवतारवत्। वह फिर घूम-फिरकर आता है। स्थूल में स्थित होने से साधन-बल से कभी-कभी स्थूलाभिनिवेश कम हो जाने से लिंग बाहर हो जाता है। फिर लौटता है। स्वप्न में भी होता है। control नहीं रहता।

६.६.३९ : पुरीधाम :

अव्यक्त (यहाँ matter और form एक। Transcendent) यही बीजस्थान है।

प्रथम क्षेत्र=कारणवारि=सत्त्वगुणसमष्टि। बीज के संयोग से कारणदेह और कारण-जगत् उत्पन्न होता है। कारणदेह=बीज।

द्वितीय क्षेत्र=लिंगज्योति। बीज के योग से लिंगदेह और सूक्ष्म जगत् का जन्म। लिंगदेह=बीज।

तृतीय क्षेत्र=भूताकाश या भूत ज्योति। बीज-योग से स्थूलदेह होती है। स्थूल जगत्।

संहार होता है अग्निज्योति से। पृथक्-पृथक् अग्नि है। अग्नि स्थूलदेह में डालने से स्थूल उपादान अलग होता है—स्थूल आकाश होता है। लिंगदेह ऊपर चली जाती है। अग्नि लिंगदेह में डालने से लिंग-उपादान अलग हो जाता है—लिंगज्योति या चित्ताकाश में बदल जाता है। कारणदेह ऊपर चली जाती है।

अग्नि कारणदेह में डालने से कारण-उपादान अलग होता है—कारणवारि में या चिदाकाश में परिणत होता है। महाकारणदेह ऊपर चली जाती है।

●

स्वसंवेदन

द्वितीय खण्ड

४.१.१९२५ :

देवता को बुलाने से ही उन्हें आसन, पाद्य आदि, भोज्य आदि देना होता है, कम-से-कम मानस। देवता जब अव्यक्त रहते हैं, तब कुछ भी नहीं चाहिए। लेकिन, अभिव्यक्त होने से ही सब कुछ चाहिए। जागते ही उनका आभास मिलता है—वह हमारी प्रार्थना सुनते हैं, या जवाब देते हैं—जागने पर।

बुलाने का दो तात्पर्य है। प्रथमतः यह सम्बोधन, या जागरण है, अव्यक्त का व्यक्तीकरण। द्वितीयतः यह आभिमुख्य-सम्पादन है। उसके बाद बातचीत = भाव-विनिमय।

लेकिन, सत्त्व बिलकुल शुद्ध हो, तो देवता की निद्रा नहीं रहती, या अपनी भी नहीं रहती। एक ही बात है। एकबारगी विशुद्ध होने से ही जगाने या पुकारने की आवश्यकता नहीं होती। सर्वदा जागे ही हुए हैं। केवल प्रयोग करना या नहीं करना—यह अपनी इच्छा पर है।

ज्योति भी बाहर की है—जब वह प्रकाशमान होती है। जब वह अव्यक्त होती है, तब आत्मतत्त्व में स्थिति होती है। अव्यक्त ज्योति अ-प्रकाश है—वहाँ शिव और शक्ति एक ही हैं। बाहर होने पर ही ज्योति सत्त्व पर पड़ती है—तब वह प्रकाशमान होती है। सत्त्व पर आकर पड़ते ही ज्योति प्रकाशमान होती है—आकार, वैचित्र्य आदि सभी होते हैं।

ज्योति भीतर से ही बाहर होती है। उस समय वह दिखाई नहीं पड़ती, अर्थात् उस समय शक्ति होते हुए भी वह ज्योतिरूप या प्रकाशरूप नहीं होती। सत्त्व पर पड़ने से ज्योति भाव में फूटती है।

विशुद्ध सत्त्व ठोस होता है। उससे प्रभा नहीं विकीर्ण होती। जैसे searchlight, सदा एकाग्र, संहत, जमा हुआ-सा—बिखर नहीं पड़ता। सत्त्व में बाहर की सीमा ही रजोवलय है। वहाँ ज्योति का आभास कणसमष्टि है। वहाँ से आभास या रश्मि विकीर्ण होती है—क्रम से तमोवलय। वहाँ गहरा अँधेरा है। बीच में मिश्रण।

७.१.२५ :

मनुष्य-मात्र ही देवता है। अतएव, विशुद्ध सत्त्व में वह भी सोलह वर्ष का अथवा तदन्तःस्थ है। वह स्वाभाविक देह है। बूढ़ा भी जब जगदम्बा का दर्शन पाकर अपने को उनकी गोद में देख पायगा, तब देखेगा कि वह भी शिशु होकर, पाँच-सात वर्ष का होकर माँ की गोद में है।

२०.१.२५ :

किसी के चित्त में संस्कार-रूप में क्या है, क्या नहीं है—यह देखना हो, तो उस चित्त में ब्रह्मतेज डालना होता है—अवश्य बहुत ही थोड़ा। यही ईक्षण है, समसूत्र में दर्शन। ऐसा करने से ही चित्त में उथल-पुथल होगी, सुप्त वृत्ति या संस्कार जाग उठेगा। क्योंकि, ब्रह्मतेज का स्वभाव ही जगा देना और जगाकर विनाश करना है। उस समय सब क्रमशः surface पर आयगा। यदि दीर्घकाल तक इस प्रकार से ईक्षण किया जाय, तो वह उठेगा और विनष्ट होगा, और क्रम से चित्त शुद्ध हो जायगा। उसके बाद थोड़ा तीव्र भाव से तेज का संचार करते ही चित्त टूट जायगा – मनोनिवृत्ति हो जायगी। क्योंकि, सब मन के जाने पर भी अन्त में एक परदा रहता है – वह है अविद्या। चित्त के प्राकृत भाव से शुद्ध होने पर भी वह रहता है। कुछ तीव्रता से ब्रह्मतेज का संचार होने पर वह निवृत्त होता है, परन्तु साथ-ही-साथ चित्त भी जाता है। क्योंकि, अविद्या के जाने से चित्त नहीं रह सकता। मात्र चेतना ही रहती है।

इस स्थिति में ईक्षण से संस्कार का उद्बोधन होगा—विनाश के लिए। और, यदि शुद्धसत्त्व में पुटित करके ईक्षण किया जाय, तो संस्कार को ऊपर—surface या threshold में उठना नहीं पड़ता – दृष्टि ही नीचे उतरकर सब देख लेती है। संस्कार साक्षात्कृत होता है। किन्तु, जिसका संस्कार होता है, वह जान भी नहीं सकता। इसलिए कि संस्कार उद्बुद्ध होकर जबतक वृत्ति नहीं हो जाता, वह समझ नहीं सकता।

दीक्षा की दृष्टि से इसका अन्तर है। दीक्षा—वह चाहे ब्रह्मदीक्षा हो, चाहे शक्ति-दीक्षा—उसे चैतन्य या शुद्ध सत्त्व का अंश बना लेना होता है। रजोबल से। बाद में, उस अंश को तम के ऊपर संचारित करना होता है। अर्थात्, रज के अवलम्बन के विना दीक्षा देने का कार्य नहीं चलता; क्योंकि तम का विनाश नहीं किया जा सकेगा।

चित् शक्ति की दीक्षा से चित्त के प्रभाव से तीनों ही गुण अलग होते रहते हैं। अन्त में कुछ नहीं रहता, केवल चैतन्य ही रह जाता है। शुद्ध सत्त्व की दीक्षा से तम हट जाता है। सत्त्वांश शुद्ध सत्त्व में आकृष्ट होकर जम जाता है—जब सब जम जाता है, तब चित्त निर्मल, किन्तु अटूट और चैतन्य को धारण करने योग्य हो जाता है।

बिन्दु देशकाल के अतीत, नित्य होता है। सृष्टि के समय उससे रेखा का विकास होता है। यह एक मात्रा—dimension है, इसी के सन्निवेश से यन्त्र, चक्र आदि होते हैं। मूलधाम सम-त्रिकोण है। यह कारण-शरीर है। इसके बाद लिंगदेह। यह समतल है—दो dimension। जैसे पट या चित्र—दृश्य है, छाया जैसा। लेकिन, घनत्व है। लिंगदेह मानों दर्पण की परिछाई हो। बिम्ब स्थूल, प्रतिबिम्ब लिंग, बिम्ब तीन dimension, प्रतिबिम्ब दो dimension, और स्थूल देह घन, cube तीन dimension, जैसे मूर्त्ति या प्रतिमा।

यन्त्र ही देवता की कारणदेह है। हम जिसका ध्यान करते हैं, वह लिंग और स्थूल का है। देवगण चूँकि कारण-जगत् के हैं, इसलिए कारणदेह ही उनकी एकमात्र स्वाभाविक देह है। कारणदेह महाकारण या समष्टि में लीन होती है। यह सम-त्रिकोण या सम-चतुरस्र या वृत्त है। यह नित्य है। लेकिन, संकोचन से बिन्दु-भाव मिलता है। प्रसार से त्रिकोण आदि रूप होते हैं।

एक होते हुए भी बिन्दु दो है, दो होते हुए भी एक। जैसे, चणक।

११.१.२५ :

देवता जागते ही खाद्य चाहते हैं, नहीं मिलने से फिर सो पड़ते हैं। खाद्य, जीवन-धारण का अवलम्बन, आहार्य—एक ही बात है। प्रेम, पूजा, ध्यान, जप इत्यादि सब देवता के भोग्य या खाद्य हैं। जैसे, अग्नि का खाद्य लकड़ी है। आलम्बन या विषय ही खाद्य है। यही आधार है। निराधार देवता या चैतन्य अव्यक्त—उसकी उपासना नहीं; क्योंकि उसे आहार की आवश्यकता नहीं, वह निष्क्रिय है। जिसे सत्ता-संरक्षण कहते हैं, उसी को क्रिया-सम्पादन कहते हैं। इसे करने के लिए आधार या आहार या विषय चाहिए ही।

सत्त्व की सत्ता में चैतन्य का स्फुरण सापेक्ष है। चैतन्य का स्फुरण, संघर्ष और आहार—अर्थात् रज और तम—सम्बन्ध-सापेक्ष। रज और तम का सम्बन्ध जब नहीं रहता है, तब सत्त्व चैतन्य को धारण नहीं कर सकता। क्योंकि, चैतन्य को खाद्य की कमी हो जाती है। व्यक्त चैतन्य को आहार चाहिए—रज-तम—मन ही उसका आहार या विषय है। आहार समाप्त करके व्यक्त चैतन्य अव्यक्त हो जाता है या सो पड़ता है। सत्त्व फिर, सत् नहीं रहता—असत्कल्प हो जाता है। अर्थात्, मूल प्रकृति में सत्त्व अव्यक्त होता है—जहाँ रज-तम का सम्बन्ध नहीं रहता।

हम चाहते हैं, सत्त्व व्यक्त रहे, पर उसमें रज-तम न रहे। अव्यक्त सत्त्व चूँकि चैतन्य को धारण नहीं करता, इसलिए असत्कल्प है—वह सत्त्व-पदवाच्य नहीं, यद्यपि उसमें रज और तम का मिश्रण न रहे। व्यक्त सत्त्व चैतन्य को धारण तो करता है, लेकिन वह चैतन्य के आहार-रूप में रज-तम को मिश्रित रूप से साथ रखता है, इसीलिए वह अनित्य और हेय है। प्रथम है जड समाधि—हम वह नहीं चाहते, उसमें ज्ञान नहीं है। द्वितीय है वृत्तिज्ञान; सविषयक—वह भी हम नहीं चाहते। उसमें ज्ञान है, पर वह सान्त और सविषयक होने से दुःख है। सुख भी है, दुःखसम्भिन्न।

हम चाहते हैं :

१. चैतन्यमय दुःख-निवृत्ति। यह तभी सम्भव है, जब शुद्ध सत्त्व मिले, जिसमें मल नहीं। यह सत्त्व स्थिर और निर्मल है।

२. आनन्द या अनुकूल बोध। यह तब सम्भव है, जब उस शुद्ध सत्त्व में प्रवाह होगा, पर प्रवाह अन्तर्मुखी होगा। मल नहीं रहने के कारण अवश्य विषय-सम्बन्ध नहीं

होता—अतएव वैराग्य तो सिद्ध ही है। प्रवाह होने से वह आत्मसुख का होगा। इसलिए, वह अनुकूल होगा। वह चैतन्य का ही प्रवाह है—नाम है, आनन्द।

एक बात और। अव्यक्त और व्यक्त चैतन्य है क्या? अव्यक्त चैतन्य = शिव। व्यक्त चैतन्य = शक्ति। एक बिन्दु, दूसरा रेखा। बिन्दु से रेखा में प्रसार—संकुचन में रेखा बिन्दु में बदलती है। रेखा फैलकर शुद्धसत्त्व में पड़ती है—उसमें सत्त्व 'सत्' है। यदि वह रेखा बिन्दु में जाकर लीन हो जाय, तो शुद्धसत्व भी असत्कल्प है, परन्तु स्थिर। क्योंकि, प्रवाह आने से फिर उसी में पकड़ा जायगा।

किन्तु, प्रवाह जब बिन्दु से सत्त्व में और सत्त्व से बिन्दु में अनवरत घूमता रहता है—कहीं भी रेखा का अभाव नहीं रहता—तब शुद्धसत्त्व से नित्य सम्बन्ध के कारण चैतन्य व्यक्त ही रहता है। इस अवस्था में शुद्धसत्त्व से निरन्तर प्रवाह चलता है, इसलिए नित्यानन्द-लाभ होता है। परन्तु, बिन्दु से जो प्रवाह सत्त्व में पड़ता है, वह यदि निरन्तर न हो, तो उस प्रवाह के सत्त्व से बिन्दु में लौटने के समय जो आनन्द होता है, वह आनन्द बढ़ते-बढ़ते बिन्दु में लय होने के पूर्व ब्रह्मानन्द या पूर्णानन्द का आस्वादन होता है। उसके बाद प्रवाह या रेखा के बिन्दु में विलीन होने पर फिर आनन्द नहीं रहता। उस समय सत्त्व से सम्बन्ध नहीं रहने कारण शक्ति भी रेखात्मक नहीं, अव्यक्त होती है। एक बिन्दु ही रहता है—वही शिवतत्त्व है। उस समय उसे बिन्दु भी नहीं कहा जा सकता। (बिन्दु = साक्षी)।

परन्तु, बिन्दु से प्रवाह निरन्तर होने से सत्त्व से भी प्रवाह निरन्तर होगा। फलस्वरूप नित्यचक्र का आविर्भाव होगा। इसी को लीलारस कहते हैं। यह याद रखना है, बिन्दु से शक्ति में पड़ने के समय शक्ति रेखात्मिका होने पर भी अव्यक्त होती है। परन्तु, सत्त्व में पड़ने से वह व्यक्त होती है—उस समय वह चैतन्य-पदवाच्य है। लौटने के समय वह फिर रेखात्मिका होती है—परन्तु स्वयम्प्रकाश, व्यक्त—यह अन्तःप्रकाशशील चैतन्य या आनन्द है, जिसकी पराकाष्ठा बिन्दु में विलय के पहले होती है। विलय के बाद सत्-चित्-आनन्द—तीनों अव्यक्त। वही पूर्णत्व है। जिसे सत्त्व कहा, वह भी बिन्दु है। वह सदाशिव, विद्या, ईश्वर—त्रिविध है। शिव = महाबिन्दु। यह सत्त्व या सदाशिव ही आसन है—प्रेतासन, चैतन्य जब शुद्धसत्त्व से ऊपर आकृष्ट हो जायगा विपरीत स्रोत में—तब शक्ति जाकर शिव में पड़ेगी, इसीलिए वह विपरीत रतासक्त शक्ति होगी।

१२.१.२५ :

कल रात स्वप्न में पाया :

बिन्दु से रेखा होती है। बिन्दु-बिन्दु में कभी संयोग नहीं होता। होने से ही एक प्रकार से एक ही हो जायगा—सायुज्य। रेखा और कुछ नहीं—दो बिन्दुओं का जो प्रभामण्डल है, उसकी किसी एक रश्मि से दूसरे बिन्दु की किसी रश्मि का आकर्षण।

जो प्रबल होता है; खींचता है —रश्मि से खींचता है, दूसरी रश्मि को खींचता है। उस समय प्रबल पक्ष में भी एकाग्रता होती है, दुर्बल पक्ष में भी। फलस्वरूप रश्मि, जो असंहत स्थिति में अव्यक्त रही, अब व्यक्त होकर रेखा का आकार हुई। यह नैयायिकों का द्वयणुक-जातीय है। वास्तव में, परमाणुद्वय का संयोग नहीं होता। एक बिन्दु के प्रभाराज्य से अगर उसके कर्षण की अपेक्षा प्रबल कर्षण से बिन्दु को हटाया जाय, तो दोनों ही बिन्दु अव्यक्त होंगे, इसलिए कि असंहत होने से रश्मि अव्यक्त है। बिन्दु अव्यक्त निखिल शक्ति है। रेखा एक प्रकार से निखिल शक्ति का समष्टि-भाव से प्राकट्य है। अतएव, एक रेखा-समन्वित बिन्दु सर्वशक्तिमान् है—अवश्य एक विशिष्ट शक्ति पूर्ण, उसमें यावतीय शक्ति विलीन है। उसे केवल नीचे के अनुरोध से विशिष्ट शक्ति कहा गया। वैशिष्ट्य सत्त्व में भी वह सामान्य है। राम कहो या श्याम—जिस रूप में ही लो, वही पूर्ण है, तदितराकार में विलयस्थान। यही साकार महाशक्ति है। केवल बिन्दु निराकार महाशक्ति है। क्योंकि, रेखा अप्रकट है।

यह जो रेखा है, वह केवल बिन्दुद्वय-मात्र नहीं, इसलिए वह तज्जन्य अभिनव वस्तु है। इसीलिए यह भी एक है। इसीलिए, इसका भी रेखा-रूप में नहीं, प्रकट बिन्दु-रूप में—प्रभामण्डल है, चारों ओर रश्मि है। ये रश्मियाँ रेखात्मक प्रकट रश्मि से विलक्षण हैं। अब पूर्व नियम से फिर कर्षण आदि होते हैं।

प्रबल जो दुर्बल को खींचे रहता है—यह खिचाव यदि न रहे, तो फिर संयोग नहीं रहा, द्व्यणुक आदि नहीं रहे। खिचाव=इच्छा। इसे ज्ञान के द्वारा तोड़ा जा सकता है। इसीलिए, ज्ञान के विकास से यह खिचाव कम होते-होते नष्ट हो जाता है। और भी विकास हो, तो सब ज्ञानमय दीखता है। तब विकास वैसे दाहक रूप में सम्भव नहीं होता। क्योंकि, देह का या मन का सम्बन्ध नहीं। वैसे में ज्ञान तापहीन होता है। और भी विकास से भक्ति का उदय—नये राज्य में प्रवेश। जैसे, चन्द्रिका-स्नात धाम।

यदि विश्व मेरी देह हो, तो मेरे ज्ञान से वह देह विनष्ट होगी—प्रलय होगा। नहीं तो नहीं।

१५.१.२५ :

सोलह साल पहले तक प्रकृति। इसीलिए, उस समय बालक भी बालिका जैसा ही रहता है। मूँछ-दाढ़ी नहीं होती आदि।

सोलह वर्ष=पूर्ण प्रकृति या पूर्ण पुरुष, दोनों ही विशुद्ध, नित्य मिलित। उसके बाद दोनों ही मलिन। मलिनता का कारण? पुरुष प्रकृति का भोग करता रहता है। पुरुष भी मलिन और प्रकृति में भी मलिनता। इसलिए, विकार होता रहता है।

नित्य अवस्था में प्रकृति और पुरुष दोनों ही नित्य षोडशवर्षीय। प्रकृति सदा निर्विकार, इसीलिए सदा षोडशी। वास्तव में, साक्षी ही पुरुष है। परन्तु, साक्षी भोग नहीं करता, लीला नहीं करता। इसलिए, पुरुष रूप धारण करके प्रकृति ही आविर्भूत

होती हैं। सुतरां, पुरुष भी वास्तव में प्रकृति ही है। हम जिसे पुरुष कहते हैं, वह प्रकृति से ही आविर्भूत है। खेलने के लिए प्रकृति के साथ। साक्षी अवश्य सदा हैं।

तो निकला यह :

दो स्तर :

(१) साक्षी—प्रकृति। यह एक ही वस्तु है। लेकिन, समझने के लिए दो। यह सप्तदशी है। महात्रिपुरसुन्दरी। 'आद्या ललिता'। आद्या।

[काली]

(२) पुरुष (१६ वर्षीय) और प्रकृति (१६ वर्षीया) (=षोडशी)—यह पुरुष प्रकृति [षोडशी] से ही आविर्भूत है। नित्य मिथुन; नित्य मिलित। विकार नहीं। (१) और (२) के बीच, लगता है, और एक स्तर है। वह है सरस्वती, सम्भवतः, वही तारा का। (२) के ऊपर फिर ज्योति नहीं। तम—शुद्धतम—या अव्यक्त। अलोक।

१६.१.२५ :

विशुद्ध सत्त्व से आत्मा की ओर जो प्रवाह है या आज्ञाचक्र से सहस्रार की ओर जो प्रवाह है, उसे आनन्द कहते हैं। आज्ञा से विषय की ओर जो प्रवाह है, उसे दुःख या संसार कहते हैं। प्रवाह-रहित आज्ञा से सहस्रार या सहस्रार-मण्डल शुद्ध चैतन्य है। यह आनन्द ही सुधा, सुरा, अमृत आदि है।

१७.१.२५ :

आईने में जो कुछ देखा जाता है, वह सूक्ष्म है। उसके बीच का space या आकाश—हृदयाकाश। स्वच्छ वस्तुमात्र ही वही है।

जितना भी सूक्ष्म—उसका स्थूल नहीं, सब प्रतिबिम्ब—बिम्ब नहीं। उसका बिम्ब नहीं।

यदि वह स्वच्छ पदार्थ बिलकुल शुद्ध या solid हो, तो उसमें प्रतिबिम्ब पड़ते-पड़ते सृष्टि बिम्ब हो जाती है, स्थूल होती है, सृष्टि होती है।

वह स्वच्छ पदार्थ है धारण-पात्र। क्या धारण करेगा ? आकार। उसके सामने जो भी आयगा—आत्मा से, वही स्थूल होगा।

आत्मा→ O सत्त्व (शुद्ध)

प्राकृत सत्त्व में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह मानस सृष्टि या जीवसृष्टि है—प्रातिभासिक सत्।

शुद्धसत्त्व में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह बाह्य स्थूल सृष्टि है—व्यावहारिक ईश्वर-सृष्टि।

शुद्धसत्त्व निराकार और साकार है। उसमें अनन्त आकार निहित हैं। इसी आकार के जागने से उसे भाव कहते हैं। उसमें विकार नहीं। इसीलिए, वह सांसिद्धिक भाव या स्वभाव है।

प्राकृत सत्त्व में विकारग्रस्त भाव और स्वभाव, कारण मानसबन्ध होता है।

१८.१.२५ :

सूक्ष्म देह दो प्रकार की है :

१. प्रकाशहीन छायामय, बिम्बहीन प्रतिबिम्ब । छाया है—काया नहीं है । अर्थात्, छाया = काया । छाया में प्रकाश मग्न है, एक हो गया है ।

२. छायाहीन प्रकाशमय । प्रकाश = काया । छाया उसमें मग्न है । दोनों के ही shadow नहीं ।

शुद्ध अन्धकार या शुद्ध प्रकाश में, दो में से एक भी प्रकाशमान नहीं होता ।

स्थूल की छाया पृथक् भाव से, किन्तु संलग्न होकर भित्ति पर पड़ती है । ज्ञान-शक्ति + क्रियाशक्ति = पूर्णशक्ति । [स्वयं भगवान् महाशक्ति, परशिव, पूर्णब्रह्म]

अपूर्णशक्ति (each)	शुद्ध ज्ञानशक्ति — शिव, भगवान् ब्रह्म शुद्ध क्रियाशक्ति— शिवानी, भगवती, ब्रह्माणी ।

पूर्ण अवस्था में Prediction नहीं—जो कहा, वही होगा । स्वातन्त्र्यवश ।

थोड़ा जीवभाव रहने से भेदाभेद । जब जो कहा जायगा, वह साक्षात्कृत होने के कारण कालचक्र में आकर ठीक ही होगा । लेकिन, नहीं भी हो सकता है । होने की सम्भावना ९९, नहीं होने की सम्भावना १ । जगत् में जो कुछ भी है, उसके ऊपर से जब देखा गया है, तब उसके नहीं होने का हेतु एकमात्र पूर्ण की स्वतन्त्रता है—और कुछ नहीं। यह भी नीति की बात है । कार्यकारण-भाव की बात । महाशक्ति नीति या नियम से ऊपर है—स्वतन्त्र । इसलिए अपनी इच्छा (= नीति) वह स्वयं ही रद्द कर सकती हैं। दूसरा कोई नहीं । दूसरा नीतिरूप उनकी इच्छा को केवल जान सकता है । भगवान् भी वही । वह इच्छा जगत् में प्रविष्ट हुई है । इसीलिए Law, Causality, स्वातन्त्र्य में कोई नियम नहीं । (ब्रह्मसूत्र, ४।४) । मुक्त पुरुष इस प्रकार, भेदाभेदमय हैं । 'अविभाग' कहा गया है, 'सम्पत्ति के बाद आविर्भावशील' कहा गया है । पूर्ण से अभेद या साम्य है । भोग में, ज्ञान में, सच्चिदानन्द अनुभव में — किन्तु जगद्व्यापारवर्ज होने से सिद्धवस्तु के अन्यथाकरण में अनधिकारी हैं । घट को पट कर सकते हैं, परन्तु मूल प्रकृतिरूप चरम उपादान का परस्पर परिवर्त्तन या विनाश नहीं कर सकते । वही परमाणु है । उसे भगवान् या मुक्त आत्मा बदलने या विनष्ट करने में असमर्थ हैं । स्वयं, ब्रह्माण्ड की रचना कर सकते हैं, पर पूर्वसिद्ध ब्रह्माण्ड की स्थिति या गति के मूल को नहीं बदल सकते । क्रियांश में कर सकते हैं । मूल पूर्णसापेक्ष है । इस अंश में भेद है ।

भेदाभेदसाम्य और भेद दोनों ही रहा । भेदांश में दो है— वैसे स्थल में पूर्ण से अन्ततः किंचित् न्यून । समान हो, फिर तो साम्य या अभेद ही हुआ । अतएव, मुक्तात्मा की इच्छा कुछ भेद रहने पर पूर्ण की इच्छा से दुर्बल होती है । इसीलिए, पूर्ण इच्छा से जो काम होता है, उसकी गति रोक नहीं सकता । चाहे भी तो नहीं । यह आसुर भाव है ।

और दैवभाव तो वैसा चाहेगा ही नहीं। यह जाना हुआ है, इसीलिए नहीं चाहेगा। और, मुक्तात्मा यदि पूर्ण के समान या एक हो, तब तो इच्छा एक ही होती है। वैसे में अपनी इच्छा से अपनी इच्छा निवृत्त होगी, या निवृत्त करने की इच्छा ही नहीं होगी।

मुक्तात्मा में ज्ञान का आनन्त्य है। क्रियाशक्ति का आनन्त्य नहीं। शुद्धसत्त्व को पकड़े चलने से कम-से-कम थोड़ी-सी क्रियाशक्ति का स्फुरण रहेगा–परन्तु पूर्ण स्फूर्त्ति नहीं रहेगी। ऐसे में इसीलिए, ज्ञान और क्रिया पृथक् होते हैं।

ज्ञान और क्रिया जब समरस होते हैं, पृथक् नहीं, तब पूर्ण शक्ति का विकास या पारमैश्वर्य। वही महाशक्ति है। वहाँ जो भी कहा जाय, स्वातन्त्र्यवश वह होगा ही।

इसलिए, ब्रह्मसूत्र की मुक्ति भी पूर्णमुक्ति नहीं।

चेष्टा न भी करें, तो महाप्रलय के समय सबकी मुक्ति होगी ही। हाँ, पहले भी हो सकती है। किन्तु, शुद्ध धाम में जाने का कोई नियामक नहीं। यह उनकी कृपासापेक्ष है केवल। चेष्टा से जो मिल सकता है, वह है स्वर्ग। वस्तुतः चेष्टा छोड़ने से जो मिलता है, वह स्वरूप या मुक्ति है। और, भगवान् के राज्य में चेष्टा या कर्म द्वारा नहीं जाया जाता, चेष्टा विना या ज्ञान द्वारा वह नहीं होता। होता है भक्ति से–वह कर्मसाध्य नहीं, ज्ञानसाध्य भी नहीं, उनकी कृपा ही मूल है। भक्तिधाम महाप्रलय से ऊपर स्थित है। मोक्षधाम महाप्रलय के आदि और अन्त में स्थित है। स्वर्ग उसके नीचे है।

कालचक्र के केन्द्र में है मोक्ष या स्वरूप। चक्र के बीच में स्वर्ग (इत्यादि), कालचक्र के अतीत या केन्द्र के अन्तर में भक्ति। मोक्ष = तुरीय। भक्ति = तुर्यातीत।

२१.१.२५ :

कल मिला था :

कामकला क्या है? आत्मा—वह मुँह का expression, खास करके आँख का expression—नजर से-व्यंग। यही प्रकृत देह है। इसी का विलास ही लीला है।

आज :

मूलतत्त्व ही कारणवारि हैं। उनकी समष्टि ही कारणसमुद्र है। ये मूलतत्त्व मूलप्रकृति के अंगस्वरूप परमवस्तु के अणु या टुकड़े हैं; इसलिए परमाणु-पदवाच्य हैं। इनकी उत्पत्ति और विनाश ब्रह्मा आदि के लिए भी असाध्य है। यह परमा प्रकृति जब निष्कम्प रहती हैं, तब अंग और अंगी एकाकार होते हैं—दोनों ही अव्यक्त। कम्पन के कारण दूसरे भाव का आभास आता है। कम्पन ईक्षणमूलक है। ब्रह्मा आदि उस पृथक्-भूत उपादानराशि की मात्र समष्टि करते हैं या विभक्त करते हैं।

जो कारणवारि के अधिष्ठाता-रूप में हैं, वह हैं नारायण या नारायणी। यह कारणवारि जिनसे उद्भूत है, वह हैं नर।

प्रत्येक देह के जो अन्तर्यामी हैं, वह भी परमात्मा हैं। वह ज्ञानशक्तिमान् हैं—चैत्यगुरु। चालक हैं वह—दयावान् होते हुए भी संस्कार की अपेक्षा करके संचालन करते हैं। वैसे ही, प्रेरक हैं। किये कर्म या नियति का लंघन नहीं कर सकते। सर्वज्ञ होते हुए भी वह पूर्ण शक्तिमान् नहीं हैं। अंशमात्र हैं। यही व्यष्टिकुण्डलिनी हैं। गर्भोदशायी।

समष्टि-कुण्डलिनी = समष्टि-अन्तर्यामी या ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी या ब्रह्मा के अन्तर्यामी। वह क्षीरोदशायी हैं।

जो समग्र जगत् के अन्तर्यामी हैं, वह कारणार्णवशायी हैं।

इन तीन प्रकार के परमात्मा। परमात्मा में पूर्ण शक्ति प्रकट नहीं। यही गुरु हैं। यही सदाशिव हैं। ज्ञानशक्ति की मूर्त्ति। उनके अधीन क्रिया के चालक हैं। ज्ञान और क्रिया समान होने से दोनों ही पूर्ण होते हैं, कुछ भी नहीं रहता। तब पूर्ण शक्ति जागती है। वही वासुदेव या परमात्मा हैं।

यज्ञोपवीत तो सुषुम्णा-प्रवाह (ब्रह्मतेज का) नाग = कुण्डलिनी है। वह जब चलता है, तो नाग यज्ञोपवीत।

२४.१.२५ :

बीज, अंकुर—विकास—षोडश में।

कोरक, पुष्प—षोडश में।

१६ वर्ष में पूर्ण अभिव्यक्ति। वही नवयौवन है। १५ तक कैशोर। पूर्वावस्था क्रम-विकास है। सत्त्व का विकास।

उसके बाद कीट-दंशन, मनःस्पर्श आदि। फलस्वरूप, जरा और मृत्यु।

कीट की क्रिया पहले से ही थोड़ी-बहुत रहती है। किसी के अधिक भी रहती है। वह किशोरावस्था के पहले ही जराजीर्ण हो जाता है।

देवता अजर और अमर हैं।

२७.१.२५ :

अकालमृत्यु है या नहीं ? कालमृत्यु ही क्या है ?

मृत्यु का बीज साथ ही है। जरा भी है। मात्र प्रकाशकाल की अपेक्षा रहती है। स्वभाव के नियम से जब प्रकाशकाल आयगा, तब मृत्यु या जरा होगी ही। लेकिन, यदि बाहर से सजातीय परमाणु अनुप्रविष्ट कराके उसके प्राकट्य का सम्पादन किया जाय या उस अनुप्रवेश से उसका प्राकट्य हो, तो जब यह होगा, तभी जरा होगी—मृत्यु भी होगी। यह अकालमृत्यु या अकालजरा है।

यदि बालपन में मृत्यु हो, और वह मृत्यु यदि कालमृत्यु हो—तो समझना होगा कि उसके जराबीज विशेष नहीं था। समझना होगा कि ऐसे बालक देवलोक से आये हैं।

Those whom gods love, die young. इसका तात्पर्य यही है। कालमृत्यु—अकालमृत्यु समझना कठिन है।

ऐसा भी हो सकता है, मृत्यु के बीज को प्रकाशकाल नहीं पाने दिया जा रहा है, परन्तु जरा का बीज प्रकाशकाल पा रहा है। ऐसी अवस्था में बड़ा ही लम्बा जीवन—हजार वर्ष—लाभ होगा, पर शरीर जीर्ण होगा। परन्तु, यदि जरा के बीज को भी स्तब्ध रखा जाय, तो देह जीर्ण नहीं होगी और आयु की वृद्धि होगी।

जरा यदि अकाल में हो सकती है, तो तारुण्य भी हो सकता है, अर्थात् जराजीर्ण को भी तरुण किया जा सकता है। वैसे ही मृत्यु को भी बचाया जा सकता है।

(मदन और वसन्त का सख्य और सम्बन्ध आलोच्य है।)

२८.१.२५ : श्रीपंचमी :

श्री = लक्ष्मी अर्थात्, ऐश्वर्य और माधुर्य या सौन्दर्य।

श्री = सरस्वती, अर्थात् ज्ञान। श्रीपंचमी। अर्थात्, एक ही साथ भोग और मोक्ष। श्रीपंचमी को वसन्तपंचमी भी कहते हैं। इसी समय से वसन्तऋतु की सूचना होती है। अतएव, इसका काम से सम्बन्ध है। इसलिए, यह श्री = श्रीविद्या या कामेश्वरी भी है। श्रीविद्या भी पंचमी नाम से प्रसिद्ध है।

बीच में महाशक्ति—दायें लक्ष्मी, बायें सरस्वती। मुक्ति और सिद्धि इसी से आती है। गणेश सिद्धि और पूर्णता, स्कन्द = ब्रह्मचर्य, ब्रह्मतेज, कुमार।

दुर्गा (महाशक्ति) × शिव।
सरस्वती × ब्रह्मा (ज्ञान)।
लक्ष्मी × विष्णु (ऐश्वर्य)।

२९.१.२५ :

पुरुषकार का सम्पूर्णतया त्याग होने से ही साधना गई। तब पौरुष नहीं रह जाता—पुरुषत्व या पुंस्त्व नहीं रहता। यह नपुंसक-भाव है। एक हिसाब से, यह प्रकृति-भावापत्ति है। इसीका importance है। स्वभाव-चालित अवस्था—आँधी में उड़ते तृण की अवस्था है। ऐसे में 'मैं'-भाव नहीं रहता। महाशक्ति कृपा करके उनके अधीन होती हैं। महाशक्ति उन्हें परमपुरुष-रूप में परिणत करती हैं और स्वयं उनकी आदेशवर्त्तिनी शक्ति होकर नित्यसंगिनी होती हैं। यही परमेश्वर-परमेश्वरी हैं।

महाशक्ति ही पुरुष को पुरुषोत्तम बनाती हैं। जबतक ऐसा नहीं होता, तबतक पुरुष निःशक्तिक होते हैं।

तो स्थिति यह है :

१. पुरुष का पौरुष-त्याग। फलस्वरूप, निष्क्रियत्व—अहंविनाश, क्लीबत्व, आश्रितत्त्व। यह शक्तिरहित भाव है।

२. उसके बाद महाशक्ति का आविर्भाव—फलस्वरूप, क्लीब ब्रह्म परमपुरुष में परिणत होते हैं। यही पूर्णाहंता है। यह सर्वशक्तियुक्त अवस्था है। नित्य मिलित रूप।

जिनके भीतर वस्तु है, उनके लिए विभिन्न स्थानों में जाना, खास करके धर्म-सम्बन्धी आलोचना अवैध है। क्योंकि, वह सब उद्दीपन हैं। उद्दीपन से अन्तःस्थ वस्तु जाग उठती है। उसमें प्रवाह दौड़ता है। ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठा या बिन्दुसिद्धि के पहले चूँकि साधारण प्रवाह बहिर्मुख होता है, इसलिए वह वस्तु भी बाहर की ओर दौड़ती है। उससे क्षति होती है। अवश्य, अन्य सन्निहित लोक का उससे लाभ ही होता है।

बिन्दुसिद्धि के बाद उद्दीपन से उपकार होता है। क्योंकि, उससे बिन्दु की ऊर्ध्व-गति होती है—भगवत्-शक्ति का संचार होता है। इसीलिए, औरों से भगवद्-विषय की आलोचना बिन्दुसिद्धि या संयमलाभ से पहले उचित नहीं। इसीलिए, दूसरे के समक्ष क्रिया आदि भी कर्त्तव्य नहीं। भोजन भी ऐसा ही।

३०.१.२५ :

प्रकृति द्विविध है।

१. व्यक्त प्रकृति = विशुद्ध सत्त्व। ईश्वर।

२. अव्यक्त प्रकृति = गुणसाम्य। ब्रह्म।

स्वप्न वैकारिक होने से नहीं मिलता, प्राकृतिक स्वप्न सत्त्वहेतुक होता है।

देवमूर्त्ति भी वैकारिक है—वह चित्त का विकार-मात्र है। वह मिश्रसात्त्विक—प्रतिबिम्ब, subjective, और फिर प्राकृतिक है—वह शुद्धसत्त्वमय है, इसलिए चित्तविकार नहीं, objective नहीं।

मलिन सत्त्व ही विकार है। वैषम्य विना सत्त्व में मन नहीं लग सकता—वैषम्य विकार है। शुद्धसत्त्व विकार नहीं। वह प्रकृति है।

३१.१.२५ :

शुद्ध स्तर के देवता सभी एकाग्रभूमि में हैं। इसीलिए, स्वयं एकाग्र होने से ही उनका साक्षात्कार होता है। एकाग्रभूमि का नियम ही है एक वस्तु का सदा लगा रहना। बाहरी व्यापार करने के लिए भी, बहुत ओर जाने के लिए भी एक से लगे रहने की हानि नहीं होती। लगा रहना होता ही है—लेकिन, एक अंश में दूसरा काम चलता है। उस काम के हो जाते ही वह अंश फिर आप ही लौट जाता है।

ईश्वर स्वयं एकाग्रभूमि में हैं—निरोध की ओर लगे हैं। देव-देवी सब ईश्वर में लगे हैं।

ईश्वर इसीलिए महायोगी भी हैं। और फिर, योगगम्य निरोध या गुणातीत भी हैं। आप अपने ध्यान में मग्न हैं।

इसीलिए, पट में, घट में एकाग्र होने से ही हुआ। देवता तो एकाग्र हैं ही—उस अग्र में जो भी आकार लगाया जायगा, उसी आकार में प्रकाशमान् होंगे।

जो बढ़ता है, जिसका विकास होता है, वह पूर्ण नहीं। जिसके बाद कोई अवस्था नहीं, जिसकी वृद्धि नहीं है, वह पूर्ण है। जिसका समूचा प्रकाशकाल प्राप्त हो चुका हो, उसका कुछ भी अव्यक्त नहीं, वही पूर्ण है।

लेकिन एक बात है। ऐसी पूर्णता दो प्रकार की है।

१. जिसका ह्रास नहीं होता, जिसमें जरा नहीं, विकार नहीं।

२. जिसके क्रम आदि हैं।

जगत् में दूसरे प्रकार की पूर्णता है। जैसे, पूर्णिमा। आगे वृद्धि नहीं, सब कला का प्रकाश है। परन्तु, ह्रास आदि तो हैं।

मायातीत पूर्णिमा में जैसे वृद्धि नहीं, वैसे ही ह्रास आदि भी नहीं। इसीलिए, वह सदा समभावापन्न, एकभावापन्न है—वह बढ़ती भी नहीं, घटती भी नहीं।

१.२.२५ :

जप करने से बीज मूलाधार से उठता है, चैतन्य सहस्रार से उतरता है। सहस्रार चिरव्यक्त, चिरप्रकाश और प्रकाशक है। मूलाधार अव्यक्त है। बीज उठता है—क्रमशः कूटस्थ में दोनों का सम्मिलन होता है। वहाँ दर्शन होता है। जिसका कूटस्थ खुल गया है, तीसरा नेत्र खुल गया है, कम-से-कम एक मन्त्र सिद्ध हुआ है, उसका तो सुषुम्णा-पथ मुक्त हो गया है। वह किसी भी देवता का दर्शन पा सकता है, बशर्त्ते कि उस देवता के बीज का जप करे। हाँ, उस बीज का गुरुदत्त होना जरूरी है। किन्तु, यदि एक बार ब्रह्मबीज गुरु से मिले, तो गुरुमुख से दूसरे बीज के पाने की आवश्यकता नहीं रहती। ग्रन्थ से बीज पाने से भी चल सकता है। नहीं तो प्रत्येक देवता का ही बीज गुरु से पाना जरूरी है।

उच्चारण का मतलब है बीज का ऊपर चालित होना। बीज से गुरुशक्ति का सहयोग न हो, तो बीज ऊपर नहीं उठेगा। बीज का ऊपर उठना ही चक्रभेद है—अंकुरादि-क्रम से विकास या षट्चक्रभेद से कूटस्थ में उसका प्रकाश। अव्यक्त स्तर से बीज को निखारना या अभिव्यक्त करना ही षट्चक्रभेद या मन्त्रसिद्धि या देवदर्शन आदि हैं। ब्रह्मतेज ही अव्यक्त को व्यक्त करना है। इसलिए, ब्रह्मतेज की सहायता चाहिए।

ब्रह्मतेज latent को patent करता है। केवल latent शक्ति कार्यक्षम नहीं होती। उसे कार्यकारी करने के लिए patent शक्ति का संयोग आवश्यक है। जैसे, छोटा-सा एक पत्थर—उसमें अवश्य ही शक्ति निहित है। लेकिन, उसकी क्रिया को समझने के लिए उसे निक्षेप करना होगा। जो निक्षेप करेगा, उसकी अपनी शक्ति उससे मिलकर, उसे जगाकर, दोनों मिलकर कार्यकारक होंगे। उसका काम केवल जगाना ही नहीं। क्योंकि, वह

पत्थर कोई पाँच साल का बालक मारे, और यदि कोई बलिष्ठ प्रौढ मारे, तो आघात का तारतम्य होगा। प्रस्तर ही आघात का हेतु है। फिर भी, उसका प्रयोग प्रौढ करेगा, तो वेग अधिक होगा; क्योंकि प्रौढ में बल ज्यादा है। प्रौढ़ की जाग्रत् शक्ति पत्थर की सोई शक्ति को जगाकर, दोनों मिलकर प्रयुक्त होते हैं। इसलिए समझना होगा, एक ही मन्त्र यदि अधिक शक्तिशाली गुरु के पास से आये, तो उसका वीर्य अधिक होगा। कम शक्तिशाली गुरु होने से मन्त्र का वीर्य भी कम होगा। गुरु में जाग्रत् शक्ति न हो, तो गुरु paralysed है--वह मन्त्र का प्रयोग कर ही नहीं सकते। मन्त्र मूलाधार में है, मूलाधार में ही रहेगा। निद्रित ही रहा, उसे धक्का नहीं लगा।

एक बात और। एक ही गुरु एक ही परिमाण की शक्ति का यदि दो मन्त्रों में प्रयोग करें, तो भी दोनों मन्त्रों का वीर्य बराबर नहीं होगा—यदि दोनों मन्त्रों की निहित शक्ति में तारतम्य रहे। पाँच सेर वजन की वस्तु की चोट और पाँच छटाँक वजन की वस्तु की चोट एक नहीं हो सकती। कहना नहीं होगा, पाँच छटाँक को जगाने के लिए जितनी शक्ति चाहिए, ५ सेर को जगाने के लिए उससे अधिक चाहिए। जो पाँच छटाँक को जगा या निक्षेप कर सकते हैं, यह कहा नहीं जा सकता कि वह पाँच सेर को भी निक्षेप कर सकेंगे। जो पाँच सेर कर सकते हैं, वह पाँच मन नहीं भी कर सकते। लेकिन, जो पाँच मन निक्षेप कर सकते हैं, वह पाँच छटाँक या पाँच सेर का निक्षेप कर सकेंगे। अतएव, वास्तविक गुरु वही हैं, जो सबसे अधिक भारी वस्तु उठा सकते हैं। सबसे भारी वस्तु है प्रणव—ब्रह्मबीज। जिन्होंने प्रणव को जगाया है, जिन्होंने ब्रह्ममन्त्र को उठाया है अथवा उठाने की क्षमता रखते हैं, उनके लिए अन्य बीज या मन्त्र बहुत ही हल्का होता है—उसको उठाना या या प्रयोग करना अत्यन्त सहज है।

ब्रह्मज्ञान को उठाना माने ईश्वर-साक्षात्कार। इसलिए, ईश्वर-साक्षात्कार होने से जगद्गुरु होते हैं।

५.२.२५ :

साकार से निराकार, निराकार से साकार—बहुतेरे कहते हैं। सम्भवतः, यह ठीक नहीं। साकार भी निराकार में मिला हुआ है। समभाव रहे, तो पूर्णभाव है—जो दोनों के अतीत है। साकार हुए विना साकार को चलाया नहीं जा सकता। और फिर, साकार के अतीत हुए विना भी नहीं होता। इसलिए, साकार के अतीत जो साकार है, वह निराकार के साथ ही एकाकार है। इसी प्रकार, निराकार हुए विना निराकार को नहीं पकड़ा जा सकता। जाना नहीं जा सकता। अतएव, ऐसा साकार है, जो = निराकार है—उसी से निराकार का ज्ञान होता है। वह समभाव से चलता है। वहाँ से साकार-निराकार दोनों को ही जाना जाता है।

निराकार भी जब साकार है—तब जो जितना अधिक उठते हैं, वह उतनी दूर जाकर भी साकार को पा सकते हैं। जहाँ साकार पकड़ में नहीं आये, वहाँ उसका निराकार

होता है। और, एक व्यक्ति उस निराकार आकार को देख पायगा—लेकिन उसे भी कितना कुछ करके निराकार बनना होगा। वास्तविक निराकार अकेला नहीं। जो जितना ही उठे, निराकार है ही। और, साकार-मात्र में ही निराकार है।

अतएव, निराकार के लिए साकार त्याग करके नहीं जाना होता। और, साकार के लिए भी निराकार से च्युत नहीं होना पड़ता। साकार और निराकार दोनों ही नित्य हैं। किन्तु, समेसूत्र होने से कोई भी लक्ष्य नहीं होता। जिस किसी आकार में निराकार पाया जाता है। इसलिए, किसी भी आकार में दूसरा आकार भी मिलता है।

६.२.२५ :

आवरण का काम हुए विना विक्षेप का काम नहीं होता। मान लीजिए, कोई मायावी माया के द्वारा लोहा को सोना बनाकर दिखा रहा है। उसने क्या किया ?

१. पहले उसने मेरे लोहे की दृष्टि को या लोहे के स्वरूप को ढक दिया। वास्तव किन्तु स्वरूप स्व-प्रकाश है— वह ढकता नहीं। जीव की दृक्शक्ति—रश्मि ही आच्छन्न होती है। जिसकी दृष्टि आच्छन्न नहीं होती है, वह लोहे को पहले की तरह लोहा ही देखेगा। और, अगर सबको ही आच्छन्न कर दे, तो कोई भी लोहा नहीं देखेगा। देखेगा जरूर नहीं, पर लोहा पूर्ववत् लोहा ही रहेगा।

या किसी की भी दृष्टिशक्ति को आच्छन्न नहीं करके प्रक्रिया-विशेष के द्वारा लोहा को संकुचित करके अणु कर दिया। वैसे में वह रहा जरूर, किन्तु सबके लिए अणु होने के नाते अदृश्य हो गया।

पहला आसान है, दूसरा कठिन।

२. उसके बाद सोने का चित्र—या भाव—उसने उस दृष्टि-रश्मि के अग्रभाव में प्रकट किया। यह विक्षेप या सृष्टिशक्ति है। जहाँ लोहा था, वहाँ जिनकी दृष्टि है, उन सबने सोना देखा।

आवरण करना और आवरण के बाद प्रदर्शन (विक्षेप) करना—दोनों में देखनेवाले की एकाग्रता की हानि जरूरी है। अर्थात्, मैं मानों लोहा देखता हूँ—मैं यदि अनिमेष दृष्टि से, स्थिर भाव से लोहा देख पाऊँ—पलभर के लिए भी अपना दृष्टि-विच्छेद न होने दूँ, तो मेरी दृष्टि-रश्मि आवृत नहीं होगी। मेरी दृष्टि के सामने सदा लोहा रहेगा। जब लोहा ही रहा, तो फिर सोना देखने की सम्भावना कहाँ रही ? जब मेरी पलक गिरेगी, तभी आवरण पड़ेगा—पलक गिरे विना आवरण नहीं आयगा। पलक गिरती है वायु की चंचलता से। इसलिए वायु जब स्थिर रहती है, दृष्टि स्थिर होती है; एकाग्र, अविच्छिन्न होती है,—उस समय आवरण नहीं होता। इसीलिए, आकाश निरावरण है। वायु के सहयोग से ही आवरण का कार्य होता है। लेकिन, लोहे को अगर किसी चीज से ढक

रखा जाय, तो ढक्कन हटाकर उसे तिरोहित दिखाना बड़ा सहज है। क्योंकि, तब वह मेरी एकतान दृष्टि से युक्त नहीं होता। इसीलिए, उसमें दूसरी चीज का मिलन, क्रिया हो सकती है।

परन्तु, दृष्टि स्थिर रहने पर भी यदि मायावी बहुत प्रबल हो तो, मुझे चंचल करके, वायु को क्षुब्ध करके मोहित करेगा। पर मैं, यदि स्तिमित वायु न होकर शुद्ध आकाश होऊँ, मेरी दृष्टि-रश्मि प्राकृत सत्त्व की न होकर विशुद्ध सत्त्व की हो, फलस्वरूप एकतार हो, अमिश्र हो, अखण्ड हो—तो संसार का कोई भी मायावी मेरी दृष्टि को आच्छन्न नहीं कर सकेगा। इसलिए कि, चूँकि मुझमें निमेष का हेतु नहीं है, इसलिए मुझमें उसकी शक्ति का प्रयोग या उसके द्वारा विक्षोभ नहीं होगा। यहाँतक कि ढक्कन से लोहे को ढककर फिर से ढक्कन को हटाने पर भी लोहा ही रहेगा, वह गायब नहीं होगा।

हाँ, वह लोहे को अणु कर सके, तो सम्भव है। अवश्य यह आवरण नहीं। मेरी विशुद्ध दृष्टि में वह प्रतिभात तो होगा ही। किन्तु, स्थूलदर्शी के जरूर नहीं होगा। दूसरे समझेंगे, लोहा गायब हो गया। लेकिन, यह याद रखना है, लोहे को अणु करना ऐसी शक्ति या विशुद्ध सत्त्व का व्यापार है। वह महामाया का खेल है—माया नहीं।

वास्तव में, लोहे को सोना कोई नहीं कर सकता। लोहे का उपादान, सोने का उपादान सदा ही है। स्थिर दृष्टि से दोनों ही नित्य हैं—परन्तु पृथक् रूप में अव्यक्त हैं, वहाँ लोहा या सोना नहीं कहा जा सकता—युक्त या वैषम्य भाव से व्यक्त, वहाँ जिसका हिस्सा ज्यादा होता है, उसी की प्रतीति होती है।

जो शक्ति उस उपादान के साम्य या वैषम्य को कर सकती है, वह ऐशी शक्ति है। वह आवरण नहीं करती, आवरण-सी लगती है।

माया में ही आवरण और विक्षेप है। यह विक्षेप = प्रातिभासिक चित्र-उद्घाटन। यह भ्रम है।

मैं यदि विशुद्ध सत्त्व होऊँ, लोहे की ओर ताकूँ—कोई प्राकृत सत्त्वशाली महाशक्तिधर पुरुष उसे आवृत या उसके स्थान में भावान्तर का संचार नहीं कर सकता। आवरण = तम; विक्षेप = रज का कार्य। विशुद्ध सत्त्व के पास वह नहीं आयगा। मेरी दृष्टि से वह दूर नहीं जायगा। परन्तु, विशुद्धसत्त्वशाली दूसरा कोई यदि अधिकतर सत्त्ववन् हो, तो जरूर नहीं कर सकेगा। वहाँ प्रबलतर शक्ति से मेरा बल अभिभूत होगा; मेरी दृष्टि रुद्ध (= मायावरण नहीं, महामाया) होगी; लोहा प्रकट होगा। यह लोहा व्यावहारिक है।

विशुद्ध सत्त्व अनन्त—भगवान् में। इसलिए, उनकी शक्ति असीम और अप्रतिहत है। खण्ड शुद्धसत्त्व या मुक्त जीव भी उनके अधीन है। उसमें भी आवरण आ सकता है। पर, वह महामाया है, वह भी जगत् देख सकती है, वह भी महामाया। और, महामाया के निष्क्रिय होने से ही स्थिति। महामाया का खेल ही लीला है। इस आवरण या विक्षेप में ज्ञान नहीं खोता। केवल खोने-जैसा होता है।

१२.२५ :

(ज्ञानहीन—इच्छाहीन)
शुद्ध चैतन्य

एकाग्र	→ ईश्वर	अद्वैतज्ञान + इच्छा	संकल्प मात्र
विक्षिप्त	जीव	द्वैतज्ञान + इच्छा	संकल्प + बिकल्प

→

शुद्धजड
(ज्ञानहीन—इच्छाहीन)

अद्वैतज्ञान का विकास होते ही जीव में ऐश्वर्य का आना आरम्भ हुआ। इच्छा उस समय इच्छाशक्ति होती है। लेकिन, क्रम है—इसलिए तारतम्य है। किन्तु, अद्वैतज्ञान के अद्वैतांश में तो तारतम्य नहीं है; क्योंकि भेद नहीं है। पर, वहाँ ऐश्वर्य भी नहीं। अथवा निरोधात्मक, वही पारमैश्वर्य या परमसाम्य है। वहाँ ज्ञान और इच्छा साम्यमय—इसीलिए निष्क्रिय, निर्मल, पूर्ण है।

अद्वैतज्ञान का आविर्भाव होने से ही तो अद्वैतभाव हुआ, पर संस्कार है, इसलिए द्वैतसम्बन्ध है। यह द्वैतसम्बन्ध, संस्कार—ऊपर कम हो आता है, इसीलिए अद्वैतबोध अधिकतर निर्मल होता है। चरम अवस्था में अद्वैतबोध पूर्ण होता है—वहाँ द्वैतबोध बिलकुल नहीं होता—और दूसरे ही क्षण अद्वैतबोध भी नहीं रह जाता। यह शान्ति है।

जहाँ सभी वासनाएँ समष्टि या बिन्दुरूप में वर्त्तमान हैं, जिसके दूसरे ही क्षण निरोध है, वही ऐश्वर्य की प्रान्तभूमि है। वहीं से क्रियाशक्ति का आरम्भ है। अर्थात्, ज्ञान और इच्छा सक्रिय। निरोध में सब निष्क्रिय और साम्य। जीव पहले यही नित्य ईश्वरभाव लाभ करता है—तब क्रियाशक्ति की प्राप्ति होती है। इसके बाद क्रिया के विराम से ज्ञान और इच्छा—या शिव और शक्ति, समान होते हैं। वह सदाशिव हैं। साधारणतया, उसे साम्य या ब्रह्म कहते हैं। वास्तव में, वह भी शक्ति है। इसके विश्लेषण से जाना जाता है कि यह मात्र शुद्ध चैतन्य (शिव) है, जिसके गर्भ में इच्छा निहित या विलीन रहती है। अब इच्छा को सदाशिव से उठा लेने से वही आद्याशक्ति के रूप में परिणत होती हैं। नाम होता है—इच्छाशक्ति या उमा। वह चैतन्यमयी हो उठती हैं। यह सायुज्य है। अर्धनारीश्वर, शिव और शक्ति सम्मिलित। इसके बाद ही शिवलिंग या शिवतत्त्व। उसके बाद अव्यक्त।

१०.२.२५ :

सदाशिव को जब महाशक्ति स्पर्श करती हैं—जब उनके हृदय में चढ़ती हैं, तब सदाशिव शव हो जाते हैं; अर्थात् परमशिव हो जाते हैं। परमशिव होना और महाशक्ति

होना, एक ही बात है। अर्थात्, महाशक्ति की कृपा से सदाशिव महाशक्ति में प्रवेश पाते हैं।

११.२.२५ :

१. निराकार=परब्रह्म, अद्वैत।

२. साकार=शब्दब्रह्म, द्वैत।

प्रणव या नाद सर्वव्यापक है। निराकार प्रणव के ऊपर है। साकार में प्रत्येक आकार या रूप का स्वाभाविक नाम है। वह उसका बीज है। वह नादात्मक है। आकार अनन्त है, इसलिए बीज भी अनन्त है। आकार एक, इसलिए बीज भी एक। जहाँ आकार एक है, वही ईश्वर है। और, उसका वाचक=प्रणव। यावतीय आकार उसी एक आकार का अंश है। सारे ही नाद उस एक महानाद के अंश हैं। अंशी=व्यापक। अंश=व्याप्य। अनन्त आकार=अनन्त देवता। वट का बीज अतीन्द्रिय है। उसकी नादात्मक दिशा ही पहले विकसित होती है—इसीलिए वह मूल बीज है। इस बीज से वृक्ष होने के लिए आवश्यक है : १. क्षेत्र, २. कर्षण और वपन, ३. जलसिंचन आदि परिकर्म। वटवृक्ष कौन-सा ? जो सभी अवस्थाओं में साधारण भाव से है, वही। वही बीज का वाच्य है। वह प्रस्फुटित होता है, अभिव्यक्त होता है, काल से क्रमशः प्रकाशित होता है, साथ-ही-साथ बाह्य और वटेतर परमाणु मिलते रहते हैं। वास्तव में, इस वटेतर परमाणु के सम्मिश्रण से ही वट-परमाणु विकसित होता है। अभिव्यक्त होना ही स्थूलत्व-लाभ है। वह बाह्य सम्बन्ध-सापेक्ष है। वृद्धि आदि भी वही है। बीज से वृक्ष की पूर्ण परिणति नहीं होने तक वट की जो भी अवस्था है, वह एक देशमात्र है, आंशिक।

नाद से ही रूप का आविर्भाव होता है। यह खण्ड आकार का साम्य है। ओंकार या प्रणव से महासत्ता का आविर्भाव होता है। इसकी एक अवस्था ज्योति है, उच्चावस्था ज्योतिर्हीन व्यापक आकारमात्र है। इसके विकास से ही चैतन्य का विकास (दिव्यचक्षु का उदय) होता है, तब नाद का अन्त होता है। सत्ता से चित् का विकास होता है। यह चित् ही महाव्योम या चिदाकाश है। सत्ता=व्योम या महाकाश, जिसमें त्रिगुण है। चिदाकाश स्वच्छ होता है, गुणातीत।

ओंकार के बिना महासत्ता को जगाया नहीं जा सकता। जहाँ सदा ओंकार होता है, महासत्ता वहाँ सदा जगी रहती हैं। जैसे ही यह नाद श्रुति के अगोचर होते हैं कि निद्रा या मोह आता है।

बीज से मन का संघर्ष करना ही साधना है। इस संघर्ष से बीज विकसित होता है और साथ ही मन चेतन होता रहता है। बीज जब पूर्ण विकसित हो जाता है, मन उस समय चैतन्यमय होता है—अर्थात्, उस समय मन की क्रिया नहीं रहती। मन तब शुद्ध आत्मा में परिणत होता है। बीज का पूर्ण विकास देवता या ईश्वर है—वह शुद्ध आत्मा का ही स्वरूप है। यहीं तक साकार राज्य है।

१५.२.२५ :

स्व=स्वभाव, परमात्मा।

पर=विषय=(क) आन्तर, (ख) बाह्य।

बीच में है मन।

सुतरां, स्वाधीन या स्वतन्त्र=स्व या स्वभाव के अधीन। यही मुक्ति है—मन की। एक हिसाब से यह दासत्व या कैंकर्य है। और, पराधीन कहें, तो विषय के अधीन। यह बन्धन है। मन को किसी के अधीन रहना ही है--आश्रयशून्य होकर मन रह नहीं सकता। आश्रयशून्य होने से मन विलीन हो जाता है।

मन जब स्वभाव में डूबता है, स्वभाव में जब तिरता या चलता है, तब मन स्वाधीन होता है। यह मुक्तावस्था है। मन जब स्वभाव की प्रेरणा को स्वीकार करता है, कर्त्तृत्व-त्याग करता है--तब वह स्वाधीन है। वह निष्काम भाव है। वह क्रिया निष्काम है।

जबतक मन विषय के आकर्षण से चलता-फिरता है, तबतक बन्धन है। वह कामना है।

वास्तविक आत्मा (=स्वभाव) और मन एक ही है।

२४.४.२५ :

देह का अन्त होने पर बहुत ऊपर उठ जाने से उतारना कठिन है। अत्यन्त सूक्ष्म और तीव्र चिन्ता आवश्यक है। साधारण चिन्ता इतनी दूर और ऊपर नहीं पहुँचा सकती।

एक बात है। मैं आत्मा को लाना चाहता हूँ, आत्मा चाहती है, जिससे न आना पड़े--ऐसी स्थिति में संघर्ष होता है। फलस्वरूप, मेरी आकांक्षा यदि बहुत प्रबल हो, आत्मा के नहीं आने की आकांक्षा से, तो वह आयगी। और यदि उसके नहीं आने की आकांक्षा ही प्रबल हो, तो वह नहीं आयगी। बात यह है, मेरे प्रबल भाव से चाहने के बावजूद वह यदि न चाहे, तो केवल मेरे बल से उसका आना अन्याय है। बल वास्तविक हो, तो भी बल नहीं। क्योंकि, मेरे इच्छा करने से ही उसकी इच्छा नहीं होते हुए भी इच्छा उत्पन्न होगी। तब वह भी अपनी इच्छा से ही आयगी। इसलिए, बलात्कार नहीं—स्वेच्छा है, लेकिन बलप्रयोग भी है।

अवतार भी ऐसा ही है। जीव की इच्छा से ही भगवान् की इच्छा होती है। इसीलिए, वह भी आते हैं।

लेकिन ऐसा स्तर है, जहाँ जाने से जीव की इच्छा आदि नहीं पहुँचतीं, वह इच्छा उन्हें स्पर्श ही नहीं करती। वहाँ अपना भय नहीं। इसलिए कि परेच्छा-कृत स्वेच्छा वहाँ नहीं। जो स्वेच्छा है, वह वास्तविक स्वातन्त्र्य है।

२३.५.२५ :

[१]

कर्त्तृत्व की मूल कृति—इच्छा नहीं। इच्छा का उदय पूर्व संस्कार से होता है—उस इच्छा की ओर yield करना या नहीं करना, यह कृति है। यही कृतित्व है।

देवता कर्त्ता नहीं हैं, उनकी देह कर्मदेह नहीं। क्योंकि, उन्हें इच्छा होती है और उसी क्षण उसकी पूर्त्ति होती है। कृति का अवकाश नहीं रहता, प्रवृत्ति-निवृत्ति का अवकाश नहीं रहता, choice नहीं रहता।

कर्त्तृत्व जब नहीं रहता, तब भी इच्छा का उदय होता है। उस इच्छा का मूल क्या है ? स्वभाव।

यह स्वभाव दो प्रकार का है :

(क) योगमाया और (ख) माया।

पूर्वस्थल में इच्छा का उदय होता है, उसकी पूर्त्ति होती है—कृति की आवश्यकता नहीं होती। इच्छापूर्त्ति—आनन्द-अवस्था। इच्छा के उदित होने से विलम्ब क्यों नहीं होता ? क्योंकि चिन्तामणि-राज्य है, पूर्ण राज्य—विलम्ब का हेतु नहीं।

उत्तर स्थल में राज्य अभाव और अपूर्णता का है। इसलिए, इच्छा का उदय तो होता है, लेकिन तुरत उसकी पूर्त्ति नहीं होती। इसीलिए, प्राप्ति के लिए कृति होती है। यहाँ कर्त्तृव्य का आरम्भ है। पूर्ण के राज्य में कर्त्तृत्व नहीं। अभाव के ही राज्य में कर्त्तृत्व है। कर्त्तृत्व के जाने से ही चेष्टा, क्रिया आदि, moral life है। सब गया, माया कट गई। तब लीला। वह योगमाया का राज्य है। पौर्णमासी का राज्य।

[२]

निःश्वास के बाद भी सूने को या स्थिति को स्पर्श करता है, प्रश्वास के बाद भी करता है। सूने को स्पर्श करके फिर लौटता क्यों है ? ऋण चुकाये विना सूने में जाने से वहाँ रह नहीं सकता। क्योंकि, सूने में जाने से सूना नहीं होता। सूना = साम्य, सन्धि; जहाँ 'क' और 'ख' ये दोनों एक हुए हैं— यह एक = शून्य है। 'क' और 'ख' में जबतक विरोध है, तबतक शून्य नहीं। 'क' का अस्तित्व ही विरोध है—'क' जहाँ समाप्त हुआ, 'ख' लेकिन वहाँ नहीं। इसीलिए वह 'क' और 'ख' की अतीत सन्धि है। 'क' जहाँ समाप्त हुआ, वहाँ असीम, 'ख' जहाँ समाप्त हुआ, वहाँ भी असीम। 'क' और 'ख' के आरम्भ होने के पूर्व भी वही असीम।

जिसका ऋण चुकाये विना मैं शून्य में जाऊँगा, वह मुझे खींचकर बाहर करेगा। वास्तव में, प्रकृत शून्य में मेरा प्रवेश नहीं होगा। दूसरे की वस्तु साथ में लेकर शून्य में प्रवेश नहीं चल सकता। अपनी चीज रखकर भी नहीं चल सकता। जो मुझे खींचता है, उसमें मैं हूँ, मुझमें वह है। नहीं तो आकर्षण असम्भव होता।

[३]

सब ऋण तो चुकेंगे। मातृ-ऋण भी चुकेगा ? और सब ऋण चुके, तो नित्यधाम में वास। मातृ-ऋण चुकने से निर्वाण। हमारा सब कुछ माँ से है—आद्याशक्ति से। उनका ऋण चुक गया, तो अपना तो कुछ भी नहीं रहा। शुद्ध 'मैं' भी नहीं। क्योंकि, वह भी आद्याशक्ति-प्रसूत है।

मातृ-ऋण चुकने का मतलब है—मैं माँ में लौट गया, dissolved हुआ। माँ तो चिर-निर्वाण में ही हैं—इसीलिए मैंने भी निर्वाण पाया। लेकिन फिर भी, माँ की गोदी में लेटकर। माँ को पकड़े विना नहीं।

[४]

जो मुझे खींचता है, मैं भी क्या उसे खींचता हूँ ? जरूर। आकर्षण पारस्परिक है। लेकिन, कभी एक ओर के खिंचाव का अनुभव होता है, दूसरी ओर का नहीं होता। इसका कारण है।

कोई यदि स्वच्छ होकर बैठा हो, तो कोई उसे प्यार करे तो वह भी उसे प्यार करेगा। चाहकर नहीं—स्वभाव से। साक्षी भाव से स्वयं लक्ष्य कर सकेगा। समदृष्टि होते हुए भी वह पक्षपाती होगा।

२७.५.२५ :

[१]

किसी प्रबल ज्योति के रहने से उसके पास छाया रहेगी। ज्योति के अनुकूल होने से उसे जाना नहीं जा सकेगा। ज्योति के प्रतिकूल होने से ही द्वन्द्व होता है और फलस्वरूप छायापात होता है। छाया में अपना अंश भी रहता है। ज्योति की अनुकूलता को स्वच्छता कहते हैं, वैसी स्थिति में ज्योति अपने भीतर से चली जाती है, बाधा नहीं मिलती। बाधा नहीं होती, इसलिए छाया नहीं होती। यही देवभाव है। देवता के छाया नहीं होती।

ज्योति भी वैषम्यशक्ति है। साम्यशक्ति में अवश्य छाया नहीं पड़ती। साम्यशक्ति के गति नहीं—अन्धकार और आलोक में वह समभाव में रहती है। वह बाधा देती भी नहीं, बाधा पाती भी नहीं। उसके आगे स्वच्छ और अस्वच्छ समान हैं—उसका विचार नहीं, बोध नहीं।

देह ज्योति को बाधा क्यों देती है ? दोनों में विरोध है। इस विरोध से ही संघर्ष। उसी का फल है छाया-सम्पर्क।

देह से यदि ज्योति के कण को लौटा दिया जा सके और ज्योति से देह के कणों को लौटा लाया जा सके, तो देह या ज्योति विशुद्ध होगी। इसलिए, साम्य होगा, विरोध नहीं रहेगा। उस समय देह भी साम्यशक्तिमय होगी, ज्योति भी।

[२]

आलोक का एक source है। अन्धकार में क्या वह नहीं है ? source को जाने विना छाया की उत्पत्ति समझ में नहीं आयगी। छाया source के विपरीत दिशा में पैदा होती है।

इसे उदाहरण से समझा जाय—निद्रा = विरोध, वृत्तिहीनता। उसके अव्यवहित पूर्वक्षण में यदि 'क' की चिन्ता में एकाग्र रहा जाय, तो वृत्तिरोध के अन्त में जब स्वभावतया वृत्ति का पुनरुदय होगा, तब उस 'क' को अवलम्बन करके ही होगा। उस समय 'क' के साक्षात्कार आदि पहले से ही होंगे, दूसरी वृत्ति का उदय ही नहीं होगा।

————oo————————oo————————oo————

क क'　　　　ख ख'　　　　ग ग'

प्रवाह के अन्त में 'क', उसके बाद शून्य, फिर 'क' ही आदि। 'क' के पहले विक्षेप, 'क' के बाद भी विक्षेप, सर्वत्र ऐसा ही।

यह 'क' यदि साकार हो, तो 'क' का साक्षात्कार, भोग आदि करके (स्वप्नवत्, स्वर्ग में आदि) लौटना होगा, फिर जागना होगा। 'क' यदि साकार + निराकार हो, तो भोग के अन्त में केवल निराकार में ही स्थिति होगी, वह लौटेगा नहीं। और, यदि 'क' निराकार हो, तो भोग भी नहीं होगा—एकबारगी साम्य में स्थितिलाभ होगा।

[३]

आकाश असीम है, लेकिन पेड़ बढ़कर कहीं पर रुक जाता है। रुक जाने का कारण पेड़ में ही है। अनन्तकाल तक बढ़ने पर भी यद्यपि रुकावट पाने की कोई सम्भावना नहीं। क्योंकि, आकाश अनन्त और अबाधक है, तथापि बढ़ने की सीमा है। बीज में बढ़ने की जो शक्ति है, वह सब-की-सब जब खर्च हो जाती है, तब वह नहीं बढ़ता। लेकिन, अन्यान्य शक्तियाँ तब भी रहती हैं, उनका विकास होता रहता है।

जीव भी ससीम है, इसलिए एक जगह जाकर थमना होता है। वह वहीं अनन्त से युक्त होता है। जिसकी जहाँ सीमा है, उस सीमा के बाद ही असीम—असीम व्यापक है। सीमा कल्पित। कल्पना, बोध, सीमाबद्ध।

बोध लिये असीम में डूबने से असीम का आनन्द मिलता है। वही अच्छा है। असीम में जाकर बोध खोना, या बोध खोकर असीम में जाना—निर्वाण ठीक नहीं। द्वैताद्वैत ही मधुर है सीमाबद्ध होकर, असीम में जाकर सीमा खोना, फिर किनारे आना —यही द्वैताद्वैत है। पराभक्ति। असीम को स्पर्श नहीं करना (= द्वैतभाव) जैसा ख़राब है, द्वैत को स्पर्श नहीं करना भी वैसा ही बुरा है।

[४]

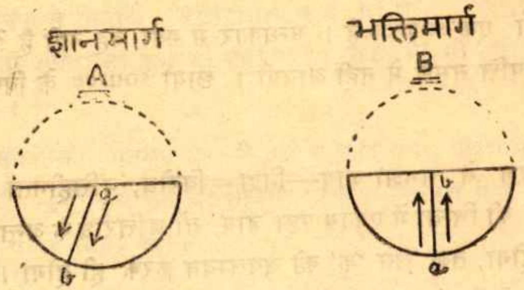

A a = मैं यहाँ मैं = ईश्वर, पूर्णाहन्ता

b = तुम तुम = जीव, अपर अहं

B a = मैं मैं = जीव

b = तुम तुम = ईश्वर

अव्यक्त = प्रथम पुरुष

[५]

यही तीन गुण से पंचभूत की उत्पत्ति-प्रणाली है। ऊर्ध्वमुख त्रिकोण = पुरुष, यह भी त्रिगुणात्मक : अधोमुख त्रिकोण = प्रकृति, यह भी त्रिगुणात्मक। क्योंकि प्रकृति और पुरुष जब परस्पर पृथक् हैं, तभी दोनों ही गुणमय, वैषम्यमय हैं। जब साम्यावस्था है तब प्रकृति और पुरुष भी एकाकार। वह त्रिकोण नहीं, चतुरस्र है।

[६]

दो में सृष्टि नहीं। दो सरल रेखाओं में अवच्छेद नहीं होता। सृष्टि की प्रणाली यह है :

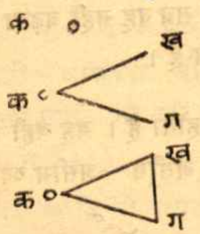

= ब्रह्मबिन्दु

= प्रकृति और पुरुष

= प्रकृति और पुरुष का मिलन।

पुरुष और प्रकृति का मिलन अनेक प्रकार से हो सकता है। यह ठीक है कि 'क' 'ख' = 'क' 'ग' सर्वदा। मिलन का मतलब 'ख' और 'ग' की योजना। लेकिन, 'ख' 'ग' उस 'क' 'ख' या 'क' 'ग' के समान होगा, यह नहीं भी हो सकता है। जब समान होता है, तब सम-त्रिबाहु का उद्भव होता है। जब नहीं होता है, तब सम-द्विबाहु होता है।

ऐसा ही चारों ओर होता है। 'क' 'ख' जातीय रेखा की संख्या यदि सीमाबद्ध हो, तो figure उक्त संख्यक सरल रेखावेष्टित polygon होगा। 'क' 'ख = एक शक्ति। अतएव, ससीम संख्यक शक्ति का विकास होने से बहुरेखावेष्टित राज्य होगा—उतनी संख्यक रेखा से वेष्टित, जितनी शक्ति का विकास। परन्तु, उसमें भी केन्द्र से प्रान्त—सभी ओर समान दूर। और, असीम संख्यक शक्ति का विकास होने से figure अनेक सरल रेखाओं से घिरा नहीं होगा। एक वक्ररेखा से घिरा होगा—या वृत्ताकार या मण्डल होगा। वृत्त की परिधि में अनन्त सरल रेखाएँ हैं; क्योंकि उसमें अनन्त बिन्दु हैं। जिन किन्हीं दो बिन्दुओं के बीच एक सरल रेखा। ऐसी सरल रेखाएँ अनन्त हैं, इसलिए समष्टि में एक वक्ररेखा के रूप में आभासमान हैं। क्योंकि, प्रत्येक बिन्दु ही केन्द्र से समान दूरी पर है।

यहाँ बड़े रहस्य की बात है। रेखा वास्तव में बिन्दु-समष्टि नहीं। इसलिए, पूरी परिधि बिन्दुसमूह की समष्टि नहीं। क्योंकि, दो बिन्दु जितने ही घनिष्ठ हों, उनके बीच फाँक को मानना ही पड़ता है। नहीं तो दो बिन्दु नहीं हो सकते। बीच में फाँक रहने से से ही द्वैत रहा, फलतः continuity नहीं रही—विच्छेद आ गया। इसलिए, एक रेखा नहीं हुई। अतएव, परिधि एक नित्य रेखा—अनन्त, अद्वय, अविच्छिन्न है—बिन्दु संघातमय नहीं। उसमें अनन्त बिन्दु का समावेश है—तादात्म्य-भाव से एकाकार। इसलिए, बिन्दु से बिन्दु का भेद भी है। तब, जबकि बीच में फाँक है, जबकि अविच्छिन्न रेखा अप्रकाशमान है। और, रेखा के प्रतिभात होने पर दो बिन्दु अद्वयभावापन्न, एकाकार।

[७]

तीन रास्ते। प्रत्येक रास्ते में—क्रिया-ज्ञान-भाव।

१. क मार्ग (कर्म मार्ग)

(a) क्रिया i.e. अशुद्ध त्याग।

(b) प्राप्ति = ऐश्वर्य।

(c) ऐश्वर्य में मग्न होना।

२. ख मार्ग।

(a) त्याग, ऐश्वर्य-त्याग।

(b) अभेद प्रकाश।

(c) प्रकाश में तन्मयता।

३. ग मार्ग।

(a) अद्वैतत्याग :

(b) भेदाभेद प्रकाश, भावदेह का आविर्भाव।

(c) उसमें तन्मयता।

[८]

पेड़ निश्चित रूप से स्थिर रहते हैं। बयार आई नहीं कि हिलने लगे। हवा के संचार से पेड़ की क्रिया। हवा के हट जाने से फिर निष्क्रिय। यह पेड़ ही पुरुष है। हवा = शक्ति। शक्ति पुरुष को जैसा खेलाती है, पुरुष वैसा ही खेलता है। शक्ति जब स्थिर होती है, वायु की तरह स्थिर, तब पुरुष निष्क्रिय होता है।

पुरुष अनेक, फिर भी एक। शक्ति की सचल अवस्था में पुरुष का अनेकत्व अनुभूत होता है। शक्ति के निश्चल रहने पर पुरुष के अनेकत्व का अनुभव नहीं होता।

[९]

बालपन—अर्थात् यौवन के पहले तक ब्रह्ममय भाव। विचार नहीं, आत्मज्ञान नहीं। युवक अपने को युवक के रूप में जानता है, बालक अपने को बालक नहीं समझता।

विशुद्ध सत्त्व में चूँकि अन्य उपादान नहीं, इसलिए वह सदा अनन्य है। लेकिन, वह जानता नहीं कि वह अनन्य है। जो शुद्ध भक्त है, वह अपने को शुद्ध भक्त नहीं जानता; जो शुद्ध ज्ञानी है, वह नहीं समझता कि मैं शुद्ध ज्ञानी हूँ। यदि समझे, तो वह शुद्ध नहीं, उसमें मिश्रण है, यह समझना चाहिए। दूसरी चीज से मिले विना किसी वस्तु का आत्मप्रकाश नहीं होता।

३१.५.२५ :

श्वास-प्रश्वास में मन रखने से क्या होता है? मन-प्राण में ऐक्य होता है। प्राण की अन्त में स्थिति है, अपान की भी अन्त में स्थिति। अर्थात्, प्राण और अपान की सन्धि = स्थिति या शून्य। मन जब प्राण के साथ चलेगा तब प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में उस शून्य को स्पर्श करेगा। साधारणतः श्वास-प्रश्वास चुपचाप चलता है; क्योंकि मन विषय में है, प्राण का चलाचल वह लक्ष्य नहीं करता। किन्तु, मन के प्राण का अनुगामी होने से प्राण की क्रिया Consciously होती है। यह निरन्तर होती है। इसलिए self-consciousness निरन्तर जगा रहता है।

उस शून्य को स्पर्श करने से मन भी क्रमशः शून्य या निष्क्रिय हो जाता है, सूक्ष्म या शुद्ध हो जाता है, मन का आवरण या स्थूलाभिनिवेश कट जाता है, कर्त्तृत्व कट जाता है।

इस स्थिति में अद्वैत होता है : स्वभाव ही चालक होता है। जो भी होता है, वह स्वभाव का खेल होता है।

१.६.२५ :

केवल मन का निरोध होने से कोई फल नहीं। वह तो जडत्व या जडसमाधि है। मन अभी स्थूलभावापन्न है, यद्यपि विक्षिप्त है। उसे समेट लाने से भी वह स्थूल ही रहेगा। उसे सूक्ष्म करना चाहिए, वासना-रहित करना चाहिए। किन्तु, यह तो विना आग

के हो नहीं सकता। इसलिए बड़ा तीखा संघर्ष चाहिए। ज्ञानाग्नि के जलने से ही वासना कटेगी, मन स्थूलरहित होगा, चेतन होगा।

अतएव, मन्त्र चाहिए। मन्त्र से संघर्ष होने से तेज का विकास होकर मन की आवर्जना दूर हो जाती है। यही है मन का त्राण या मन का चैतन्य-सम्पादन या मन का शोधन।

मन के स्थिर होने से यदि संघर्ष होता है, तो संघर्ष खूब जोर से होता है—आग तुरत जल जाती है। मन को विक्षिप्त रखकर ही संघर्ष करने से संघर्ष-निमित्त एक चुम्बकीय धर्म विकसित होता है और तब मन के बिखरे हुए कण आकर इकट्ठे होते हैं और चुम्बकीय तेज ज्योति में परिणत होता है।

इसीलिए, मन्त्रहीन स्थिरीकरण से स्थिरत्व-साधन-रहित मन्त्रसंघर्ष श्रेष्ठ है। अवश्य दोनों का समन्वय सर्वश्रेष्ठ है।

मन यदि स्थिर हो और प्राण स्थिर न हो, तो वह वास्तविक स्थिरता नहीं। उस स्थिति में वासना की तरंगें काँपती हैं, इसीलिए सपने आते हैं। वैसे में प्राण प्रबल, मन दुर्बल होता है। जाग्रत् अवस्था में मन प्रबल, प्राण दुर्बल होता है।

मन के प्रबल होने से ही कर्त्तृत्व बोध जागरूक रहता है। इसी से कर्म होता है। स्वप्न में मन दुर्बल और कर्त्तृत्व-बोध शिथिल होता है—इसीलिए, स्वप्न कर्मप्रधान नहीं, भोगावस्था-मात्र है—Passive/Passive है, परन्तु जो चित्र खेलता है, वह वासनामूलक होता है। इसीलिए, subjective होता है। व्रज का भाव भी passive है, लेकिन वासना चूँकि नहीं होती, इसलिए जो कुछ भी उठता है, स्वभाव से। वहाँ कर्त्तृत्व भी नहीं, वासना भी नहीं। वहाँ की वासना वासना नहीं—उसमें मन नहीं है, 'अहं' का योग नहीं—उसके सामने सब अनन्य। हेतु योगमाया।

साधारणतया ज्ञानोदय के पहले ध्यान में जो सब दर्शन होता है, उसका अधिकांश संस्कारमूलक होता है। ज्ञानोदय के बाद का दर्शन सत्यदर्शन है; क्योंकि उस समय कर्त्तृत्व और वासना विलुप्त होती है। जो कुछ भी उदित होता है, वह स्वभाव से ही होता है, इसीलिए real, objective है।

मन और प्राण के ऐक्य के विना ज्ञान नहीं होता। यह ऐक्य-सम्पादन मन के (स्थिर या स्थिरीकृत) संघर्षवशात् हो सकता है या प्राण के साथ मन के अनुगमन से हो सकता है। मन की वासना मन में तबतक रहती है, जबतक कि मन उज्ज्वल नहीं। मन के उज्ज्वल होने से वासना उसमें नहीं रह सकती, मन को छोड़कर अव्यक्त हो जाती है। यही है ज्ञानलाभ से वासना की निवृत्ति। और, यदि कौशल से मन को शून्य में ले जाया जाय (जैसे, प्राण का अनुगामी बनकर) तो क्षण को मन = शून्य; इसलिए निराधार होने से वासना अव्यक्त होती है। इस प्रकार, मन और वासना का सम्बन्ध क्रमशः शिथिल हो

आता है। चरम अवस्था में वासना अव्यक्त हो जाती है—तब मन भी अव्यक्त या शून्यस्थ या निष्क्रिय या सूक्ष्म होता है। वासनायुक्त मन स्थूल होता है, वासना-रहित मन सूक्ष्म।

२०.६.२५ :

केवल चाहने से ही पाया नहीं जाता। मैं यदि इच्छा करूँ कि शहद खाऊँ, तो शहद नहीं मिलेगा। कर्म करने के साथ ही उपादान भी तैयार करना होगा। शहद का उपादान नहीं है, केवल चाहने से ही शहद क्या मिलेगा? भाण्डार में अर्थ हो, तो चाहते ही पा सकते हैं। नहीं रहने से चाहने पर भी नहीं मिलता। चाहना माने = अभाव-बोध। भाण्डार भरा-पूरा हो, तो चाहते ही मिलता है। स्वभाव ही अक्षय भाण्डार है। स्वभाव के साथ योग होने के कारण इच्छामात्र से ही प्राप्ति या सृष्टि होती है। इच्छा, पूर्ण के साथ योग होने से पूर्णता लाभ करती है।

स्वभावच्युत होकर इच्छा पूर्ण नहीं होती। विकार नहीं कटने से, प्रकृति को नहीं पाने से इच्छा पूर्ण नहीं होगी, अभाव नहीं मिटेगा।

तो हमारा सब चाहना क्या निष्फल है? नहीं। हमारे चाहने और पाने में दैशिक और कालिक व्यवधान है। यदि हम योगी होते, स्वभाव से योग होता, तो यह व्यवधान नहीं रहता। चाहते ही हम पाते। जहाँ और जब चाहना, वहीं और उसी समय पाना। देश और काल मायाजन्य हैं। माया की गाढता से उनकी दीर्घता है। शुद्ध मायावश तात्कालिक और तद्देशगत प्राप्ति। इच्छा नहीं होने से माया भी नहीं, अतएव, प्राप्ति भी नहीं। अर्थात्, अभाव भी नहीं, इसलिए अभाव की निवृत्ति भी नहीं। यह केवल चिद्भाव है, आनन्द नहीं। क्योंकि, अभाव की निवृत्ति होना ही आनन्द है। अभाव का बोध नहीं रहने से आनन्द का स्वाद नहीं रहता। सुतरां, शक्ति के विना जैसे अभाव नहीं होता, वैसे ही आनन्द भी नहीं होता। स्वभाव में रहकर भी अभाव होने से ही आनन्द है। क्योंकि, अभाव होते ही भाव का उदय अवश्यम्भावी है। यह भाव—महाभाव ही—आनन्द है। स्वभाव में हो और अभाव न हो, तो आनन्द नहीं। पूर्व अवस्था = स्वभाव में स्थिति, किन्तु उसमें आनन्द नहीं। अवश्य, निरानन्द भी नहीं। केवल चिद्भाव-मात्र। दूसरी अवस्था भी स्वभावस्थिति—आनन्दमय।

निम्न जगत् में यह आनन्द ही फलरूप में उतर आता है। केवल चाहने से नहीं होता, एकाग्र भाव से चाहना जरूरी है। तभी थोड़ा-बहुत योगाभ्यास होता है। तब उसी अनुपात में फल मिलता है। जिस परिमाण में वियोग, उसी परिमाण में आनन्द सुख-दुःख रूप में खण्डित। यदि सम्पूर्ण ही वियोग हो, तो केवल सुख और दुःख—आनन्द कुछ भी नहीं। वह द्वैत या अज्ञान-अवस्था है। उस समय जीव और ईश्वर में योग नहीं होता। यद्यपि, स्वभाव और ईश्वर में योग होता है। इसी से ईश्वर में आनन्द आता है। जीव में वह टूटकर सुख-दुःख हो जाता है। यह भी चाहने के ही फलस्वरूप, पर जीव ईश्वर

भी नहीं जानता, स्वभाव भी नहीं जानता। इसीलिए, सोचता है कि विना चाहे ही आया है। तो क्या उसने सुख-दुःख चाहा था? नहीं। चाहा था आनन्द; पर साकार सीमाच्छन्न है और वह योगी नहीं। इसीलिए, उसके चाहने में बहुत प्रकार की चीजें मिली हैं। ईश्वर से उसका योग तो है ही—वह जाने या न जाने। इसीलिए, ईश्वरानन्द (तमोजातीय साकार) जीव के निकट विचित्र रूप से आ पड़ता है। सुख चाहने में दुःख भी आ पड़ता है।

२५.६.२५ :

देह शून्य में क्यों उठती है? साधारणतः सजातीय ताडित विकर्षण और विजातीय ताडित आकर्षण करता है। पृथ्वी का ताडित या पृथ्वीस्थ सारी वस्तुओं का ताडित परस्पर विपरीत होते हैं। इसीलिए, आपस में एक-दूसरे को खींचते हैं। यदि देह या वस्तु में पृथ्वी के सजातीय ताडित का उत्पादन किया जाय, तो देह पृथ्वी से ऊपर उठेगी।

वास्तविक तौर पर पृथ्वी का जो भी अंश है, वह पृथ्वी पर आश्रित है, पृथ्वी उसका आश्रय है। पार्थिव वस्तु पृथ्वी पर आश्रय किये विना नहीं रह सकती। किसी कारण से पृथ्वी से च्युत होने पर भी स्वभावतः ही वह पृथ्वी पर लौट आयगी। पृथ्वी जड है।

इसी तरह जो कुछ भी चेतन है, वह चैतन्य का अंश है, वह चैतन्य में आश्रित है। चैतन्य उसका आश्रय है। चेतन वस्तु चैतन्य का जरूर ही आश्रय करेगी। किसी कारण से खण्ड चैतन्य चैतन्यराशि से च्युत होने पर भी स्वभावतः चैतन्य में ही लौट आयगा। आकाश चैतन्य है।

चैतन्य से च्युति का कारण है जड सम्बन्ध। पृथ्वी से या जड से उद्धार का कारण चैतन्य-सम्बन्ध है। अर्थात्, चैतन्य के अंश से जड के अंश का मिश्रित होना ही बन्धन है। जड के अंश से चेतन के अंश का मिलन ही मुक्ति है। शुद्ध जड = नित्यबद्ध; शुद्ध चैतन्य = नित्यमुक्त।

शुद्ध चैतन्य = आकाश। | ↑ क
शुद्ध जड = पृथ्वी। | + o
| ख

गुरुत्व से पतन, लाघव से उत्थान। किसी चीज को हाथ से उठाने पर उठती क्यों है? हम उसे इच्छा करके—प्रयत्न करके—चेष्टा करके उठाते हैं। गुरुत्व जिसका धर्म है, इच्छा उसकी विपरीत वस्तु का धर्म है। क्योंकि, गुरुत्व का जो फल है, ऐसी इच्छा का फल उसके विपरीत है। गुरुत्व अगर जड का धर्म हो, तो इच्छा चेतन का धर्म। परन्तु, वास्तव में ऐसा नहीं है। जो ऊपर है, उसे यदि उतारना हो, तो इच्छा करके उतारना होता है। ऊपर जाना या रहना जिसका धर्म है, नीचे उतारना उसकी विपरीत

वस्तु का धर्म है। अतएव, उत्थान-पतन इच्छा से ही हो सकता है। इसलिए, इच्छा जड का स्वभाव नहीं, चैतन्य का भी स्वभाव नहीं। दोनों के ही अतीत है। इच्छाशक्ति सत्त्व के सहयोग या चैतन्य के योग से प्रेरित होने पर ऊपर उठाती है और तम या जड की सहायता से संचारित होने पर नीचे उतारती है। यही कार्यसाधिका शक्ति है। लेकिन, ऊपर या नीचे जाने का हेतु है। कोई वस्तु—जैसे 'च'। 'च' जितना ही ऊपर उठेगा, उतना ही वह लघु होगा। गुरुत्व घटेगा। जितना गुरुत्व घटता है, वह 'च' से जाता कहाँ है? हम यदि हाथ पकड़कर 'च' को उठायें, तो वह गुरुत्व हमको आश्रय करता है। और, उसी परिमाण में हमारा सत्त्व 'च' को आश्रय करता है। हमारे हाथ छोड़ देने से ही हमारा सत्त्व हममें लौट आता है, उसका गुरुत्व उसमें चला जाता है। इसलिए, हमारा 'च' को छोड़ना उचित नहीं। किन्तु, यदि उसे ० तक ले जायँ, तो छोड़ देने पर भी वह नहीं गिरेगा। वैसी स्थिति में हमारा प्रेरित सत्त्व और उसका जडत्व समसूत्र होगा, या सत्त्व = तम। यह साम्यभाव है। इसके बाद फिर जीवभाव में उत्थापन सम्भव नहीं होता। अब विशुद्ध सत्त्व के किंचित् संचार से ही ० को भेदकर 'च' ऊपर उठता रहेगा। अब चूँकि सत्त्व की प्रधानता है—इसलिए अवरोह सम्भव नहीं।

अतएव, प्राकृत सत्त्व के 'च' में संचारित होने से वह स्वतः ऊपर गमनशील नहीं होगा। अप्राकृत या ऐश्वरिक सत्त्व-संचार से अवश्य ही होगा। इसका कारण है—प्राकृत सत्त्व में जडत्व है। वह जडत्व 'च' के जड अंश में मिलकर बाधा देता है। किन्तु, 'च' का जडभाग और 'सत्त्व' का जडभाग मिलकर, सत्त्वांश की कमी हो, तो अवश्य उठेगा। परन्तु, उठते ही गिरेगा। सत्त्व में जडांश नहीं रहने से नहीं गिरेगा।

४.७.२५ :

उपलब्धि का स्तर-विन्यास—इस प्रकार है :

१. सान्त। यहाँ दुःख अवश्यम्भावी है। क्योंकि, प्रवाह बाधित होता है। बाधा का बोध ही दुःख है। यह परिच्छिन्न बोध का राज्य = संसार (जीवभाव के संचार से अन्त तक)।

२. अनन्त। यहाँ आनन्द है; क्योंकि प्रवाह को बाधा नहीं मिलती। यह ईश्वरावस्था है। इसकी सीमा नहीं।

३. अतीत। यहाँ दुःख या आनन्द—कुछ भी नहीं। क्योंकि, बोध नहीं है।

ईश्वरावस्था में प्रभा केवल चलती ही रहती है—प्रवाह का अन्त नहीं है। ज्ञान अनन्त है, ज्ञेय कम। ज्ञेय का कुछ विकास होते ही वही ज्ञान-प्रवाह को बाधा देगा। ज्ञान-प्रवाह आकर उस ज्ञेयरूप प्राचीर में अटक जायगा। उसे छोड़कर नहीं चलेगा। अर्थात्, ज्ञान सविषयक होगा। अर्थात्, द्वैतभाव रहेगा—वही जीवभाव है। उसमें दुःख का स्पर्श है ही। प्रवाह का जो रोधक है, वही विषय है। विषय = प्राचीर, सीमा। विषय ही बाधक है। विषय ही वैषम्य है।

ईश्वरावस्था शुद्ध ज्ञान की अवस्था है—उसमें ज्ञेय या विषय मग्न है, लुप्त है। प्रवाह है, परन्तु अप्रतिहत। शुद्धज्ञान, इच्छाशक्ति इसी स्तर की चीज है। यहाँ जब सीमा नहीं, तब बह्मभाव को 'अतीत' मानना क्यों? वास्तव में, परमार्थतः दोनों ही एक हैं। असीम में जाने पर आनन्द आनन्द नहीं। बोध भी वही, इच्छा भी वही। इसीलिए, स्वरूपतः वह अनन्त = स्वभाव। वह ठीक आनन्द नहीं। ज्ञेय के प्राचीर को तोड़कर जीव जब असीम तत्त्व में प्रवेश करता है, ईश्वरभाव प्राप्त होता है— वह आनन्द पाता है। केवल असीम में आनन्द नहीं, यदि उसमें ससीम न आये। जीव जीव है, इसीलिए सीमाबद्ध है। साधना से शक्ति का केवल उत्कर्ष होता है, सीमा-लंघन नहीं होता। किन्तु, सीमा-लंघन भी हो सकता है। वह किसी भी अवस्था में सम्भव है। अवश्य अनन्त के संसर्ग से। एक जीव = क, और एक जीव = ख। 'क' की शक्ति = पाँच। 'ख' की शक्ति = दस। अवश्य दोनों ही शक्ति को बढ़ा सकते हैं। यही पुरुषकार है। लेकिन, शक्ति बढ़ाकर अनन्त शक्ति नहीं कर सकते। क्योंकि, बढ़ाना क्रमिक है, क्रम का तो अन्त नहीं। हाँ, क्रम को त्याग कर सकने से अनन्त में प्रवेश होगा, नहीं तो नहीं। क्रम को त्याग करना हो, तो अनन्त का स्पर्श चाहिए। असीम के साक्षात् स्पर्श के विना सीमा असीम के स्तर में नहीं जा सकती, कोटि महाकल्प में भी नहीं! सीमा क्रमशः कभी असीम नहीं होती। यदि असीम स्पर्श करे, तो सीमा जिस किसी अवस्था में असीम में जा सकती है। जा तो सकती है, पर एक बात है। 'क' पाँच तक जा सकता है—यही उसकी सीमा है। 'ख' की सीमा है दस। असीम में जाने से 'क' जो आनन्द पायगा, 'ख' उसका दूना पायगा। समुद्र में जैसा पात्र डुबोया जायगा, उसी परिमाण में वह पानी लेगा। असीम = शून्य। कभी बाधा नहीं देगा। 'क' पाँच तक बेरोक चलेगा, उसकी उतनी ही शक्ति है—उसके बाद वह अभिभूत हो जायगा, बोध खो बैठेगा। वह कभी सीमा नहीं पायगा। संसार में भी वह पाँच तक जा सकता है, परन्तु वहाँ जाकर वह धक्का पाता है—आगे नहीं जा सकता। रास्ते में बहुत धक्का खाता है। यही बाधा दुःख है। जितना ही विना बाधा के जायगा, उतना ही सुख। इसीलिए, सुख से दुःख मिला हुआ है। इसीलिए, उसकी शक्ति पाँच होने पर भी तदुपयोगी आनन्द वह नहीं पाता। घात-प्रति-घात में बहुत-सा खर्च हो जाता है। अनन्त में पाँच तक जाकर ही वह बोध खो बैठता है-बाधा लेकिन नहीं पाता, इसलिए दुःख नहीं है। परन्तु, अपने बोध को नहीं बचा पाता। इसीलिए, आनन्द की भी उपलब्धि नहीं कर सकता। अनन्त में चलने से आघात-प्रतिघात बिलकुल नहीं। जितना-भर ही चला जाय, उतना ही आनन्द। लेकिन, शक्ति सीमाबद्ध है, इसलिए शक्ति का विलय हो जाने से ही आनन्द भी नहीं रहता। इसलिए कि शक्ति के विलय का अर्थ है पाँच तक पहुँचना, उसके आगे शक्ति नहीं, इसलिए बोध नहीं, इच्छा नहीं, सुख नहीं—कुछ नहीं। है स्वभाव। स्वभाव की पूर्वावस्था—आनन्द।

अतएव, यह स्पष्ट है कि अनन्त में जाकर 'क' भी आनन्द पाता है, 'ख' भी पाता है। 'ख' की शक्ति चूँकि अधिक है, इसलिए 'ख' अधिक समय तक चल सकता है,

अपने व्यक्तित्व और बोध की रक्षा कर सकता है, आनन्द तीव्रता से पाता है। लेकिन, जैसे ही दस शक्ति लीन हुई कि वह स्वभाव में डूबा। जीव शक्ति लेकर ही अनन्त में प्रवेश करता है। शक्ति की क्रिया होकर निवृत्ति होने से ही स्वभाव को पाता है। शक्ति की क्रियावस्था ही आनन्द की उपलब्धि है। जीव के जबतक शक्ति है, तबतक वह द्वैत में है। अद्वैत को स्पर्श किये विना, भेदभाव से दुःख में है (सुख + दुःख); अद्वैत का स्पर्श करने से भेदाभेद-भाव से आनन्द में। और, शक्ति जैसे ही निष्क्रिय हुई, वैसे ही अभेदभाव—फिर बोध नहीं, आनन्द नहीं। अभेद-बोध भी नहीं। स्वभाव। अभेद-बोध रहता है, इसलिए वह भेदाभेद-अवस्था में ही होता है।

स्वभाव में ज्वार-भाटा है। इसलिए 'क' और 'ख' फिर बाहर हो जाता है। अर्थात्, 'क'-निष्ठ शक्ति सक्रिय होती है, 'ख' की शक्ति भी वही। शक्ति के लय में 'क' और 'ख' में भेद नहीं था, इसलिए कि भेदक धर्म अव्यक्त था। शक्ति के प्रकट होने से दोनों में भेद जागता है, अवश्य अभेद की गोद में। क्योंकि जागता अनन्त में ही है। वह फिर सान्त में नहीं आता। एक बार अनन्त का स्पर्श कर लेने से फिर सान्त में नहीं आना पड़ता। यह नित्य लीला अनन्त में ही होती है।

अब प्रश्न यह है—'क' जब जागा, तब उसकी शक्ति क्या है? अब भी क्या उसकी शक्ति पाँच ही है? या अधिक?

यहाँ बहुत रहस्य है। 'क' की शक्ति पाँच और 'ख' की दस जो बताई गई है—यदि ऐसी शक्ति लेकर अनन्त में प्रवेश किया जाय, तो स्वभाव को पाने के बाद 'क' की शक्ति ६ और 'ख' की शक्ति १२ जरूर होगी। यह योगी की अवस्था है। फिर, क्रमशः स्वभाव के संस्पर्श से ऐश्वर्य की वृद्धि होगी। इसकी सीमा नहीं। लेकिन, यह याद रखना है, पाँच, दस = खण्डशक्ति। सबके मूल में जो अखण्ड शक्ति (= १) है, उसे लेकर, उसे जगाकर यदि अनन्त में प्रवेश किया जाय, तो उस शक्ति का विलय नहीं होगा, इसलिए आनन्द का अवसान नहीं होगा—वह शक्ति अभिभूत नहीं होती, इसीलिए उस स्थिति में लीला नित्य है। खण्डशक्ति लेकर अनन्त में उतरने से, शिवसागर में डूबने से, वह खण्डशक्ति शिव के साथ रमण करके साम्यभाव प्राप्त करने से शुद्धशिव ही रहती है। इस रमण-अवस्था तक लीला, आनन्द। उसके बाद साम्यभाव, शान्ति। अखण्डशक्ति लेकर उतरने से नित्यरमण, नित्यरस। उसका विराम नहीं। इसीलिए वहाँ शान्त भाव नहीं, साम्यभाव नहीं।

अखण्डशक्ति = महाभाव; खण्डशक्ति = खण्डभाव। अतएव, महाभाव को आश्रय किये विना नित्यलीला में अधिकार नहीं होता। खण्डभाव उस असीम तत्त्व को निरन्तर चेतन-भाव से धारण नहीं कर सकता। सामर्थ्य के अनुसार धारण करते ही सो पड़ता है, बोध खोता है, भेदाभेद के अतीत होता है।

खण्डशक्ति अखण्डशक्ति का ही अंश है। खण्डशक्ति लेकर जो अनन्त में उतरते हैं, वे योगी हैं। ये भी अनन्त में एक बार डूबते हैं, एक बार बहते हैं। डूबने के बाद

तिरने से शक्ति बढ़ती है। फिर डूबते हैं, फिर उतरते हैं। संकोच और प्रसार से ऐसा होता है। फलस्वरूप, क्रमिक ऐश्वर्य-वृद्धि होती है।

जो अखण्डशक्ति लेकर अनन्त में उतरते हैं, वे रसिक हैं। इन्हें डूबना नहीं, केवल तिरना है।

इसीलिए, राधा-कृष्ण की लीला का अन्त नहीं—दोनों नित्य जाग्रत् हैं। गोप-गोपी, सखा-सखी—खण्डभाव—रास के अन्त में विलीन हो जाती हैं, अवश्य राधा-अंग में। राधा का विलय नहीं होता।

अतएव, खण्ड या अखण्डशक्ति के सहारे अनन्त में उतरने से ऐश्वर्य या आनन्द (रस) पाने का उपाय है। शक्ति को विना जगाये अनन्त का स्पर्श पाने से निर्वाण या आत्म-विलोप होता है। हमें जितनी शक्ति है, उतना ही रसास्वादन होता है। शक्ति यदि जरा भी जगाई हुई न हो, तो कोई भी अस्वादन, ज्ञान, बोध नहीं। अनन्त के स्पर्श-मात्र से अभिभूत अवस्था आयगी।

यह सुप्तशक्ति जीव का, अनन्त के स्पर्श का अभिभव और कुछ उद्बुद्ध शक्ति, जीव के अनन्त स्पर्शजन्य कुछ आनन्द, बोध के अनन्तर अभिभव—इन दोनों में भेद है क्या? है। पहली अवस्था में जब अनन्त की प्रसारण-शक्ति से जीव बाहर हो आयगा, तब कार्यतः वह नया जीव होगा, उसे पूर्वस्मृति नहीं रहेगी—फलस्वरूप, जीवन की continuity नहीं, उसका संचार-स्थान अ-शून्य, अर्थात् सृष्ट जगत् या ब्रह्माण्ड है। शून्य = शिव। शक्ति अचेतन है, इसलिए शून्य में गति नहीं हो सकती। दूसरी अवस्था में जीव अपने को पुराना समझ सकेगा, पूर्वस्मृति रहेगी, जीवन की continuity में विच्छेद नहीं रहेगा। जाग्रत् शक्ति शिव में विलीन तो होती है—खण्ड जाग्रत् शक्ति पूर्ण जाग्रत् शक्ति में (= शिव में) अभिभूत होती है, परन्तु बाहर होने से वह जाग्रत् ही रहती है—इसलिए पूर्णभाव बना रहता है। ऐसे जीवों का संचार-स्थान शून्यप्रधान लोक है, चिन्मय धाम। अखण्ड जाग्रत् शक्ति या परमशिव शून्य में क्रीडा करते हैं।

शक्ति का उद्बोधन किये विना अनन्त का स्पर्श = मृत्यु या जड़ समाधि। शक्ति का उद्बोधन ही ज्ञानलाभ है—इसी से मृत्यु को उत्तीर्ण किया जा सकता है। संसार, ब्रह्माण्ड—सब मृत्युराज्य है। जहाँ शक्ति की पूर्ण उद्बुद्धता है, वहीं अमरत्व है। शक्ति जहाँ बिलकुल ही अन-उद्बुद्ध है, वह पूर्ण मृत्युभूमि है। जहाँ शक्ति का कुछ-कुछ उन्मेष है, वह आपेक्षिक रूप में अमर धाम है। मृत्यु वहाँ भी है, पर दीर्घ जीवन के बाद।

उसके बाद ही भगवद्धाम में प्रवेश, वह भक्ति-पदवाच्य है। ज्ञानलाभ हुए विना आनन्द पाने की सम्भावना कहाँ? केवल आनन्द ही ईश्वरभूमि है, यही भक्ति है।

लेकिन, शक्ति के जगने से ही अनन्त में प्रवेश नहीं होता। शक्ति के जागरण की सीमा नहीं। शक्ति का जागरण ही आत्मज्ञान है। इसकी अवश्य क्रमवृद्धि है। शक्ति का

पूर्ण जागरण = पूर्ण आत्मज्ञान। लेकिन, अनन्त के स्पर्श के विना यह हो ही नहीं सकता। क्योंकि, क्रमिक जागरण से सर्वशक्ति का पूर्ण जागरण हो नहीं सकता, हजार युगों में भी नहीं। इसलिए, अनन्त का संस्पर्श चाहिए। अनन्त का संस्पर्श पाते ही अपूर्ण आत्मज्ञान उसी के अनुरूप आनन्द में परिणत होता है। यह आनन्द ही भक्ति है। ज्ञान चूँकि ससीम है, शक्ति सीमाबद्ध है, इसलिए उसकी निवृत्ति या अभिभव होते ही स्वभाव-लाभ होता है। फिर, अधिकतर शक्ति प्राप्त होती है। फलस्वरूप, आत्मज्ञान पूर्णतर होता है और आनन्द या भक्ति गाढतर होती है। ऐसा ही चलता रहता है। अन्त नहीं है।

अखण्ड शक्ति के जागरण से ही पूर्ण आत्मज्ञान होता है—उसे प्रेम या महाभाव कहते हैं। पूर्ण आत्मज्ञान में आत्मा ही परमात्मा-रूप में ज्ञात होती है—यही प्रेम है। ज्ञान पूर्ण है, इसलिए इसका आवरण नहीं। इसीलिए, स्वभाव-प्राप्ति नहीं होती। यही नित्यलीला है—राधाकृष्ण की।

६.७.२५ :

कमरे में प्रकाश है—मेरी छाया पड़ी है। क्रिया करते-करते ऐसी अवस्था आती है कि छाया लुप्त हो जाती है। नई विकसित ज्योति में मग्न हो जाती है। वह ज्योति प्रदीप की ज्योति की सजातीय नहीं। क्योंकि, उस ज्योति में उस समय कमरे की छाया और दीपक की ज्योति—दोनों ही समान भाव से विलुप्त होती हैं—पूरा-का-पूरा कमरा एक अनोखी मीठी चाँदनी जैसी उज्ज्वल ज्योति से उद्भासित हो उठता है। यह नवविकसित ज्योति क्रियावृद्धि के साथ अधिक समुज्ज्वल होती है।

यही ज्योति ज्ञान है, आत्मशक्ति। यह स्थूलभाव का नाश करनेवाली है। इस ज्योति की प्रतिष्ठा होने से, उसे आयत्त कर पाने से, जिसमें उसका प्रयोग किया जायगा, वही स्वच्छ होगा, उसका अन्तःस्थल दीखेगा। लेकिन, ज्योति अधिक तीव्र होने के कुछ भी नहीं देखा जा सकेगा—केवल ज्योति ही दिखाई पड़ेगी। एक विज्ञान में सर्वविज्ञान, भेदाभेद की अवस्था, तब ज्योति पतली रहती है। ज्योति घनी होने से एक विज्ञान ही रहता है। फिर, वह भी नहीं रहता।

यह ज्योति search-light जैसी होती है। यह बिखरती नहीं। जबतक इस ज्योति का विकास रहता है, तबतक अपनी छाया नहीं रहती। यह ज्योति ही दिव्यलोक है—देवलोक। इसीलिए, देवताओं के छाया नहीं होती। ज्योति का क्रम है—देवलोक या देवभाव का भी क्रम है। इस ज्योति की एक विशेष अवस्था का विकास होने से उस आलोक में चारों ओर जो कुछ भी दिखाई देगा, वह उसी देवलोक की वस्तु होगा। इसी प्रकार, जिस किसी लोक का दर्शन करना होगा, वह उसी के अनुरूप ज्योति का विकास करने से ही देखा जा सकेगा। हमारी आँखों की ज्योति, बाहरी आलोक, देह, बाहरी पदार्थ—सभी स्थूल हैं। ऊपर उठने से ही सब सूक्ष्म हो आता है।

यह जो आकाश है, इसका आवरण जितना ही हटेगा, उतना ही उस सूक्ष्म ज्योति का विकास होगा। यह आकाश स्थूल है। सेंवार-भरे पोखरे का सेंवार हटाने से, जैसे स्वच्छ पानी मिलता है, जहाँ से हटाया जाता है, वहीं मिलता है—वैसे ही इस आकाश में, तमाम ही वह ज्योति मिलती है। केवल आवरण हटाना पड़ता है। आवरण हटाने से यही आकाश चिदाकाश है, नहीं तो भूताकाश। भूत ही बीज, आवरण, वासना, जड, स्थूल आदि है। चित् के अनुप्रवेश से इसी से स्थूल जगत् की उत्पत्ति होती है। और फिर, इसी में विलय होता है—जब चित्-अंश हट जाता है। चित्ताकाश मध्यवर्त्ती अवस्था है।

त्राटक द्वारा ही आकाश को भेदना पड़ता है। स्थिर और समदृष्टि नहीं होने से भेद नहीं होता। यह स्थूलाकाश ही माया है। विषम दृष्टि मायिक दृष्टि है। उससे आकाश को अतिक्रम नहीं किया जा सकता। लौकिक दृष्टि विषम दृष्टि है। इसीलिए, इससे माया का हाथ नहीं बचाया जा सकता। समदृष्टि होने से जड नहीं रहेगा, भेद-जगत् नहीं रहेगा। लेकिन, भेद-जगत् में रहते हुए समदृष्टि कैसे हुआ जा सकता है? 'क' और 'ख' दो बिन्दु हैं। इन दोनों के बीच जो समरेखा है, सरल रेखा है, वह एक और अद्वितीय है। 'क' यदि 'ख' में ठीक लक्ष्य रखे, तो और कुछ नहीं दिखाई पड़ेगा, केवल 'ख' ही दीखेगा। यही दृष्टिरेखा समरेखा, सरलरेखा, ब्रह्मनाडी, शून्यपथ है। पहले यह नहीं होता। इसीलिए, जगत् में सरल रेखा नहीं है, हो ही नहीं सकती। क्योंकि, जो शक्ति 'क' से प्रवाहित होकर 'ख' में जाती है, वह बीच रास्ते में थोड़ी-बहुत इधर-उधर बिखर जाती है। इस कारण रेखा सरल नहीं होती। वह नाना प्रकार की वक्रताविशिष्ट होती है। उसके बिखरने का कारण चारों ओर का आकर्षण है। यदि शून्य को भेदकर शक्ति का प्रवाह होता, तो वह वक्र नहीं होती। शून्य में कोई आकर्षण नहीं। इसीलिए, विक्षेप नहीं। जगत् में इसीलिए विक्षेप अवश्यम्भावी है, इसीलिए सरल रेखा नहीं होती।

'क' = मन और इन्द्रिय। 'ख' = गुरु का दिया हुआ 'बीज' और वस्तु। मन और इन्द्रिय को एकत्रीभूत करके बीज और वस्तु को लक्ष्य करना। कहना नहीं होगा—यह लक्ष्य सहज नहीं है। किन्तु, कुछ रहस्य है। बीज चेतनीकृत और मन में निहित है, इसलिए मन भी कुछ अंश में चेतनीकृत (दीक्षाकाल में) होता है। इसलिए, कुछ अंश में शून्य-प्राप्ति हुई है। क्योंकि, शक्ति की शून्यावस्था ही चैतन्य है। निरालम्ब शक्ति ही चैतन्य है। अतएव, मूलतः लक्ष्य करते ही वह सरल रेखा ही होती है—परन्तु, बाहर हजारों विक्षेप के कारण वह कुटिलाकार होती है। धीरे-धीरे कुटिलता के त्याग से केवल सरल रेखा रहेगी। मूल सरल रेखा, लक्ष्य की वृद्धि के साथ तीव्रता आती है, उज्ज्वल होती है। फलस्वरूप, चारों ओर का आकर्षण क्रमशः अभिभूत होता है, रेखा की वक्रता भी कम हो आती है। यही वासना के क्रमत्याग की अवस्था है। सरल रेखा जो है, वह उन्मीलित ज्ञानलेश है। चरम अवस्था में सरल रेखा ही विराजमान होती है—बीच में

व्यवधान नहीं रह जाता; यह शून्य स्थिति है, वासना-राहित्य, चिदाकाश में अवस्थान या ज्ञान-वैशद्य है।

इसीलिए, मायातीत चैतन्य को आश्रय करने से ही माया कट जाती है। शून्य में नहीं जाने तक विक्षेप अवश्यम्भावी है। शून्य का स्पर्श पाकर पुरुषकार करने से ही शून्यभाव बढ़ता है, विक्षेप नहीं रहता, वासना नहीं रहती। चित् का सहारा लिये विना अचित् के बाहर नहीं जाया जाता।

१०.७.२५ :

आकाश = पिता = शिव, लिंग = शुद्ध चैतन्य।
पृथ्वी = माता = शक्ति, योनि, पीठ = जडभाव।

'आकाशं लिङ्गमित्याहुः पृथिवी तस्य पीठिका।'

बाइबिल में है, पहले Heaven and Earth बनी, अर्थात् चैतन्य और जड, या पुरुष और प्रकृति।

एक हिसाब से Heaven = स्वः, स्वर्ग।
Earth = भूः।

दोनों के बीच 'अन्तरिक्ष'। यही 'भुवः'। Firmament.

२७.७.२५ :

प्रदीप की प्रभा बिखर पड़ती है—वस्तु आलोकित होती है। चैतन्य की प्रभा वैसे ही बिखर गई है, व्याप्त है। जो प्रकाशित हो रहा है, वही जगत् है। इस प्रभा को समेट लेने से ही संहार—तब कुछ भी प्रकाशित नहीं होगा। पहली अवस्था है सृष्टि, दूसरी लय। अतएव, घट की सत्ता चैतन्य की शक्ति के व्यापन से है—चित्-शक्ति को समेट लेने से घट असत् और अव्यक्त। चित्-शक्ति बिखरने से ही घट आदि भावराजि की सत्ता प्राप्त होती है। अव्यक्त घट असत् है। अव्यक्त चित्-शक्ति का संचार होने से ही सृष्टि होती है, सत्ता प्राप्त होती है, अभिव्यक्ति होती है।

तो, पाया गया :
स्वभाव = अव्यक्त ज्योति।
निष्क्रिय चित्-शक्ति = प्रदीप-कलिका।
सक्रिय चित्-शक्ति = प्रभा।
असत्, अव्यक्त प्रकृति = अन्धकार, जिसमें घट आदि एकाकार हैं।
(चित्-शक्ति के संचार से) जगत् = सृष्टि = प्रभापात से घट आदि का आविर्भाव।

प्रभा की दो अवस्थाएँ हैं—कभी प्रसारण, कभी संकोच। दोनों ही सक्रिय अवस्थाएँ। तब प्रभा पृथक् होती है। जब प्रभा निष्क्रिय होती है, एकमात्र चैतन्य ही होता है। प्रभा अन्तर्लीन।

प्रकृति अन्धकार या अव्यक्त या जड है। उसमें चित्-शक्ति पड़ने से ही सृष्टि होती है। अतएव, जड भी है, परन्तु चित्-शक्ति के सम्बन्ध के विना वह जो है—यह नहीं कहा जा सकता। साधारणतः, हम जिसे जड कहते हैं, वह व्यक्त वस्तु है। इसलिए, प्रकाशमान है, इसलिए जन्य है, इसलिए उसमें चैतन्य है। है, इसीलिए उसे सत्ता-लाभ हुआ है, बोध हो रहा है—आदि। चैतन्य-वियुक्त होने से वह वस्तु असत् या अव्यक्त हो जायगी।

तब फिर सृष्टि-वैचित्र्य क्यों ? चित्-शक्ति आलोक की भाँति समभाव से पड़ती है। उसमें वैषम्य नहीं। अतएव, यह वैचित्र्य आलोक के बाहर है। केवल अन्धकार एक ही है। उसमें भी भेद नहीं। फलतः ज्ञात होता है—अँधेरे-उजाले में यह वैचित्र्य-शक्ति है। भगवान् की यह दूसरी शक्ति महामाया है, जिसके आवर्त्तन से अखण्ड सत्त्व से नियत खण्ड बाहर होता है, परन्तु अखण्ड का छेद नहीं होता। ये खण्डसत्त्व मूल जैसे हैं, अर्थात् दीपकलिका और प्रभा जैसे। यह प्रभा भी संकोच और विकासशील है। लेकिन, यह स्मरण रखना होगा कि अखण्ड सत्त्व में जो चित्-शक्ति है, खण्ड सत्त्व में भी वही चित्-शक्ति है। खण्ड सत्त्व से निःसृत चित्-शक्ति से ही शुद्ध जीव की दृष्टि में शुद्धधाम प्रकाशित होता है, उसके संकोच से उस दृष्टि से शुद्ध धाम का विलय होता है। अखण्ड शुद्धसत्त्व से निःसृत चित्-धारा को समेटने से सभी शुद्ध जीव के लिए ही शुद्ध धाम का लय सिद्ध होता है। सुतरां, शुद्धधाम का विकास और विलय बाह्यतः ऐशी शक्ति का कार्य है। और, आन्तरतः जीवशक्ति का कार्य।

प्रभा सक्रिय शक्ति है। इसके संकोच की सीमा है कलिका या निष्क्रिय शक्ति। यही शिव है। प्रसार की सीमा है जड मण्डल या अव्यक्त। ऐशी शक्ति का प्रसार अनन्त है; क्योंकि, वह जड से प्रतिहत नहीं होती। ऐशी शक्ति शुद्ध चैतन्य और शुद्ध जड—दोनों में जाती-आती है—संकोच और प्रसार के कारण। जब क्रिया नहीं रहती, तब जड-चैतन्य एकाकार होते हैं। यही स्वभाव है। और, क्रिया की अवस्था में एक छोर पर शिव, दूसरे छोर पर जड होता है।

खण्डसत्त्व अखण्डसत्त्व में आश्रित-सा रहे, तो जीवशक्ति की भी वही अवस्था होती है। वास्तव में, लेकिन जीव के शक्ति ही नहीं होती। जीव केवल आधार-भर है। शक्ति उसमें पड़ती है, बिखरती है, सिमटती है। यह भेदाभेद, असीम-ससीम-भाव है।

च्युत अवस्था में खण्ड सत्त्व प्राकृत सत्त्व या बद्ध जीव है—वह आश्रित नहीं। उसके संकोच या प्रसार—दोनों ही सीमाओं में मोह या अज्ञान या जीवत्व-लोप या जडत्व है।

२.८.२५ :

भगवान् या देवता के प्रवेश का क्रम यह है :

१. सालोक्य; २. सारूप्य; ३. सार्ष्टि; ४. सामीप्य; ५. सायुज्य।

सालोक्य माने एक ही लोक में रहना। लोक=आलोक, aura, अंगकान्ति। भगवान् के लोक में प्रवेश करना ही एक हिसाब से उनके अंग में प्रवेश करना हुआ। क्योंकि, उनका लोक भी उनकी देह की प्रभामात्र है। यही निर्विशेष ज्योतिस्वरूप है। इस ज्योति में धीरे-धीरे रूप का विकास होता है। तब, आप ही भगवद्‌रूप होना पड़ता है। कृष्णभक्त उस समय स्वयं कृष्णरूप पाता है। पहले केवल कृष्णप्रभा ही थी – वह प्रभा घनीभूत होकर अब रूप में परिणत हुई। रूप का विकास होने से क्रमशः उपास्य की शक्ति आविर्भूत होती है। वह ऐश्वर्यभाव है। अपने में ही उनका ऐश्वर्य प्रकाशित होता है। इस ऐश्वर्यावस्था के कट जाने पर पृथक् रूप से भगवान् का अनुभव होता है। पहले, दूरी के कारण ऐसा नहीं हुआ। अब सामीप्य-भाव है। इस अवस्था में ऐश्वर्य की स्फूर्त्ति नहीं होती। क्योंकि, परमेश्वर के समीप है। मूल के निकट रहकर ऐश्वर्य का विकास सम्भव नहीं। सामीप्य-भाव में भक्त दीन, भगवान् ईश्वर होता है। इसके पाँच स्तर हैं— भाव के अनुसार।

चरम स्थिति में सायुज्य या योगभाव। यह योगभाव ही नित्यभाव है। मूल में ये पाँच तत्त्व क्या हैं ?

१. ज्योति, सत्त्व, ज्ञान।
२. रूप।
३. शक्ति।
४. भक्ति।
५. रस।

प्रथम सत्त्वशुद्धि या ज्ञानलाभ की अवस्था है।

मनुष्य की सृष्टि की आलोचना कीजिए। देखेंगे, ये पाँचों हैं।

रस और भक्ति भाव की दिशा है।

ज्योति और रूप प्रकाश की दिशा है। उसमें ज्योति निर्विशेष प्रकाश या सत्ता-मात्र है। रूप सविशेष प्रकाश है।

६.८.२५ :

पूर्णशक्ति का एक अंश चंचल है। यही महामाया हैं। महामाया स्थिर, सम।

चंचल शक्ति के अधीन जीव = बद्धजीव।

चंचल शक्ति के अतीत जीव = मुक्तजीव।

मुक्तजीव भी महामाया के अधीन है।

महामाया की ओट के कारण ही मुक्तजीव में जीवत्-व्यपदेश है। महामाया की कृपा होने से मुक्तजीव उनकी गोद में जाकर उनसे एकाकार होता है। उनसे एकाकार होने से ही उस समय जीवभाव अव्यक्त होता है। वह शिव और शक्ति के मिलन की अवस्था है—

सायुज्य। क्योंकि, महामाया नित्यसंयुक्त अवस्था है, भेदाभेद। सायुज्य से ऐक्य में जाते ही शिवत्व—निर्माण।

माया के अतीत होने से ही मुक्तिपद।

चंचल शक्ति का हिसाब किया जा सकता है। समग्र विश्व का परिणाम नियत है। स्थिर शक्ति का हिसाब नहीं। स्थिर शक्ति intervene नहीं करने से, कृपा नहीं पाने से—भविष्य ठीक-ठीक कहा जा सकता है।

६.९.२५ :

स्थूल देह से बाहर होना हो, तो अक्षरेखा को पकड़ना ही होगा। क्योंकि, वही रेखा ऐक्यभूमि है। चित्तवृत्ति का ऐक्य। विक्षेप का हेतु है वासना या पंचभूत। भूतमिश्रण अनेक है। इसीलिए, विक्षेप पाँच प्रकार का है। भूतप्रधानतावाली चित्त की ऐक्यभूमि भी पाँच है। भूतरहित चित्त की—शुद्ध चित्त की—ऐक्यभूमि एक ही है (= भ्रूमध्य)। यही वास्तविक ऐक्यभूमि है।

देह से बाहर होने के लिए पहले विक्षिप्त मन को जमा लेना पड़ता है। बाहर होना = नये स्तर में प्रवेश करना। एक स्तर से दूसरे स्तर में जाने के लिए पहले स्तर की सारी शक्ति को एकत्र करना होता है। बहु की गति नहीं होती। बहु जब एक में परिणत होगा, तब वही एक हो जायगा। जाने के पहले संहार जरूरी है। सृष्टि = बहु होना। संहार = एक होना। दोनों ही वासना या स्थूल के राज्य में। एक में वासना है, इसलिए बहु होता है। बहु के एक होने से भी वासना रहती है। दोनों ही स्थूल। वासना जब नहीं रहेगी, तब स्थूल के अतीत होगी। ब्रह्मपथ मिलेगा। नहीं तो जन्म-मृत्यु चलती रहती है। स्थूल का व्यापार चलेगा।

साधारण जीव जब मरता है, तब उसकी सब शक्ति एकत्र होती है—अक्षरेखा का सहारा लेकर, वासना या स्थूल तत्त्वविशेष के प्राधान्य के अनुसार अक्षरेखा के बिन्दुविशेष में जमता है। भ्रूमध्य में प्रतिक्रिया अवश्य ही होती है। वहाँ से चारों ओर अनगिनत रेखाएँ चली गई हैं। वह भावानुरूप रेखा को पकड़कर बाहर होता है। प्रत्येक रेखा के अन्त में एक दृश्यलोक है। उसी लोक में गति होती है आदि। योगी अपनी इच्छा के अनुसार उन लोकों में जा सकते हैं। लोक असंख्य हैं—सूत्र के सहारे अक्षरेखा से सबका लगाव है। जैसी इच्छा, वैसा रेखा-सम्बन्ध, वैसे ही दृश्यलोक में गति। मन की ही गति।

मन अगर शुद्ध वैराग्ययुक्त हो—यदि स्थूल वासना न हो, तो वह कहाँ जायगा? इच्छा नहीं होने से गति भी नहीं, दृश्यलोक भी नहीं, आलम्बन नहीं—चारों ओर शून्य आकार। मन निरालम्ब, निष्क्रिय, गतिहीन यही प्रकृतिलय है।

मन इसके ऊपर अपने से नहीं जा सकता। पहले के स्थान में ही पुरुषकार की सीमा है। ऊपर के राज्य में जाने के लिए सहारा लेकर जाना पड़ता है—गुरु का सहारा।

पहली अवस्था निराश्रय है। इस अवस्था में मन की प्रधानता नहीं होती। चैतन्य की प्रधानता होती है—मन आश्रित होता है। यह मभ्रूध्य से सीधे ऊर्ध्वगति है।

साधारण लोग मृत्यु के समय ब्रह्मपथ नहीं पाते—ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा नहीं चलते। सुषुम्णा की अनन्त शाखाएँ चारों ओर सूर्य-रश्मि के रूप में बिखरी हुई हैं—उन्हीं में किसी को पकड़कर जाते हैं। ये पथ वासनायुक्त हैं, इसलिए दृश्यदर्शन, भोग आदि लाभ होते हैं। सारा ब्रह्माण्ड ही सूर्यरश्मिमय है—जहाँ सूर्यरश्मि नहीं, वह अव्यक्त है, तम, सृष्टि के बाहर। उसके ऊपर चित्-राज्य है।

वासना का त्याग हुए विना ब्रह्मपथ पाने का उपाय नहीं। यद्यपि वह पथ भी अक्षरेखा से ही आरब्ध हुआ है। वासना-त्याग न करके जो एकाग्रता होती है, उससे ब्रह्म-पथ का आद्यबिन्दु-लाभ होता है। गति होने से, वहाँ से ब्रह्मलोक जाया जाता है। गति नहीं होने से प्रकृति-लय, स्थिति। वासना रहने से सूक्ष्म देह-त्याग करके लोकलोकान्तर में गति होती है। मृत्युकाल में ही हो, योगी की ही हो—स्थूल देह के त्याग से ही सूर्य-रश्मिमाला की किसी रश्मि में, स्थानविशेष में अवस्थिति होती है। वहाँ से समग्र स्थूल जगत् दिखाई पड़ता है। स्थूल जगत् उसी में आश्रित है। अपना स्थूल शरीर भी उसी जगत् के अन्त-र्गत है। जो स्थान या दृश्य देखने की इच्छा होती है, उसके साथ वैसी ही रेखा का उदय होता है। रेखा = नाड़ी। अन्त में वह दृश्य। इन रश्मियों को पकड़कर ऊपर नहीं उठा जा सकता। वास्तविक ऊर्ध्वरश्मि सब रश्मियों से ऊपर की ओर सरल भाव से गई है। वह शून्य है—कोई दृश्य नहीं। उसे पकड़ने से फिर स्थूल नहीं दिखाई देता है। उस शून्य को पार करने से ही परमात्मा-सविता। रश्मि सविता से ही आती है। परन्तु, रश्मि से सविता दिखाई नहीं पड़ता। शून्य नजर आता है। सविता से केवल सविता ही दिखाई देता है—शून्य भी नहीं, रश्मि भी नहीं।

२८.९.२५ :

महासत्ता = व्यापकता या ब्रह्म।

यह खण्ड सत्ता को व्याप्त कर सर्वत्र है। परन्तु, अभी जाना नहीं जाता; उपलब्धि नहीं होती, इसलिए असत्कल्प है। यही पारमार्थिक सत्ता है। हमारी अनुभूयमान सत्ता इसी की तरंग है, विवर्त्त आदि है—मिथ्या।

यही महासत्ता अर्थ है। यही शिव हैं। इन्हें जगाना नहीं होता; क्योंकि इनके निद्रा नहीं। यह सदा एक-से ही विराजमान हैं। इनकी उपलब्धि के लिए आलोक चाहिए। यह आलोक आप-अपने को प्रकाशित करता है, और ब्रह्म को भी करता है। ब्रह्म = महासत्ता, जिसके गर्भ में अनन्त खण्ड सत्ता है—वे भी प्रकाशित होती हैं। क्योंकि, **'एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'** यह आलोक ही शक्ति या कुण्डलिनी या शब्द (स्फोट) है। यह भी नित्य हैं। इनकी दो अवस्थाएँ हैं :

(क) अव्यक्त और (ख) व्यक्त।

अव्यक्त शक्ति या शब्द महासत्ता को प्रकाशित नहीं कर सकता। क्योंकि, वह स्वयं अप्रकाशित है, इसलिए अर्थ-क्रियासमर्थ नहीं। दूसरे को कैसे प्रकाशित करेगा ? व्यक्त शक्ति कर सकती है। व्यक्त शक्ति शिव ही हैं, पर शिव की प्रापक।

शक्ति जब अव्यक्त होती है, तब शक्ति जैसी निष्क्रिय होती है, वैसी ही महासत्ता भी असत् होती है। अर्थात्, चिदंश जब अव्यक्त है, तब सदंश भी अप्रकाशमान, अविद्यमान, अज्ञायमान—असत्। अव्यक्त चित्=अचित्। अतएव, जो अचित् है, वही असत् है। चित् के जागने से ही सत् का प्रकाश होगा। अतएव, निष्क्रिय शक्ति ही जडत्व है, तम। सक्रिय शक्ति ही जडत्व का विनाश है, तमोनोदन या रज। उद्बुद्ध शक्ति ही चैतन्य, सत्त्व, प्रकाश, स्वयम्भू, शिव हैं। इसीलिए, जडत्व=असत्।

शक्ति का जागरण=शक्ति की शिवभावापत्ति, शिव से मिलन—यही शृंगार या आनन्द है।

स्फोट जबतक अव्यक्त है, तबतक अर्थप्रकाश नहीं होता। नाद से स्फोट अभिव्यक्त होता है – अर्थात्, साथ-ही-साथ अर्थ का प्रकाश होता है। स्फोट की पूर्णाभिव्यक्ति=परमार्थ का प्रकाश। वह अवस्था क्या है ?

वैषम्य, वाक् और अर्थ=परस्पर संसृष्ट—यही विचित्र रस या आनन्द है।

साम्य, वाक् और अर्थ=परस्पर विविक्त—यही समरस या साम्य है।

९.१०.२५ :

सूर्य=विवस्वान्।

१. जो सूर्य से उत्पन्न होते हैं, वह वैवस्वत। वह कौन ? वैवस्वत=यम=काल=अग्नि=रुद्र (कालाग्नि-रुद्र)। **'कालः पचति भूतानि'** इससे जाना जाता है कि काल अग्निस्वरूप है। यह महासंहारक रुद्र हैं। यह जगत् के परिणामसाधक हैं।

२. और, सूर्य से उत्पन्न होते हैं, सोम या चन्द्र। इसीलिए, सूर्य=सविता, सोम=सुत। यह जलस्वरूप हैं। यह सृष्टिसाधक हैं।

बीच में स्थितिरूप स्वयं। यह विष्णु या नारायण।

३०.१०.२५ :

गुणातीत	१. पूर्णवस्तु
सत्त्व	२. पुरुष
रज	३. प्रकृति
तम	४. अविद्या
कार्य	५. विकार

(१) से (२) निकलता है । उस समय प्रकृति नहीं । यह अद्वैत-सृष्टि है । परमहंस-पद । कौमार-भाव । ज्ञान-प्राधान्य । पुरुष निष्क्रिय, स्थिर । पूर्ण वस्तु के साथ पुरुष के संघर्ष से उत्पन्न होती है प्रकृति । बाहर होती है पुरुष से । पूर्ण वस्तु और पुरुष में पुरुष गर्भधारक है । प्रकृति का आविर्भाव पुरुष से होता है ।

पुरुष और प्रकृति में संघर्ष (मैथुन) होता है । उससे अविद्या का उदय होता है । प्रकृति चंचला है । पुरुष स्थिर । दोनों के संघर्ष से अविद्या जनमती है । पुरुष प्रकृति के मोह से मोहित—बद्ध है । यह मोहित पुरुष ही अविद्या है ।

प्रकृति और अविद्या में संघर्ष होने से ही सारे विकारों की उत्पत्ति होती है ।

८.११.२५ :

पुरुषकार = पुरुष की स्वाधीन इच्छा, इच्छाशक्ति ।

दैव—नियति, प्रकृति ।

पुरुष जब द्रष्टा हो जाता है, तब उसकी क्रिया ही लीला होती है—उस क्रिया में बाधा नहीं होती, बन्धन नहीं होता । वह दैव के अधीन नहीं ।

पुरुष जब मोहित होता है, तब वह प्रकृति के अधीन होता है, प्रकृति द्वारा चालित, बद्ध होता है—प्रकृति के हाथ का खिलौना होता है । यह है, दैव का राज्य । बद्ध पुरुष जबतक बद्ध है, तबतक वह दैव का अतिक्रमण नहीं कर सकता । यहाँतक कि उसका वर्त्तमान कर्म भी दैवाधीन होता है ।

१.१२.२५ :

मन = शक्ति; आत्मा = शक्तिमान् ।

मन जब समसूत्र से आत्मा से मिलित होता है, तब अद्वैतावस्था होती है—सामरस्य । उसमें चैतन्य-स्फूर्त्ति रहती है, मन का लय नहीं होता । उस समय मन आत्माकार होता है, चैतन्यमय होता है । इच्छा होते ही मन बाहर निकल सकता है, और बाहर होने से भी उसे कोई रोकनेवाला नहीं । मन आत्मा का समकक्ष है—तुल्यबल नहीं होने से मिलने पर यह अवस्था नहीं हो सकती । समान बलवाला मल्ल जैसे किसी को अभिभूत नहीं कर सकता, ठीक वैसा ही । यही स्वाधीनता या स्वातन्त्र्य है ।

लेकिन, मन का बल यदि कम हो और उस समय यदि आत्मा से मिलन हो, तो मन अभिभूत हो जाता है । प्रबल से यदि दुर्बल मिलने जाय, तो यही दशा होती है । यह चेतनाहीन जड अवस्था है । यह निर्वाण या मोक्ष है ।

सुतरां, निर्वाण को टालना हो, तो मन की सबलता आवश्यक है । इसीलिए, शक्ति की उपासना होती है । जिस अनुपात में मन शक्तिमान् होगा, उसी अनुपात में यह आत्मा से समसूत्र में मिल सकेगा । शक्ति की क्रमिक वृद्धि से मिलन की गम्भीरता सम्पन्न

होती है। इसीलिए, साम्य अवस्था में भी नित्यक्रम है। चेतना ही शक्ति है। आनन्द ही मिलन है। स्वभाव ही आत्मा है। जीव ही मन है। चैतन्य या शक्ति के संचार-मात्र से ही इस साम्य का उदय होता है। वही शान्त भाव। इस संचार के नहीं होने से मन बलहीन होता है—उस अवस्था में आत्मलाभ नहीं होता।

आत्मा से यथार्थ साम्य एकमात्र महाशक्ति का है—दोनों तुल्यबल हैं, समरस। मन महाशक्ति से उद्भूत है। मन महाशक्ति का जितना ही समीपवर्त्ती होता है, उतना ही अधिक रस का आस्वादन होता है। महाशक्ति नित्य सर्वरस का आधार है, माधुर्य की खान। महाशक्ति की ओर जाने से मन का प्रसार होता है—क्रमशः चैतन्य-विकास होता है। महाशक्ति की ओर न जाकर सीधे आत्मा में जाने से निर्वाण होता है। सीधे आत्मा में जाने का मतलब है विषय का त्याग। विषय के त्यागते ही मन आत्मा में लीन होता है। शून्य में लय, जडत्व। इसीलिए चैतन्य को पकड़ने के बाद ही विषय को छोड़ना चाहिए—तब फिर शून्य में लय नहीं होता। गीता में है, 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'। विना अवलम्ब के मन नहीं रहता। इसलिए, आश्रित भाव-लाभ ही चैतन्य-संचार है। महाशक्ति अवश्य निराश्रय है, वह स्वयं मन का आश्रय है। इसीलिए, उनकी गोद में बैठकर मन आत्मा का रस ग्रहण करता है, स्वच्छन्दता पाता है। माँ का सहारा लिये विना ज्ञान, भक्ति—कुछ भी तो नहीं हो सकती।

८.१२.२५ :

अभेद-बोध और भेद-बोध।

मूल = केन्द्र, बिन्दु। चारों ओर असंख्य बिन्दु हैं। जब वे केन्द्रमुखी नहीं होते हैं, तब उनका अस्तित्व मालूम नहीं होता। यही अद्वैत-भाव है, अभेद। जब वे बिन्दु बहिर्मुखीन होते हैं, तो उनका पार्थक्य समझ में आता है, अर्थात् वे सृष्टि के अन्तर्गत हुए—द्वैत हुआ। अपनी सत्ता समझ में आते ही यह समझना होगा कि उनसे भेद हुआ। केवल उसमें लक्ष्य रहने से अपनी स्मृति नहीं रहती। अपने को खो दिया-सा भाव। मग्नभाव—साम्य।

तिर उठते ही वैषम्य आया—निजत्व, बहुत्व, सृष्टि। तिराता कौन है? डुबाता कौन है?

१६.१२.२५ :

संसार के सारे ही रूप भोग्य हैं—इसीलिए चन्द्र-कलात्मक हैं। इनका कोई भोक्ता है। यह भोग होता है, इसीलिए रूप का विकार होता है—क्षय होता है। भोक्ता है सूर्यमण्डल का अग्नितत्त्व।

यह अग्नि ही कालाग्नि या रुद्र है। इसी से संहार होता है। यह काल-रूपी अग्नि ही विकार-सम्पादक है।

जहाँ चन्द्रकला है, किन्तु काल नहीं है, अग्नि नहीं है—वहाँ विकार नहीं है—क्षय नहीं है। वह कला नित्यकला है। नित्य है, इसलिए षोडशी है या नित्या, अमृता कला। उसके रूप आदि अक्षय हैं, अविकारी।

षोडशी का कोई भोक्ता नहीं, इसलिए षोडशी कुमारी है।

जहाँतक भोग है, वहाँतक प्रकृति-पुरुष-भाव है। विरोध है, द्वन्द्व है। उसके ऊपर भोग नहीं, द्वैत नहीं।

ज्ञान में अज्ञान कुछ है ही। अज्ञान में भी कुछ ज्ञान है ही। दोनों में विरोध है, परन्तु दोनों में अटूट बन्धन भी है। यह विरोध और मैत्री समान रूप से स्थायी है। क्योंकि, एक दूसरे से बड़ा होना चाहता है। चूँकि यह इच्छा है, इसलिए वह बड़ा होता है–सम्बन्ध में रहता है, दूसरा छोटा होता है। जब इच्छा नहीं रहती, तब सम्बन्ध नहीं रहता। विवेक आता है। और तब दोनों समान हो जाते हैं। कोई छोटा-बड़ा नहीं। वैसे में बीच का सूना रास्ता प्रकाशित होता है। महाशक्ति उद्बुद्ध होती हैं। महाशक्ति के निकट ज्ञान-अज्ञान बराबर हैं; क्योंकि वह मध्यस्थ हैं, साम्यरूपा—वहीं दर्शक हुआ जा सकता है। वह अज्ञान को जानती हैं। ज्ञान अज्ञान को नहीं जान पाता—अ-ज्ञान को विषय बनाने से ही अज्ञान नहीं रहता। रोशनी से अँधेरे को खोजकर बाहर नहीं निकाला जा सकता।

२३.१२.२५ :

प्रकृति स्वयं दिव्य—शुद्धसत्त्वात्मक—देह विकसित करती हैं। क्रम इस प्रकार है :

१. जड़—तम
२. सत्त्वस्फुरण—जीवभावलाभ
प्रथमावस्था
३. अधिकतर स्फुरण—जीव का
उन्नततर स्तरलाभ
× ×
× ×
४. मनुष्यत्व मनुष्यत्व

[देहत्याग करके उठने के समय जीव स्थूल के सार को सूक्ष्म में ले जाता है। इस प्रकार, मानव-देह में अन्य सब देहों का सारांश है। दिव्यदेह में सारे तत्त्वों की ही समष्टि है—फिर भी अखण्ड।]

इतना तक आरोह-प्रणाली से अबाधित भाव से ऊपर उठता है।

यहाँ कर्मराज्य—चारों ओर का मार्ग खोलता है। यदि कर्त्तृत्व का त्याग करके प्रकृति की प्रेरणा से चलता है, तो पुरुषकार के त्याग के लिए पुरुषकार करता है, तभी फिर प्राकृतिक विकास आरम्भ होता है। इसका फल होता है :

५. देवत्व देवत्व
=शुद्धसत्व

नहीं तो प्रलय, मोक्ष, निर्वाण —अथवा नित्यसंसार।

२४.१२.२५. :

नित्यलीला इतिहास का विषय नहीं। क्योंकि, यह देश और काल के ऊपर है। सदा ही एक भाव-स्फुरणात्मक आनन्द-उच्छ्वास चलता है—वहाँ देश-काल का बोध नहीं है। लेकिन, फिर भी बोध है, इसीलिए यह मायातीत चैतन्य है। साक्षी उसका द्रष्टा है। उस लीला में सभी आत्महारा है। आत्मबोध वहाँ रह नहीं सकता; क्योंकि वह उन्माद का स्तर है। बोध है, पर आत्मबोध नहीं। जाने कैसे एक महाभाव में सदा मग्नता होती है। यह ज्ञानातीत अ-ज्ञान है।

ईश्वर उस लीला के भोक्ता और अधोदेश में संचारकर्त्ता हैं।

अव्यक्त कहाँ है, इसका कुछ ठीक नहीं। दोनों ही एक। उजाला और अँधेरा। उजाला ज्यादा होने से अँधेरा उसमें मिल जाता है और अँधेरा ज्यादा होने से उजाला उसमें मिल जाता है। जो ज्यादा होता है, वही आत्मप्रकाश करता है। मूल में दोनों एक ही। एक भाव—फाँक में साक्षी।

जीव जबतक घूमता है—तबतक।

२६.१२.२५ :

सत्त्व = A (प्रधान), a (अप्रधान)

रज = B ,, , b→ ,,

तम = C ,, , c→ ,,

A B C

Abc, Bca, Cab, ABC, BCa, cAb

= abc

२८.१२.२५ :

किसी एक चीज को धूप में रखा जाय, तो उसकी छाया मिलेगी। उस चीज को क्रमशः यदि सूरज की ओर लिया जाय, तो छाया बिखरेगी—अन्त तक वह दिखाई नहीं देगी, उजाले में विलीन हो जायगी। यदि वह चीज सूर्यगत हो, तो जहाँ-जहाँ सूरज की रोशनी है—सर्वत्र उस चीज की छाया भी रहेगी, परन्तु दिखाई नहीं पड़ेगी। अतएव, सूरज में जो कुछ भी है, वह सूरज की रोशनी में है।

वह चीज = क

उसकी छाया = क१

सूर्य = ० या बिन्दु

सूर्यप्रभा = प्रभा या चक्र।

प्रकृति-स्थल में क = सूक्ष्म या आत्मा।

क१ = स्थूल।

'क', 'ख' आदि सभी सूर्य में हैं। सूर्यवत्, समभाव से—क¹, ख¹ आदि सभी सूर्यप्रभा में मिलते हैं—हैं। 'क' के उतरते ही क¹ घनीभूत होता है, पूरे प्रभामण्डल से एक जगह इकट्ठा होता है—सृष्टि होती है। जमने के समय अन्यान्य परमाणुओं की छाया उसकी सहायता करती है। यह 'क' का देहबन्ध-भाव है। 'क' को सूर्य की ओर लेने से 'क' की देह लीन हो जायगी, बिखर जायगी।

जहाँतक मध्याकर्षण है, वहाँ से स्थूल या छाया का आरम्भ है। उसके ऊपर विशुद्ध सूक्ष्मभाव। पृथ्वी = स्थूल। मध्याकर्षण-सीमा तक पृथ्वी। 'क' में उतरते-उतरते उसी स्तर में पड़ते ही छाया विकीर्ण करेगी। अर्थात्, 'क' की देह सूक्ष्म है—ज्योतिर्मय, दिव्य —वह भी प्रकाश-रूप में सूर्यप्रभा में बिखरा हुआ है।

मध्याकर्षण की सीमा तक भूताकाश (= व्योम); ऊपर चिदाकाश (= महाव्योम, परव्योम)।

भूताकाश तक संसारचक्र है, इसलिए कि स्थूल सम्बन्ध है। उसके ऊपर विशुद्ध सूक्ष्म जगत्।

'क' जब स्थूल होने के लिए उतरता है, तब एक line पकड़कर उतरता है। अन्यथा मिश्रण होने से प्रकाश या स्थूलत्व नहीं होता। सृष्टि नहीं होती। केवल छाया-रंग से सृष्टि नहीं होती। सत्त्व (= 'क') चाहिए। यह छाया विकार है। सत्त्व या गुण या प्रकृति = उपादान।

२९.१२.२५ :

जब किसी चीज को जलाया या नष्ट किया जाता है, तब उसका spirit, जो अदाह्य है, देहमुक्त होकर स्वभावतः उड़कर ऊपर चला जाता है। वह spirit—राशि जहाँ है, वहीं जाकर मिल जाता है। मध्याकर्षण जगत् में था—केवल देह के बन्धन में बँधकर।

उस spirit को फिर उतारने से उसकी पहली देह गठित होगी। अबतक, उसकी देह के परमाणु विश्वमय होकर बिखरे थे, सभी चीजों में मिले हुए थे। जिसमें थे, वही होकर—अपृथक्भाव से थे। होकर प्राबल्य नहीं था। Spirit के उतरने पर उसकी देह के particle सभी स्थानों से आकर फिर इकट्ठे होंगे और ठीक पहले की तरह सम्मिलित होंगे। order का change नहीं होगा।

लेकिन, एक बात है। Spirit body गठित होने के बाद उतरते ही वह natural body बनेगी। क्योंकि, देह सिद्ध हो गई—स्थूल कणों का परस्पर सम्बन्ध हुआ।

Spirit body दो प्रकार की है :

१. जब उसमें स्थूल कणाभास होता है।

२. जब उसमें स्थूल कणाभास नहीं होता।

पहला है लिंगशरीर या astral body; दूसरी दिव्यदेह; परन्तु यह प्रायः चलती नहीं। लिंगशरीर से स्थूल को हटाते समय लिंग-कण आप ही हट जाते हैं। फलस्वरूप, निर्वाण होता है। यदि लिंग को जमा लिया जाय, लेकिन साथ-ही-साथ स्थूल को हटाया जाय, तो स्थूल के हट जाने पर भी घनीभूत लिंग रहता है। लिंग लीन नहीं होता। यह लिंग अब पारिभाषिक लिंग नहीं—यह दिव्यदेह है।

यह जमाना बहुत तरीके से हो सकता है। भाव और उसके विषय के अनुसार उसका shape ठीक होता है। जैसा भाव, लिंग वैसा ही आकार प्राप्त करता है। भाव के जम जाने से, स्थूल के शून्य होने से, भाव में foreign matter नहीं रहने से, भाव होने से—भावदेह विकसित होती है। वह नित्य, एकरस, चिन्मय है।

[१]

२.१.१९२६ :

मृत्यु एक भयानक आघात है। उस आघात से स्थूल देह का पात होता है—लिंग से स्थूल का योग विच्छिन्न होता है। मृत्यु = अ-ज्ञान।

महामृत्यु और भी भयानक आघात है। उससे लिंग से सूक्ष्म का योग विच्छिन्न होता है। महामृत्यु = ज्ञान।

परन्तु, एक बात है। स्थूल-त्याग होता तो है, पर लिंग में स्थूलाभास रहता है, इसलिए फिर स्थूल में अवतरण होता है। यह स्थूलाभास ज्ञान के द्वारा कटता है।

इसी प्रकार, लिंग-त्याग होने से भी सूक्ष्म में लिंगाभास रहता है। इसलिए, सूक्ष्म से फिर लिंग में उतरने की आशंका रह जाती है। सूक्ष्मावस्था में ज्ञान पूर्णमात्रा में ही रहता है, किन्तु उससे लिंग-निवृत्ति नहीं होती। यह लिंगाभास भक्ति के विना नहीं जाता।

अतएव, भक्ति से ही आत्मा सूक्ष्मलिंग-वर्जित हो सकती है। उस स्थिति में सूक्ष्म = विशुद्ध, परम शुद्ध। लिंग के रहने से ही प्रयोजन रहता है। अभाव रहता है। ज्ञान से भी अभाव नहीं मिटता।

असल बात है, नीचे के खिंचाव को अभिभूत करना हो, तो ऊपर का सदाकालीन खिंचाव चाहिए। वही भक्ति है। वैसे में फिर नीचे का खिंचाव काम नहीं करता, इसलिए पतन नहीं होता।

[२]

सूर्य स्थिर है, पृथिवी घूमती है। आत्मा स्थिर है, लिंग घूमता है। लिंग सूर्य की प्रदक्षिणा करता हुआ पश्चिम से पूरब को जाता है। इसी से लगता है कि सूर्य पूरब से पश्चिम को जाता है। जहाँ उदय होता है, उससे समसूत्र विपरीत दिशा में अस्त होता है।

अर्थात्, १८०° दूर। वस्तुमात्र का ही स्थिति-काल १८०° है। उसके बाद अव्यक्त है—यही अर्द्धचन्द्र या नाद है। बिन्दु (चन्द्रबिन्दु) स्थिर।

आयु जानने का यही उपाय है। जो कुछ भी प्रकाशित होता है, उसके duration के निरूपण का यही उपाय है।

पूरब को जाना=सामने जाना, आगे बढ़ना। सारी चीजें ही सामने की ओर बढ़ रही हैं, लेकिन एक बिन्दु को दक्षिण में रखकर। बिन्दु चूँकि स्थिर है, इसलिए यह मार्ग अर्द्धवृत्ताकार है।

बात एक ही है।

जो चाहते हैं, वही हमारा बिन्दु है। उसी की प्रदक्षिणा करते हैं, निरन्तर करते हैं। जो चाहिए—मूल शुद्ध बिन्दु ही उस आकार में प्रकाशित होता है।

अतएव हम वस्तु की (आत्मा की ही) प्रदक्षिणा करते हैं, कामनावश काम्य वस्तु की करते हैं।

जहाँ उदय है, उसी के ९०° बाद ही पूर्ण प्रकाश है—फिर ह्रास।

इसीलिए ठीक दोपहर को ही सूर्य के अपने रूप का कुछ आभास मिलता है, सबेरे या तीसरे पहर नहीं। क्योंकि, तब गतिचक्र होता है।

जब भी आग का focus कीजिए, वह मध्याह्न-सूर्य ही मिलेगा।

४.१.२६ :

जब किसी चीज से प्रकाश का विकीरण हो, तब से सृष्टि का आरम्भ। सृष्टि में सब वस्तु का ही विकीरण है। बिन्दु यदि केवल बिन्दु हो, तो सृष्टि नहीं। उसका प्रकाश नहीं, यद्यपि वह स्वप्रकाश है। बिन्दु का चक्र ही बिन्दु है। बिन्दु ही फाँक है, शून्य। इसीलिए, जहाँ सिन्धु है, वही परब्रह्म है।

बिन्दु के प्रकाश-काल को कम्पन या कालशक्ति लाती है। बिन्दु तो काल के ऊपर है, लेकिन काल उसे स्पर्श करता है—कैसे ?

जो रोशनी नहीं बिखेरता, उससे कुछ देखा नहीं जाता है। वह केवल अपने ही रहता है। जिसपर डालिए, वह दीखेगा नहीं, सिर्फ वह प्रकाश दीखेगा। चारों ओर शून्य हो जाता है। महाशून्य। नहीं तो घनीभूत प्रकाश दृश्य नहीं होता।

५.१.२६ :

जहाँ से सृष्टि होती है, वहाँ लय नहीं होता।

अतीत और अनागत एक नहीं।

लकड़ी में आग है—वह आग सोई रहती है, निष्क्रिय। लकड़ी में दबी होती है। घर्षण आदि से जब वह जगेगी, तब काम करेगी—अर्थात्, लकड़ी को भस्म करेगी और

जगी हुई आग महाजाग्रत् अग्निराशि में जा मिलेगी। दुबारा वह सुप्त नहीं होगी। परन्तु, एक बात है। उसे—जाग्रत् अग्नि को—फिर से उतारा जा सकता है। उतरते ही लकड़ी उत्पन्न होगी। अतएव, जाग्रत् अग्नि में भी लकड़ी का अंश विद्यमान था। सभी सुप्त अग्नि जगने पर महा अग्नि में जाता जरूर है, लेकिन उसमें लकड़ी आदि का अंश रहता है। यदि आग नहीं रही होती, तो वह सृष्ट नहीं होती।

७.१.२६ :

जड = पाताल।
जीव = भू, मर्त्य।
ईश्वर, देव = स्वर्ग।

जीव ईश्वर का कण है, पाताल में आबद्ध है। उसका उद्धार करना होगा। जड-सम्बन्ध का त्याग होने से ही वह स्वर्ग जायगा। मान लीजिए, N = चैतन्य, S = जड।

N से S का योग होने से S के गर्भसंचार हुआ—फलस्वरूप जीव का जन्म। जनमते ही जीव उठता है—उठता है मनुष्य तक। बाद में पुरुषकार विकसित होता है। और, तब उसके त्याग से फिर उठता है—नहीं तो घूमता है, एक ही भूमि में रहकर। N और S मिले—जब अक्षरेखा अनन्तस्थ है, अर्थात् वृत्ताकार है। तब N और S एक ही बिन्दु। कल्पना से दो। तभी जीव-सृष्टि। अनन्त से जीव-सृष्टि होती है। मूल में होती है कल्पना—जिसमें N और S दो होता है, वृत्त सरल रेखा में परिणत होता है।

N या ऊर्ध्व बिन्दु के उद्‌गमन का अन्त नहीं—वह जितना उठे, उठ सकता है। फिर, अनन्त में प्रविष्ट होते ही, कल्पना-त्याग से ही, ऊर्ध्वगमन नहीं रहता। तब ऊर्ध्व और अधोबिन्दु एक होता है, सरल रेखा वक्र होती है। फलस्वरूप, बिन्दु चक्र का केन्द्र हो जाता है—जहाँ N और S एकाकार हैं। यही लीलाचक्र है। अनन्त के विना लीला-चक्र का प्रकाश नहीं, यद्यपि बिन्दु स्थिर है। लीला-मण्डल के बाहर वृत्त नहीं। सरल-रेखा। ऊर्ध्वबिन्दु = ईश्वर। यह ऐश्वर्य आपेक्षिक है। क्योंकि, N की उद्‌गति की सीमा नहीं—पर, ऊर्ध्वबिन्दु = जीव।

११.१.२६ :

बाहर नहीं होने से कोई किसी को देख नहीं पाता—इन्द्रिय द्वारा या इन्द्रिय-भावित मन द्वारा। सूर्य दृश्य हैं, अतएव ये बाह्य हैं। यह बाहर होते हैं, किरण-रूप में विकीरित होते हैं, रश्मि-रूप में बिखरते हैं। नहीं तो यह इन्द्रियगोचर नहीं होते। वास्तव में, सूर्य (= सूक्ष्म), जहाँ विकीरण नहीं—वहाँ दृश्य नहीं। वहाँ वह स्वप्रकाश आत्मा है। जब सूर्य दृश्य है, तब द्रष्टा है। लिंगात्मा—शुद्धात्मा दोनों के साक्षी, वही परमात्मा।

प्रकृत सूर्य = आत्मा।

उससे संलग्न एक स्तर है—वह है शुद्ध सत्त्व। उसके बाहर मिश्रसत्त्व। शुद्धसत्त्व एकरस है, सदा युक्त—वहाँ विकीरण नहीं। मिश्रसत्त्व एकानेक—ऊर्ध्वमुख में एकमुख, निम्नमुख में बहुमुख। एक मुख से निरन्तर तेज ग्रहण करते हैं—दूसरे मुख से बिखेरते हैं। यह बहुमुखता रजोवश है। बाहर होकर जहाँ तेज का लय होता है—वह तम है।

मिश्रसत्त्व का भेद किये बिना जो दृश्य होता है, वह प्रकृत सूर्य नहीं—छाया-मात्र है। यह मिश्रसत्त्व नहीं होता, तो जगत् का ध्वंस हो जाता।

१३.१.२६ :

असीम में विरोध नहीं है। सीमा होने से ही दो शक्तियों में विरोध रहेगा। अन्तर्मुख, बहिर्मुख; केन्द्रमुख, बाह्यमुख; विद्या-अविद्या। भला-बुरा, छोटा-बड़ा आदि।

यह विरोध ही वैषम्य है। जहाँ सीमा है—वहीं दोनों छोर-भेद से ही असीम हैं। अणु = एक प्रान्त, महत् = दूसरा प्रान्त—उसके अतीत = असीम। सीमाबद्ध, अर्थात्, मध्यम परिमाण—अर्थात्, अणु से महत् तक। यह व्यक्त है। असीम = अव्यक्त।

संकोच की सीमा अणु है, प्रसार की सीमा है महत्—अतीत होने से ही असीम। जहाँ संकोच भी नहीं, प्रसार भी नहीं। यही श्वास-प्रश्वास, यातायात, प्राणापान-क्रिया, सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि यावतीय द्वैत हैं।

इसीलिए, प्रत्येक वस्तु में विरुद्ध शक्ति खेलती है। एक ओर भार पड़ने से ही दूसरी ओर हलका होता है। जिधर झुकता है, उधर भारकेन्द्री हुआ।

सूर्यविज्ञान

१७.१.२६ :

कारणव्यापार द्वारा अव्यक्त कार्य की व्यंजना होती है। कारणव्यापार = निमित्त आदि का व्यापार। कारण जब निष्क्रिय होता है, अथवा सदृश परिणाम-विशिष्टमात्र होता है, तब कार्य अव्यक्त रहता है। कारण का मतलब गुण ही लीजिए, या पंचभूत ही लीजिए—जब वह निष्क्रिय है, तब कार्य अव्यक्त है। कार्य को व्यक्त करने के लिए कारण को क्षुब्ध करना होगा—उसे विसदृश परिणाम-युक्त करना होगा। और, यह चित्-शक्ति के संचार के बिना नहीं होता। अर्थात्, चित्-शक्ति का संचार होने से ही वह कारण ही व्यापृत होकर विसदृश परिणाम-लाभ करता है, इसीलिए सृष्टि होती है।

चित्-शक्ति का संचार तो कर्ममात्र की ही उत्पत्ति के लिए आवश्यक है। कार्यभेद का नियामक कौन है? मूल कारण समभावापन्न है। वह चित्-शक्ति के अनुप्रवेश से क्षुब्ध होगा। लेकिन, भिन्न-भिन्न रूप से क्षुब्ध क्यों होगा?

व्यापक या स्वरूप-चैतन्य का अनुप्रवेश नहीं होता। आंशिक चैतन्य या चैतन्य शक्ति का हो सकता है। आंशिक चैतन्य बहुत है और आपस में अलग-अलग है। इस बहुत्व और पार्थक्य का मूल है लिंगभेद या सत्त्वभेद।

इस विभिन्न बहुसत्त्व में - चैतन्यांश एक है। लिंगांश बहु।

यह बहुसत्त्व अखण्ड सत्त्व का अंश है, वहाँ से अखण्ड सत्त्व की प्रेरणा से वह कारण-समुद्र में पतित होता है। कारणसमुद्र = तमोराशि या त्रिगुण प्रकृति।

कारणसमुद्र ही जडस्तर है। खण्डसत्त्व भी अनादि है। यही जीव है। अखण्ड सत्त्व ही ईश्वरोपाधि है।

अखण्ड सत्त्व में खण्ड सत्त्वराशि मग्न रहती है। जब एक-एक बाहर होता है, तब खण्डांश च्युत हो पड़ता है—लेकिन अखण्ड सत्त्व की एक रेखा—अच्छिन्न धारा—उससे युक्त रहती है। इस धारा का अधोबिन्दु ही अन्तर्यामी परमात्मा है। जीव जब उतरता है, तब एक हिसाब से परमात्मा भी उसके साथ-साथ उतरता है। यह रेखा सदा—लौट नहीं जाने तक, विद्यमान रहती है।

जडस्तर में जीव या सत्त्वांश का अनुप्रविष्ट होना ही कारण में चित्-शक्ति का संचार है। वैसा होने से ही देह घटित होती है, स्थूल वस्तु बनती है।

मान लीजिए, एक गुलाब है। यह एक प्रकार का सत्त्व है। मूल तत्त्व अखण्ड है। पहले उसका विकास चाहिए—उसमें विशिष्ट खण्ड सत्त्व का विकास चाहिए। यह सत्त्वांश बाहर निकलते ही, अर्थात् जडस्तर में पड़ते ही—स्थूल आवरण से घिर जायगा। वही है गुलाब-सृष्टि। यह सत्त्वांश अव्यक्त है, गुलाब-रूप कार्य है। तत्तत् रंग के समावेश का तात्पर्य है इस सत्त्व का प्राकट्य। उस विशिष्ट समावेश के नहीं होने तक सत्त्वांश अव्यक्त है, अप्रकट है। वैसा समावेश होने से ही सत्त्वांश बाहर हो पड़ता है। सूक्ष्म स्थूल हो जाता है, अव्यक्त व्यक्त होता है। रंग केवल व्यंजना-मात्र है।

इच्छाशक्ति और विज्ञान में यही प्रभेद है कि विज्ञान सूर्यरश्मि या रंग से आरम्भ करता है। अर्थात्, भिन्न-भिन्न रंग का समावेश कर देता है। वह भिन्न रंग बाहर है। समावेश जैसा होता है, उसी के अनुसार सत्त्वांश स्थूलता लाभ करता है। व्यक्त होता है। सत्त्वांश बाहर आता है, प्रकट होता है।

इच्छाशक्ति में विपरीत क्रम होता है। सत्त्वांश जिस अखण्ड सत्त्व में गुँथा होता है, सत्त्वांश को उस अखण्ड सत्त्व से धक्का देकर बाहर कर देना पड़ता है। यह धक्का अखण्ड सत्त्व का अपना व्यापार है। भीतर से यह धक्का लगने से ही सत्त्वांश बाहर होता है—वैसे में अनुरूप वर्ण-समावेश आप ही हो जाता है। जिस वर्ण के समावेश से जो सत्त्व व्यक्त होता है, वह वर्ण उस सत्त्व का आन्तर्य-निबन्धन आ जुटता है। इस स्थिति में धक्का देने के लिए जीव को अखण्ड सत्त्व से युक्त होना पड़ता है—उसके

बाद धक्का। युक्त होने से पहले इच्छा रहती है। इसीलिए, युक्त होने के बाद वह अनुरूप प्रेरणा-रूप में सत्त्वाधान करती है। इसी के फलस्वरूप सृष्टि होती है।

इच्छा या कामना-सहित अखण्ड सत्त्व में युक्त होने से अखण्ड सत्त्व में अँटके रहने में व्याघात होता है। व्युत्थान अवश्यम्भावी होता है। अखण्ड सत्त्व का वह आकर्षण, जो खण्ड सत्त्व को अपने वक्ष में पकड़े रहेगा, वह नहीं निखरता है। क्योंकि, अखण्ड के वक्ष में जाना चाहते हुए भी खण्ड सत्त्व बाहर आना चाहता है। इसीलिए, वहाँ नहीं रह सकता। अखण्ड के द्वारा कोई स्वार्थ-साधन करने में यही कठिनाई है। प्रेम चाहिए, काम से कुछ नहीं होता। काम या इच्छा लेकर उनके पास नहीं जाना चाहिए; क्योंकि जाने से ही फल पाना होगा—सृष्टि में उतरना अत्यावश्यक होगा। शालग्राम से मसाला पीसना मूर्खता है।

ज्ञानपूर्वक इच्छा नहीं करने से कोई क्षति नहीं। वह इच्छा अज्ञान या स्वभाव की इच्छा है। उससे भोग होता है और फिर इच्छा का उदय नहीं होता।

१८.१.२६ :

सूर्यमण्डल जब दिखाई देता है, तब हम उस मण्डल के बाहर होते हैं। मण्डल वृत्त। भीतर रहने से शून्यस्थ रूप में मण्डल दृश्य नहीं होता। मण्डल में घुसने से घर-द्वार या जीव आदि या जो कुछ भी दिखाई देता था, वह सब स्वप्रकाश दिखता था। वहाँ जितने भी स्तर हैं, सब स्वप्रकाश। बाहर से रोशनी नहीं आती।

अभी हम पृथ्वी पर हैं। ऐसी और भी बहुतेरी पृथ्वी है। सभी जगह पृथ्वी-मण्डल में ही रहा जा सकता है। परन्तु, कोई भी जगह स्वप्रकाश नहीं। बाहर की रोशनी की जरूरत होती है।

अतएव, जिस स्तर को देखने में किसी रोशनी की जरूरत नहीं पड़ती, अपने ही प्रकाश में सब वस्तु प्रकाशमान है, सब वस्तु अन्यनिरपेक्ष है—वह चैतन्यमय स्तर है। अवश्य, यहाँ भी सब विषय में केन्द्राधीनता है। लेकिन बात यह है—केन्द्र और व्यासार्द्ध परस्पर युक्त हैं। रेखात्मक। विच्छेद नहीं है। जहाँ यह विच्छेद है, वहाँ सब चीज ही परप्रकाश्य है। यह जड जगत् है।

चैतन्य-जगत् में मन, इन्द्रिय, बाह्य प्रकाश, कुछ की भी आवश्यकता नहीं होती। जड जगत् के प्रकाश का उदय-अस्त है।

प्रकाश की बाह्य अवस्था है :

१. जो केवल अपने को प्रकाशित कर सकता है, दूसरे को नहीं। वहाँ दूसरा नहीं, अर्थात् अप्रकट।

२. जो अपने को प्रकाशित करता है, दूसरे को भी। इस प्रकाशन में संकोच-प्रसार है। इसलिए, कभी अपर प्रकट, कभी अप्रकट होता है। स्वयं सदा ही प्रकट।

३. जो अपने को भी प्रकाशित करता है, दूसरे को भी। यहाँ चूँकि संकोच-प्रसार नहीं, इसलिए स्वयं भी सदा प्रकट होता है, दूसरा भी सदा प्रकट।

४. जो स्वयं को प्रकाश नहीं कर पाता, इसलिए दूसरे को भी नहीं कर सकता। दूसरे के द्वारा स्वयं प्रकाशित होता है। तब, फिर दूसरे को प्रकाशित कर सकता है।

५. जो अपने को प्रकाशित नहीं कर सकता, दूसरे को भी नहीं। दूसरे के द्वारा स्वयं प्रकाशित होता है। परन्तु, उस प्रकाश का संचालन दूसरा नहीं कर सकता।

६. जो अपने को प्रकाशित नहीं कर सकता, दूसरे को भी नहीं। और, वह स्वयं दूसरे से प्रकाशित होता नहीं।

७. जो स्वयं दूसरे के पास प्रकाशित नहीं होता, किन्तु दूसरे को प्रकाशित करता है।

८. जो स्वयं अपने आगे भी प्रकाशित नहीं होता, पर दूसरे को प्रकाशित करता है।

९. जो स्वयं अपने आगे प्रकाशित नहीं होता—दूसरे को भी प्रकाशित नहीं करता।

१८.१.२६ :

सूर्य एक स्वच्छ प्रतिफलक-मात्र है।

ऊपर जो महाबिन्दु है, उसमें कोटि-कोटि क्षुद्र बिन्दु हैं। जैसे : क, ख, ग आदि। ये सब महाबिन्दु में नित्य लग्न हैं, उसके अंश हैं, पर नित्य हैं। यही 'अव्याहत कला' है। महाबिन्दु की प्रेरणा से ये सब सूर्य में पड़ते हैं, मतलब सूर्य में प्रतिफलित होते हैं। रेखा के रूप में सूर्य में उतरते हैं। यह रेखा सरल और विच्छेद-रहित होती है—अखण्ड। इसे 'अंशु' कहिए। इस प्रकार सब बिन्दु—यहाँतक कि महाबिन्दु का भी प्रतिफलन सूर्य में होता है। महाबिन्दु = महाशक्ति। यह ज्योति या चैतन्यशक्ति है। कला भी वही है, अंशु भी वही।

सूर्य के बाहर की ओर एक वायु घूमती है—उसे काम कहते हैं। वहाँ सदा ही एक बहिर्मुख धक्का पैदा होता है। वहीं से वक्र गति का आरम्भ होता है। सूर्य की रश्मि वक्र-सी होती है। अर्थात्, प्रकाश्य-प्रकाशात्मक, उदय-अस्तमय—यथा....। अर्थात्, श्वास-प्रश्वास, उन्मेष-निमेष, उत्थान-पतन, आविर्भाव-तिरोभाव आदि से युक्त अर्थात् विच्छिन्न बिन्दुसमष्टि। इसीलिए, मिश्रण होता है। क्योंकि, बीच-बीच में शून्य या फाँक है। वहाँ विजातीय बिन्दु का समागम होता है। जड जगत् की सारी ही वस्तुएँ ऐसी ही मिश्रित हैं—सच्छिद्र।

सूर्य के उस पार प्रकाश विकीर्ण नहीं होता। कलामात्र ही अन्तर्मुख है, इसलिए विलीन—पृथक्ता अव्यक्त होती है। परन्तु, पार्थक्य है। जड-सम्बन्ध होने से ही उसकी अभिव्यक्ति होती है।

सूर्य के इस पार विकीरण निरन्तर होता है।

उस पार कारण या सूक्ष्म, इस पार कार्य या स्थूल—बीच में लिंगस्थानीय सूर्य। सूक्ष्म इस पार न आये, तो अप्रकट। उस पार = भीतर। इस पार = बाहर।

उस पार सादा—उसमें लगे हुए अनन्त रंग हैं। ये रंग सादे में मिले हुए हैं, दिखाई नहीं पड़ते। उसे प्रकट करने के लिए इस पार के रंग को परस्पर मिलाना होता है।

२१.१.२६ :

अखण्ड सत्त्व से बाहर होकर सत्त्वांश जडस्तर में गिरता है। इसीलिए, स्थूल सृष्टि होती है। अखण्ड सत्त्व = स। सत्त्वांश = क। 'क' जब गिरता है, तब उसका मुँह बाहर की ओर रहता है—इसलिए वह आत्मविस्मृत होता है—जड में आबद्ध होता है, भगवद्विस्मृत होता है। 'स' से 'क' का यह जो बहिष्कार है, वह निग्रहशक्ति है। यदि बहिष्कृत करके ही 'क' के मुँह को अपने अभिमुख कर दे, तो बाहर आकर भी 'क' का लक्ष्य 'स' की ओर ही रहता है। यह ज्ञानी या प्रेमिक की अवस्था है। इसी प्रकार, 'क' के जड में आने से 'स' की ओर मुँह रहता है, इसलिए बन्धन नहीं होता। वह इच्छानुसार मुड़ सकता है। जड में गिराने के पहले ही इस 'स' की ओर मुँह फेरे—यह 'स' की अनुग्रहशक्ति-सापेक्ष है। 'स' 'क' की ओर मुँह किये ही हुए है, लेकिन 'क' जबतक बहिर्मुख है, तबतक वह समझ नहीं सकता। 'क' जब अन्तर्मुख होगा, तब समझ सकेगा। यह अन्तर्मुखीनता अनुग्रहसापेक्ष है। प्रथमतः बहिर्मुख होते ही जीव होता है—यही निग्रहजन्य है। बाद में, अनुग्रह से अन्तर्मुख होता है, ज्ञान-भक्ति पाता है। 'स' में जो 'क' है, वहाँ कोई मुख नहीं। किन्तु, 'क' को बाहर करते समय अन्तर्मुख करके बाहर भी किया जा सकता है। यह अनुग्रहपूर्वक सृष्टि है। यह सृष्टि निग्रह नहीं, ठीक। बाहर करके अन्तर्मुख करना निग्रहपूर्वक अनुग्रह है।

नित्य जीव सदा अन्तर्मुख होते हैं। जब बाहर होते हैं, तब भी अन्तर्मुख ही रहते हैं। लीलाशक्ति से केवल बाहर होते हैं। लीला के निवर्त्तन होने से लौट जाते हैं।

चिन्मय धाम में बहिर्मुखता रह नहीं सकती। रहने से जडस्तर में पतन होता है। वहाँ सदा अन्तर्मुखता होती है। वहाँ क्रमयुक्त काल नहीं। इसलिए, वास्तव में बाहर होकर बाद में अन्तर्मुख होना सम्भव नहीं होता। सम्भव होता है, जड तक आकर वहाँ अन्तर्मुख करना।

२३.१.२६ :

उस पार सरल गति, इस पार वक्र गति। सरल गति में अनुग्रह और निग्रह। वक्रगति में सृष्टि और संहार। सृष्टि = निग्रह। संहार = अनुग्रह। 'क' जो 'स' से सूर्य में पतित होता है, यही 'स' स्थित निग्रहशक्ति का कार्य है, तिरोधान-शक्ति। उसके बाद सृष्टि में पड़ता है। पड़ते ही झूमने लगता है। फिर जब 'स'-स्थित अनुग्रह-शक्ति

क्रियाशील होती है, तब 'क' का संहार होता है, फिर 'स' में जाकर लग जाता है। सरल गति जहाँ असीम है, वहाँ सीमा-स्पर्श नहीं होता। 'क' सूर्य में नहीं उतरता—सृष्टि-चक्र में नहीं पड़ता। संसार में प्रवेश नहीं करता। वैसी स्थिति में नित्य चक्र का अभ्युदय होता है। वहाँ अनुग्रह-निग्रह नहीं। संसारचक्र उस नित्यचक्र का ही अनित्य और मलिन प्रतिबिम्ब-मात्र होता है। सरल गति सीमा का स्पर्श करती है, इसीलिए संसार-चक्र का आविर्भाव होता है।

ऊर्ध्वरश्मि द्वारा सूर्य प्रतिपल अमृतपान करते हैं। उस रश्मि ने सूर्य को सदा षोडशी से जुड़ा रखा है। वह अखण्ड रेखा है—सरल रेखा।

अधोदिशा में सूर्य के दो पथ हैं —वाम और दक्षिण। इन दोनों के आवर्त्त से बहुत्व का विकास होता है। इन दोनों पथों के समान हो जाते ही सूर्य का विकीरण बन्द हो जाता है, सृष्टि बन्द होती है—ऊर्ध्वरश्मि प्रकाशित होती है, अमृतपान का सुयोग होता है।

उस रेखा से ही चन्द्रकला सूर्य पर पड़ती है। वह रेखा भी जब नहीं रहेगी, तब सूर्य में ज्योति नहीं रहेगी, सूर्य निर्वाण-प्राप्त होंगे।

उतरने के समय अमृत-कला चित्-कला होकर उतरती है—एक पथ से। आगे चलकर बहुमुखीन होकर सत्-कला में बदल जाती है। जिसे जड परमाणु कहते हैं, वह यही सत्-कला ही है।

२४.१.२६ :

मन का लय। श्वास-प्रश्वास की ओर लक्ष्य करने से क्रमशः मन लीन हो जाता है। क्योंकि, ज्ञान के सहयोग से मन और प्राण स्थिति-बिन्दु में जाते हैं। श्वास के अन्त में स्थिति-बिन्दु और प्रश्वास के अन्त में भी स्थिति-बिन्दु—ज्ञान-सह-मन के उस बिन्दु में जाने पर असीम उसे खींचता है। अपना अंश कुछ बाहर करके ले जाता है। कई बार ऐसा करने से मन का उपादान असीम में बिखर जाता है—यही मन का लय है। और, फिर जब मन का अंश असीम से सिमट आता है, तब वह घनीभूत होकर अलग सत्ता-लाभ करता है।

[१]

मूल प्रकृति में ब्रह्मतेज के पड़ते ही विक्षोभ होता है। सत्त्व के कण उस तेज को धारण करते हैं और उड़ जाते हैं। यही है महत् आदि क्रम में सृष्टि। यह आदिसृष्टि नहीं है। प्रकृति में विलीन जीवों के भोगार्थ उद्भव-मात्र है। इस ब्रह्मतेज के स्पर्श से ही सुप्त जीव जाग जाते हैं।

[२]

सृष्टि भी चित्-शक्ति के कारण है, संहार भी। दोनों ही ईक्षण से होते हैं। चित्-शक्ति के प्रकृति में संचारित होने से प्रकृति प्रसव करती है—सृष्टि करती है। सत्त्व को—

संस्कार-रहित सत्त्व को—बाहर कर देती है। संस्कार वृत्तिरूप में फूट उठता है। प्रथम वृत्ति निश्चय है--स्थिर। धीरे-धीरे चंचलता और मलिनता आती है।

जो परिणाम चित्-शक्ति सर्जन करती है, उसकी सीमा कटते ही, वही संहार करती है—लौटा लाती है।

२८.१.२६ :

[१]

अज्ञान में सोकर फिर अज्ञान में ही जागता है। उसी प्रकार, ज्ञान में सोकर फिर ज्ञान में ही जागता है। सोने के साथ-साथ देह की स्मृति जाती रहती है। देह के परमाणु भी लीन हो जाते हैं—बिखरकर व्यापक होते हैं।

अज्ञान दो प्रकार का है : १. प्रान्तस्थ; जहाँ यह घनीभूत होता है, विशुद्ध। लय यहीं होता है। २. मध्यस्थ; जहाँ वृत्ति है। यह व्यवहार-क्षेत्र है।

उसी प्रकार ज्ञान भी दो तरह का है—'विशुद्ध, घना' और 'तरल'। लोग जिसे मृत्यु कहते हैं, वह इसी अज्ञान में लय या डूबना है। फिर, इसी अज्ञान में ही उतराता है। मृत्यु से अज्ञान-राज्य का भेद नहीं होता।

उसी तरह, लोग जिसे कैवल्य कहते हैं, वह इस ज्ञान में लय या डूबना है। यहाँ से भी उतराकर फिर ज्ञान में ही आता है। कैवल्य के द्वारा ज्ञानराज्य का भेद नहीं किया जा सकता।

अज्ञान और ज्ञान के परे जो पद है, वही प्रकृत अवस्था है। वह भी दो प्रकार की है—एक बार प्रान्त में लय, फिर तिर आना। यह भक्तिराज्य है। यहाँ जो लय होता है, रस में होता है। फिर तिरने के बाद उठकर उस रसराज्य में ही रहता है। भक्तिराज्य में डूबने से ही रसलाभ और उतराने पर भक्त-भाव में स्थिति।

पहला लय सत् में, दूसरा लय चित् में, तीसरा लय आनन्द में। संकोच और प्रसार सभी राज्य में हैं। सद्राज्य में लय से मृत्यु, विक्षेप से पुनर्जन्म। चिद्राज्य में लय से कैवल्य, विक्षेप से ज्ञानी होकर स्थिति। आनन्द-राज्य में लय से रस की प्राप्ति, विक्षेप से लीला-मण्डल में संचार।

जहाँ संकोच-प्रसार है, वहीं देह है, शक्ति का खेल है। सद्राज्य की देह, जडदेह है, स्थूल शरीर। लय के समय वह अज्ञान में मिल जाती है। फिर, वह अज्ञान से ही घटित हो उठती है। चिद्राज्य में भी देह है। वह सूक्ष्म देह है। लय के समय यह चैतन्य में लय हो जाती है, और फिर उत्थान के समय चैतन्य से ही वह घटित हो उठती है। आनन्द-राज्य में जो देह होती है, वह कारणदेह है। इसका लय आनन्द में होता है—और फिर आनन्द से ही यह गठित होती है।

संकोच-प्रसार के बीच के स्थल में संकोच-प्रसार नहीं है; क्योंकि दोनों ही समसूत्र हैं। इसीलिए, वह विच्छेद-अवस्था है, शिवत्व, साक्षित्व।

जैसे जडदेह लेकर चित्-राज्य में नहीं जाया जा सकता, वैसे ही चित्-देह लेकर आनन्द-धाम में भी नहीं जाया जा सकता। और इसी प्रकार; आनन्द-देह लेकर शिवभाव भी लाभ नहीं होता।

लेकिन हाँ, मृत्यु के समय कैवल्य और रसप्राप्ति से शिव-सायुज्य होता है। वास्तव में, जीव कभी शिव नहीं हो सकता। क्योंकि, वह तो शिव ही है। अतएव, जीवभाव की ओर से केवल शिव-सायुज्य हो सकता है – उससे फिर लौटना होता है।

ब्रह्मत्व-लाभ करना सहज कल्पना है। क्योंकि, ब्रह्मदृष्टि में एकमात्र ब्रह्म ही हैं। दूसरा ऐसा कुछ नहीं, जो ब्रह्म हो। अवश्य अ-ब्रह्मदृष्टि में संकोच-प्रसार की सीमा पार कर जाने से ही ब्रह्मसायुज्य हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। क्योंकि, तब असीम ही रहता है—सीमा स्वयं को खो-सी देती है। लेकिन, उससे फिर सीमा में आना पड़ता है।

अतएव, प्रकृत पुरुषकार यही है कि जब बाहर आना ही होगा, तब उस समय भी, जिसमें आनन्दहीन न हो, जड का मुँह बाहर की ओर होता है और आनन्द का भीतर की ओर। बहिर्मुख रहते हुए शिव-संयोग होने से फिर व्युत्थान-काल में बहिर्मुखता ही रहेगी। यह शिवसंयोग = मृत्यु। व्युत्थान = पुनर्जन्म। मुखहीन होकर शिव-सायुज्य होने से बाद में उठने के समय उसी भाव से उठना होगा। परन्तु, अन्तर्मुख होकर सायुज्य पाने से व्युत्थान होने पर भी वह अन्तर्मुख ही होता है। सुतरां, वह आनन्द की ओर लक्ष्ययुक्त रहता है, आनन्दमय देहयुक्त आदि रहता है। वह फिर ज्ञानराज्य में नहीं उतरता। क्योंकि, आनन्द का केन्द्र उसे खींचे रखता है। बाहर होने पर भी वह आनन्द-केन्द्र के राज्य या आनन्दचक्र को भेदकर उतर नहीं सकता। ज्ञान में नहीं उतरे, तो फिर अज्ञान का क्या डर ? ज्ञान रहने से अज्ञान की शंका रहती है, अज्ञान रहने से ज्ञान की आशा है। लेकिन, दोनों से अतीत रहने से आशा भी नहीं, आशंका भी नहीं।

फलस्वरूप, ज्ञानी के भी पतन की सम्भावना नष्ट नहीं होती। क्योंकि, उसे ऊपर खींचे रखनेवाला कोई नहीं। ज्ञानी स्वाधीन, अज्ञानी पराधीन या जडाधीन—भक्त स्वाधीन भी नहीं, पराधीन भी नहीं। जहाँ स्वाधीनता है, वहीं गिरने का डर है। भक्त दोनों से परे है।

[२]

जडदेह मैथुनजन्य है। बिन्दु की अधोगति से वह उत्पन्न होती है। काम-सम्बन्ध से बिन्दु की अधोगति होती है। इसीलिए, जडदेह = कामदेह। जडदेह स्वभावतः अशुचि, मलिन होती है। इसीलिए, इसमें विकार आता है; इसीलिए मूँछ-दाढ़ी आदि होती हैं—

यह सब कामजन्य है। इस देह में काल या अग्नि की क्रिया (=विकार, परिणाम) सदा खेलती है।

जो देह काम-सम्बन्ध से नहीं होती, वह विशुद्ध ज्ञानदेह है। वह औपपादिक है। वह मैथुनजन्य नहीं। वह भार-रहित ज्योतिर्मय देह है। यही सिद्ध देह है।

बिन्दु के ऊपर संचार से जो देह उत्पन्न होती है, उसे भावदेह कहते हैं। उसमें काम नहीं। ज्ञान या ज्योति भी नहीं। वह भावमय है, ज्योतिर्हीन। वह अरूप है—वही लीला-विग्रह है।

प्रथम स्तर = कामलोक।
द्वितीय स्तर = रूपलोक।
तृतीय स्तर = अरूप-लोक।

कामलोक में ही मृत्यु विराजमान है। उसे पार कर जाने से निष्काम शुद्ध ज्योतिर्मय चिदाकाश। वही रूपलोक है। वहाँ सिद्ध देही हैं। रूप-स्तर की अवधि में कैवल्य है।

कैवल्य के उस पार अरूप-धाम। उसकी सीमा है महासुख या रस-समुद्र। परन्तु, अरूप का भेद नहीं होता।

जिसे बोधि कहते हैं, वह मध्यम है। वह संकोच और प्रसार-रहित है। अतएव, काम आदि तीनों स्तर में हैं, पर तीनों से पृथक्।

३०.१.२६ :

साक्षी = तुरीय। उसके सुप्ति नहीं, इसलिए जागरण नहीं। देवता के सुप्ति है, जागरण भी है। देवता जागने से भी साक्षी नहीं होता। साक्षी भावातीत है, देवता भावमय। विकसित भाव = जाग्रत् देवता। अव्यक्त भाव = सुप्त देवता।

साक्षी सुप्त और जाग्रत् में समभाव में है।

तुरीय में जाने का उपाय जाग्रत् से ही हो सकता है। स्वप्न या सुप्ति से नहीं। इसी प्रकार, परब्रह्म या साक्षी में जाने का उपाय देवता-चैतन्य से ही हो सकता है।

४.२.२६ :

भोग करने का माने है सार ग्रहण करके अपना करना या अपने अन्तर्गत करना। भोग के विना वैराग्य नहीं होता। जहाँ भी जो है, सबको अपना बनाना है—तभी तो वैराग्य होगा। संसार की सभी चीजों का सार लेना होगा। खाने से पेट भरता है, इसीलिए और खाने की इच्छा नहीं होती। विना खाये खाने की इच्छा को निवृत्त नहीं किया जा सकता। खाने का मतलब है, वस्तु का सारांश ग्रहण करना। विश्व को भोग किये विना विश्व का त्याग नहीं किया जा सकता। वैराग्य असम्भव है। विश्व = सार + असार।

भोग से सार ग्रहण किया जाता है, असार पड़ा रहता है। उस समय त्याग या वैराग्य के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। विश्व का चरम सार = अमृत। अतएव, भोग = अमृतपान या आनन्द का आस्वादन। इसलिए, भोग आनन्दमय कोष का व्यापार है।

ज्ञान जैसे सामान्य और विशेष होता है, वैसे ही भोग भी सामान्य और विशेष होता है। जैसे ज्ञेयसामान्य भी है और ज्ञेयविशेष भी है, उसी प्रकार भोग्यसामान्य है, भोग्यविशेष भी है। खण्ड ज्ञेय जानकर ज्ञान की परिसमाप्ति नहीं होती। अखण्ड या सामान्यभूत ज्ञेय को जानने से तब कहीं ज्ञान की तृष्णा तृप्त होती है। क्योंकि, उस ज्ञेय सामान्य में सारे ही ज्ञेयविशेष प्रतिष्ठित हैं। इच्छानुरूप विशेष ज्ञान होता है—पर उसमें बन्धन नहीं होता, चांचल्य नहीं होता। इसी तरह, खण्ड भोग्यवस्तु भोग करके भोग की तृप्ति नहीं होती। अखण्ड या सामान्यभूत जो मूल भोग्यवस्तु है, उसे भोग कर पाने से तब भोग की लिप्सा दूर होती है। क्योंकि, संसार के सारे ही खण्ड भोग्य उस अखण्ड भोग्य में प्रतिष्ठित हैं। तब, इच्छा हो तो विशिष्ट भोग्य को भी भोग किया जा सकता है, पर बन्धन नहीं होता। यह सामान्य भोग्य = अमृत या आनन्द। विशिष्ट भोग्य = उसी का अंश, छाया, प्रतिबिम्ब, एकदेश आदि।

[१]

८.२.२६ :

शिव = ऊर्ध्वलिंग। इसीलिए, वह ऊर्ध्वरेता हैं। ऊर्ध्वरेता होने से बिन्दु की अधोगति नहीं होती। इसलिए, सृष्टि नहीं होती। बिन्दु की अधोगति से सृष्टि होती है, ऊर्ध्वगति से संहार। अधोगति कामजन्य है, ऊर्ध्वगति प्रेमजन्य। स्थिति में काम भी नहीं है, प्रेम भी नहीं। बिन्दु की अधोगति से जो दृश्य होता है, वह रूप है, इन्द्रिय बहिर्मुख नेत्रद्वय—ऊर्ध्वगति में रूप नहीं रहता, इन्द्रिय तृतीय नेत्र, जो विरूप की ओर लक्ष्ययुक्त होता है, इसलिए शिव विरूपाक्ष हैं।

शक्ति के संयोग के बिना जैसे बिन्दु अधोगमन नहीं करता, वैसे ही ऊर्ध्वगमन भी नहीं करता। शक्ति के संयोग से बिन्दु कम्पित होता है, कम्पित होकर उसे पकड़ने जाता है, उससे एक होने को जाता है। बिन्दु जबतक बाहरी पदार्थ में मिश्र रहता है, अशुद्ध रहता है—तबतक यह कम्पनानन्तर बिन्दु उतर पड़ता है, जीव या बाहर के परमाणु बहुत परिमाण में घुसकर उसे उतार लाते हैं। परन्तु, बिन्दु जब शुद्ध होता है, तब बाहर या नीचे की किसी चीज का मिश्रण नहीं रहता। तब वह जम जाता है—अखण्ड होता है। उस स्थान पर शक्ति का संयोग होने से ही वह कम्पित होकर ऊपर की ओर उठता रहता है। उसी समय से शिवभाव का प्रारम्भ है। उसी समय से ऊर्ध्वलिंगत्व, विरूपाक्षत्व, त्रिनेत्रत्व है। जम जाने पर वह टूटता नहीं—पर गलता है। धीरे-धीरे शक्ति के समान स्वच्छ, व्यापक आदि हो जाता है। परन्तु, अपनी अलग सत्ता रहती है, यद्यपि वह विभाज्य नहीं होती—एकमय होती है।

बिन्दु से प्रकृति-सम्बन्ध होते ही जड परमाणु घेरकर उसे स्थूल करते हैं और उतार लाते हैं। इसका कारण है कि बिन्दु में जड संस्कार है। इस प्रकृति में भी जडाधिक्य है। इसीलिए, उसके सम्पर्क से बिन्दु का सुप्त जडांश जागता है और जागता है, इसलिए बाहर का जडांश आकर उसे जड से वेष्टित करके जड के देश में ले जाता है। बिन्दु यदि वास्तव में जड संस्कार-रहित हो, तो जिस किसी प्रकृति-संयोग से, अर्थात् जड प्रकृति के संयोग से भी, प्रकृति का चैतन्य-अंश ही बिन्दु को जगाता है। बिन्दु जडांशहीन है, इसलिए बाहर का जड नहीं आता, नहीं ढकता, नहीं उतारता—वीर्य की अधोगति नहीं होती, बल्कि ऊर्ध्वगति होती है। यही रासलीला है। बिन्दुसिद्धि या मन्त्रचैतन्य के बाद रासलीला। लेकिन, बिन्दु को पहले जमाना ही कठिन है। जड प्रकृति से यह नहीं हो सकता। जबतक वह जमता नहीं, तबतक जड प्रकृति का संग त्याज्य है।

किन्तु, चित्-शक्ति यदि बिन्दु में संचारित होगा, तब वह बिन्दु को कम्पित करेगा—क्रम से सघन बनायगा। सघन करने के समय बिन्दु का जडांश चित्-शक्ति के धक्के से बाहर हो जायगा। सघन हो जाने पर बिन्दु ऊपर की ओर गतिशील होगा।

[२]

मान लीजिए, कोई शब्द सुनते हैं। इस शब्द का अनुधावन कीजिए–गहरी निःस्तब्ध रात। मन को शब्द के साथ लगा दीजिए। शब्द जैसे-जैसे सूक्ष्म होता जायगा, मन भी वैसे-ही-वैसे सूक्ष्म होता जायगा। मन जिसमें शब्द को न छोड़े। छोर खो जाने से फिर वह नहीं मिलेगा। इस तरह अपने सामर्थ्य के अनुसार मन उसका अनुसरण करेगा। जिस नाद का अन्त न हो, मन भी उसे नहीं पायगा। लेकिन, मन सीमाबद्ध है, इसलिए कुछ दूर जाकर वह और आगे नहीं बढ़ सकेगा। निष्क्रिय होगा, निवृत्त होगा, आत्महारा होगा, लीन होगा। यही मनोवृत्ति-निरोध या योग या समाधि है। तब चैतन्य का प्रकाश होगा। अवश्य, चैतन्य स्वप्रकाश है, मन तब भी है एक हिसाब से। उसके बाद अवश्य बिलकुल नहीं रहेगा। जिस किसी शब्द को लीजिए—पहले वह एक स्तर तक वैचित्र्य के साथ चलेगा—फिर अखण्ड नाद में परिणत होगा। वह नाद तबतक सुनने योग्य है, जबतक मन है। मन जडस्तर में है—वह मन जब नहीं रहेगा, अर्थात् मन जब उस स्तर का भेद करेगा, तब चैतन्य का प्रकाश होगा। मन तो चैतन्यमय है। यही अद्वैतावस्था है। उसके बाद चैतन्य भी नहीं रहता।

१. श्रुतिगम्य शब्द, जिसका अनुसरण किया गया है = वैखरी; यह आहत है। २. folloue करते-करते जब कान का सामर्थ्य कट जायेगा, मगर मन रहेगा, तब भी वह शब्द सुनाई पड़ेगा; वह मध्यमा है—अनाहत या ऊँकार। ३. फिर शब्द मनःश्रुतिगम्य भी नहीं रहेगा, तभी अशब्द अवस्था। यह = पश्यन्ती या चैतन्य है। यहाँ मन भी = चैतन्य, शब्द भी = चैतन्य। ४. इसके बाद, चैतन्य है, यह नहीं कहा जा सकता—वह = परा।

[३]

विपरीत क्रम से सृष्टि ।

अव्यक्त—आकाश या प्रकाश भी नहीं । स्वभाव । मूलाधार ।

↓

चैतन्य—वायु की गति नहीं । =आकाश या चैतन्य । नाभि ।

↓

नाद—वायु की सरल गति । हृदय में । अनाहत नाद—अनादि-अनन्त ।

↓

ध्वनि—वायु की गति कण्ठ में आरम्भ होती है । यहाँ आघात होता है । नाद वक्र होकर अनेक शब्द या भाषारूप में परिणत होता है । यह wave motion है—सादि, सान्त । वायु वासना से वक्र होती है । वासना ही स्थूलत्व का हेतु है । इसी स्तर में आघात होता है—resistance होता है । यही matter का स्तर है । इस स्तर में दो विभाग हैं—बाह्य और आन्तर । मन-ही-मन जो शब्द सुनते हैं, दृश्य देखते हैं, वह सब इस स्थूल स्वभाव का ही अन्तर्भाव है । इन्द्रिय खोलकर जो देखते या सुनते हैं, वह स्थूल स्तर का बहिर्भाव है । संस्कार भी स्थूल है ।

१. निष्क्रिय बिन्दु = आत्मा ।

२. सरल रेखा = बिन्दु की सरल गति (यह purely rectilinear या circular है) = मनःस्वरूप या शुद्धमन ।

३. वक्ररेखा = इन्द्रिय ।

४. (क) समतल (plane) २ dimensions संस्कारमय अन्तर्जगत्—प्रतिभासिक सत्ता—स्वप्न ।

(ख) घन (cube) ३ dimensions बहिर्जगत्-व्यावहारिक सत्ता, जाग्रत् । } Inner / विषय / Outer | स्थूल

२४.९.२६ :

कायव्यूह कैसे होता है ?

किसी कमरे में यदि चारों ओर छेद हो, तो चारों ही तरफ से रोशनी आती है । फलस्वरूप, अपने शरीर की बहुत छाया पड़ती है । प्रकाश की धारा-संख्या के भेद के अनुसार छाया का भेद होता है । वास्तव में, चारों ओर से असंख्य रोशनी आ सकती है, फलस्वरूप असंख्य छाया हो सकती है । इस छाया को यदि किसी प्रकार से स्थूल किया जा सके, तो असंख्य मूर्त्तियाँ होंगी । प्रकाश सूर्य से आता है—यहाँ साक्षात् नहीं । उसी प्रकार, परमात्मा की अनन्त रश्मियाँ हैं—उनमें से जितनी देह में संचार की जायेंगी, उतनी देह-छाया

तैयार होगी। परमात्मा जीव की ही अन्तरात्मा है। अतएव, जितनी रश्मि जीव-केन्द्र से निकलेगी, उतनी देह दिखाई देगी। रश्मियों का प्रत्याहरण करने से ही देह नहीं रहेगी।

साकार-सिद्धि के विना कायव्यूह नहीं होता। प्रत्येक रश्मि साकार तब होगी, जब रश्मिकेन्द्र-ज्योति भी साकार होगी। रश्मि-केन्द्र निराकार हो, तो व्यूह भी निराकार होगा।

२७.१०.२६ :

ऊपर उठना हो, तो नीचे की चीज से सार तैयार—बाहर करके उसे साथ लेकर आना पड़ता है। मूलाधार ब्रह्मनाडी में प्रवेश करना—यह सार तैयार करना और उठना है—बराबर चलेगा—जबतक कि ब्रह्मचक्र में न जाया जाय। वहाँ असार नहीं। सब सार—रस—आनन्द। गति भी वहाँ यथार्थ सरल है। अर्थात्, चक्राकार। Infinite में straight motion is circular—वही मैथुन है। रास। बीच की गति-सरलता की ओर प्रवणमात्र।

सहस्रार गतिशील, circular.

गति नहीं—बिन्दु में।

१४.११.२६ :

शुद्धसत्त्व के चारों ओर कारणार्णव है।

सत्त्व को शक्तिविशेष विक्षुब्ध करती है—उससे बाहर निकलकर बिन्दु कारणवारि में पतित होता है। उस बिन्दु-स्पर्श से कारणवारि-जड उपादानपुंज—चंचल हो उठता है। फलस्वरूप, वह organised होता है, देह-निर्माण होता है। उस देह में वह बिन्दु अनुप्रविष्ट होता है।

बिन्दु का एकांश देह में अनुप्रविष्ट होकर भी निर्लिप्त होता है। यह अन्तर्यामी रूप परमात्मा है। दूसरा अंश अवश्य अभिमानी होता है। वह जीवात्मा है।

यह जो देह बनती है, वही लिंग है। यह लिंग चेतन है। यह बहुत दिनों तक स्थायी नहीं होता—तबतक, जबतक कि चिद्‌बिन्दु उससे प्रत्याकृष्ट न हो।

यह लिंग स्थूलता प्राप्त करता है। कैसे? स्थूल का साँचा लेकर अधोगति होने से ही स्थूलाकार-विशेष प्राप्त होता है। यह अपेक्षाकृत स्वच्छ वस्तु है। इसीलिए, सब आकार ग्रहण कर सकता है। संकल्प द्वारा आकार-भावना में तदाकार हो जाता है। अधःस्तर में उतरने से वह आपही पंचीकृत होकर स्थूल होता है। साधारण जीव या लिंग अधःस्तर में उतरकर अपने-आप पंचीकृत नहीं हो सकता।

स्थूल पिता-माता के संघर्षकाल में उससे तेज का विकास होता है। वह लिंग-कोष का विकास है। उस समय जैसी भावना रहती है, वह लिंगकोष वैसा ही आकार

धारण करता है। फलस्वरूप, बाहर से तदाकार—तद्भावापन्न लिंग उसमें आकृष्ट होकर घुस पड़ता है। उसके बाद अधोगति—स्थूलता-प्राप्ति।

अतएव, सृष्टि से क्या-क्या पाया ?

१. शुद्धसत्त्व बिन्दु—चिद्वीर्य।

२. लिंग (=चिद्वीर्य + कारणवारि)।

३. स्थूल (=लिंग + कार्यवारि i.e. भूतपंचक)।

४. चौथे हैं विराट्-सत्त्व, जिससे शुद्ध-सत्त्वबिन्दु का क्षरण हुआ है। यही ईश्वर हैं। अन्तर्यामी रूप में यह साथ रहते हैं। अर्थात्, इनसे संसार होता है। यह साक्षी होते हैं।

५. तुर्यातीत—यह चौथे ही हैं—लेकिन, सम्बन्धातीत। यह निर्गुण ब्रह्म हैं। परमशिव हैं।

लय के समय लिंग को बाहर कर लेने से ही स्थूल decomposed हो जाता है। लिंग ही स्थूल को पकड़े रहता है, चलाता है। decomposed होकर पंचभूत अलग-अलग हो जाता है। केवल समष्टि टूटती है, बस। तन्मात्रा नहीं होती।

लिंग तब रहता है। लिंग से सत्त्वबिन्दु खींच लेने से लिंग भी टूट जाता है। अब सब अलग-अलग हो जाता है।

इसके बाद सब भीतर का व्यापार है। तब, सत्त्व-बिन्दु विराट् सत्त्व से युक्त होता है। लिंग जबतक रहता है, तबतक स्थूल की समष्टि न रहने से भी तन्मात्रा में स्थूलाभास रहता है। लिंग में स्थूल का दाग रहता है। केवल लिंग नहीं रह सकता।

मृत्यु के बाद परमाणु बिखर जाते हैं।

लिंगभंग के बाद तन्मात्रा आदि बिखर जाते हैं। तीन गुणों का साम्य होता है। सत्त्वबिन्दु लिंग से बाहर हो जाने से गुण के साम्य की कोई बाधा नहीं होती।

१५.११.२६ :

सूक्ष्म नहीं होने से व्यापक नहीं हो सकता। यद्यपि, अणु सूक्ष्म ही है। जो सबसे अणु होता है, वही सबसे अधिक व्यापक होता है!

बिन्दु घनीभूत अवस्था में है। यही स्थूल है। यह जितना ही स्थूल होता है, उतना ही इसका विकीरण होता है। रश्मि बिखर जाती है। जो बिखरता है, वह बिन्दु को ढककर स्तर-विन्यस्त रूप में था। इस तरह सब स्तर ही बिखरता है। उस अनुपात से बिन्दु क्रमशः सूक्ष्म होता रहता है। चरम स्थिति में, सूक्ष्मता की चरम अवस्था में व्याप्ति परिपूर्ण हो जाती है। वही योग है।

१६.११.२६ :

'ध्यानं निर्विषयं मनः।' एक ओर विषय या भूत। बीच में मन। मन से जब विषय कट जाता है, आलम्बन रह जाती है आत्मा।

२०.११.२६ :

[१]

विभूति = छटा। यह जगत् ही उनकी विभूति है। क्रिया करते-करते उनकी कितनी विभूति दिखाई देती है। उससे तृप्ति नहीं होती, शान्ति नहीं मिलती। भूख नहीं मिटती। इन्द्रजाल से अभाव दूर नहीं होता। असली वस्तु चाहिए। छाया से क्या होना है ?

वस्तु ही उपादान है, वर्णस्वरूप, मातृकारूप। हम साधारणतया जो देखते हैं, वह मात्र उनकी बाहरी छटा है।

[२]

जहाँ शब्द है, वहीं आकाश है। वहाँ निरन्तर स्थूल शब्द होता है। यह स्थूलाकाश है। इसके भीतर सूक्ष्म आकाश है। वहाँ अनाहत शब्द होता है। वह अन्तराकाश है।

स्थूलाकाश में जो शब्द होता है, वह आघातजन्य है—वह अनित्य है, वह बहु विचित्र है। अनाहत शब्द नित्य है, एकरस।

अन्तराकाश में लक्ष्य न हो, तो शब्द कट जाता है। अन्तराकाश ही चिदाकाश है। उसके अवश्य स्तर हैं। वह स्तरसन्निवेश अवश्य स्थूल अंश के सम्बन्ध से है।

जाग्रत् आदि तीन अवस्थाएँ स्थूल के व्यापार हैं। अन्तर में तुरीय।

अन्तर में लक्ष्य न हो तो तुरीयातीत।

अन्तर में लक्ष्य नहीं रहने का तात्पर्य है मन का स्थिर हो जाना। मन जबतक अन्तर में प्रवेश करके क्रिया करता है--तबतक शब्द, तबतक विश्वरूप प्रकाश। मन के निष्क्रिय होने से केवल चैतन्य या आत्मा ही रहती है। उस समय अशब्दावस्था होती है। मन के काम करते रहने से शब्दमय अवस्था या शक्ति के स्फुरण की अवस्था होती है।

प्रत्याहार के बाद ही अन्तरंग योग होता है। वह है अन्तराकाश में प्रवेशान्तर। धारणा आदि अंग वास्तव में, अनाहत शब्द का क्रमशः अश्रुत होना है, अर्थात्, मन की क्रमिक निष्क्रियत । निष्क्रियता-सिद्धि = समाधि।

बाह्य जगत् में मन निष्क्रिय नहीं होता। क्योंकि, स्थूल = वासनामय। तबतक इन्द्रिय-क्रिया रहेगी ही। इन्द्रिय = मन की बाह्यवृत्ति। बाह्यवृत्ति का कारण है मन की स्थूलता, अर्थात् संस्कारयुक्तता। तबतक इडा-पिंगला का व्यापार है।

सुषुम्णा में प्रवेश करने से मन सूक्ष्म होता है, संस्कार कटता रहता है। चरम स्थिति में प्रत्याहार होता है। बाहरी सम्बन्ध नहीं रहता।

अनाहत नाद का प्रकाश होने से ही समझना चाहिए—मन या प्राण सुषुम्णा में काम कर रहा है—थोड़ा-थोड़ा। थोड़ा-बहुत संस्कार कट रहा है।

१२.४.२७ :

एक वस्तु है = 'क'। मैं जब उसे देखता हूँ, तब उसकी सत्ता मेरे निकट प्रकाशमान होती है। उसी प्रकार, और लोग जब उसे देखते हैं, तब उसकी सत्ता उनके आगे प्रकाशमान रहती है। यह जो सत्ता है, जो समान रूप से स्व-रूप में प्रकाशमान होते हुए भी लोगों के आगे निम्न रूप से प्रकाशमान होती है, वह चिन्मयी है। भिन्न रूप से जो प्रकाश है, वह प्रातिभासिक है। स्व-रूप में जो प्रकाश है, वह पारमार्थिक है। दोनों ही अव्यवहार्य हैं। दोनों ही जगह क्रियानुप्रवेश नहीं है।

क्रिया का सामर्थ्य केवल स्थूल में है। स्थूल ही व्यवहार्य है।

स्थूल या व्यवहार्य = इन्द्रियगोचर।

सूक्ष्म या प्रातिभासिक = (क) मनोगोचर। यह मिथ्या है। (ख) बुद्धिगोचर। यह सत्य है।

स्वरूपभूत = स्वप्रकाश।

जबतक मन और इन्द्रिय की क्रिया है, तबतक दृश्य का रूप ठीक-ठीक जाना नहीं जाता। इन्द्रिय से विवृत तो होता है, परन्तु इन्द्रिय के कल्पना नहीं कर पाने से वहाँ आरोप नहीं होता। आरोप होता है मन के क्षेत्र में। इसका कारण अवश्य वासना और पूर्वसंस्कार है। मन के स्थिर होने से जो दृश्य निखरता है, वह बुद्धिग्राह्य और यथार्थ होता है। दृश्य का यह चरम रूप है—यह भी जड है। यह मायिक है। लेकिन सत्य। परन्तु द्रष्टा से पृथक्।

बुद्धि चूँकि कभी नित्य नहीं हो सकती, इसलिए यह दृश्य, अर्थात् बिम्ब अनित्य है। बुद्धि और बिम्ब co-extensive है। कोई-कोई समझते हैं, यही विश्वरूप है।

बुद्धि से परे उठ सकने से दृश्य अव्यक्त हो जाता है। उस समय पुरुष का कैवल्य होता है। पुरुष अव्यक्त दृश्य या मूल प्रकृति का दर्शन करते हैं—अवश्य उदासीन भाव से।

परन्तु, इस दर्शन के मूल में भी महामाया का योग है। यद्यपि, द्वैत के हिसाब से यह चरम विशुद्ध ज्ञान है।

महामाया की कृपा हो, तो यह अव्यक्त दृश्य या प्रकृति आत्मरूप में देखी जा सकती है। द्रष्टा, दृश्य, दर्शन—सब चैतन्य है। एकरस। यही अद्वैत या ब्रह्म में प्रवेश है।

[२]

आत्मरूप में जो दर्शन होता है, वह देश-काल के ऊपर है। यहाँतक कि बुद्धिग्राह्य दृश्य भी खण्ड देश-काल के ऊपर है। क्योंकि, वहाँ अतीत और अनागत वर्त्तमान है; विप्रकृष्ट और सन्निकृष्ट।

मन के साथ-ही-साथ खण्डदेश और काल का आविर्भाव होता है। मनोदृश्य सूक्ष्म होते हुए भी देश और काल के द्वारा परिच्छिन्न होता है। इसीलिए, उसमें भ्रम और संशय की गुंजाइश है। इन्द्रिय-दृश्य भी वैसा ही है। स्वप्न और जाग्रत् = मनोदर्शन और इन्द्रियदर्शन-मात्र है।

सुषुप्ति में मन की क्रिया नहीं रहने पर भी बुद्धि के क्षेत्र में प्रवेश नहीं होता। बुद्धि के क्षेत्र में जा पाने से सुषुप्ति जाती रहती है—उस समय से ध्यान का आरम्भ होता है। समाधि तक बुद्धि के क्षेत्र में है। बुद्धि के बाहर अज्ञान खेलता रहता है। यह रजोरूपी है। यही मन का उत्पादक और चांचल्यकारक है। बुद्धि के ऊपर ही सत्त्वरूपी अज्ञान है, जिससे व्यक्त दृश्य दीखता है, जो अव्यक्त प्रकृति के व्यक्त-दृश्य रूप को बाहर करता या दिखाता है। बुद्धि उसे देखती है। मन के बाहर और एक अज्ञान है, वह तमोरूपी है। इसके प्रभाव से मन इन्द्रिय-रूप में परिणत होता है। उधर सूक्ष्म-दृश्य स्थूल होता है।

सत्त्वरूपी अज्ञान को काट सकने से अव्यक्त दर्शन होता है। यह बुद्धि की वृत्ति नहीं। अव्यक्त प्रकृति का दर्शन = तीन गुण का दर्शन। यह शुद्ध सत्त्व गुण से होता है। शुद्ध सत्त्वगुण पर जो अज्ञान या आवरण है, उसके कट जाने से शुद्ध सत्त्व आप ही दृश्य होता है। वह चैतन्य के अपने आलोक से होता है। उस आलोक के उपसंहार के साथ-साथ शुद्ध सत्त्व भी बुझ जाता है—रह जाता है केवल चैतन्य। वही द्रष्टा, वही दृश्य। वह स्वप्रकाश है। चैतन्य-आलोक का प्रसारण या उपसंहार स्वातन्त्र्यवश होता है। यह स्वाधीनता है।

२३.६.२७ :

आग पर कागज रखने से जलता है। आग जलाती है, इसलिए जलता है। दाहकार्य में आग का कर्त्तृत्व है। अतएव, यह भी वास्तव में स्वाभाविक कार्य नहीं। दाह करना आग का स्वभाव है—यह महज लौकिक बात है। इस कार्य के मूल में भी इच्छा है। इसलिए, इच्छा से यह नियमित हो सकता, स्तम्भित हो सकता है।

संसार के सभी कार्यों का मूल इच्छा है।

इच्छा और स्वभाव में भेद क्या है? इच्छा की पूर्णता ही स्वभाव या आनन्द है। पूर्ण इच्छा = स्वभाव। स्वभाव का विकार नहीं—इसीलिए, परमेश्वर की इच्छा या पूर्ण

इच्छा निर्विकार है। आधार-भेद से वही इच्छा नाना प्रकार से अपूर्ण होती है, सीमाबद्ध होती है, विकृत होती है।

हम साधारणतया जिसे इच्छा कहते हैं, उसका उदय और अस्त है, वह जन्य और विकृत है। परमेश्वर की इच्छा नित्य प्रकाशमान है, निर्विकार—इसीलिए, वह स्वभाव है। वह पूर्ण है, इसलिए, कोई उसे इच्छा नहीं कहते। वही आनन्द है। वह सदा एकरस है, इसलिए, उसे पूर्णता या स्वभाव कहना ही अच्छा है। आधार के सम्बन्ध से वही सीमाबद्ध होती है। तब वह इच्छा होती है—पूर्ण के स्पर्श से आनन्द होती है। स्वभाव या पूर्ण निराधार है। इच्छा या आनन्द शब्द को लौकिक अर्थ में प्रयोग करने के लिए विषय-सम्बन्ध चाहिए, आधार-सम्बन्ध चाहिए। बिन्दु ही मूल आधार है। उसी को ग्रहण करने से इच्छा का स्फुरण होता है, आनन्द का विकास होता है। वही सृष्टि का उन्मेष है। बिन्दु का त्याग करने से ही पूर्णता है—विशुद्ध स्वभाव। वह नित्यानन्द, पारमैश्वर्य है—उसका विकास और लय नहीं।

१.७.२७ :

काम तृष्णाविशेष है। इसकी निवृत्ति होने से काम्य विषय में वैराग्य होता है। फिर काम होता है, फिर वैराग्य होता है। काम अगर एकबारगी दब जाय या नष्ट हो जाय, तो स्थायी वैराग्य हो सकता है।

वास्तव में, यह पथ नहीं है। काम राग या प्रेम नहीं है। काम चूँकि अशुद्ध है, इसीलिए उसकी निवृत्ति होती है। बाद में काम नहीं रहता, इसीलिए वैराग्य होता है। काम के समय पहले जो अच्छा लगता है, बाद में वैराग्य के समय वही बुरा लगता है। फलस्वरूप, इस अच्छा लगने का मूल्य भी नहीं, भरोसा भी नहीं। प्रेम विशुद्ध है। उसकी निवृत्ति नहीं होती। इसीलिए, उसमें तृप्ति नहीं है—और, इसीलिए वैराग्य भी नहीं। राग के मार्ग में वैराग्य अनावश्यक है।

राग के मार्ग में प्रेम बढ़ता ही है, घटता नहीं। काम अपूर्ण है, इसी से उसकी तृप्ति या अन्त है। प्रेम पूर्ण है। उसकी समाप्ति नहीं।

काम और प्रेम एक ही वस्तु है। अशुद्ध और शुद्ध। काम का विनाश कर देने से संसार की शोभा जाती रहेगी। उसे शुद्ध करके राग में बदलिए। देखिएगा, वह आपका सदा का संगी है। फिर तो, सर्वत्र ही आनन्द—सदा बढ़ता हुआ आनन्द।

२०.८.२७ :

दो बिन्दु—दो शक्ति जब बहिर्मुख होती है, तब जगत्-दर्शन होता है, जगत् की सृष्टि होती है, परन्तु दोनों के मिले विना वह नहीं होता।

३.९.२७ :

प्रकाश का source है, इससे विकीरण होता है। अन्धकार का भी source है। प्रकाश का मूल source या ज्योतिराशि है द्यु लोक का nucleus. अन्धकार का मूल source है पृथिवी और पार्थिव वस्तु, विशेष कर पृथ्वी का केन्द्र।

यह द्यु लोक और भूलोक—Heaven और Earth—सत्त्व और तम। विकीरण = रज। बाहर जो प्रकाश देखते हैं, वह आलोक-कण तमःकणमिश्र और तमःकण आलोक-कणमिश्र है। ये कण ही रज हैं। ये मिश्र हैं। सत्त्वकण आकर यदि सत्त्वबिन्दु में लीन हों, तमःकण आकर यदि तमोबिन्दु में लीन हों—तो रज नहीं रह जाता। वह निष्क्रिय अवस्था है। अतएव, रज = सत्त्व और तम बिन्दुनिष्ठ शक्ति। सत्त्व और तम सर्वतोभावेन पृथक् हो, तो बीच में शून्य होता है। अवश्य उस समय दोनों ही अव्यक्त होते हैं, इसलिए बीच की बात नहीं कहीं जा सकती। वह चैतन्य है, पुरुष।

१६.७.२८ :

इन्द्रिय की राह मन बाहर बिखर जाता है। किन्तु, उसे संयत करके लाया जा सकता है। उस समय इन्द्रिय का काम नहीं होता, विषय-ज्ञान नहीं रहता। संकल्प रहने से केवल संकल्पित विषय ही जागता रहता है। मन के लिए इस प्रकार इष्ट वस्तु का दर्शन करना सम्भव है। एक विराट् चैतन्य में जगत् तिर रहा है। उस बोध में प्रयोजन के अनुसार इष्टवस्तु भी तिर रही है। वही मानों इष्टाकार धारण करती है। वास्तव में, ठीक-ठीक वस्तु का ही दर्शन होता है। मन के स्थिर होने से प्राण भी स्थिर होता है सही, लेकिन वह यथास्थान नहीं होता। इसलिए, इष्टवस्तु या स्थान का यथायथ दर्शन होते हुए भी वहाँ जाया या वहाँ आविर्भूत हुआ नहीं जा सकता। तन्मयता—ध्यानभंग होने से ही फिर वही। खाली मन देह को छोड़कर नहीं जा सकता। वह देख जरूर सकता है, लेकिन अपनी ही जगह से। प्राण कर्मेन्द्रिय आदि द्वारा बिखर जाता है। उसके भी संयम की प्रणाली है। वही प्राणायाम है। उसमें सिद्ध होने से कुण्डलिनी जागती है—नाभिचक्र खिलता है—शक्ति उद्दीपित होती है। क्रियाशक्ति का विकास होता है। फिर, प्राणशक्ति अपनी जगह पर जाकर स्थिर हो जाती है। तब, इष्टवस्तु के स्थान पर मन जा सकता है। क्योंकि, यह मन केवल मन नहीं होता, प्राणयुक्त मन होता है।

इसके बाद ही विशुद्ध ज्ञान का उदय होता है।

२६.७.२८ :

[बदरीनाथ शास्त्री को समझाने के समय प्रत्यक्ष हुआ।]

प्रथम अव्यक्त—साम्य—परमपद

१. बिन्दु

विशुद्ध वायु = सरल २. नाद—सादा आलोक। व्यापक। ऊँकार। स्वरहीन।

मलिन वायु= ३. मातृका या वर्ण। रंग
वक्र

४. बीज। यहाँ से स्थूल सृष्टि। कारण। इस बीज का त्याग शुद्ध संकल्प से होता है।

द्वितीय प्रकृति—क्षेत्र—गर्भकोष।

तृतीय कार्य—सन्तान भूमिष्ठ—लिंग—कार्यबिन्दु—मन। यह बिन्दुत्याग मलिन संकल्प या काम में होता है। क्षेत्र पंचभूतमय।

चतुर्थ फल—स्थूलदेह।

बीज को मातृका, मातृका को नाद, नाद को बिन्दु करना होता है। बिन्दु अव्यक्त होता है—व्यक्त होता है स्वभाव में। साधना का चरम है बिन्दुस्थिति। मातृका-पंचाशत्—कारण, ४९ विकृत वायु, १ प्रकृति वायु। वायु है तो एक, किन्तु सात रश्मिभेद से सात वर्ण—सुतरां, ७ वायु। सप्तीकरण से ४९। मूलसह ५०। यह ५० मातृका या वर्णमाला ही 'अ—-क्ष'माला है। यही षट्चक्र की तेजोराशि है।

बीज को मातृका में बदलना होता है। सारे ही बीज उन ५० मातृकाओं में विलीन हो जाते हैं। पचास मातृकाएँ एक मातृका हो जाती हैं। वह मातृका मूलरूपा है—त्रिवर्णात्मिका। एक-एक वर्ण एक-एक रश्मि या रेखा है। अतएव, यह रेखात्रयमयी है, अर्थात् त्रिकोणाकार। अर्द्धमात्रा नादबिन्दु-पथ को लेकर। यही सार्द्धवलयाकार कुण्डलिनी है। एक ही सरल रेखा टेढ़ी होकर त्रिभंग—तिकोनी हुई है। फिर, ब्रह्मतेज के प्रभाव से वह सरल हो जाती है। फिर, वह मातृका नहीं रहती। मातृका से ही बन्धन है—आवरण। क्योंकि, तीन रेखा होकर आवरण होता है। रेखा सरल होने से रंग सादा होता है—स्वरादिहीन अनाहत नाद फूटता है। यह विशुद्ध वायुभूमि में होता है। तब ब्रह्मनाडी उन्मुक्त होती है। यही नाद का स्तर है। उस समय सर्वव्यापक नाद ही रहता है—मातृका नहीं होती, वर्ण नहीं होता। इस अवस्था में सरल रेखा ऊर्ध्व या अन्तराकर्षण होती है। मातृका से मध्याकर्षण या बाह्याकर्षण का आरम्भ होता है। नाद के उपसंहृत होते ही बिन्दु या चैतन्य। नाद भी चैतन्य है—परन्तु शक्तिरूप। बिन्दु शिवरूप। अथवा नाद व्यापक शक्ति है, बिन्दु उस शक्तिधारा की घनीभूत अवस्था। वह भी शक्ति है। अव्यक्त होने से ही यह शिवपद है।

बिन्दु से सृष्टि होती है--बिन्दु में ही लय होता है। जब मातृका या वर्ण कई मिलते हैं, तभी बीज उत्पन्न होता है, जिसके क्षेत्र में पड़ते ही सृष्टि आरम्भ होगी। इस प्रकार से ही वर्ण-संघात से अनन्त बीज उत्पन्न हुए हैं। परन्तु, सारे वर्णों के समभाव से मिलने से सादा हो जाता है—तब कोई वर्ण नहीं रह जाता। जो तेज फूटता है, उसमें दाहिका शक्ति रहती है—वह मन को दग्ध करती है, गति को सरल करती है, वैसे में मातृका या वर्ण नहीं रहता। वह 'अग्नि' नाम से ख्यात है। यह अग्नि ही पावक है। यह

सब कुछ को भस्म कर देती है। यही अग्नि भी वस्तुतः सूर्यमण्डल-प्रतिबिम्बभूत है। इसके जागने से बिन्दु के खिंचाव का अनुभव होता है। इस तेज से उठा लेता है। किन्तु, मातृका में से कई यदि मिलें, तो बीज होता है। उससे अग्नि नहीं जागती, वह संहारसूचक नहीं। उससे बिन्दु से अमृत में आ पड़ता है। इसीलिए बीज शक्ति है। पहले सृष्टि, बाद में अनुप्रवेश। बिन्दु-नाद के क्रम से। चन्द्रबिन्दु से ही सृष्टि होती है। कई मातृकाओं के मिलने से ही बीज होता है। उससे बिन्दु का साक्षात् सम्बन्ध है। इस स्थिति में अधः-आकर्षण रहता है। इसीलिए, बिन्दु की धारा उतरकर बीज में पड़ती है। यह क्रिया है। इडा-पिंगला खेलती हैं। वृष्टि जो होती है, मेघ—मेहन जो वर्षण करता है, वर्ष्म या वपु तैयार करता है—वह इसी पथ से। बिन्दुपात ही सृष्टि का मूल है। यह इडा आदि पथ में आ पड़ता है—उतरता है।

Focuss करके अग्नि भी होती है, जो संहारक है। और, बीज भी होता है (चन्द्र-कलात्मक)—जो सृष्टि का मूल है। सभी वर्णों को संहत किये बिना अग्नि भी नहीं होती है। सभी मातृकाओं की समष्टि एक होने से सादी होती है—उस समय ऊर्ध्वाकर्षण आप ही फूटता है। कुछ मातृकाओं के संघात से जगत् के सारे ही पदार्थों के बीज होते हैं, जिनमें किसी-न-किसी वर्ण की प्रधानता होती है। अधः-आकर्षण रहता है।

२५.५.३० :

स्थूल आवरण के हट जाने से एक आकाश दिखाई पड़ता है। सभी जीव वहाँ नक्षत्र-से दीखते हैं—जैसा जिसका विकास। विकास कम होने से दिखाई नहीं पड़ता।

उस आवरण का भेद करने से कारण दिखाई देता है। जहाँ सूक्ष्म में विकास नहीं दिखाई देता, वहाँ कारण में अतिशय विकास दिखाई पड़ता है।

१६.६.३१ :

सारी देह के बोध को स्पर्श-आश्रय से एक जगह केन्द्रीभूत कीजिए। कुछ भी स्पर्श मत कीजिए। केवल भूमिस्पर्श रहा। उस स्पर्श को बोध के द्वारा सजीव कीजिए। वहीं आकर 'मैं' का भाव जमेगा।

बाद में वह ढीला हो जायगा। उस समय आकाशस्थिति—शून्य में स्थिति होगी। वह स्थूल से लिंग की विविक्तता है।

ढीला होने का उपाय क्या है? स्पर्श तक 'मैं' का भाव घनीभूत होकर देह के स्थान-विशेष में निबद्ध है। वह एकाग्रभाव है। वहाँ आने से ही एक व्यापक और विराट् सत्ता बोध में तिरती रहती है। उसको पकड़ते ही स्पर्श छूट जाता है। कुछ को पकड़े बिना स्पर्श को छोड़ा नहीं जा सकता।

व्यापक सत्ता को पकड़ना जब आयत्त हो जाता है, तब उसे पकड़कर जो चाहे सो किया जा सकता है और स्थूल को छोड़ते ही वही प्रतिभात होता है। विशाल सत्ता-सागर

में लिंग तिरता रहता है—अहम्भाव-मात्र ही लिंग रहता है। जिस भाव का उदय होता है, उसी का दर्शन होता है। यह दर्शन दृश्य के साथ आंशिक एकात्मता है। परन्तु, द्रष्टा पृथक् रहता है। दृश्यदर्शन युगपत् नहीं होता।

लिंग भी रंजित होता है। उसके पीछे जा सकने से उज्ज्वल प्रकाश मिलता है। उस स्थिर प्रकाश में लिंग का क्रमिक रंजन दिखाई पड़ता है। लिंग के बाहर जाने से ही कारण में अहम्भाव रहता है। युगपत् दर्शन होता है—पूर्ण या आंशिक। ईश्वरकारण या जीवकारण। यह अभेद-दर्शन है।

२४.१०.३१ :

कार्य बिन्दु = अणु। कार्य जो है, बिन्दु उसका अणु है। इस अणु का क्रम-विकास ही कार्य है। इसकी पुष्टि ही उसका जीवन है। पूर्णकल अग्नि इसमें वर्त्तमान है। यह अबुद्ध है—जबतक इसका अभिभव नहीं होता, तबतक सृष्टि का विकास नहीं हो सकता। इसका अभिभावक सोम है। सोम को जगाना पड़ता है। जागते ही स्वभावतः वह बाहर की ओर दौड़ता है। फलस्वरूप, सोमकला की वृद्धि के साथ-साथ अणु पुष्ट होता रहता है। सोम की पूर्णता होने से ही जीवन समाप्त होता है।

५.१.३२ :

शुद्धसत्त्व—खण्ड—प्रत्येक जीव के ही साथ है। आँखें बन्द करने से जो अँधेरा दिखाई देता है, वह शुद्धसत्त्व के ऊपर का आवरण-मात्र है। चित्त की शुद्धि के साथ-साथ उस आवरण में तारतम्य होता है। नाना रंग दिखाई देते हैं। वास्तव में, वह मूलाधार या back-ground है। भीतर का अन्धकार जब दूर होता है, तब वह एक दर्पण की भाँति प्रकाशित होता है। उसके सभी काल, सभी देश प्रतिबिम्बित दिखाई देते हैं। परन्तु, इच्छा होनी चाहिए।

वह दर्पण एक आकाश जैसा है। वही दहराकाश है। आँखें खुली रहने पर भी वह और उसका प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार, कान खुले रहने से भी उसका शब्द सुनाई पड़ता है। उसी के क्षोभ से रूप, रस, शब्द आदि फूटते हैं। वह शब्द आदि की प्रकृति है।

बाहर जो कुछ भी देखते या सुनते हैं, वह मलिन सत्त्व के ऊपर है। बहिराकाश में। बाहरी जगत् के भीतर-भीतर अन्तर्जगत् दिखाई देता है।

शुद्धसत्त्व ही बिन्दु है। विक्षेप दूर होने से एकाग्रता होती है, फिर प्रज्ञा पाने से शुद्धसत्त्व मिलता है। इस बिन्दु के क्षोभ से ही नाद या वेद का आविर्भाव है। समग्र अन्तर्दृश्य वेद का ही रूप है। एक में ही सब दिखाई देता है। ब्रह्मचर्य द्वारा बिन्दु को स्थिर नहीं करने से वह दर्पण प्रकाशित नहीं होता। वेद या नाद या ज्ञान उसी दर्पण का स्वाभाविक स्फुरण है। उसको आश्रय करके ही चैतन्य में जाया जाता है।

५.१.३२ :

कला की समष्टि में बिन्दु है। नाद का घनीभूत भाव ही बिन्दु है। जब कला बिखरी हुई होती है, तब नाद भी बिखरा रहता है। उसे समेटने से ही बिन्दु। इस बिन्दु का बीच शून्य है—वहाँ निष्कल दिखाई देता है।

शून्य के मानी कला नहीं है—अतएव, निष्कल। लेकिन, सूक्ष्मता की कला होती है—वह उस समय जानी नहीं जाती। शून्य का भेद होने से ही उस सूक्ष्म कलामय जगत् में प्रवेश होता है। वहाँ भी कलासमष्टि होते हुए भी बिन्दु पाया जाता है। वहाँ का शून्य = महाशून्य। वहाँ से निष्कल दिखाई पड़ता है—पहले ही जैसा।

इसके बाद का जो शून्य है, वह अतिशून्य। वहाँ स्थिति मिले, तो यथार्थ निष्कल हुआ जा सकता है।

बिन्दु से सारे कण बाहर होते हैं :

A से B बाहर होता है - सरल रेखा में। B से b^1, b^2 इत्यादि बाहर होकर A को घेर लेता है। घेरना पूरा होते ही B से C बाहर होता है। वहाँ से c^1, c^2, c^3 आदि निकलकर पहले चक्र को घेरते हैं। इसी प्रकार अन्त तक।

इस प्रकार A से B की ओर रेखापात करने से ही स्तर-स्तर में चक्ररेखाएँ आप ही हो जाती हैं। E में समाप्त।

और फिर E से A में आने के समय सब चक्र सिमट जाते हैं।

२३.१.३२ :

[१]

समग्र जगत् वायु में तिर रहा है—सारे दृश्य ही उसमें तिरते हैं। व्यवधान, गुरुत्व, भिन्नता आदि सब इसी के फल हैं।

जब आकाश का दर्शन होगा, तब देखा जायगा कि समग्र जगत्—बाह्य जगत्—आकाश में तिर रहा है। ठीक वैसा ही, जैसा दर्पण का प्रतिबिम्ब। वायु में देखने से ओट रहती है, आकाश में देखने से ओट या आवरण नहीं रहता। वायु में देखने का अर्थ-ही है इन्द्रिय द्वारा देखना। वायु को हटाकर या उसे निष्कम्प करके आकाश में देखने से एकस्थ समग्र विश्व ही दिखाई पड़ता है। यही विश्वरूप-दर्शन है। इस समय इन्द्रियाँ नहीं रहतीं, अर्थात्, इन्द्रियाँ मन के द्वारा अनुप्रविष्ट होती हैं—उससे देखा जाता है। सारा जगत् ही देखा जाता है, ठीक परिछाईं की नाईं। प्रतिबिम्ब जैसे ठीक बिम्ब जैसा है, किन्तु गुरुत्व आदि, व्यवधान आदि से वर्जित–यह भी वैसा ही। उस समय समझ में आता है कि जगत् आकाश का ही विवर्त्त है, आकाश से ही उठता है, आकाश में ही रहता है और फिर आकाश में ही मिल जाता है। यही आकाश मूलभूत है।

यह दर्शन दो प्रकार का है—सकाम और निष्काम। निष्काम दर्शन में आकाश में समग्र जगत् ही देखा जाता है। आकाश से अभिन्न रूप। आकाश एक और अविभक्त है। जगत् भी एक और अविभक्त ही दिखाई पड़ता है—मानों ठीक आकाश ही हो। विभक्त रूप में देखने से समग्र दर्शन नहीं होता। सुतरां, समग्र जगत् को देखने का मतलब है विशुद्ध आकाश को देखना या एक निर्मल दर्पण को देखना। यही जगत् का प्रकृति-दर्शन है।

किसी विशिष्ट वस्तु को देखने के लिए कामना या इच्छा चाहिए। वह सकाम दर्शन है। वह आकाश काम के प्रभाव से इष्ट पदार्थ के रूप में विकार या विवर्त्त को जन्म देता है।

आकाश-दर्शन करके—आकाश होकर—जो भी चाहा जाय; वही आविर्भूत होता है। इष्ट वस्तु का आविर्भाव या उत्पत्ति या अभिव्यक्ति—एक ही बात है। ऐसा ही एक आकाश और है, उसे 'चित्त' कहते हैं। वह भी एक प्रकार का दर्पण-सा ही है। यहाँ भी सकाम और निष्काम दर्शन होता है। निष्काम भाव से देखने पर सिर्फ दर्पण ही देखा जाता है। यही विश्वचित्त या Cosmic Mind है। यही समष्टिलिंग है। इस आकाश में सभी चित्त देखे जाते हैं—अपना चित्त भी। इस चित्ताकाश का दर्शन करके—होकर—जो इच्छा होती है, वही आविर्भूत होता है। जब सारे ही चित्तों का दर्शन होता है, तब अविभक्त भाव से ही होता है—केवल चित्ताकाश-रूप में। जब किसी विशिष्ट चित्त को देखने की इच्छा होती है, तब उसी चित्त का उदय होता है।

यहाँ एक विचित्र बात का उल्लेख किये विना नहीं रहा जाता। बाह्याकाश में जिस भाव और सत्ता का उदय होता है, वह देशमूलक है। अन्तराकाश या चित्ताकाश में जिस भाव या सत्ता का उदय होता है, वह कालमूलक है। अर्थात्, बाह्याकाश में जो गुलाब का फूल आविर्भूत हुआ, उस फूल के अवयव एक ही समय हैं—यौगपद्यविशिष्ट होकर विन्यस्त होते हैं। यही देश है।

अन्तराकाश में यदि वह फूल ही खिले, तो उसके अवयव एक के बाद एक—in succession—प्रकाशित होंगे। यही काल है। अन्तराकाश में जो कुछ भी देखा आता है, सब चित्त का—चित्ताकाश का—विकार है। अर्थात्, चिन्तास्वरूप। यह एक-एक करके प्रकाशित होता है। चिन्ता की यह जो एक-एक पूर्वापरविन्यस्त कालिक धारा है, इसी को एक-एक चित्त कहते हैं। अन्तराकाश में वह गुलाब भी चित्त का विकार है। अवश्य बाह्याकाश में वह भूत का विकार है। भूतसृष्टि के मूल में ही एक दृष्टिभ्रम है। अलात-चक्र=गोलाकार आलोक। यह लेकिन नहीं है। आलोक-बिन्दु जरूर है, वही गति-विशेष के प्रभाव से गोल दिखाई देता है। एक ही बिन्दु भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न स्थान में स्थित है। किन्तु, क्रम का लक्ष्य नहीं होने से यौगपद्य का भ्रम होता है, इसीलिए गोल दीखता है। सभी आकार ऐसे ही हैं। जिस आवरण में क्रम नहीं दिखाई

देता, वह यदि दो दिन रहे और वह गति भी यदि दो दिन रहे—तो दो दिनों तक वह गोल वस्तु continue करेगी।

स्थूलदर्शी जीव के नेत्रों में क्रम का तिरोधायक आवरण लगा ही रहता है। इसीलिए, आकार स्थायी प्रतीत होता है। अवश्य उधर गति भी चलती है। यौगपद्य नहीं—इसलिए, देश भी नहीं, आकार भी नहीं। सुतरां, बाह्यजगत् ही नहीं।

क्रम है—काल है—प्रवाह या गति है। यह कालिक गति है। अर्थात्, क्षणिक विज्ञानधारा। क्षणिक प्रवाह के आच्छन्न होने से ही ज्ञान ज्ञेय रूप में प्रतिभात होता है। अनेक आकार में दिखाई देता है।

[२]

निष्कल—निरंजन।
चित्कला—चिद्बिन्दु = चिदाकाश = अनन्त शून्य = परमेश्वर।
चित्तकला—चित्तबिन्दु = चित्ताकाश = महाशून्य = ईश्वर।
भूतकला—भूतबिन्दु = भूताकाश = शून्य = जीव।

चित्ताकाश-रूप बिन्दु क्षुब्ध होकर क्षण (minimum विज्ञान्)-रूप में प्रवाहित होता है।

भूताकाश-रूप में बिन्दु क्षुब्ध होकर अणु (minimum ज्ञेय)-रूप में चलता है।

विक्षुब्ध चित्तकला बाहर होकर जहाँ घनीभूत हो जमा है, वही भूताकाश-रूप बिन्दु है। इस जमने के मूल में क्रम-तिरोधायक आवरण है। यह अज्ञान या देश है। क्रमभावी क्षण कभी वास्तव में समष्टिभूत नहीं हो सकता—यौगपद्य का भ्रम। अतएव, भूतबिन्दु का आविर्भाव केवल भ्रम है।

उसी क्रम को मानकर भूत से भौतिक जगत् तैयार होता है।

भौतिक जगत् का पहला आवरण हटाते ही देखा जाता है कि क्षणधारा या काल-स्रोत तीव्र वेग से चल रहा है। यही ज्ञानधारा है। ज्ञेय नहीं।

अन्तराकाश में सम्भवतः पाँच पथ हैं। इसीलिए, क्षण-ज्ञानधारा पाँच पथों से चलती है। ये पाँच प्रकार के क्षण-विज्ञान या पाँच तन्मात्र हैं। शब्दधारा = मूल, मध्य। चार धारा चार ओर। इसके मूल में एक धारा है। वही वास्तविक क्षण-विज्ञानधारा है, कारण रूपज्ञान या रसज्ञान नहीं, किन्तु ज्ञान है।

बाह्याकाश में भी ऐसा ही है। आकाश = मध्य। चार भूत चार ओर। आकाश के ऊपर भी एक है। वही यथार्थ ज्ञेय है।

चिदाकाश-रूपी बिन्दु क्षुब्ध होकर चित्कला-रूप में प्रसृत होता है। यह क्षुब्ध चित्कला की समष्टि ही चित्ताकाश-रूप बिन्दु है। इस समष्टि के मूल में क्रम का आविर्भावक

एक आवरण है—यही ज्ञानशक्ति या **काल** है। अनन्त प्रसृत चित्कला में काल के सम्बन्धवश बिन्दुभाव होने से ही विराट् चित्त उत्पन्न होता है। वह क्षणप्रवाही है।

१७.१.३२ :

स्वप्रकाश चैतन्य ही है।

उससे जब महामाया की स्फूर्त्ति होती है, तब एकांश दर्शक रहता है, दूसरा अंश दो भागों में बँट जाता है। दो विभाग होने से भी बीच में तीसरे का उदय होगा ही। दृश्य अंश ज्योति और अन्धकार—सत्त्व और तम। सत्त्व और तम के अलग होते ही दोनों से एक धारा मिलती है। वही रज या खण्डसत्त्व है, जो तमोमय है।

१७.१.३२ :

प्रकृति के दो स्रोत हैं—सत्त्व से तम की ओर और तम से सत्त्व की ओर। सत्त्वबिन्दु तम के गर्भ में पड़कर क्रमशः विकसित होता है। इस विकास के पथ पर जन्म-मृत्यु के द्वारा ही अग्रसर होता है। मृत्यु के बाद ही आगे बढ़ता है।

मनुष्य में आकर स्रोत बन्द हो जाता है।
प्रथम जन्म हुआ है अविद्या प्रकृति में।
द्वितीय जन्म होता है विद्या प्रकृति में।
तृतीय जन्म होता है चेतना प्रकृति में।
प्रथम जन्मदाता = ईश्वर = पिता।
द्वितीय जन्मदाता = सदाशिव = गुरु।
तृतीय जन्मदाता = चैतन्य = चैतन्य।

२३.१.३२ :

सभी तत्त्व में अभाव रहता है, इसीलिए अतृप्ति है। वह भाव द्वारा पूर्ण होता है। तृप्ति आती है। यह अभाव-बोध ही पिपासा है। जबतक अभाव है; तबतक हम प्रकृति हैं, चंचल, negative. अभाव मिटते ही पुरुष।

२७.१.३२ :

हम जिस किसी चीज को भी देखते हैं, आलोक में ही देखते हैं। चीजें आलोक का ही एक-एक आकार हैं। इस आकार को डुबाने से केवल आलोक ही दिखाई देगा।

आकार डुबाने का एक रहस्य है। विक्षिप्त अवस्था में एक आकार को डुबाया नहीं जा सकता। आपेक्षिक रूप से अभिभूत करने पर भी दूसरा आकार उसका स्थान ग्रहण कर लेगा। यही स्वप्न है। वास्तव में, पहले सब आकार का एक आकार में लीन होना आवश्यक है। तभी, जो ठीक आलोक है, वह नहीं रहेगा। एक घनीभूत आलोक मिलेगा, जिसमें वह एक आकार तिरता है। वास्तव में, वही आलोक मेरे वर्त्तमान का

आलोक है। सभी देश को समेट लाने से काल भी सिमट आता है। उस समय स्मृति और आशा एक हो जाती हैं।

उस आकार को डुबा देने से ही विशुद्ध ज्योति मिलेगी। इस ज्योति में इच्छानुसार अपना अतीत और भविष्य देखा जा सकेगा, दूसरे का नहीं। जिस आलोक में अपना जीवन तिरता चल रहा है, यह वही आलोक है; अवश्य विशुद्ध। इसके बाद ही अन्धकार है। जब यह अँधेरा दीखेगा, तो वह दो प्रकार से दीखेगा :

१. एक अन्धकार के बीच में खद्योतवत् वह पूर्वज्योति। इस प्रकार ज्योति असंख्य है।

२. केवल अन्धकार ही। अन्धकार के बाद ही फिर एक आलोक है—उसी आलोक में ही सारा जगत् तिर रहा है।

वह आलोक देखना भी दो तरह का है :

२. आलोक में जगत् को देखना—दर्पण में दिखते नगरवत् विश्वदर्शन।

३. केवल आलोक को देखना।

पहले के आलोक को **ज्ञानज्योति** कहते हैं। यह आत्मा की ज्योति है। इसे **चैतन्य-ज्योति** कहते हैं। यह परमात्मा की ज्योति है।

पूर्वोक्त ज्ञानज्योति के बाद और चैतन्यज्योति से पहले एक ज्योति है—वह जीवात्मा के समष्टिभाव से या परमात्मा के व्यष्टिभाव से होती है। अर्थात्, एक—जीव-ज्योति—ब्रह्माण्डज्योति।

चैतन्यज्योति के बाद विराट् शून्य है।

२७ १.३२ :

जो भी शब्द सुना जाता है या दृश्य दिखाई देता है, सब शक्ति का विकीरण है। उसे घनीभूत करने से ही source पकड़ में आता है। तब केवल एक ही नहीं, सब आयत्त होता है।

जैसे, दूर से एक आवाज सुनाई पड़ी। उसे घनीभूत करते ही, जिसने आवाज की है, वह भी दिखाई देगा। आदि।

शब्द के साथ ही रूप तिरता है—जो बोलता है, जो कुछ बोलता है। यदि शब्द शोधित हो। जो शब्द हम सुनते हैं, उसमें बाह्यभाव मिलता है; क्योंकि शब्द बाहर आता है। हम यदि पहले से ही अपने क्षेत्र से बाहर के उपादान को हटाकर रखें, तो, या बाद में बाहरी उपादान हटा लेने से विशुद्ध या संस्कृत शब्द सुनने को मिलेगा। जो आवाज करता है, उसमें उसको भी देखा जायगा —जो विशेष शब्द करता है, अर्थात् जो चिन्ता द्वारा शब्द प्रवर्त्तित हुआ है, वह भी देखा जाता है।

शब्द के साथ-ही-साथ अर्थ तिरता है।

शब्द से प्रत्यक्ष ही होता है, लेकिन दो condition हैं :

(क) श्रोता विशुद्ध होना चाहिए। नहीं तो श्रोता को स्पर्श करके शब्द मलिन—आवृत—हो जाता है।

(ख) वक्ता के बोलने के समय अर्थ-साक्षात्कार करना चाहिए। कम-से-कम स्मरण।

श्रोता शुद्ध हो, तो वक्ता के अर्थ-स्मरण से भी श्रोता को प्रत्यक्ष हो सकता है। लेकिन, श्रोता साधारण होने से वक्ता का प्रत्यक्ष दर्शन उस समय आवश्यक है—नहीं तो भविष्य में श्रोता का प्रत्यक्ष होना असम्भव है।

२८.१.३२ :

क्षुधा सबके है—जैसी देह की, वैसी ही इन्द्रिय आदि की। इसलिए, सबको ही आहार चाहिए। क्षुधा का बोध नहीं होने तक जडत्व है—एक प्रकार का रोग। क्षुधा का बोध होने से जो-सो खाने से रोग बढ़ता है।

आहार सबको चाहिए। आँख की भूख मिटाने के लिए उसका भोग्य रूप दीजिए। तब वह भूख मिटेगी। रूप-विशेष से भूख मिटती तो है, पर फिर भूख लगती है। ऐसा ही सर्वत्र जानिए।

यह भूख होना स्वास्थ्य का लक्षण है। भीतर भूख, बाहर उसका अन्न। भूख है, तो समझना चाहिए कि उसके योग्य अन्न है। जो अन्न हम खाते हैं, वह शुद्ध नहीं है, इसलिए, भीतर उसका शोधन होता है। सार—सत्त्व—लिया जाता है, असार को बाहर किया जाता है। रूप में भी ऐसा ही है, जो रूप देखते हैं, उसका जितना कुछ हमारी आँखों का पोषक है, उतना प्रकृति ले लेती है, बाकी को बाहर कर देती है। ऐसा निरन्तर होता है—तभी आँखों का जीवन चल रहा है। आँखों की भूख अनन्त नहीं है, इसलिए उसका आहार भी अनन्त नहीं है। यदि ऐसा होता, तो जगत् के सान्त रूप से वह आकृष्ट नहीं होती, तृप्त भी नहीं होती। जब क्षुधा वास्तव में इतनी प्रबल होती है कि वह और किसी भी रूप से नहीं मिटती, पल के लिए भी नहीं, तब वह अमृत-रूप निश्चय ही आविर्भूत होगा, जिससे उसकी तृप्ति होगी। उस रूप में असार नहीं है, इसलिए, वह सब प्रकार से ग्राह्य है।

ऐसा अमृत है, जो आँखों के आगे नित्य-रूप है, कानों में नित्य-संगीत है। जिसके-जिसके क्षुधा है, सबको वह तृप्त करता है। वही अमृत ही अभाव का भाव है।

महा अभाव का—महाभाव।

=काम=आनन्द।

जैसा काम वैसा आनन्द।

चिकीर्षु के निकट वह अमृत = क्रियाशक्ति ।
जिज्ञासु के निकट वह अमृत = ज्ञानशक्ति ।
क्योंकि, कामी के निकट वह अमृत = इच्छाशक्ति ।
प्रथम भूमि में वह कर्म — सिद्धि-ऐश्वर्य-भोग ।
द्वितीय भूमि में वह ज्ञान — कैवल्य, मोक्ष ।
तृतीय भूमि में वह भक्ति — प्रेम ।

२८.१.३२ :

प्रणव से बीज घिरा रहता है। प्रणव = शब्द। यह मूल शब्द बीज को ढके रहता है। शब्द के आवरण को जरा हटा देना होता है, तभी तो बीज फूटता है—प्रकाश का अवसर पाता है। बीज = अव्यक्त चैतन्य या शक्ति की अव्यक्त अवस्था। उसका आवरण है शब्दब्रह्म। शब्द का आवरण नहीं रहने से वह नहीं रह सकता। शब्दावरण बराबर ही रहता है। लेकिन, जरा फाँक कर देने से ही अव्यक्त चैतन्य अभिव्यक्त होता रहेगा।

बीजदाता गुरु। बीज शब्दावृत चैतन्य। वेद, मन्त्र।

फलदाता गुरु। फल = शब्दमुक्त चैतन्य। देवता।

बीज और फल के बीच है कर्म। बीज पाने से तब कर्म का प्रारम्भ—कर्म के अन्त में फल। कर्म का उद्देश्य है चैतन्य से शब्द को हटा लेना। साधना-मात्र का ही यही उद्देश्य है। यही पुरुषकार है।

३.२.३२ :

उनके समान वही हैं—और कुछ नहीं हो सकता।

इसलिए, किसी उपाय से उन्हें पाया नहीं जा सकता, यदि पाया जाता, तो उपाय उनके समक्ष होता।

वह स्वतन्त्र हैं—इसलिए, किसी भी प्रकार से उन्हें पकड़ा नहीं जाता, यदि वह स्वयं नहीं पकड़ाई दें।

कर्म के द्वारा ठीक वह नहीं मिलते, विभूति मिलती है। ज्ञान से मिलती है आत्मा। भक्ति से मिलते हैं परमात्मा।

उनके द्वारा ही वह मिलते हैं। क्योंकि, उनका मूल्य नहीं है। यही कृपा या अनुग्रह है। जो अनुग्राहक हैं, उनके साथ bartering नहीं चलता। ऐसी कौन-सी सम्पत्ति है, जिसके प्रतिदान में अनुग्रह मिल सकता है ? अनुग्रह बिकता नहीं।

६.२.३२ :

चैतन्य सकल और निष्कल दोनों हैं।
निष्कल चैतन्य ही परमपद है।

सकल चैतन्य ही परमेश्वर है। यहाँ अनन्त कला महाबिन्दुरूप में होती है। ज्ञान के भी परमाणु है, चैतन्य के भी परमाणु है। सबके ही परमाणु है।

जिससे जिसका उद्भव होता है, उससे ही उसका प्रकाश होता है। जिस आलोक से यह जगत् उत्पन्न हुआ है, उस आलोक के सिवा यह जगत् दिखाई नहीं देगा।

चैतन्य : एक आलोक में कला देखी जाती है।

विद्या : दूसरे आलोक में गुण देखा जाता है।

बुद्धि : दूसरे आलोक में अणु देखा जाता है।

१९.२.३२ :

दीप की लौ को देखता हूँ। चारों ओर प्रभा छिटक गई है। यह देखना ठीक देखना नहीं है। क्योंकि, दीये की ज्योति विक्षिप्त अवस्था में है। ये विक्षिप्त अंश उपसंहृत होकर दीप की लौ में लौट आयें, तो चारों ओर कुछ भी नहीं दिखाई देता। उसे अन्धकार कहो या शून्य कहो—एक ही बात है। ऐसे में कहा जा सकता है, दीप की लौ एकाग्र हुई है। उस समय का दर्शन यथार्थ दर्शन है। उसमें बाहरी चीजों का मिश्रण नहीं है। यह यदि स्थायी हो जाय, तो कहा जायगा, दीप-कलिका को वज्रभाव प्राप्त हुआ। इस अवस्था में उसे कोई बुझा नहीं पायगा। उसकी मृत्यु नहीं। क्योंकि, मृत्यु बाह्य वस्तु का घातजनित आवरण है—जो विशुद्ध है, जिसमें बाह्य जगत् का मिश्रण नहीं, और हो नहीं सकता, उसकी मृत्यु नहीं होती।

लेकिन बात यह है—तो मैं ही कैसे देखूँगा? इसका उत्तर है—मैं भी उस समय वज्रभावापन्न होऊँगा। मेरी सारी इन्द्रियाँ मन की विक्षिप्त प्रभा हैं। उस समय इन्द्रियाँ उपसंहृत होकर मन में घनीभूत रहती हैं। मन वज्रावस्था को प्राप्त करता है। ऐसा मन ही वैसी दीप-कलिका के दर्शन में समर्थ है। यदि सचमुच ही कोई दीप-कलिका को वैसा कर दे, और मैं द्रष्टा होकर सामने रहूँ, तो मेरे मन और इन्द्रिय को आकर्षणवशात् अपने-आप ही वज्रवस्था प्राप्त होगी। उसके लिए अलग से चेष्टा नहीं करनी होगी। परन्तु, वैसा करना उचित नहीं। क्योंकि, हठात् विक्षिप्त रश्मियों के सिमट आने से भयंकर nervous shock लगेगा। और, उस वज्रदीप के दर्शनमात्र से ही मोह आयगा। क्योंकि, मैं बोध नहीं रख पाऊँगा। इसके लिए शनैः-शनैः मन को तैयार करना होगा। मन के दृढ होने से वह डर नहीं। तब वज्रमन से वज्रदीप का योग होता है—केवल वज्रदीप क्यों, जो भी देखा जाता है, वही वज्रमय। उस समय अब की भाँति बहुत-सी चीजें नहीं दिखाई देतीं। जो या जितना ग्रहण किया जाता है या करने की इच्छा होती है, ठीक वही और उतना ही देखा जाता है। क्योंकि, तब विक्षेप नहीं रहता। इसलिए, मन का जैसा विकल्प नहीं रहता, दूसरी ओर वस्तु में भी वैसा ही मिश्रभाव नहीं रहता। जिस समय जो दिखाई देता है, उस समय केवल वही दृश्य होता है।

इस वज्रावस्था के अनेक रहस्य हैं। मन के वज्रावस्था प्राप्त होने से चारों और क्या दिखाई देता है? कुछ नहीं। केवल अपने-आपको ही देखा जाता है। वज्र ही आत्मा है। मन आप अपने को ही देखता है। यही प्रज्ञा है।

देह आदि रहने तक, किन्तु उसमें स्थिति नहीं होती। केवल दर्शन होता है। दर्शन माने = उससे स्वप्रकाश-तादात्म्य। चेतनामय ऐक्य। उससे फिर उतर आता है।

यह दर्शन कैसा है? जवतक संस्कार रहता है, इच्छा रहती है, तबतक उसी का आकार। उसके अभाव में अव्यक्त। इच्छा-सहित मन को वज्र या आत्मभूमि में ले जाने से इच्छा का प्रकाश-काल मिलता है—उस आकार में आत्मदर्शन होता है। वहाँ लेकिन इच्छा या संस्कार नहीं रहता। क्योंकि, वह तृप्त होता है। उसी तृप्ति को उतारकर लाया जा सके, तो सृष्टि होती है। उतारने का भी कौशल है।

आत्मा या वज्र अव्यक्त है। यह निराकार या अनन्त आकारमय या अवर्णनीय है। इच्छा को वहाँ ले जाते ही इच्छा का ज्ञान में लय होता है, और तब साक्षात्कार होता है। बाद में क्रियाशक्ति-रूप में उतरना पड़ता है। इच्छा को लिंग या संस्कार-क्षेत्र से उठाते-उठाते—शोधित करते-करते—घनीभूत करते-करते—शुद्ध ज्ञानरूप में बदलना होता है। इस शुद्ध ज्ञानरूप इच्छा को–आकार को–उतारा कि सृष्टि हुई।

क्रम इस प्रकार है :

१. साधारण अवस्था—अहंकार है—मैं कर्त्ता और भोक्ता। ईश्वर असिद्ध। वर्त्तमान कर्म ही कर्म है। वह मेरी इच्छामात्र है।

२. उन्नत—अहंकार की तीव्रता कम होने से मोह कम हो आता है। तब यह प्रतीत होता है कि मैं ही कर्त्ता हूँ, किन्तु वह मैं शुद्ध वर्त्तमान तक ही सीमित नहीं है।

मेरी इच्छा या चेष्टा बाधित होती है—अल्पाधिक मात्रा में प्रतिहत होती है। कौन देता है बाधा? दूसरा और कौन है? मैं ही 'मैं' को बाधा देता हूँ। मेरा पूर्वकर्म—संस्कार-मेरे वर्त्तमान कर्म को बाधा देता है। यही मेरी प्रकृति है, इस समय पुरुषकार है—प्रकृति भी है। पहली बार मोहवश प्रकृति की सत्ता पर दृष्टि नहीं पड़ती। ज्ञान जितना ही बढ़ता है, उतनी ही अच्छी तरह से अज्ञान का पता मिलता है।

३. इसके बाद कर्त्तृत्व कट जाता है—तब दिखाई पड़ता है कि मैं कर्त्ता नहीं, मैं केवल द्रष्टा हूँ। यद्यपि वह मेरी प्रकृति है, तथापि अहम्भाव के नहीं रहने से ममत्व नहीं रहता। इसीलिए, मेरा है, यह ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। तब बाह्य प्रकृति ही कहना उचित है।

४. उसके बाद, प्रकृति का कर्त्तृत्व है, यह समझ में नहीं आता। तब क्रिया ही व्यक्त नहीं होती।

५. भगवान् की कृपा होने से—तब ज्ञात होता है कि वह कारयिता हैं, मैं कर्त्ता। लेकिन इस कर्त्तृत्व में भय नहीं, बन्धन नहीं। क्योंकि, यह दासता है, केवल हुक्म तामील करना। इस अवस्था में मैं द्रष्टा तो रहता ही हूँ, किन्तु कर्त्ता भी होता हूँ। (अवश्य, भगवान् की प्रेरणा से)। वह प्रभु हैं, नियामक—मैं नियम्य हूँ—यह बोध रहता है। यह आश्रितभाव है। मैं क्या देखता हूँ, देखता हूँ कि सर्वाधार से वह सब कुछ कराते हैं। मैं जो भी करूँ, कहूँ—मूल वही हैं। दूसरे के कहने, करने का भी मूल वही हैं। सारे संसार की सारी क्रियाएँ उन्हीं की इच्छा और प्रेरणामूलक हैं—यह देखा जाता है।

पाप-पुण्य इस अवस्था में नहीं रहता।

६. क्रम से यह देखा जाता है कि वही एकमात्र कर्त्ता हैं। मैं देखता हूँ, वह करते हैं। यही नाटक है—अभिनय। लीला का सूत्रपात। मैं द्रष्टा हूँ, वह अभिनेता। वही साक्षात् रूप में, अनन्त रूप में अभिनय करते हैं। क्यों? मुझे दिखाने के लिए। और कोई उद्देश्य नहीं। वह विश्वरूप, विश्वकर्मा हैं—यह देखा जाता है।

यही भक्ति का स्तर है। मैं देखता तो हूँ, पर देखकर आनन्द पाता हूँ। उनकी लीला के दर्शन का आनन्द। पहले आश्रित होकर दर्शक-भाव में नहीं रहने से इस लीलानन्द का सम्भोग नहीं होता।

७. फिर देखता हूँ कि वह अब कर्त्ता नहीं। वह भी द्रष्टा हो गये हैं। मैं उन्हें देख रहा हूँ। उस समय बाहरी लीला नहीं है। और, वह मुझे देख रहे हैं। परस्पर एक दूसरे की ओर ताक रहे हैं। यही प्रेम है। उनसे भी लहर उठ रही है। मुझसे भी लहर उठ रही है—दोनों लहरें परस्पर मिलती हैं।

८. इसके बाद आलिंगन—सम्भोग-शृंगार।

९. इसके बाद रसस्थिति।

२१.२.३२ : (रात्रि) :

महाबिन्दु से चारों ओर प्रभा बिखरती है। यह प्रभामण्डल ही उनका राज्य है। यहाँ उनका आकर्षण है। इसमें जो आ पड़ता है, उसी को वह खींचते हैं। यह खिंचाव अहेतुक है। लेकिन आने भर की देर है।

उपादान जितना ही निर्मित होता है, उतना ही कला-प्रकर्ष होता है—कलापूर्ण होकर बिन्दुभाव प्राप्त नहीं होने से उनका खिंचाव समझ में नहीं आता। उनकी ज्योति, कृपा, आकर्षण-बिन्दु पर सदा रहता है। परन्तु, बिन्दुभाव नहीं होने तक उसका पता नहीं चलता।

कला की वृद्धि होते-होते अपने मध्य की सारी कला की समष्टि होने से ही बिन्दु का निर्माण होता है। उस समय उनकी सत्ता की उपलब्धि होती है। बिन्दु के गाढ़ा हुए

बिना उन्हें पकड़ा नहीं जा सकता। ब्रह्मचर्य का भी वही उद्देश्य है—कला का विकास। ब्रह्मचर्य के प्रतिष्ठित हुए विना ज्ञान पाने की आशा नहीं।

जो साधक पुरुषकार द्वारा प्रकृति या कला के विकास में मदद कर रहे हैं, वह अग्रसर हो रहे हैं। लेकिन, भगवत्-तत्त्व नहीं जान पाते। निराश होने का कारण नहीं। महाबिन्दु के आकर्षण-क्षेत्र से बाहर रहने तक कुछ भी समझ नहीं सकते। फिर, अचानक ही धप्प से प्रकाश खिल जाता है।

२८.२.३२ : (८.२० प्रात) :

प्रतिबिम्ब सर्वत्र व्यापक होता है। प्रकाशक आधार के विना उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। वास्तव में, विश्व काल और देश के अतीत है। देश, काल और निमित्त का योग होने से ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। संसार में हम जो सब चीजें देख पाते हैं, वह भी प्रतिबिम्ब हैं—बिम्ब नहीं।

जैसे, गुलाब। मूल गुलाब अव्यक्त है। उसका नित्य अभिव्यक्त रूप ही शाक्त गुलाब है। यह शाक्तरूप—चैतन्यमय। यह नित्यरूप है। किन्तु, यह भी आभास है। यह शाक्त गुलाब महामाया के सहारे अभिव्यक्त होता है, वह बैन्दव गुलाब है। इसका आभास है गुलाब।

यह बैन्दव या आभास गुलाब महाकाल और महादेश में वर्त्तमान है। इसका काल वर्त्तमान क्षण है, देश यहाँ।

यह आभास मायागर्भ में पड़कर मायिक या विवर्त्त गुलाब में प्रकाशित होता है, आभास ज्यों-का-त्यों रहता है, पर मायिक गुलाब का आविर्भाव होता है।

यह मायिक गुलाब गुण के क्षेत्र में पड़कर प्राकृतिक गुलाब में परिणत होता है। यह कंचुकी पुरुष के भोग्य है।

बुद्धि में उतरकर यह बौद्ध-सात्त्विक-गुलाब की सृष्टि करता है। बौद्ध गुलाब अहंकार में उतरकर राजस या आहंकारिक गुलाब की सृष्टि करता है।

राजस गुलाब तन्मात्रा में उतरकर तान्मात्रिक या तामस गुलाब की सृष्टि करता है।

तामस गुलाब स्थलभूमि में पड़कर भौतिक या स्थूल गुलाब की सृष्टि करता है, जो परमाण्वारब्ध है। यह आरम्भ है। पंचीकृत गुलाव।

१३.३.३२ : (रात्रि ८ बजे) :

[१]

तेज को जगाकर, चक्र-चक्र में उठाकर आज्ञाचक्र में लाने से जब पचास वर्ष पूर्ण हो जाते हैं, तब तेजोमय लिंगशरीर स्थूल से पृथक् हो जाता है, शरीर से बाहर हो जाता है। साधारण अवस्था में लिंग स्थूल शरीर से बाहर नहीं हो सकता। अवश्य शुद्धभाव से।

साधारण मनुष्य का लिंग स्थूल से जड़ित होकर रहता है। षट्चक्र की साधना इस जड़ित भाव को तोड़कर लिंग को अलग करने के लिए है। देह के सार को देह से बाहर करना आवश्यक है। बाद में, जब वह देह में रहेगा, तब देह से अलग-अलग रहेगा, बन्धन ढीला हो जायगा। इस प्रकार, तेजसत्त्व और पार्थक्य-भाव नहीं होने से उपासना नहीं होती—सहस्रार के पथ पर नहीं जाया जाता।

साधन-क्रम में लिंगशरीर धीरे-धीरे निर्मित—अर्थात् अभिव्यक्त—होता रहता है। तबतक भी यह दृश्य होता है—यह स्थूलावच्छिन्न मैं ही द्रष्टा है। फिर, जब निर्माण पूरा होता है, तब झट उसी में अभिमान लग जाता है—इसीलिए द्रष्टा होता है—स्थूल शरीर दृश्य हो जाता है। वास्तव में, उस समय लिंग भी दृश्य होता है। अर्थात्, क्रमशः ऐसी क्षमता होती रहती है, जिससे लिंग को बाँटा जा सकता है—एक अंश अलग होकर द्रष्टा होता है, बाकी अंश दृश्य होता है।

सृष्टि के बाद ही अनुप्रवेश होता है।

सृष्टि करता कौन है? सृष्टि करती है प्रकृति। कहाँ से? योनि से। अनुप्रवेश कौन करता है? करता है पुरुष।

लिंग←→योनि
↓ ↓
लिंगांश←→देह
या ↓
जीव देही

[२]

काम, क्रोध, भक्ति, प्रेम, ज्ञान, अज्ञान आदि सबके ही उपादान हैं। सृष्टिकाल में सभी साकार—इनके आकार हैं। कला के पूर्ण होते ही पूर्ण आकार मिलता है। काम-कला पूर्ण होने से काम का नित्यरूप अभिव्यक्त होगा—ऐसा ही सर्वत्र। किन्तु, देशकाल के भेद से उनके नैमित्तिक रूप का भेद हो सकता है। काम आदि के बीज हैं—उन्हें energise करने से वे सजातीय कला को खींच लाते हैं। कला पूर्ण होने से बिन्दुरूप स्वरूप का प्रकाश होता है।

२०.३.३२ :

मेरी देखी हुई scheme इस प्रकार की है :

पूर्ण और उसका स्वभाव।

इस स्वभाववश अव्यक्त से निरन्तर असंख्य चिदणु स्खलित होकर तमोगर्भ में पड़ रहे हैं—शरीर-ग्रहण के लिए। शुद्ध जड में चैतन्य का प्रतिफलन नहीं होता।

चिदणु क्या है ? चैतन्य-सत्ता निष्कल और व्यापक एवं असंग है। जहाँ सत्त्वांश है, वह वहीं प्रतिफलित होता है। वही चिदणु है।

अखण्ड सत्त्व है। उसमें अनन्त सत्त्वांश हैं—विलीन भाव से मिला हुआ है। सत्त्व टूटकर सत्त्वांश नहीं होता, अखण्ड सत्त्व टूटता नहीं। ये नित्य अंश हैं। पर, मिले रहने से इनका पता नहीं चलता। अखण्ड सत्त्व में चैतन्य नित्य देदीप्यमान है। यही परमेश्वर हैं। अखण्ड सत्त्व = महाबिन्दु। क्षोभवश सत्त्वांश सत्त्व से बाहर होता है। बाहर ही तो अन्धकार है। इसीलिए, सत्त्व से पृथक् होने से ही सत्त्वांश अन्धकार में प्रविष्ट होता है।

एक प्रान्त में शुद्धसत्त्व है—उसमें अन्धकार नहीं। दूसरे प्रान्त में शुद्ध तम—उसमें आलोक नहीं। चैतन्य सर्वत्र है। किन्तु, शुद्ध अन्धकार में चैतन्य का प्रतिफलन नहीं। वही जड है।

यहाँ एक रहस्य देख पा रहा हूँ :

अलिंग सत्त्व और अलिंग तम वस्तुतः अभिन्न हैं। किन्तु, क्षोभवश जब दोनों मेरुओं का विकास होता है, तब एक ओर लिंग, दूसरी ओर योनि का आविर्भाव होता है। यही अद्वैत से पुरुष-प्रकृति का आविर्भाव है।

२४.३.३२ :

आज समझा कि शुद्ध सत्त्व चैतन्य को घेरे हुए है। यही बिन्दु (= महामाया) है। क्षोभ बिन्दु का होता है—तरंगें नाद और कला या अणु हैं। उसी प्रकार, शुद्ध तम (= माया) का भी क्षोभ होता है —तरंगें भूताणु या particles of matter हैं।

२७ ३.३२ :

निष्कल है—स्थिर, ध्रुव। उसे घेरकर एक चक्र नित्य घूमता है। राधाचक्र। मुझे लगता है, यही पराशक्ति है। निष्कल = शान्ति।

राधाचक्र = अनन्त गति। अतएव, वह भी स्थिर प्रतीत होता है। लेकिन, बाहर से देखने पर वह भयंकर गतिशील लगता है। यही गति जगत् को गतिशील, चेतन करती है। राधाचक्र दक्षिण आवर्त्त में घूमता है। क्यों घूमता है, इसका कोई कारण नहीं। अहेतुक। यही आराधना है। स्वाभाविक। यह चक्रभेद करने के बाद, तब जगत् के बाहर जाया जाता है।

व्यष्टि से समष्टि का मेल नहीं करके यदि व्यष्टि-राधाचक्र के बाहर जाया जाय, तो देहत्याग होता है—आतिवाहिक भाव मिलता है। सूर्य तक घूमा-फिरा जा सकता है। लेकिन, जगत् से बाहर जाना हो, तो राधाचक्र का भेद करना होता है। यह जो चक्र घूमता है, उसी से चैतन्य, ज्योति और नाद बिखरता रहता है। इसलिए, राधाचक्र बिन्दु या शुद्ध सत्त्व है।

१५.४.३२ :

यथार्थबोध बड़ा कठिन है। शुद्ध में बोध जगने से ही इच्छा की निवृत्ति होगी। इच्छा की निवृत्ति होने से 'मैं'-बोध जगेगा। आत्मसाक्षात्कार होगा। संसार की सारी इच्छाएँ ही एक इच्छा के विकास हैं। इस इच्छा को समेटे विना बोध, दर्शन नहीं हो सकता। सुतरां, आत्मदर्शन जब होता है, तब फिर इच्छा का विकास नहीं रहता। मैं और मेरी इच्छा के अधीन है, उस इच्छा के संहृत हुए विना इच्छा की मूल सत्ता के दर्शन का उपाय नहीं। इच्छा से ही सृष्टिलीला है। इच्छा के पश्चात् सत्ता। दर्शन होने से ही क्षणभर के लिए भी इच्छाबोध होता है।

दर्शन स्थायी होने से वही स्थिति—यह बड़ा कठिन है। जो पहले, अन्त में भी वही। प्रथम है दर्शन, अन्त्य स्थिति। प्रथम है क्षणचैतन्य, अन्त्य है नित्यचैतन्य।

सब जब लीन हो जाता है, तब फिर से इच्छा का स्फुरण हो सकता है। वह नवीन सृष्टि है। इस इच्छा की स्फूर्त्ति स्वभाव से ही होता है। किन्तु, इस इच्छा से जगत्-सृष्टि नहीं हो सकती। इच्छा का बलाबल बोध या दर्शन के अनुपात से होता है। बोध के पूर्ण होने से, दर्शन के, स्थिति में परिणत होने से—वहाँ से जो इच्छा है, उससे सारी सृष्टि का आविर्भाव होता है, नहीं तो आंशिक भाव से होता है।

सृष्टि-रहस्य में प्रवेश नहीं कर पाने से बोध या दर्शन का निदर्शन क्या ?

१९.५.३२ : (हरिद्वार)

कारण = भाव; जो मनुष्य के मुख में स्वप्नहीन निद्राकाल में प्रकाशित होता है। उस समय प्राण जाग्रत् रहता है, इसीलिए जीवन रहता है। मन और इन्द्रियाँ निद्रित रहती हैं। उस समय का अभिमान कारणदेह का आश्रय करके रहता है। अभिमान नहीं रहने से भाव या expression नहीं रहता। भाव के अतीत = expressionless. कारण-भूमि इच्छामय है।

लिंग = ज्ञान, जो स्वप्नावस्था में प्रकट होता है। उस समय मन जगा रहता है—प्राण तो रहता ही है। वास्तव में, प्राण की चलन-अवस्था ही मन है। इसी से स्वप्न या स्वप्नवत् स्थिति का बोध होता है। उस समय इन्द्रियाँ निद्रित रहती हैं। इस समय अभिमान लिंगदेह का आश्रय करके रहता है।

स्थूल = क्रिया; जो जाग्रत् अवस्था में प्रकट होता है। उस समय इन्द्रियाँ जागी रहती हैं, प्राण-मन भी। प्राण के चलन से अनेक आकारों में विषय-प्रतिभास होता है, वही इन्द्रिय का कार्य है। इस स्थिति में अभिमान स्थूल देह को पकड़े रहता है। इन्द्रियों के जगे रहने से स्थूल देह प्रकाश पाता है। स्थूल देह के अतीत होना हो, तो इन्द्रियों की सुप्ति आवश्यक होती है। भिन्नदिग्वाही इन्द्रिय-प्रवाह को समेटकर एक जगह लाने से बाह्य जगत् का लोप होता है, स्थूल देह का बोध भी नहीं रहता। एकाग्रता की पूर्णता से एक

ज्योति प्रकट होती है। यह शुद्ध मन है—इससे चारों ओर एक व्यापक ज्योति बिखरी हुई दिखाई पड़ती है।

इन्द्रियों से जैसे रूपरसमय—विषयात्मक--जगत् दिखाई पड़ता है, वैसे ही शुद्ध मन के द्वारा व्यापक ज्योति दिखाई पड़ती है। किन्तु, यह ज्योति आती कहाँ से है, यह दिखाई नहीं पड़ती। यह मन ही उस समय आत्मा है—द्रष्टा। ज्योति तब दृश्य होती है। इस समय इन्द्रियाँ निष्क्रिय होती हैं। भौतिक जगत् दिखाई नहीं देता। इस अवस्था का जगत् ज्योतिर्मय—प्रतिभासमय होता है। यह ज्योति और ज्योतिर्मय आकार वास्तव में भाव का ही बाह्य प्रकाश है। पर, यह समझ में नहीं आता।

मन को स्तम्भित करके केवल प्राण को जगाये रहने से अभिमान कारणदेह को आश्रय करके प्रकाश पाता है। इस अवस्था में प्राण या कारणशरीर ही आत्मा है—द्रष्टा और दृश्य=भावराशि। द्रष्टा भी भावमय, दृश्य भी भावमय। प्रतिभास रूप में जो दिखाई पड़ता था, वह भाव की ही स्फूर्त्ति है—ऐसा लगता है। यह भाव ही बीज या इच्छा का रूप है। यही कारण है। इस अवस्था में मन निष्क्रिय होता है, इन्द्रियाँ तो होती ही हैं—केवल प्राण काम करता है। यह जगत् ही भावमय, बीजमय और कारणमय है।

जीव में ऐसी कोई क्षमता नहीं, जिससे वह कारणजगत् को पार कर सके।

[=खयाल=लीला (=योगमाया ?)]

कारणजगत् में जो हवा बहती है, उसी में कारण तरंगित होता है। यह हवा क्या है ? स्वेच्छा, स्वभाव। फलस्वरूप, भाव की लहर उठकर लिंग में जाकर गिरती है। लिंग को चालित करती है। मन के सचल होने से ही ज्ञान का उदय होता है। यह जो अनेक प्रकार की चिन्ता मन में उठती है, अनजाने भी उठती है, unconscious thoughts आदि, यही उसका कारण है। स्थूल वायु के कम्पन से मन में चिन्ता नहीं उठ सकती, यदि कारण से उसका बीज नहीं उतरे। कारण से आकर बीज मन में जमा होते हैं—उसके बाद उद्दीपन से वह सब अंकुरित होकर चिन्ता का आकार धारण करते हैं। उद्दीपन तो चाहिए ही, पर मैं उसका पता नहीं भी पा सकता हूँ।

सबके बाहर का आकाश तमोमय है—यही भूताकाश है। इसी से स्थूल की सृष्टि होती है और फिर इसी में स्थूल का लय होता है। इन्द्रियोपहित द्रष्टा जो भी दृश्य देखता है, वह इस आकाश का कम्पनजन्य आकार है। यही आकाश का विकार है। यही आकाश ही तमोपिहित सत्त्व है। हमारा दृश्यमान जगत् या विषय है।

इन्द्रियों को समेटकर एक जगह संहत करने से यदि बोध नहीं रहता है, तो जो अवस्था होती है, इस आकाश का रूप यही है। यही जड या matter pure, अर्थात्, अचेतन मूल सत्ता है। यदि संहत करने से बोध टूटे, ज्योति तिरे, तो एक चेतन प्रकाश जागता है। तब इन्द्रियाँ उस प्रकाश में विलीन हो जाती हैं। वही मन है। इन्द्रियहीन इस मन से बाहर लक्ष्य करने से एक बिखरा हुआ प्रकाश दिखाई देता है। यही अन्तराकाश

या दहराकाश है। इसकी भी दो अवस्थाएँ है। एक अवस्था में, इस ज्योति में निरन्तर भिन्न-भिन्न सत्ता (वह भी प्रतिभासमय) तिरती देखी जाती है। तिर आती है, फिर खो जाती है। कौन-सी कब, क्यों तिरती है, यह समझ में नहीं आता। जाने कब फिर खो जाती है। निरन्तर ऐसा होता है, यह दिखाई पड़ता है। यह दृश्य सब-के-सब ज्ञानमय हैं।

यह दृश्य और स्थूल अवस्था में दृश्यमान दृश्य ठीक एक-से नहीं। भौतिक दृश्य अँधेरे में तिर आते हैं—अवश्य वह भी आलोक में ही। वह आलोक अन्धकार चीरकर बाहर आता है। वह अन्धकार को अपने सामर्थ्य के अनुसार दूर करता है। इसीलिए, स्थूल में प्रकाश और अन्धकार अलग रहता है। इसीलिए, दिन और रात अलग हैं। आलोक में दृश्य दिखाई देता है, अन्धकार में ढका रहता है। प्रातिभासिक दृश्य भी आलोक में ही देखा जाता है। पर, उस आलोक के प्रतियोगी रूप में अन्धकार नहीं दिखाई देता। इसीलिए, सूक्ष्म में दिन-रात का भेद नहीं। वहाँ सदा ही एक आलोक खेलता है—उस आलोक का उदय-अस्त समझ में नहीं आता। एक बिखरा हुआ प्रकाश सर्वत्र है। वहाँ ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि ज्योतिष्कों से प्रकाश नहीं आता। वास्तव में, ये सारे ज्योतिष्क स्थूल जगत् के हैं। सूक्ष्म का व्यापी आलोक, जो कहाँ से आता है, यह पहले नहीं जाना जाता। वह प्रकाश आता है, यही नहीं प्रतीत होता है। आकाश प्रकाशमय है, प्रत्येक वस्तु ही प्रकाशमय है। बाहर के प्रकाश से कुछ भी नहीं देखना पड़ता। प्रत्येक के भीतर प्रकाश है। द्रष्टा भी वैसा ही है। वह भी इसीलिए इन्द्रिय का सहारा नहीं लेता। इन्द्रियों से देखने के लिए बाहर के प्रकाश की जरूरत होती है।

अन्तर्जगत् में भी दो प्रकार की अवस्थाएँ हैं :

एक अवस्था में अन्तराकाश में—प्रकाशमय अन्तराकाश में—दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति दृश्यसमूह तिर आते हैं, फिर खो जाते हैं, फिर तिर आते हैं—ऐसा निरन्तर चलता है। दूसरी अवस्था में कोई दृश्य ही नहीं तिरता—केवल ज्योतिस्वरूप अन्तराकाश ही प्रकाशित होता है। स्थूलाकाश जैसे तम, जड और स्थूल सर्ग के कारण, अन्धकारमय है,—अन्तराकाश वैसे ही सत्त्व, चेतन और सूक्ष्म सर्ग के कारण, आलोकमय है। भौतिक स्वर्ग बाह्य या स्थूलाकाश से होता है, उसमें रहता है, उसी में लीन होता है। चैत्तिक सर्ग या चिन्ताराशि या प्रातिभासिक दृश्य अन्तराकाश से होता है। उसी से प्रकाश पाता है और उसी में लीन होता है।

चैत्तिक सर्ग या चिन्ताराशि या प्रातिभासिक दृश्य अन्तराकाश से होता हैं, उसी से प्रकाश पाता है और उसी में लीन होता है।

भौतिक सर्ग भूताकाश के कम्पन से होता है।

चैत्तिक सर्ग (=चित्तवृत्ति) अन्तराकाश के कम्पन से होता है।

द्रष्टा के इच्छानुसार भूताकाश में तरंग नहीं उठती।

द्रष्टा के इच्छानुसार अन्तराकाश में भी तरंग नहीं उठती।

अतएव, समझना होगा, बाह्य सृष्टि जैसे, मैं नहीं करता, वैसे ही आभ्यन्तरीण सर्ग भी मैं नहीं करता हूँ। मैं केवल देखता ही हूँ—अवश्य रंजित दृष्टि से। बाह्य सृष्टि भी इसीलिए, मेरा भोग्य है, आन्तर सृष्टि भी मेरा भोग्य है। मैं दोनों का भोक्ता हूँ। शुद्ध द्रष्टा मैं नहीं हूँ। इसीलिए, मेरा कर्त्तृत्व नहीं। अवश्य विशुद्ध भोक्तृत्व भी इसीलिए मुझे नहीं।

स्वप्न जैसे मैं इच्छानुसार नहीं देखता, ध्यान में रूप आदि जैसे मेरी इच्छा के अनुसार नहीं फूटते, वैसे ही चैत्तिक सर्ग भी मेरे इच्छाधीन नहीं। अन्तराकाश में जाने कितना क्या उठता है, फिर खो जाता है—कुछ भी मेरी इच्छा का अनुसारी नहीं। बाहरी जगत् में भी ऐसा ही है। बाहरी सृष्टि होती जा रही है, मेरी इच्छा के फलस्वरूप नहीं।

अब भी सृष्टि का रहस्य समझ में नहीं आया। कारणजगत् में गये बिना सृष्टि का मूल नहीं मिलेगा।

बहिर्जगत् के मूल में जैसे, जड या अन्धकार है, अन्तर्जगत् के मूल में वैसे ही चेतन या प्रकाश है। स्थूल सृष्टि धीरे-धीरे अन्धकार से ही तिर उठती है, उसी प्रकार, प्रकाश से क्रमशः अन्तर्जगत् निखरता है। इसीलिए इस अन्तर में घुसने से साधक पहले ज्योति देख पाता है, बाद में रूपदर्शन होता है।

अब कारणजगत् में प्रवेश करने की चेष्टा की जाय।

यह पहले ही देख चुके हैं कि इन्द्रिय का प्रत्याहार करने से ही अन्तर्जगत् में प्रवेश नहीं होता, ज्योति का विकास नहीं होता। क्योंकि, विशुद्ध जडत्व भी उसका फल हो सकता है। यदि प्रज्ञा का बीज (=श्रद्धा, baptismal grace, शक्ति) इन्द्रिय में निहित किया जाय, ज्ञानबीज यदि इन्द्रिय-क्षेत्र में बोया जाय (cf. दीक्षा, द्वितीय जन्म etc.), तो इन्द्रिय के एकाग्र होते ही प्रज्ञा-ज्योति का विकास होगा ही। जडत्व (जड-समाधि) नहीं आयगा।

[cf. उपाय versus भव]

अतएव, अन्तर्जगत् की दीक्षा या शक्तिसंचार के बिना अन्तर्जगत् में प्रवेश नहीं पाया जाता। केवल इन्द्रिय का प्रत्याहार होने से ही नहीं होता। उसी प्रकार, जिस मन के द्वारा अन्तर्जगत् का साक्षात्कार होता है, उसे एकाग्र होने से ही कारणजगत् में प्रवेश होगा, ऐसी बात नहीं। यदि कारणजगत् की दीक्षा या शक्ति-संचार न हो, तो केवल इन्द्रियहीन मन को एकाग्र करने से ही कारण में प्रवेश नहीं किया जा सकता। वैसा करने से केवल ज्योति का दर्शन होगा। इससे अधिक कुछ नहीं।

परन्तु, यदि कारण की दीक्षा हो और फिर यदि मन (इन्द्रियशून्य) एकाग्र हो, तो तुरत भाव उपलब्ध होगा। यही अपना भाव या स्वभाव है। यही जीव का स्वरूप है।

तब, प्रथमतः सर्वव्यापक एक विशाल और अनन्त भावमय सत्ता ही आनन्द-रूप में उपलब्ध होती है। अपने भाव और दूसरे भाव में पार्थक्य नहीं रहता। बाद में, अपना-अपना भाव उठता रहता है। उस समय अनन्त प्रकार का आस्वादन प्रतिक्षण नव-नव भाव से फूटता रहता है। आस्वादन अनन्त होने से भी प्रत्येक भावकेन्द्र की ओर से ही वह फूटता है।

स्थूल जगत् जैसे प्रत्येक द्रष्टा के निकट पृथक्-पृथक् है, अन्तर्जगत् वैसे ही प्रत्येक द्रष्टा के निकट पृथक्-पृथक् है, वैसे ही कारणजगत् या भावजगत् भी प्रत्येक द्रष्टा के निकट पृथक्-पृथक् है।

भावाकाश का कम्पन ही इच्छा, खयाल, बीज-आविर्भाव आदि है। भावद्रष्टा भी प्रकृत द्रष्टा नहीं। नित्य नये भाव का विकास हो रहा है, वह मात्र उसका सम्भोग करता है। परन्तु, भाव क्यों और कैसे फूटता है, यह वह नहीं जानता। भावजगत् का द्रष्टा स्वाधीन अथच अधीन है। वह जानता है कि वह स्वेच्छा से सब कर रहा है, पर उसकी स्वेच्छा वास्तव में स्वेच्छा नहीं।

भाव ही बीज या कारण है। बीजमन्त्र के बल से भाव का विकास होता है। मन्त्र से भाव के अतीत नहीं हुआ जाता। किसी भी साधना के द्वारा भाव के अतीत होना सम्भव नहीं।

अपना भाव ही इष्ट देवता है। कारणजगत् ही इष्ट देवता का स्वधाम है—उपास्य लोक। बीज के अलावा कारणजगत् में जाने का कोई रास्ता नहीं।

२२.५.३२ :

कारणजगत् के केन्द्र में दो बिन्दु मिलकर एक हो गये हैं। यही माता-पिता हैं। पिता की ओर से इच्छा—माता की ओर से उपादान युगपत् आविर्भूत होते हैं।

२३.५.३२ :

कारण में चिदंश और अचिदंश—दोनों हैं। अचिदंश बीज है। चिदंश = फल या निर्बीज फल। अचिदंश से निरन्तर जीव उत्पन्न हो रहा है, कर्मभूमि में पड़ता जा रहा है। चिदंश से अवतार आता है। अर्थात्, अचित् के सत्त्वांश से तम-अंश में पड़ता है। क्रमशः, तम से उठते-उठते, सत्त्व बढ़ते-बढ़ते, उसी अनुपात में चैतन्य की उपलब्धि करते-करते पूर्ण सत्त्वावस्था में तमोजय होती है और चैतन्य का स्फुट प्रकाश होता है। यही चिदंश या कारण है।

हमारे बीच सूक्ष्म कुछ-कुछ काम करता है—उसके बीच कारण और मूल में चैतन्य काम करता है। भोग, अच्छा लगना आदि कारण के व्यापार हैं।

महाकारण सदा ही वर्त्तमान है ।
कारण अनागत ।
सूक्ष्म अतीत ।
स्थूल वर्त्तमान ।

चिदाकाश में ही कारणजगत् तिरता है । केवल ईश्वर-ईश्वरी । कारणवासी सभी भावदेही हैं ।

अन्तराकाश में सूक्ष्मजगत् तिरता है । केन्द्र में अधिष्ठाता सशक्तिक हैं ।

महाकाश में स्थूल । केन्द्र में भी वैसा ही ।

२३.५.३२ :

तो जन्म तीन हुए :

१. पहला तमोगर्भ में या अज्ञान में जन्म । यही स्थूल जन्म है । इस तम से जो देह मिलती है, वह स्थूल देह है । दूसरा जन्म नहीं होने से यह मण्डल पार नहीं किया जा सकता । क्योंकि, मृत्यु में फिर उसी तमोगर्भ में ही डूबता है । फिर, उस तम से ही जन्म होता है । पहले मण्डल में इन्द्रिय से बाहर नहीं पाया जाता । यही कर्मभूमि है ।

२. दूसरा जन्म ज्ञान में । यह सूक्ष्म जन्म है । ज्ञान से जो देह प्राप्त होती है, वह सूक्ष्म देह या ज्ञानदेह है ।

३. तीसरा जन्म होता है भाव में । यह कारणजन्म है । भाव से जो देह होती है, वह कारणदेह है । भावदेह ।

अ-ज्ञान या जडत्व से इन्द्रिय का विकास ही स्थूलदेह-लाभ है । इन्द्रिय के लुप्त होने से फिर अ-ज्ञान में लय होता है । फिर, अज्ञान से इन्द्रिय फूटती है । अ-ज्ञान या जडत्व = निद्रा; यह मृत्यु से जन्म तक स्थायी है । इसमें जो स्वप्न फूटता है, वही स्वर्ग-नरक आदि पारलौकिक अनुभूति है । मृत्युकाल में जो घोर सुषुप्ति में डूबे होते हैं, वे स्वर्ग नहीं जाते, नरक में भी नहीं जाते । मूच्छित जैसे रहते हैं–बाद में जन्म लेते हैं । मूर्च्छाकाल में इन्द्रियाँ जमी रहती हैं । तनिक शिथिल होते ही स्वप्नवत् अनुभव होने लगता है ।

अतएव, इन्द्रिय के प्रत्याहार से ही सब नहीं हुआ । गुरु ने यदि ज्ञानबीज दिया हो, तभी स्थूल जगत् पार किया जा सकता है, नहीं तो नहीं । सत्यज्ञान के क्षेत्र में पड़ने से इन्द्रिय के एकाग्र होकर निरुद्ध होते ही, एक ओर जैसे ज्ञानदेही-रूप में आविर्भूत होता है, दूसरी ओर वैसे ही विराट् ज्ञान के आलोक में सूक्ष्म और प्रतिभासमय जगत् प्रकाशित होता है । जन्म, मृत्यु—सब स्थूल का खेल है । ज्ञान-जगत् में पैठने से जन्म और मृत्यु कट जाती है । ज्ञानदेही कौन है ? आत्मा के इन्द्रियहीन मन में प्रतिष्ठित होने और उसमें अभिमान करने से उसे ज्ञानदेही कहा जाता है ।

साधारण लोग मृत्यु के बाद स्वर्ग-नरक आदि का भोग जिस देह से करता है और ज्ञानी स्थूलदेह त्यागने के बाद सूक्ष्म जगत् का अनुभव जिस देह से करता है—ये दोनों देह एक ही प्रकार की देह नहीं। दोनों ही लिंगदेह हैं, परन्तु पहली देह में चूँकि ज्ञान का आलोक नहीं पड़ा, इसलिए उसमें इन्द्रिय-क्रिया होती है, स्वप्नवत्। दूसरी देह ज्ञानमय और इन्द्रिय-विरहित शुद्ध मनोमय है। पहली देह में जिस जगत् (स्वर्ग, नरक आदि) का अनुभव होता है, वह स्वाप्निक, subjective है। दूसरी देह से जिस जगत् का दर्शन होता है, वह सत्य (यद्यपि सूक्ष्म) और objective है। स्वर्ग-नरक आदि यद्यपि स्वाप्निक हैं, तथापि साधारण स्वप्न जैसे नहीं। क्योंकि, जिस निद्रा में स्वप्न देखा जाता है, और, जिस महानिद्रा में स्वर्ग आदि का दर्शन होता है, दोनों एक जैसे नहीं।

सत्य या objective स्वर्ग आदि भी हैं। वह सब स्थूल जगत् के अन्तर्गत हैं। वहाँ जाकर उसके उपयोगी स्थूल शरीर ग्रहण करना पड़ता है।

२५.५.३२ :

कारण से ज्योति बाहर हो रही है। ज्योति से ही कारण घिरा हुआ है। ज्योति के बाहर ही नाद। ज्योति और नाद दोनों ही सूक्ष्मतर के अन्तर्गत हैं। आदमी जब इन्द्रिय की क्रिया कुछ बन्द करके भीतर का शब्द सुनता है, तब वह सूक्ष्म जगत् में जाने का पथ खोजता होता है। इन्द्रिय का कार्य बिलकुल बन्द हो जाने पर भी यदि चैतन्य रहे, तो जो शब्द सुनाई पड़ता है, वह चेतन शब्द है। इन्द्रिय का कार्य बन्द होने के साथ-ही-साथ अ-ज्ञान आये, तो जड़त्व है।

इस शब्द में एक आनन्द है। शब्द के पीछे जो प्रकाश है, शब्द का अनुसरण करने से वह प्रकाश मिलता है। प्रकाश का भेद करते-करते रूप का विकास होता है।

साधारणतया शब्द तक ही मन है। प्रकाश का विकास होने से मन उसमें लीन हो जाता है। शब्द सुनते-सुनते मन एकाग्र हो आता है—क्रमशः, सूक्ष्म होता रहता है। बाद में निरुद्ध होते ही ज्योति का आविर्भाव होता है। उस समय मन स्वयं ज्योतिर्मय होता है, इसलिए व्यापक ज्योति से मिल जाता है। लेकिन, यह एक समय ही नहीं होता। समय लगता है। मन भी ज्योति, व्यापक ज्योति भी ज्योति। दोनों में विशेष अन्तर समझ में आता है। ज्योति में ज्योति तिरती है, डूबती है, चलती है–यह दिखता है। धीरे-धीरे दोनों ज्योति के समान हो जाने से मन को फिर पकड़ा नहीं जाता।

बहुतेरे लोग इसी को मुक्ति समझते हैं।

शब्द सुनते-सुनते मन सूक्ष्म होता रहता है—अर्थात्, मन की गन्दगी जाती रहती है। सूक्ष्मतम मन = मन का परमाणु। इस अवस्था में जो शब्द सुना जाता है, वह शब्द की चरम अवस्था है, जिसके बाद शब्द नहीं। मन का निरोध और शब्दातीत ज्योति का विकास समकालीन है। पर, ज्योति की पूर्णता होने में भी समय लगता है, मन

की निवृत्ति में भी समय लगता है। ज्योति पूर्ण होने से मन नहीं रहता। शुद्ध ज्योति ही रहती है। परन्तु, चूँकि उसका व्यक्त रूप नहीं रहता, इसलिए उसे ज्योति न कहना ही ठीक है। मन जैसे-जैसे सूक्ष्म होता है, शब्द भी वैसे-ही-वैसे सूक्ष्म होता है।

शब्द मूलाधार से उठता है और क्रमशः चेतन होते-होते सहस्रार में जाकर लीन होता है। शब्द जितना ही ऊपर उठता है, उतना ही सूक्ष्म और चेतन होता है। मन शब्द को सुनता रहे, छोड़ न दे, तो मन भी क्रमशः सूक्ष्म और चेतन होता है। फिर, मन और शब्द एक साथ ही निवृत्त होता है—यही चैतन्य अवस्था है।

शब्द ही सृष्टि का बीज है, चेतन ही उसका फल है। दोनों ही कारण-अवस्था हैं। अर्थात्, कारण-जगत् के अचित्-अंश से निरन्तर नाद निकलता है और स्वभाव के स्रोत से चित्-अंश में जाकर लीन होता है। शब्द तो चिदाकाश से उठता है, अन्तराकाश से उठता है और भूताकाश से भी उठता है।

चिदाकाश से जो शब्द उठता है, वही चैतन्यधारा या ज्योति या पश्यन्ती (?) है। अन्तराकाश से जो शब्द उठता है, वही मध्यमा शब्द है। भूताकाश का शब्द वैखरी है।

बाह्य जगत् में भी एक ही आधार से सभी शब्दों का उद्भव होता है। बाद में वायु की विभिन्नता के कारण अनेक प्रकार का हो जाता है। बाह्य आकाश को कम्पित कौन करता है? अन्तराकाश का कम्पन। अर्थात्, संकल्प या मध्यमा वाक्। यह अन्तराकाश कम्पित क्यों होता है? भावाकाश की तरंग से। भाव की तरंग से संकल्प उत्पन्न होता है, संकल्प से भूताकाश कम्पित होता है।

७.६.३२ :

कारण से जो प्रभा चारों ओर बाहर बिखरी हुई है, वही व्यापक लिंगज्योति है। यह साधारण है। जबतक सृष्टि है, तबतक यह भी है। प्रलय में यह ज्योति उपसंहृत होती है। यही कारण में लीन होती है। विशिष्ट सृष्टि इस ज्योति के वैषम्य से या तरंग से ही उद्भूत होती है। इस ज्योति में सृष्टि के सभी प्रकार के ही लिंग वर्त्तमान हैं।

कारण में इच्छा या प्रयोजन के उठने से ही कारण के शान्तप्राय हृदय में एक तरंग खेलती है। साथ-ही-साथ कारण का वह अंश लिंग होकर उतर पड़ता है। उतरकर व्यापक ज्योति का आश्रय लेता है। घूमता-फिरता है। और फिर, सुविधा या क्षेत्र पाते ही स्थूल में उतर पड़ता है।

प्रकारान्तर से स्थूल से पृथक् होते ही उस व्यापक ज्योति में प्रवेश होता है। वही व्यापक ज्योति ही तो अन्तराकाश है।

७.६.३२ से ८.६.३२ :

किसी वस्तु का भीतर यदि शून्य हो और वह शून्य यदि वायु से भरा हो, तो उसे पानी में डुबा देने पर भी वह तिर आयगी। अगर छिद्र होगा, तो छिद्र की यह हवा चली आयगी और उसमें पानी भरेगा।

उसी तरह इस शरीर में किसी स्थान को वायुहीन किया जाय और यदि वहाँ आकाश या energy को भरा जाय, तो शरीर भूमि से शून्य में उठेगा। भूतल से ऊपर की ओर अविच्छिन्न वायु है। पर, भूतल में वायु का सम्बन्ध भू से अधिक है और ठीक वैसे ही दूसरे छोर का आकाश से अधिक सम्बन्ध है।

देह के भीतर किसी स्थान को आपेक्षिक भाव से वायुशून्य और आकाशपूर्ण करने से ही देह ऊपर उठेगी। वायु की हीनता और आकाश की अधिकता के अनुसार गति की ऊँचाई होगी।

अधिक परिमाण में आकाश भरने से शरीर क्रमशः पार्थिव भाव खो देगा।

९.६.३२ :

स्थूल से लिंग को अलग करने से स्थूल नहीं रहता। क्योंकि, लिंग ही परमाणुओं को एक विशेष आकार में पकड़े रखता है। परमाणु पृथक् जरूर हो जाते हैं, पर उस आकार का एक संस्कार (पाकज संस्कार) उसमें रहता है। वैसे ही, लिंग भी पृथक् होते ही टूटना शुरू करना चाहता है।

लिंग को भी स्थूल से पृथक् रूप में पकड़े रहना कठिन है। परन्तु, घेरा देकर रखने से विराट् लिंग के रहते हुए भी उसमें विलीन नहीं होता। घेरा देना होता है सत्त्व द्वारा। उस लिंग को फिर से स्थूल भूमि से उतारते ही पहले की तरह स्थूल वस्तु निर्मित होती है। क्योंकि, उस समय पहले के परमाणु आकर लिंग को ठीक पूर्वाकार में घेर लेते हैं।

लेकिन, लिंग स्थूल से दीर्घस्थायी है। कोई भी स्थूल जब नहीं रहता, तब भी बहुत लिंग रहते हैं। लिंग की अपेक्षा कारण दीर्घस्थायी है। लिंग नहीं रहने पर भी कारण रहता है।

स्थूल-लय = प्रथम प्रलय।
लिंग-लय = द्वितीय प्रलय।
कारण-लय = तृतीय प्रलय या महाप्रलय।
वैसे ही, स्थूल से पृथक् होना = प्रथम मुक्ति।
लिंग से पृथक् होना = द्वितीय मुक्ति।
कारण से पृथक् होना = तृतीय मुक्ति।

प्रत्येक भाव का एक वैशिष्ट्य है। एक का अभाव दूसरे से पूरा नहीं होता। भाव कारणस्थ है। भाव से ही आनन्द है। भाव की तरंग ही लीला है।

भाव और गुण। शुद्ध सत्त्व = गुण, उसकी तरंग या आकार ही भाव।

प्रत्येक जीव एक-एक भाव का विकास है।

१४.६.३२ :

मैं एक घट देख रहा हूँ। देखते-देखते तन्मय हो जाऊँ, तो दो अवस्थाएँ हो सकती हैं :

१. यदि बोध खो बैठूँ, तो मैं घट हो गया—मेरा चित्त घटाकार हुआ। लेकिन, मैं यह देख नहीं पाऊँगा; क्योंकि मैं अचेतन हूँ।

२. यदि बोध रहे, तो मेरा चित्त घट हो जाता है और मैं उसका द्रष्टा होकर देखता हूँ। क्योंकि, मैं चेतन हूँ। ऐसी स्थिति में घट होकर भी मैं घट से पृथक् हूँ। पर, यह जो घट होना या घटाकर में चित्त को देखना है, दोनों ही ठीक-ठीक नहीं हैं। यह समाधि है। जो भी हो, इस अवस्था में भी चित्त देहत्याग नहीं करता। यह घटाकार दृश्यचित्त = लिंग एवं द्रष्टा—चित्त = कारण। इन दोनों के मिलन से आनन्द का विकास होता है। फलस्वरूप द्वैत-लोप।

चित्त को जिस किसी इष्ट आकार में पाया जा सकता है। मैं उसका द्रष्टा और भोक्ता रहता हूँ। बाद में उससे मिलन होता है—तब आनन्द।

(मूल में भी वही : सत् = दृश्य, चित् = द्रष्टा } मिलन में आनन्द)

घटाकार चित्त को देखना। वैसा ही विश्वरूप चित्त को देखा जाता है। द्रष्टा कारण। कारण जो कुछ भी देखता है, सब ज्ञानमय। उसका दृश्य जगत् साकार ज्ञानसमूह।

किन्तु, यह आकार आरोपित है या स्वाभाविक? आरोपित होने से, आरोप करने से ही एक विशाल निराकार ज्ञान आविर्भूत होगा ही।

स्वाभाविक होने से भी आकार की ओट में निराकार है। तब द्रष्टा और दृश्य एक ही। सुतरां, वह विशाल ज्ञान ही आनन्द है।

१५.६.३२ :

दोनों प्रकार के कर्म का फल ग्रहण करना चाहिए। प्रथम प्रकार तो स्पष्ट ही है। मूल में स्व-इच्छा नहीं रहने से ही जो कर्म नहीं होता, ऐसा नहीं। विना जाने, विना स्थिर किये भी आग में हाथ देने से हाथ जलता है। वस्तुशक्ति काम करती है। इसका भी मूल अ-ज्ञान है। ज्ञान में आने से, सर्वत्र ईश्वर की इच्छा प्रत्यक्ष होने से वस्तुशक्ति काम नहीं करती, कर्म कट जाता है। पहला या दूसरा, किसी भी प्रकार का कर्म नहीं होता। ज्ञान या ईश्वरेच्छा का दर्शन नहीं होने से law के अधीन रहना ही होगा। सिर्फ ज्ञानी होने वह law के ऊपर है। भक्त होने से वह भगवत्-इच्छा के अधीन है, Law के नहीं। Law nil. योगी होने से उसकी इच्छा = भगवदिच्छा। इस स्थिति में उसकी इच्छा ही law of nature है—दूसरे के आगे।

जबतक अ-ज्ञान है, तबतक जगत् की सारी शक्ति ही मुझपर यथावत् act करेगी ही। फलतः, तबतक मैं कर्म और फल से परे नहीं हो सकता। अ-ज्ञान के आवरण में जिस व्यापक इच्छा का विकास होता है, उसी का एकदेश स्वेच्छा है, परदेश परेच्छा। उससे भिन्न देश अनिच्छा या प्राकृतिक नियम-रूप में प्रतिभात होता है। अतएव, जो अनिच्छा या जडनियम है, वह भी अ-ज्ञानमूलक है। सृष्टि-प्रवर्त्तन व्यापक इच्छा के अन्तर्गत है। अतएव, अनिच्छा से किये कर्म भी वस्तुतः इच्छाकृत हैं। परन्तु, वह इच्छा परिच्छिन्न ज्ञान का गोचर नहीं, इसलिए उसे अपनी इच्छा के रूप में समझ नहीं पाता। वास्तव में, वह भी मेरी ही इच्छा है—नहीं तो फल मुझे भोगना नहीं पड़ता, नहीं तो law of nature से मैं respond नहीं करता। पूरी व्यापक इच्छा यदि मेरे ज्ञान के गोचर हो, तो वह मेरी इच्छा है, यह समझ में आता है। तब सारे कर्म ही मेरे हो जाते हैं, इसलिए सारे फल ही मुझे भोगने पड़ते हैं।

२९.११.३२ :

मूलवस्तु, पुरुष और प्रकृति एकाकार—शिव और शक्ति एकाकार। उसमें स्वातन्त्र्य है। यही स्पन्द है—अनादि।

इसके स्फुरण से ही सृष्टि होती है। पहले स्फुरण से मूलवस्तु में मानों एक विभाग होता है। फलस्वरूप, अव्यक्त से एकांश व्यक्त होता है। अव्यक्त होती है प्रकृति, पुरुष तदतीत और निरंजन रहता है। व्यक्त ही आदिसृष्टि है - बाद की सृष्टि व्यक्त से ही होती है।

यह प्रथम स्फुरण ही इच्छा है। मूलवस्तु सत्यस्वरूप है, वह चैतन्य है, आनन्द है—किन्तु एकाकार, उसका प्रकाश नहीं। इसीलिए, यह सब नाम भी वहाँ नहीं चलता। इच्छा के आविर्भाव से इस अखण्ड सत्ता में विभाग होता है - एक हिस्सा होता है चैतन्य, दूसरा हिस्सा आनन्द। एक भाग होता है पुरुष, दूसरा भाग प्रकृति। पुरुष भोक्ता, प्रकृति भोग्या।

आनन्द के चैतन्य से पृथक् होने से ही—भोग्य होने से ही—वह अनन्त कलाविशिष्ट होकर दिखाई देता है। सुतरां, चैतन्य—जो कलातीत है, वह तदतीत हो जाता है। वही चित्कला है, स्फुरण के पहले की अवस्था। चित्कला शब्द का प्रयोग नहीं होता।

व्यक्त प्रकृति या महत् अव्यक्त प्रकृति का एकांश—एक क्षुद्र अंश है। इसमें अनन्त कला की सोलह कलाएँ हैं। उनमें से प्रकृति की पन्द्रह कला और पुरुष या चित्कला एक षोडशी कला।

महान् आत्मा ही बिन्दु है। यह वृत्त के आकार में कल्पित हो सकती है। केन्द्र पुरुष या चित्कला, चारों ओर पन्द्रह कला। यहाँ अहम्भाव का पूर्ण विकास है। यहाँ बोध, आनन्द सब पूरी तरह प्रकाशमान होता है, अवश्य आधार के अनुसार ही पूर्णत्व है।

अव्यक्त से महत् का या आत्मा का प्रकाश रहस्यमय है। पहले एक कला की अभिव्यक्ति—यह एक कला अव्यक्त का अभिव्यक्त रूप है। चित्कला तो है ही। यही ताराख्या महाविद्या है—यही परमेश्वर के अनुरूप है। इस एक कला को ही प्रतिपदा तिथि कहते हैं। यही पश्यन्ती वाक्—अमृतकला है। अव्यक्त=अमावस्या। वही काली है। पन्द्रह कला पूर्ण होने से (षोडशी चित्कला तो है) वही पूर्णकला, ललिता, त्रिपुरा, षोडशी, राजराजेश्वरी है। पूरा शुक्लपक्ष ही तारा से षोडशी तक विकास का पथ है। राजराजेश्वरी परमेश्वर का महत् रूप है।

बिन्दु नहीं होने तक कलाओं में अहम्भाव नहीं जागता। इसीलिए, बोध, भाव, आनन्द कुछ भी चेत्यमान नहीं होता। पन्द्रह कला में सारी ही शक्तियाँ हैं। अव्यक्त की बात त्याज्य है।

यह अहम् पूर्ण अहम् है। यही आत्मा है। शुक्लपक्ष नित्य चल रहा है, इसलिए नित्य ही अहम् आपूरित होता है। कृष्णपक्ष में क्रमशः अहम्-रूप में बिन्दु से कला का क्षय होता रहता है—यही नैरात्म्य या शून्य की ओर गति है। अमावस्या ही शून्य है—निर्वाण। यह पूर्णिमा ही योगाचार का लक्ष्य है—माध्यमिक का लक्ष्य है अमावस्या। बाहर से कला का उपसंहार कर एकाग्र करना ही योगाचार में प्रवेश है।

बिन्दु=आधार। कलाओं के क्रमशःसंचित होकर एक नहीं होने से उसमें आधेय (धर्म=ज्ञान, आनन्द etc.) नहीं रह सकता। अव्यक्त से जो निकलता है, वह एक है—किन्तु स्वगत भेद है, पन्द्रह कला है। यह एक भाव पन्द्रह कला के आविर्भाव से प्रकाशित होता है। पन्द्रह=अन्त्यकला। उसकी व्यक्तता के साथ-साथ बिन्दु घटित होता है। परिधि के आवर्त्तित होते-होते पूर्ण होने से ही केन्द्र प्रकाशित होता है—वही एक है। वही बिन्दु है। वही आत्मा है। परिधि=आत्मशक्ति। परिधि का प्रत्येक बिन्दु ही एक-एक radius का छोर है। समग्र परिधि और समग्र radiation—एक ही बात है। वैसा होने से ही केन्द्र प्रकाशित होता है—आत्मा का आविर्भाव होता है।

आत्मा का आविर्भाव कैसे होता है?

आवर्त्तन को समझिए। प्रत्येक कण अपने चारों ओर घूम रहा है—rotation. एक-बार घूमना हो जाता है, तो बाहरी पथ में थोड़ा आगे बढ़ जाता है। जैसे, minute hand के चलने के साथ-साथ hour hand धीरे-धीरे चलता है, वैसे ही, कण जितना ही अपने चारों ओर घूमता है, उतना ही दूसरे के चारों ओर घूमना होता है। इसीलिए, नित्यकर्म से अपने आप ही उन्नति होती है। अपना काम करने से ही पराये का काम हो जाता है। जिस समय एक बार कण जन्मस्थान में लौट आता है, उसी समय उसकी मृत्यु होती है—रूपान्तर से वह और भी अधिक सारवान् होकर फिर वैसे ही घूमता रहता है। इस बार का circumference और भी छोटा होता है। प्रथम वृत्त का केन्द्र आवर्त्तन समाप्त होते ही प्रकट होता है। इस प्रकार, प्रत्येक आवर्त्तन के साथ-साथ radius छोटा होता आता है। Radius

का मान क्रमशः एक में पर्यवसित होता है। शून्य नहीं होता। फिर, radius, circumference और केन्द्र—तीनों एकात्मक होते हैं। एक-एक कला का एक-एक आवर्त्तन मानें, तो पन्द्रह कला के लिए पन्द्रह बार आवर्त्तन मानना होगा। पन्द्रह पूरा होते ही एक भाव उपलब्ध होता है—वहाँ circumference या व्यक्त कला, radius या स्पन्द और centre या कूटस्थ चित्कला एकाकार होकर आत्मरूप में स्फुरित होते हैं, बिन्दु होते हैं। जिस जगत् में हमलोग हैं, उसका उपादान पन्द्रह कला का आवर्त्तन पूरा हुए विना बिन्दु पूर्ण नहीं होता। यदि पाँच कला का जगत् होता, तो पंचम कला का आवर्त्तन पूरा होते ही हम **पूर्ण बिन्दु** या **अहम्** पाते।

प्रत्येक ब्रह्माण्ड के मूल में ऐसा एक **अहम्** है—यही आत्मा या कारण है। उसके ऊपर और अहम् नहीं—इस अहम् के तोड़ने की प्रणाली ही कृष्णपक्ष है।

प्रतिपत्, द्वितीया आदि स्फुरन्त शक्तिमात्र है। सब अलग-अलग। बिन्दु हुए विना समष्टि नहीं होती।

२.१२.३२ :

कामविज्ञान क्या है ?

काम का मतलब इच्छा या अभाव-बोध है। यह अभाव-बोध तीन प्रकार से होता है :

१. अभाव है, उसका बोध भी है।
२. अभाव नहीं है, मगर अभाव-बोध है।
३. अभाव है, लेकिन बोध नहीं है।

इन तीनों में पहली normal है।

दूसरे का तात्पर्य है—स्थूल में अभाव नहीं है, लिंग में अभाव है। इसीलिए, उस अभाव-विषय में बोध जागता है। परन्तु, लिंग और स्थूल के तादात्म्याध्यासवशतः स्थूल-विषयक जैसा ही लगता है। इस अवस्था में विषय की आपूर्त्ति के द्वारा वह अभाव नहीं हो सकता। Hypnotise करके या और किसी प्रकार से लिंग में साक्षात् भाव से भाव-संचार के द्वारा उस अभाव को भरा जा सकता है। बहुत बार रोग के समय प्यास लगती है—किन्तु पानी पीने से भी प्यास नहीं जाती। सामयिक भी नहीं। क्योंकि, पानी का वह अभाव स्थूल परमाणु का नहीं। इस प्रकार, स्थूल में मिलन होने से भी विरह नहीं मिटता—वैसी स्थिति में समझना होगा, विरह स्थूल नहीं, भीतर है। इसलिए, अन्तर में मिलन आवश्यक है। **'दुहुँ कोरे दुहुँ काँदे विच्छेद भाविया।'**

तीसरे का तात्पर्य है—लिंग यदि स्थूल से प्रत्यावृत्त होता है, तो स्थूल का अभाव रहते हुए भी उसका अनुभव नहीं हो सकता, थोड़ा आभास रहता ही है। इसीलिए,

अत्यन्त सूक्ष्म भाव से अभाव-बोध भी रहता है। लेकिन, स्थूलाभिमानी को उसका बोध नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में बोध है, पर बहुत ही मन्द।

असली बात, स्वाभाविक नियम यही है—अभाव रहने से उसका बोध रहेगा ही।

सृष्टि का मूल रहस्य ही इच्छा है—काम। जो अद्वय-तत्त्व स्पन्दस्वरूप स्वातन्त्र्य के उन्मेष से—क्रियावशतः, इच्छावशतः इन दो भागों में बँटता होता है—उसका एक अंश चैतन्य, दूसरा अंश आनन्द है। पहला और दूसरा अंश यथाक्रम से :

(क) आदि में	द्रष्टा = चित् अर्थात् १ मात्रा चित्। (इसमें चेतनभाव का। स्फुरण नहीं। चिन्मात्र)	और	दृश्य = सत् अर्थात् १ मात्रा आनन्द। (इसमें आनन्दभाव का स्फुरण नहीं। आनन्दमात्र)
(ख) बाद में	भोक्ता = चेतन	और	भोग्य = आनन्दमय।

अतएव, चेतन पुरुष से आनन्दरूपा प्रकृति के अलग होने का कारण दोनों एक दूसरे को चाहते हैं। नहीं तो पूर्णता नहीं हो सकती, आनन्द नहीं हो सकता। परन्तु, अलग होते हुए भी दोनों में दोनों का आभास रहता है। पुरुष में प्रकृति का आभास नहीं रहने पर वह प्रकृति को चाह नहीं सकता। उसी प्रकार प्रकृति में पुरुष का आभास नहीं रहने पर वह पुरुष के साथ मिल नहीं सकती।

अतएव, सृष्टि में सर्वत्र यह अभाव-बोध विद्यमान है। उसी के परिणामस्वरूप आकर्षण होता है। इन्द्रिय को ही लें। आँख में अभाव है और उसका बोध भी है। यह बोध जैसे-जैसे जागता है, वैसे-वैसे वह भाव को चाहता है। यह अभाव-बोध ही रूप-तृष्णा है, रूप ही भाव है। रूप जितना ही उससे मिलता है, उतनी ही उसकी तृप्ति होती है, पूर्णता होती रहती है। इस प्रकार, प्रत्येक इन्द्रिय में ही काम है—नहीं तो विषय की ओर भोग के लिए नहीं दौड़ता। मन भी वैसा ही अपूर्ण और अशुद्ध है। जिससे मेरा 'मैं' है, सब अपूर्ण, अतृप्त, इसीलिए दुःखी है। इसीलिए, 'मैं' भोक्ता हो पड़ा है। वह जब सब भाव को पा लेगा, तब पूर्ण होगा—तृप्त होगा, आनन्द पायगा। उसका अभाव-बोध दूर होगा। तब वह भोक्ता नहीं रह जायगा। विषय भी भोग्य नहीं रह जायगा, भोक्ता शुद्ध होकर द्रष्टा होगा, भोग्य शुद्ध होकर दृश्य होगा। आभासवशतः यह द्रष्टा भी भोक्ता है, दृश्य भी भोग्य है, परन्तु वह शुद्ध है। जैसे देवताओं का।

यह काम कैसे तृप्त होगा ? इसकी कुछ आलोचना 'प्रवृत्ति और निवृत्ति' धर्म के प्रसंग में हो चुकी है और भी कहा जा रहा है।

O	O
भोक्ता	भोग्य
अपूर्ण	अपूर्ण

यह सब कणरूप में विक्षिप्त भाव से सारे जगत् में बिखरे हुए हैं। ये भोक्ता के सत्त्वांश हैं। भोग के समय यह भोक्ता के आधार में लौट जाते हैं। उसी आधार में इनके अभाव (=वासना) हैं। इनके लौट जाते ही वह अभाव दूर होता है और तृप्ति होती है। लेकिन, काल के प्रभाव से स्तर-स्तर में जैसे-जैसे अभाव फूटता है, वैसे-वैसे भाव होकर उनकी निवृत्ति करता है।

शुद्ध अवस्था में भोक्ता आप्तकाम है, वह आनन्दी है—उसके अभाव भी नहीं, बोध भी नहीं। आनन्द का आस्वादन है। अभाव का आभास-भर है—नहीं तो आनन्द का आस्वादन नहीं रहता। अशुद्ध अवस्था में भोक्ता का आधार या उपाधि या निर्मल सत्त्व टूटकर अलग-अलग हो जाता है—अभाव या वासना-रूप में एक अंश भोक्ता में रहता है और भाव या भूतरूप में दूसरा अंश बाहर रहता है। वासना या अभाव चित् का धर्म है, भाव भूत का धर्म।

और भी एक बात है। उपाधि में जो है, वह अभाव या वासना है—सत्त्वकण के बाहर हो जाने के कारण एक फाँक है, जो बोध का विषयीभूत है। यही अस्पष्ट अभाव-बोध या दुःख है। परन्तु, फाँक सिर्फ फाँक नहीं। सत्त्वकण भौतिक जगत् में जिस भाव में डूबा है, वह भाव, भूतांश, उस फाँक में आकर संचित होता है। अशुद्ध भोक्ता की उपाधि इन सारे भूतकणों को भरना है। यही है वासना—तृष्णा—काम—इच्छा।

अब बात यह है : उपाधि-शोधन का क्रम यों है :

(क) उपाधि से भूतकणों को हटाना चाहिए।

(ख) उपाधि में अपने सत्त्वकणों को लौटाना चाहिए।

भूतकण जब अव्यक्त रूप में रहते हैं, तब उन्हें हटाना सम्भव नहीं। वृत्तिरूप में उठने से, तब अवश्य विचारणीय है। वृत्तिरूप में उठने से वह भुक्त हो जाता है, अर्थात् सत्त्वकण आकर जुटते हैं। क्योंकि, सत्त्वकण या सोमांश बाहर से न आये, तो भोग नहीं होता। फलतः, सत्त्वकण के सहयोग के विना उपाधि से भूतकण को हटाया नहीं जा सकता। जैसे, रोशनी के विना अँधेरे को नहीं हटाया जा सकता।

यह अशुद्ध भोग की बात है। भोग से कर्म का क्षय तो होता है, भूतकण हटते तो हैं, पर इसमें दोष है। जैसे :

उपाधि में कितने जो भूतकण हैं, उनका अन्त नहीं है। अनियत सुदीर्घ समय में उसका अपसारण सम्भव है—भोग के द्वारा। लेकिन हाँ, नये भूतकण आकर न जुटें, तब। लेकिन, नये-नये भूतकण आयेंगे ही। क्योंकि, जिस आकर्षण से भूत आता है, वह है—आसक्ति—इसलिए फिर भूत आयगा ही। सत्त्वकण भी बाहर होंगे ही। नये भूतकणों का आना और संचित सत्त्वकणों का जाना बन्द हो जाने से भोग के द्वारा कर्म का क्षय जरूर होगा।

लेकिन, ज्ञान का रास्ता अलग है। यदि उपाधि को भीतर से ज्ञानक्रिया द्वारा उज्ज्वल किया जाय, तो वह चुम्बक हो जाता है। ज्ञानक्रिया के फलस्वरूप अन्तरात्मा की (= प्रत्यगात्मा की) चित्कला थोड़ा-थोड़ा करके फूटती रहती है, उसी से उपाधि उज्ज्वल और आकर्षक होती है। उस समय बाहर का स्वांश सत्त्वकण-समूह आकृष्ट होकर भीतर घुसता रहता है। क्रमशः, उपाधि अपने सत्त्व से भर जाती है, बाहरी भूतकण चले जाते हैं—चित्कला से उज्ज्वल हो जाते हैं।

भक्ति का रास्ता अलग है। इसमें ऊपर (ईश्वर परमात्मा) से कला उपाधि में उतरती है—अवश्य कृपारूप में। यह अत्यन्त प्रबल कला है। ईश्वर की ओर लक्ष्य करने से ही उनसे कला उतर आती है। फलस्वरूप, एक ओर आत्मकला की—ज्ञान की—स्फूर्त्ति होती है, दूसरी ओर भूतकणों का अपसारण और सत्त्वकणों का प्रत्याकर्षण बाहर से सिद्ध होता है।

ज्ञान द्वारा कृपा को पकड़े नहीं रहने से कृपा चली जाती है—फिर तो ज्ञान भी नहीं रहता। इसीलिए, ज्ञान हुए विना भक्ति होने से उसका फल स्थायी नहीं होता। भक्ति रहने से कृपावृष्टि होगी ही, परन्तु ज्ञान नहीं रहने से वह अनित्य होती है। ज्ञान के विना कोई कृपा को पकड़कर नहीं रख सकता। वैसे ही कर्म के विना ज्ञान होने से ज्ञान को पकड़कर नहीं रखा जा सकता, वह अस्थायी होता है। उस ज्ञान के होने से उपाधि शुद्ध जरूर होती है, सत्त्वकण लौट आते है और भूतकण चले जाते हैं। किन्तु, ज्ञान का अन्त होने के साथ ही पहले की अवस्था लौट आती है, कर्म पूर्व में हो, तो ज्ञान का अस्त नहीं होता; क्योंकि यदि तेल जुटा पायें, तो प्रदीप क्यों नहीं जलेगा?

इसी प्रकार, बिन्दुस्थैर्य के विना स्थायी कर्म नहीं होता। कर्म किसी का अनुग्रह होने से भी स्थायी नहीं होता। इसीलिए, ब्रह्मचर्य ही कर्म की भित्ति है। ब्रह्मचर्य द्वारा बिन्दु की सिद्धि होने से कर्म नित्य होता है—स्पन्द सदाकालीन होता है, इसीलिए भक्ति और कृपा भी स्थायी होती है।

६.१२.३२ :

जप की संख्या रखने का तत्त्व क्या है? संख्या संकल्प-कल्प के लिए रखी जाती है। जप जब निरन्तर होता रहता है, तब वह अनादि और अनन्त प्रवाह की तरह होता है। जैसे, क्षणिक विज्ञान की धारा स्वभावतः ही चलती रहती है। उसे सीमाबद्ध नहीं करने से, घेरा नहीं देने से **अहम्** या आलय-रूप में स्फूर्त्ति नहीं हो सकती। उसी प्रकार, निरन्तर प्रवाहशील जप की धारा में घेरा देने से ही वह मेरा हो सकता है। यह कृत्रिम है, पर सकाम कर्ममात्र ही कृत्रिम है। सिद्ध अवस्था में जो जप चलता है, वह स्वाभाविक है। उसमें संख्या नहीं रहती। उसमें अहं जोड़कर अपना नहीं कर लेना चाहिए। केवल द्रष्टा होकर प्रवाह को देखते भर जाना चाहिए। उसका फलाफल नहीं है। क्योंकि, बोधवश

मुझमें कर्त्तव्य का अभिमान नहीं होता । मैं उसका भोक्ता भी नहीं । वह प्रकृति का खेल-मात्र है ।

पर, मैं जब भोक्ता होता हूँ, तब उसे सीमाबद्ध कर ही लेना चाहिए––पुरुषकार द्वारा उसे '**मम**' कर लेना होगा । नहीं तो वह भोग्य नहीं होगा ।

कुछ अवस्थाएँ :

सकाम कर्त्ता : (क) क्रिया हो रही है । कर्त्ता मैं हूँ । फल का भोक्ता भी मैं ।

ज्ञानी : (ख) क्रिया हो रही है । द्रष्टा मैं । फल नहीं––भोक्ता भी नहीं । दृश्य है ।

भक्त : (ग) क्रिया हो रही है । द्रष्टा मैं, भोक्ता मैं और प्रयोज्यकर्त्ता मैं । फल नहीं—आनन्द का आस्वादन-रूप भोग है । उनका दिया हुआ ।

पूर्ण : (घ) क्रिया हो रही है । द्रष्टा मैं नहीं । फल का भोक्ता भी मैं नहीं । यहाँ कर्त्ता नहीं, भोक्ता नहीं । आनन्द है, उसका आस्वादन नहीं । स्वभाव ।

क्रिया नित्य (अव्यक्त और व्यक्त)

जीव	ईश्वर—पूर्ण
(क) कर्त्ता और भोक्ता [द्रष्टा नहीं । कर्म और फल दोनों हैं ।]	(क) द्रष्टामात्र
(ख) द्रष्टामात्र—कर्त्ता नहीं, भोक्ता नहीं ।	(ख) द्रष्टामात्र
(ग) द्रष्टा और भोक्ता—प्रयोज्यकर्त्ता [भगवद्दत्त भोग का भोक्ता । यह भोग उसका कर्मफल नहीं । भगवान् जीव से काम कराते हैं, आनन्द आदि भी देते हैं । जीव यन्त्रवत् काम करता है । जीव परतन्त्र है–यह जीव समझता है । वह कर्त्ता होते हुए भी स्वयं स्वतन्त्र नहीं । क्योंकि, भगवान् को देख पाया है । कर्मफल नहीं—इसलिए, फलभोग नहीं । उसका सुख-दुःख प्रारब्ध फल नहीं । भगवान् की इच्छा से ।]	(ग) प्रयोजक कर्त्ता = कारयिता
द्रष्टा और भोक्ता—कर्त्ता नहीं ।	द्रष्टा । कर्त्ता ।

२८.६.३३ :

जीवलिंग ही शिवलिंग होता है।

लिंग-निर्माण कैसे होता है ? बीच में नाडीपथ—पथ के एक ओर से तेजोराशि को धक्का देकर पथ से ऊपर की ओर संचार करता है। ऊपर की ओर से भी धक्का उतर आता है। परिणामस्वरूप, दो ओर के दबाव के मध्य संचारशील तेज अण्डाकार हो जाता है, दोनों किनारे फूल जाते हैं। यही लिंग है।

जीवलिंग के लय में जैसे जीव रहता है—शिवलिंग के लय में वैसे ही शिव ही रहते हैं।

जीव का चिह्न जीवलिंग—वैसे ही शिव का चिह्न शिवलिंग। लिंग अव्यक्त होने से जैसे जीव को पहचाना नहीं जा सकता, वैसे ही लिंग के अव्यक्त होने से शिव को भी नहीं पहचाना जाता।

मूलाधार का भेद करने से शिवलिंग आविर्भूत होता है।

१०.१२.३२ :

केन्द्र में जैसे सभी radius एक हैं, कारण-बिन्दु में वैसे ही सभी शक्तियाँ एक हैं। विचार के लिए इन शक्तियों को रश्मि मान लिया जाय। ये मूलबिन्दु में एक हैं। अनेक प्रकार की अनेक रेखाओं के सहारे जगत् का भाव व्यक्त होता है। सरल रेखा जहाँ एकाकार है, वहाँ सारे भाव ही महाभाव-रूप में एक होकर हैं। मान लीजिए, कारणबिन्दु में पचास वर्ण या रश्मियाँ एक हुई हैं। उसके क, ल, प, स, म—ये पाँच वर्ण इस क्रम से बाहर निकलें, तो इस शब्द का वाच्य कर्पूरबिन्दु-रूप में व्यक्त होगा। क ल प स म—ये पाँच वर्ण एक स्फोट के व्यंजक हैं। इसका अर्थ है camphor. कार्यबिन्दु, कर्पूर का बिन्दु। बाहर के प्रभाव से यह क्रमशः बढ़ता चलेगा।

अन्य वर्ण के अन्य सम्मिलन से जलाख्य कार्यबिन्दु भी उस कारणबिन्दु से ही व्यक्त होता है। पूर्ण से कारणबिन्दु का अस्पर्श योग है। इसीलिए, निरन्तर ही कार्यबिन्दु की पुष्टि होना सम्भव होता है।

कार्यबिन्दु का आविर्भाव और प्रणाली को जानना आवश्यक है। कारणबिन्दु से निर्दिष्ट वर्ण निर्दिष्ट क्रम से क्यों आविर्भूत होते हैं ? कारणबिन्दु का अपना स्वातन्त्र्य हो सकता है। सम्भवतः, वही प्रथम सर्ग का मूल है। आदिसृष्टि के बाद वह इच्छामूलक है। अर्थात्, कर्पूर की इच्छा करने पर ही कारणबिन्दु से केवल कर्पूर ही होगा – अर्थात् कारण-बिन्दु कर्पूर नामक कार्यबिन्दु-रूप में परिणत होगा। किन्तु, इच्छा करने से पहले ही यह कर्पूर हुआ था, यह कहना होगा, नहीं तो उस विषय की इच्छा कैसे हुई ? अतएव, इच्छासर्ग के पहले ही मूलसृष्टि या कार्यबिन्दु की सृष्टि का होना आवश्यक है। इच्छा के फलस्वरूप जो सृष्टि होती है, वह इस प्रकार—इच्छा जिसकी है, वह कारण से एकात्म

होता है (=ज्ञान, अभेदभाव), इसलिए इच्छावशतः निजात्मा से, अर्थात् कारणबिन्दु से इच्छा का आकार निकल आता है—अर्थात्, कर्पूर आदि भाव कार्यबिन्दु के रूप में बाहर होता है। बाहर कर्पूर को pre-exist किये बिना भीतर से कर्पूर बाहर नहीं होगा। उसी प्रकार, भीतर कर्पूर नहीं रहने से बाहर के कर्पूर में कर्पूर का स्फुरण नहीं होगा। निजात्मा से कर्पूर के बाहर होने का अर्थ है कि वे सारे वर्ण उसी-उसी क्रम-विन्यास में बाहर हो पड़ते हैं—बाहर आकर व्यक्त कर्पूर होते हैं। भीतर की आत्मा में वह केवल potency रूप में था। यही इच्छाशक्तिमूलक सृष्टि है।

तो, बात यह है : जब कारणबिन्दु से इच्छावशतः (मुख्य इच्छा=स्वातन्त्र्य as in आदि सर्ग अथवा गौण इच्छा as in the सृष्टि of ईश्वर या योगी) कर्पूर होता है, अर्थात् वह-वह वर्ण उसी-उसी क्रम में बाहर होता है, तो उसे पकड़ता कौन है ? यही आधार है। इसे शुद्धसत्त्व कहते हैं। यह अप्रकट रूप तमोराज्य में भी है। बाहर होते ही वर्ण व्यापक शुद्धसत्त्व की गोद में गिरता है—यही है गर्भ में बीजपात। शुद्धसत्त्व स्पन्दमय है। यही उज्ज्वल आलोक है। यही प्रणवज्योति है। इसमें एक वर्ण पड़ने से वह उसी आकार में परिणत होता है। उसमें एक और वर्ण आकर गिरता है। इस प्रकार, अन्तिम वर्ण के आकर गिरते ही वाचक शब्द अभिव्यक्त होता है। साथ-ही-साथ, अर्थ या कर्पूरबिन्दु भी फूट उठता है। प्रत्येक वर्ण में ही आंशिक भाव से कारणबिन्दु-सह एकात्मक कर्पूरभाव व्यक्त होता है, परन्तु वह कार्यजगत् में नहीं, शक्तिजगत् में—अन्तिम वर्ण में कारणबिन्दु-रूप कर्पूर की अभिव्यक्ति पूर्ण होती है। इसलिए, वही अवस्था कार्यबिन्दु-रूप कर्पूर है।

एक-एक करके वर्ण को खींच लाने से, साथ-ही-साथ कारण-कर्पूरभाव अभिव्यक्त होगा। कारण-कर्पूर अवतीर्ण होता रहे, तो वह-वह वर्ण उसी क्रम से आप ही स्फुरित होगा।

१५.१.३३ :

'**राजा षष्ठांशमाहरेत्**।' यह षष्ठांश ही 'बलि' या 'कर' है।

प्रजा=जीव। जीव की भोग्य या आहरण की वस्तु का छठा अंश राजा को पहुँचता है। यह सारतम रस है।

प्रथम अंश : वीर्य—यह अन्नमय कोष का पोषक है।
द्वितीय अंश : ओज या प्राण—यह वीर्य का सार और प्राणमय कोष का पोषक है।
तृतीय अंश : मन—यह मनोमय कोष का पोषक है।
चतुर्थ अंश : विज्ञान—यह विज्ञानमय कोष का पोषक है।
पंचम अंश : अमृत—यह आनन्दमय कोष का पोषक है।
षष्ठ अंश : चित्कला—यह राजा का प्राप्य है। अमृत भी जड—सत्त्व या बिन्दु है। उसमें जो चिदंश है, वही चैतन्यमय ईश्वर या राजा का प्राप्य है। यही 'षष्ठ अंश' या 'बलि' है।

यह अनुलोम गति है।

विलोम-क्रम में यह राजा से हजारगुना बढ़कर लौट आता है। यह कण विशाल होकर लौटता है।

चित्-शक्ति प्रसाद-भाव से उतरने के समय अमृत-रूप में कारणस्थ जीव का तर्पण करती है। कारणस्थ जीव का प्रसाद या उच्छिष्ट उतरकर विज्ञान की तृप्ति करता है। विज्ञान से प्रसाद-रूप में उतरकर मन का, मन से उतरकर प्राण का तर्पण करती है। यही सूक्ष्मदेही जीव का भोग है। प्राण का उच्छिष्टऽअन्नमय कोष में संचारित होता है और उसका तर्पण करता है। यह स्थूलदेही का भोग है।

'यद् दत्तं तद् भुक्तं।' यही यज्ञशिष्टाशन है। यह भोग पाये विना कल नहीं चल सकती।

प्रत्येक स्तर में ही अग्नि के दो रूप हैं। एक—अग्नि में बाह्य भोग्य हुत होता है। उसका असार अलग होता है, सार उठकर ऊपर के स्तर में जाता है। इस सारांश को जोर करके वहाँ रख देना नहीं चलता, रख देने से कल बिगड़ेगी ही। द्वितीय—अग्नि में ऊपर से अवतीर्ण आनन्द भोग्य रूप में गृहीत होता है। यह भोगार्थ है। प्रथम विवेकाग्नि है, द्वितीय भोगाग्नि।

प्रथम अग्नि सभी असार को अलग करने में असमर्थ है—अपनी शक्ति के अनुसार कर सकता है। प्रथम अग्नि की धारा का उद्देश्य है—जड से शुद्ध चिदंश को हटाकर चिन्मय से जोड़ना। द्वितीय अग्निधारा का उद्देश्य है—चित्-शक्ति में चुनकर अपने भोग्यांश को ग्रहण करना—बाकी भारी होने के कारण नीचे उतर जाता है। इस प्रकार, निम्नतम द्वितीय अग्नि में उसका भोग्यांश ग्रहण होने पर जो बच रहता है, वही फिर हजारगुना होकर बाहर लौट आता है। फलस्वरूप, जगत् का आप्यायन होता है। इस तरह, जीव जगत् से जितना लेता है, उसका हजारगुना जगत् को लौटा देता है।

यही सेवा या परोपकार है।

यह परोपकार प्रत्येक स्तर में ही होता है।

२९.९.३३ :

संसार में सब कुछ गतियुक्त है। स्थूल वस्तु की Velocity जितनी बढ़ेगी, उतनी ही उसकी स्थूलता घटेगी। ठीक-ठीक light की Velocity पाने से वह तेजोमय हो जायगी। वह practically एक ही समय में जगद्व्यापक हो जायगी। Velocity परिमित रहने से space रहता है—इसीलिए उसका लंघन आवश्यक होता है। किन्तु, Velocity अनन्त होने से space नहीं रहता, matter भी नहीं रहता। वह शुद्धतेज या ज्योति या चैतन्य होता है। गति अनन्त है, इसलिए वह स्थिर है।

गति जितनी मन्द होगी, उतनी ही स्थूलता होगी। गति जहाँ शून्य है, वहाँ शुद्ध जडत्व। गति जहाँ अनन्त है, वहाँ शुद्ध चैतन्य है। ये दोनों एक ही हैं—पर, दोनों ओर लक्षणीय। सान्त भूमि में चेतन और जड-विभाग। चेतन में गति अधिक, जड में गति कम। जहाँ गति लक्षित होती है, वहीं चैतन्य है—जहाँ लक्षित नहीं होती, वहीं जड। वास्तव में, जगत् की सब वस्तुएँ ही चेतन हैं और फिर सब चेतन में ही जडत्व है।

५.१.३४ :

मनश्चक्षु के सामने जो प्रतिभास होता है, जिसको सोचा जाय, वह मानों दीखता है—वह वास्तविक ही देखा जाता है। सोचना भी देखता ही है। परन्तु, वस्तु बहुत ही क्षिप्र गति से आकर चली जाती है। उसका कारण है—वेग की तीव्रता। वेग बहुत ही तीव्र होने से पकड़कर नहीं रखा जाता। यह जो वस्तु है, यह साकार है। आकार है, इसीलिए समझ में आती है, विषयत्व फूटता है। वेग के होते हुए भी समझ में आती है।

वस्तु = सत्त्व।
वेगवती क्रिया = रज।
आकार = तम।

वेग जितना ही कम हो आयगा, उतना ही आकार स्पष्ट होगा। अर्थात्, प्रतिभास खूब अच्छी तरह से समझ में आयगा। वेग घटाने के दो उपाय हैं :

(क) एक—व्यापक सत्त्व के साथ योग-स्थापन के पहले।

(ख) द्वितीय—उसके बाद।

पहली अवस्था में विषय-प्रतिभास स्पष्ट होता है—परन्तु, वह आभ्यन्तर है—Ideal, केवल अपने प्रत्यय योग्य प्रातिभासिक।

दूसरी अवस्था में भी वह स्पष्ट होता है, पर वह बाह्य है—real, सबके गोचर। व्यावहारिक।

४.२.३४ :

प्रलय = ज्ञाननाश और देहनाश।

दैनन्दिन प्रलय = मृत्यु। उससे ज्ञान और देह नष्ट होती है। जिस देहावच्छेद में ज्ञान चलता है, वह देह नहीं रहती, ज्ञान भी नहीं रहता।

इसे काट पाने से जो आलोक मिलता है, वह कल्पस्थायी होता है। अर्थात्, ब्रह्मा का दिनगत प्रकाश मिलता है। कोई यदि जीवितकाल में उस कल्पतेज को पाये, तो वह कल्पजीवी होगा, देवभाव प्राप्त होगा। इसमें क्रम अवश्य है। कल्पप्रलय ही परमावधि है। इस तेज के अपर और पर—दो अंश हैं। एक से देह को अविच्छिन्न रखा जाता है, परन्तु ज्ञान को नहीं रखा जा सकता और दूसरे के द्वारा ज्ञान को भी रखा जा सकता है। जो

अपर तेज प्राप्त करता है, वह ज्ञानहीन तो होता है, किन्तु देह नहीं खोता। यह एक प्रकार का प्रकृति-लय है। जो पर तेज पाता है, वह देह भी नहीं खोता, ज्ञान भी नहीं खोता। यह एक प्रकार की प्रकृति से मुक्ति है। अपर या पर—दोनों की ही मात्रा है। इसी से गति और स्थिति में भेद होता है। पूर्ण मात्रा में इन्द्रत्व—कल्पान्त में स्थिति। इस पूर्ण मात्रा के मानी क्या हैं? त्रिलोकी में जो सत्त्व व्याप्त है, उसकी समष्टि या सारतमांश ही पूर्ण सत्त्व है। इस सत्त्व या सोम की चार कलाएँ हैं।

योनि या देहयन्त्र से ही शक्ति का विकास होता है।

तेज

१. परम　　२. विशुद्ध　　३. शुद्ध　　४. महाकल्प　　५. कल्प

१. **परम :** इसके द्वारा कल्पदर्शन होता है।

२. **विशुद्ध :** इसके फलस्वरूप प्रकृति लीन होती है। केवल चेतना ही रहती है। प्रकृति चित् का स्वातन्त्र्य-रूप धारण करती है। इस आलोक में सम्बन्ध नहीं।

३. **शुद्ध :** इससे ब्रह्मा की मृत्यु (=प्राकृतिक लय) देखी जाती है। ब्रह्माण्ड-लय का साक्षी हुआ जाता है। विदेहमुक्त होने से ब्रह्मा यह तेज पाते हैं। जो जीवितकाल में इसे प्राप्त करते हैं, वह ब्रह्मा से भी ऊपर हैं। इस आलोक में यह देखा जाता है कि सारे विकार प्रकृति में खो गये। ब्रह्माण्ड भग्न हुआ। केवल प्रकृति रही। इस आलोक में कालभेद भी नहीं, क्योंकि क्रिया नहीं है। पर स्पन्द रहता है। यह नित्य है।

४. **महाकल्प :** इससे कल्पान्त प्रलय या नैमित्तिक प्रलय या त्रिलोकी-नाश देखा जाता है। इस आलोक के पाने से जीव ब्रह्मदेह प्राप्त करता है, ब्रह्मा जैसा होता है। अवश्य इसमें भी स्तर है। यह ब्रह्मा ही पुरुष, वैश्वानर, लिंग और महत् हैं। इसके दो भाग हैं—एक भाग में जन, तप और सत्यलोक तिरता है, दूसरे भाग में महर्लोक। त्रिलोकी-नाश के बाद महर्लोक सो जाता या ज्ञानशून्य हो जाता है, ऊपर तीन लोक जगे रहते हैं। वास्तव में, ऊर्ध्व तीन लोक ही पुरुष के ऊर्ध्व तीन अंग हैं—त्रिवर्ण। महर्लोक शूद्र, ज्ञानहीन होते हुए भी ब्रह्मा की देह है। इस महाकल्प-लोक में दिन-रात का भेद नहीं—वहाँ सदा ही प्रकाश है। किन्तु, कालभेद है—व्युत्थान और निरोध—क्रियायुक्त और क्रियाहीन दशा।

५. **कल्प :** इसके द्वारा दैनन्दिन या नित्यप्रलय या मृत्यु (व्यष्टि) देखी जाती है। यही ब्रह्मा का दिनगत प्रकाश है। यह तेज मिलने से अमरत्व प्राप्त होता है। देवत्व। व्यष्टि-मृत्यु कट जाती है—कल्पान्तकाल तक की आयु होती है—कम या अधिक इसी में।

२७.२.३४ :

भीतर भावमय, बाहर भूतमय। भीतर और बाहर का योजक प्राण। श्वास-प्रश्वास के जरिये भीतर बाहर आता है, बाहर भीतर जाता है। सृष्टिलय का यही रहस्य है। प्राण रुद्ध हो, तो भीतर भीतर ही है—बाहर से सम्बन्ध नहीं रहता। वैसे ही बाहर बाहर ही है।

भाव को वायु-प्रवाह से बाहर लाने से ही वह प्रत्यक्ष होगा। बाहरी दृश्य को वायु के बल से भीतर लेने से ही वह अप्रत्यक्ष होगा।

लेकिन, व्यष्टिभाव से—इसलिए subjective.

परन्तु, समष्टि कर पाने से व्यावहारिक सृष्टि या लय हो सकता है। इसका मतलब यह कि—समष्टि नहीं करने से सबके प्राणगोचर नहीं हो सकता। इस analogy से भाव को चार व्यक्तियों के आगे दृश्य करना हो, तो स्व-बाह्य करके फिर उन चार व्यक्तियों की उपादान-मात्रा में आंशिक समष्टि करनी पड़ती है। वही mass hypnotism का मूल principle है।

प्रकृत समष्टि या विराट् से अपना योग नहीं होने से व्यावहारिक सत्ता नहीं होती।

इसीलिए, व्यावहारिक वस्तुमात्र में ही जगत् का सब कुछ है। प्रातिभासिक वस्तु में ठीक वह नहीं है।

२.३.३४ :

साधारण दर्शन के समय चित् की प्रभा मन में जाकर पड़ती है। मन की प्रभा आँखों में पड़ती है। आँखों की प्रभा विषय में पड़ती है। जब किसी चीज को देखते-देखते मन तन्मय होता है; अर्थात् आँखों की प्रभा सिमटकर विषयाकार-मात्र होती है, मन की प्रभा भी वही होती है, अर्थात् जब आँखों की प्रभा की रेखा और मन की प्रभा की रेखा समान होती है, समसूत्र होती है—तब बाहर की वस्तु को हटा लेने पर भी दृश्यरूप में उसका दर्शन होता ही रहेगा। अर्थात्, विषयाकार चित्त ही उस समय दृष्ट होगा। उस समय का दृश्य वस्तुतः मनोमय या भावमय होगा। इसी प्रकार, मन और अ-ज्ञान जब समसूत्र होगा, तब दृश्य अ-ज्ञानमय होगा। तब जगत् अ-ज्ञानमय होता है। इसी अवस्था के बाद समझ में आता है कि जगत् चिन्मय है।

स्थूल अवस्था में बाह्य जगत् इन्द्रिय का विकार है, लिंगावस्था में वह मन का विकार है, कारणावस्था में वह अ-ज्ञान का विकार है—इसके बाद बाह्य जगत् आत्मा का ही विलास है।

इन्द्रिय की प्रभा चारों ओर बिखरी हुई है, उसमें तरंगें उठ रही हैं, वही बाह्य जगत् है। यही प्रभा महाकाश या भूताकाश है। यह पाँच है। इन पाँचों की जो

समष्टि है, वही वास्तविक भूताकाश है। उसे प्राप्त करने से ही चित्ताकाश उपलब्ध होता है। चित्ताकाश की तरंग ही भाव है, वह भी साकार है।

चित्ताकाश में तरंग उठे विना भूताकाश में तरंग नहीं उठ सकती।

कारण-बिन्दु या अव्याकृत आकाश में तरंग नहीं उठने से चित्ताकाश में तरंग नहीं उठ सकती।

महाकारण के स्वातन्त्र्य से ही कारण में कम्पन होता है। कारण में कम्पन का मतलब है प्रयोजन या अभाव-बोध। स्वभाव से अभाव का उन्मेष। इसका स्वरूप है प्रार्थना या इच्छा i.e. 'फूल चाहिए'। यह अत्यन्त अस्फुट है। इसके मूल में अ-ज्ञान है। कारण ने अपने को तोड़ा है, इसीलिए अभाव हुआ है—चाहने का भाव जागा है। यही बीज है। चित्ताकाश में पड़ते ही यह भावरूप में जाग उठता है (= Ideal flower), जो कि चित्त की तरंग-विशेष है। यह भाव यदि भूताकाश में पड़ता है, तो स्थूल पदार्थ या भौतिक पदार्थ का उद्‌भव होता है। अब वह कारण-कार्यरूप में अभिव्यक्त हुआ। यही सृष्टि का रहस्य है।

इसके बाद सम्भोग या स्थिति। जो फल उत्पन्न हुआ, वह भोग के लिए। उसका भोग हो जाने से उस विषय में वैराग्य आरम्भ होने से ही समझना होगा, भोग्य का संहार-काल आ गया। फलस्वरूप, भोग्य भौतिक भाव को छोड़कर भावमय रूप लेता है। बाद में, उस रूप को भी समेटकर कारण-रूप धारण करता है। उस समय भोक्ता और भोग्य समभूमिस्थ हो पड़ता है। इसके बाद ही लीला समाप्त हो जाती है। महाकारण में भोक्ता और भोग्य नहीं है। चैतन्य या स्रष्टा है। दृश्य से, शक्ति से अभिन्न। महाकारण ही भोक्ता होकर कारण में उतरते हैं, बाद में भोगकरण का विकास करके भोग्य की सृष्टि करते हैं। धीरे-धीरे भोग्य का आस्वादन करते-करते भोग्य को उठा लेते हैं, शुद्ध कर लेते हैं, स्थूल से लिंग में और फिर वहाँ से कारण में उठाते हैं। इस संहार के बाद भोक्ता और भोग्य का एक कालातीत या महाकालस्थ सम्भोग होता है, फलतः दोनों एकाकार होकर —श्रृंगार के फलस्वरूप— कारण से अतीत हो जाते हैं। द्रष्टा हो जाते हैं, स्वशक्ति से अभिन्न। जैसा महाकारण, यह भी वैसा ही। सम्भवतः, यही साम्य है, अद्वयभाव।

पूर्ण में यह लीला नित्य चल रही है।

व्यष्टि, व्यष्टि रहकर कभी पूर्णता नहीं पा सकती। मैं जो स्थूल जगत् देखता हूँ, वह एक हिसाब से मेरे स्थूलाकाश की तरंग जैसा है, दूसरी ओर जो-जो देखता है, देखेगा, सबके स्थूलाकाश की तरंग है—मूलतः वह समष्टि स्थूलाकाश की तरंग है। मेरे चित्ताकाश या भाव से मेरे व्यष्टि-स्थूलाकाश में तरंग उठ सकती है, समष्टि में नहीं उठ सकती। वैसे ही मेरा व्यष्टि-स्थूल दृश्य तिरोहित होने पर भी समष्टि-आकाश की तरंग शान्त नहीं होती, इसलिए बाह्य जगत् लुप्त नहीं होता। अतएव, व्यष्टिधारा पकड़कर यदि मैं स्थूल से लिंग में जाऊँ, लिंग से कारण में जाऊँ, तो भी वास्तविक रूप में नहीं

जाया जा सकता। वास्तव में, मैं व्यष्टिभाव से पूर्णमात्रा में लिंग के स्व-बोध को बचाते हुए नहीं रह सकता। व्यष्टिभाव से जो लिंग में जाता है, वह लिंग में अभिभूत हो पड़ता है।

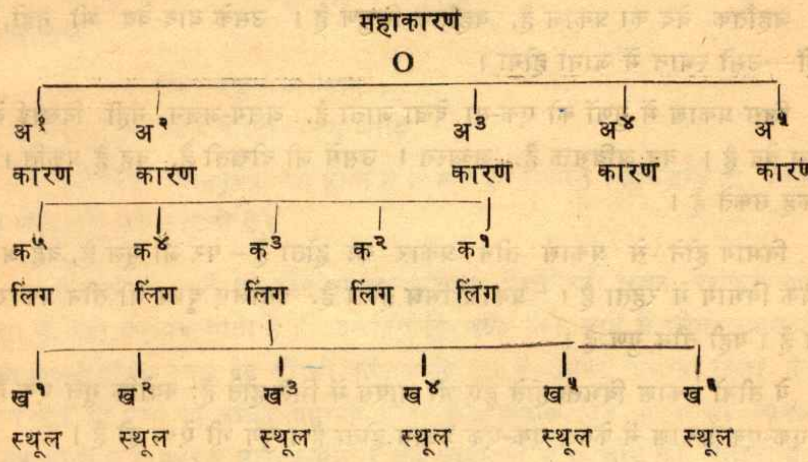

एक लिंग से अनेक लिंग-राशि बाहर होकर प्रत्येक से एक-एक स्थूल निकलता है। जैसे, क^{1} लिंग से ख^{1} ख^{2} आदि स्थूल निकले हैं। अतएव, ख^{2} क^{1} में विलीन होने पर भी वह वस्तुतः क^{2} के साथ अभेदबोध नहीं कर सकता। ख^{2} ख^{3} ख^{4} आदि सबसे अभेद-बोध कर सकें, तो पूर्णमात्रा में क^{1} हो सकते हैं—क^{1} के अहम् को पा सकते हैं। पूर्ण क^{1} स्वकीय रश्मि पकड़कर अ^{1} में जाय, तो ठीक अ^{1} को नहीं पाता। क^{2} क^{3} आदि से अभिन्न होकर, तब वह पूरी मात्रा में अ^{1} हो सकता है। क^{2} क^{3} से जो सब स्थूल निकलता है, उन्हें अलग-अलग संहार नहीं करना पड़ता है। स्वाभाविक संहार-काल तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अथवा उसकी सहायता करनी पड़ती है।

अर्थात्, जहाँतक बने, स्थूल को व्यापक भाव से समेटना पड़ता है। दूसरे को अपना बनाकर—दीक्षा आदि के द्वारा बाद में लिंगमण्डल में अन्यान्य स्थूलों के उठने के समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। या फिर, उसे उठाने में मदद देनी पड़ती है। जब स्वकीय लिंग से निःसृत सारे ही स्थूल उठ जायेंगे, तब पूर्वोक्त नियम से अन्यान्य समधर्मा लिंग को अपना बनाकर अभिन्न भाव से, व्यापक भाव से स्व-कारण में उठना होता है। वहाँ पहुँचकर स्व-कारण-निःसृत सारे लिंगों के पुनः आगमन तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। या फिर उठने में उन्हें सहायता देनी पड़ती है। सबके उठ जाने पर अन्यान्य समधर्मा कारणों को अपना बनाकर अभिन्न भाव से, व्यापक भाव से एक होकर महाकारण में उठना पड़ता है। यही चरम अवस्था है।

महाकारण से एक होकर बाहर निकला था—फिर अनेक हुआ था। फिर से एक होकर एक की अतीत अवस्था में पहुँचता है।

६.३.३४ :

[१]

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।'

जहाँतक वेद का प्रकाश है, वहाँतक त्रिगुण है। उसके बाद वेद भी नहीं, गुण भी नहीं—उसी स्थान में जाना होगा।

जिस प्रकाश में गुणों को एक-सा देखा जाता है, अलग-अलग नहीं दिखाई देता, वही मूल वेद है। वह अविभक्त है, अव्यस्त। उसमें जो दीखती है, वह है प्रकृति। इसे बिन्दु कह सकते हैं।

विभाग होने से प्रकाश तीन प्रकार का होता है—पर जो मूल है, वह अवश्य ही प्रत्येक विभाग में रहता है। प्रकाश भिन्न होता है, इसलिए दृश्य भी तीन प्रकार का दीखता है। यही तीन गुण हैं।

ये तीनों प्रकाश विभक्त होते हुए भी आपस में मिले होते हैं; क्योंकि मूल एक है—परन्तु एक-एक प्रकाश में केवल एक-एक प्रधान होता है। गुण भी ऐसा ही है।

वेद के अभिव्यक्त प्रकाश के विभक्त होते ही कलियुग आता है।

[२]

सूर्य ही वेद के रूप हैं, इसीलिए वेद का अतीत होना जो है, सूर्यमण्डल का भेद करना भी वही है। वेद या सूर्य से ही प्रपंच या सृष्टि का आविर्भाव है, और फिर उसी में तिरोभाव। इसे अतिक्रम किये विना मुक्ति नहीं। वेद या सूर्य के पश्चात् जो है, उसी को जानना ज्ञान है।

अतएव, तीन स्तर मिलते हैं :

१. वेद के अतीत = चैतन्य या आत्मा = ब्रह्म।
२. वेदभूमि = देवता या शक्ति = द्विज।
३. वेद के बाहर = प्रपंच या भौतिक जगत् = शूद्र।

१०.३.३४ :

पहले लक्ष्य स्थिर करके, फिर चलते रहो। दृष्टि अगर लक्ष्य पर रहेगी, तो जितने ही वेग से चलोगे, उतनी ही जल्दी लक्ष्य को पा लोगे। लक्ष्य पर दृष्टि नहीं रहने से केवल क्रिया द्वारा इष्टसिद्धि नहीं होती। क्योंकि, बे-रास्ते ज्यादा चलने पर भी, उस चलने के द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता नहीं मिलती।

लक्ष्य स्थिर करना कारण का काम है, लक्ष्य पर दृष्टि रखना लिंग का और चलना स्थूल का काम है।

जबतक स्थूल की स्मृति है, जबतक स्थूल और लिंग में तादात्म्य नहीं हुआ है, तबतक केवल लक्ष्य से कार्य की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि, स्थूल प्रतिबन्धक होता है। किन्तु लक्ष्य स्थिर करके और उसमें ध्यान लगाकर मृत्यु प्राप्त करने से लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता मिलती है। पर, स्थूल देह में रहते हुए लक्ष्यभेद करने में स्थूल को काम करना होगा।

लक्ष्य रखना = ध्यान
क्रिया करना = जप आदि

इसीलिए, ध्यानपूर्वक जप होता है। जप करते-करते क्रिया बन्द हो जाती है—तब लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

वास्तव में, लक्ष्य को ठीक रखकर, उनमें चित्त को स्थिर रखकर जो किया जाता है, वही सहायक होता है। इसलिए कि लक्ष्य ठीक रहने से भीतर उनसे योगायोग होता है—इसलिए स्थूल देह जो भी करे, उसके मूल में उनका प्रभाव रहता है। उस समय पाप भी पुण्य का अधिक सहायक होता है। क्योंकि, सब कार्य ही व्यवधान का नाशक होता है। यही है प्रारब्ध-भोग। तब उन्हीं की शक्ति जीव को चलाती है। उन्हें देखते रहने से फिर जीव का कर्त्तृत्व कहाँ ? लक्ष्य चाहिए ही।

ऊर्ध्व स्तर में लक्ष्य को दृष्टि के सामने स्थापित करने से सदा ही लक्ष्य-दर्शन होता है। जीव चूँकि स्थूलाभिमानी है, इसलिए उसे पता नहीं चलता। उसका कर्त्तव्य केवल क्रिया करना है। वह जितनी ही क्रिया करेगा, वह दृश्यमान लक्ष्य उतना ही निकटवर्त्ती होगा। उस समय स्थूल आत्मा इसे समझ नहीं सकती। केवल क्रिया से ही लक्ष्य निकटवर्त्ती नहीं होता, भोग द्वारा, यहाँतक कि तथाकथित कर्म द्वारा भी वही होता है।

जब दृष्टि और स्थूल देह अभिन्न होती है—स्थूल स्थूलत्व को खोकर आतिवाहिक भाव प्राप्त करता है, तब क्रिया नहीं रहती। जो रहती है, वही उपासना है—केवल दर्शन, दर्शन। देखते-ही-देखते द्रष्टा और दृश्य एक हो जाते हैं, समाधि आती है, प्रज्ञा का विकास होता है। निमेषहीन दृष्टि ही उपासना है। यही रूप-सेवा है।

स्थूलाभिमान कट गया या नहीं, इसका निदर्शन है—लक्ष्यदर्शन स्पष्ट होता है। जैसे गुलाब मेरा लक्ष्य है—वह स्पष्ट होकर प्रत्यक्ष हो, तो समझना होगा, स्थूल का उस समय आच्छादन नहीं है, इसलिए अन्य क्रिया नहीं है। क्रिया द्वारा लक्ष्य के प्रत्यक्ष होते ही क्रिया निवृत्त हो जाती है। उस समय स्थूलबोध बिलकुल नहीं रहता। स्थूलबोध के रहते हुए प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतएव, beginner के लिए केवल ध्यान निष्फल है। उसके साथ क्रिया चाहिए—वह चाहे जप हो या और ही कुछ हो। वैसी ही है ध्यानहीन क्रिया, जप आदि भी वही है।

क्रिया करते-करते जैसे क्रिया नहीं रहती, दर्शन निखरता है, उसी प्रकार देखते-देखते दर्शन भी नहीं रहता, भक्ति फूटती है। वही समाधि है। उसके बाद जो फूटता है, वही प्रकृत वस्तु है।

१०.३.३४

एक आदमी दस मन बोझ नहीं उठा सकता। दस आदमी उठा सकते हैं। क्योंकि, दस आदमी का व्यष्टि-बल समष्टि होने से (क्रियाशक्ति) उठाने का सामर्थ्य होता है। पृथक् होने पर भी व्यष्टि-बल मूल में एक ही बल का अंश है। समष्टि के तारतम्य से उस मौलिक बल का ही कुछ अंश प्रकट होता है।

उसी प्रकार, ज्ञानशक्ति की भी समष्टि हो सकती है। एक व्यक्ति की ज्ञानशक्ति से जो पकड़ में नहीं आता, दस व्यक्ति की ज्ञानशक्ति की समष्टि करने से उसके द्वारा वह समझ में आ सकता है। मूल में ज्ञानशक्ति भी एक है। आधारभेद से उसी का विकास है।

जगत् के मूल में क्रियाशक्ति एक, ज्ञानशक्ति एक और इच्छाशक्ति एक है।

२२.३.३४ :

इच्छाशक्ति से वस्तु बनाने की भी एक प्रणाली है।

२३.३.३४ :

लक्ष्य के सामने मानों बकरी है, मैं बकरी को देखता हूँ, किन्तु उसे पाया नहीं है। क्यों नहीं पाया? क्योंकि, मेरा देखना है विक्षिप्त भाव से। मैं जितना ही एकाग्र होऊँगा, उतना ही लक्ष्य के सामने से दूसरी वस्तु हट जायगी। एकाग्रता की पूर्णता ही निरोध है—उस समय लक्ष्य की प्राप्ति होगी, व्यवधान जाता रहेगा। मैं बकरी हो जाऊँगा। मान लीजिए, आपाततः मैं बकरी को देख रहा हूँ—मैं हूँ दूर। पर, दूर रहते हुए भी लक्ष्य स्थिर रहने से योगसूत्र रह ही गया। इस योगसूत्र को जितना ही समेट लिया जाय, एकाग्रता उतनी ही बढ़ती है, लक्ष्य निकटवर्त्ती होता है और अन्त में प्राप्ति या समाधि में तादात्म्य होता है। उस समय, मैं ही बकरी हूँ, यह समझ में आता है, पर मैं बकरी से परे भी हूँ, साथ-ही-साथ यह भी समझ में आता है। इसकी परावस्था में केवल 'अतीत' भाव—निर्विकल्प भाव। यह निर्विकल्प विशुद्ध निर्विकल्प नहीं; क्योंकि इससे वह बकरी-रूप विकल्प 'मैं बकरी हूँ'—यह भासित होता है। फिर, मेरे और बकरी के बीच का अस्पष्ट योगसूत्र बिखरता है, क्रमशः मुझसे बकरी पृथक् होती है, मेरे ज्ञाता होते ही बकरी ज्ञेय होकर अलग हो जाती है। अतएव सृष्टि में—

चित्त |
इच्छा-निरोध प्रथम = निर्विकल्प (मैं मग्न और बकरी मग्न)
ज्ञान एकाग्र द्वितीय = सविकल्प (बकरी स्पष्ट as 'मैं बकरी हूँ')
क्रिया विक्षिप्त तृतीय = स्थूल (मैं से बकरी पृथक्), इसके अतीत जो है, वही आत्मा है।

११.५.३४ :

[१]

जो विभु और व्यापक है, वह व्याप्य को स्पर्श नहीं करता—वह निरंजन है। व्याप्य के अतीत हुए विना व्याप्य को व्याप कर नहीं रह सकता। व्याप्य से सर्वात्मना एक होना ही व्याप्ति है। अवश्य उसके अतीत होकर। जो अतीत है, वही जब व्यापक है, तब वह एक और अखण्ड है—यही यथार्थ बिन्दु या आकाश है। point. यह सर्वत्र है, मगर कुछ को भी नहीं छूता। और फिर, इस प्रकार से कि सर्वात्मना वही होकर है। इसकी एक और दिशा है—उसकी तरंग होती है, वह (विभु) क्षुब्ध होकर बिखर पड़ता है—जैसे, प्रकाश। यह ठीक व्यापक नहीं, अंशतः। इस कमरे में प्रकाश बिखरा हुआ है—इस प्रकाश में बीच-बीच में अँधेरा है इसलिए यह प्रकाश कम-अधिक हो सकता है। यदि प्रकाश ठीक व्यापक होता, तो वह किसी को स्पर्श नहीं करता। किन्तु, सबके साथ एक होकर रहता। ज्ञान और चैतन्य में यही भेद है। ज्ञान में अ-ज्ञान मिला हुआ रहता है, इसीलिए अज्ञान है ज्ञान बिखरता है, ज्ञान अ-ज्ञान को स्पर्श करता है। इसीलिए, ज्ञान की व्याप्ति आंशिक है। पूर्ण व्याप्ति होती, तो वह अ-ज्ञान का स्पर्श नहीं करता। अ-ज्ञान के चलते उनकी न्यूनता या आधिक्य नहीं होता। उसी प्रकार, जो कृपा व्यापक है, वह शुद्ध है, अमिश्र—सर्वत्र है, किन्तु नहीं रहने जैसी। पाप-पुण्य के सर्वत्र ही वह है—किन्तु अस्पर्श-योग से। पाप आदि के द्वारा उसमें न्यूनता आदि नहीं होती। कर्मापेक्ष कृपा वैसी नहीं।

[२]

क, ख आदि की समष्टि अ है, पर समष्टि से भी अधिक है। पहले जैसे कहा गया है कि सर्वातीत होने से ही स्वतः सर्वात्मक हुआ जा सकता है, यहाँ वैसे ही कहा जा रहा है कि सर्वात्मक होने से उसी क्षण सर्वातीत हुआ जा सकता है। अतएव, क, ख, ग आदि सबके एकत्र होते ही एक तदतीत अखण्ड सत्ता आविर्भूत होती है, वही अ है। इसलिए अ क, ख आदि की समष्टि भी है, उससे परे भी है। एकाधार शक्ति और शिव। सारी रेखाएँ केन्द्र से निकली हैं, केन्द्र में सब एक हैं। परन्तु, एक होते हुए भी उसमें अनेक एक होकर है।

यह अ = समष्टि जीव, किन्तु जीवातीत या ईश्वर।
क, ख आदि = व्यष्टि-जीव।

समष्टि-जीव जो देखता है, व्यष्टि-जीव के लिए वही भोग्यसृष्टि है। एक की दृष्टि ही दूसरे के लिए सृष्टि है। व्यष्टि-जीव की दृष्टि परवर्त्ती है। समष्टि जो नहीं देखती, व्यष्टि के आगे उसकी सत्ता नहीं—सुतरां, वह भोग्य नहीं होता।

एक बात और। समष्टि की दृष्टि सभी व्यष्टि-जीव के लिए common सृष्टि है। क्योंकि, centre से सारे ही radius मिले हुए है। व्यष्टि चूँकि केन्द्रस्थ नहीं है, इसलिए उसकी जो दृष्टि है, वह केवल उसी की है, सबकी नहीं। व्यावहारिक सत्ता और प्रातिभासिक सत्ता का यही भेद है। व्यष्टि देखती है व्यष्टि-कर्म के फल से, समष्टि देखती है समष्टि-कर्म के फल से। समष्टि-कर्म के विना व्यावहारिक सृष्टि नहीं होती। व्यष्टि-कर्म से प्रातिभासिक सृष्टि ही होती है।

जो समष्टि-जीव है, पक्षान्तर से वही ईश्वर है।

प्रथम पक्ष में उनकी इच्छा परतन्त्र है, द्वितीय पक्ष में स्वतन्त्र। असली बात है, जीवभाव की सूचना के पहले से ही इच्छा जगी हुई है। समष्टि-जीव में यह परतन्त्र है, व्यष्टि-जीव में भी परतन्त्र।

१२.६.३५ :

वाच्य→वाचक→वाचकाभास।

सर्वान्तर वाच्य। उसे घेरे हुए है वाचक। वाचक का आभास बाह्य है।

वस्तु की आभा ही शब्द या ज्योति-रूप में बिखरी हुई है। इस शब्द या ज्योति को प्रत्याहृत होने या भीतर घुसाने से ही वस्तु में प्रवेश होता है। साक्षात्कार होता है। शब्द या ज्योति के भीतर जो पैठना है, मन के भीतर पैठना भी वही है। अतएव, शब्द जब बन्द होता है, अर्थात् सुनाई नहीं देता, ज्योति जब विलीन होती है, अर्थात् कुछ दिखाई नहीं देता, तब मन भी विलीन हो जाता है—तभी साक्षात्कार होता है। जिस उपादान से शब्द उत्पन्न होता है, उसी से मन का भी जन्म होता है। पर, शब्द या ज्योति प्रकृति है, मन पुरुष। जहाँतक शब्द है, वहाँतक मन है; जहाँतक मन है, वहाँतक शब्द। जिस वस्तु से आभा के रूप में शब्द या ज्योति का विकास होता है, उसी से साथ-ही-साथ मन का भी विकास होता है। पुरुष प्रकृति को चाहता है, पाते ही दोनों मिलते हैं,—तब भीतर, वस्तु में, अद्वैत में प्रवेश होता है। मन शब्द या ज्योति को पाने के लिए ही चंचल है। पाते ही मन उससे मिलता है। तब मन स्थिर होता है, अर्थात् मन नहीं रहता, शब्द भी शान्त हो जाता है, ज्योति भी बुझ जाती है। यह जो मैंने शब्द या ज्योति की बात कही—यह भी उपलक्षण है—रूप, रस आदि सबको ही समझना होता। अतएव, रूप, रस आदि को पाते ही मन लीन हो जाता है। वैसे में मन भी नहीं रहता, रूप-रस-शब्द आदि भी नहीं रहते—पुरुष और प्रकृति मिल जाते हैं। वस्तु प्रकाशित होती है। यही प्रत्यक्ष है।

महाशक्ति का ढक्कन खुल जाता है।

हम जगत् में जो शब्द, ज्योति (रूप) आदि लाते हैं, वह आभास-मात्र है। असली नहीं। असली होती, तो उसे पाकर मन शान्त होता, वस्तु के प्रत्यक्ष होता। इस आभास की आड़ में असली शब्द है, असली ज्योति या रूप है, असली रस है, आदि।

वस्तु की आभा ही एक ओर रूप-रस शब्द आदि है, दूसरी ओर मन। इस आभा के सहारे ही वस्तु को प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि, मन से इस आभा का योग होने से ही वस्तु का उदय होता है।

प्राथमिक अवस्था में आभा नहीं है, मन भी नहीं, है केवल आभास। इस आभास के मिटने पर जो अवस्था होती है, उसी को मन की शुद्धि कहते हैं। रूप, शब्द आदि को शुद्धि भी कहते हैं। अर्थात्, चित्तशुद्धि और भूतशुद्धि होती है।

एक के होने से दूसरा होगा ही। उस स्थिति में चित्त और भूत मिलकर वस्तु—चैतन्य—आत्मा-द्रव्य को प्रकाशित करते हैं।

नामाभास से नाम, फिर रूप या स्वरूप।

सर्वत्र ऐसा ही।

शुद्ध शब्द आदि की दो-दो अवस्थाएँ—एक सामान्य, दूसरी विशेष।	मन साकार और निराकार, शब्द आदि भी सामान्य और विशेष। (yoga) साकार मन + सामान्य शब्द = विशेष सृष्टि। (vijnana) निराकार मन + विशेष शब्द = विशेष सृष्टि।

जैसे एक मूल साम्यभावापन्न वर्ण है—सामान्य वर्ण। फिर, उसका विशेष है। वैसे ही एक सामान्य शब्द है—फिर उसी के अनेक भेद हैं। इन विशिष्ट शब्दों को पहचानना होता है। पहचान कर उसका मिलन करा सकने से, सामान्यतः मन के संयोग-मात्र से ही वस्तु का निर्माण होगा। मिलन के प्रकार-भेद से ही वस्तु का भेद है। मूल में एक ही शब्द—उससे शुद्ध मन का संयोग होने से परम वस्तु का प्रकाश अवश्य ही होगा।

रश्मि-विज्ञान भी ऐसा ही है। विशिष्ट रश्मियों के मिलने से और साधारणतया उसके साथ मन के युक्त होने से तत्तद् वस्तु की सृष्टि होगी। मूल उजली रश्मि से सामान्य मन के योग से परम पदार्थ का आविर्भाव होता है।

अन्यत्र भी ऐसा ही है।

एक पथ से जगत् का निर्माण, दूसरे पथ से ब्रह्मस्फूर्त्ति। दोनों में ही पुरुष और प्रकृति का मिलन आवश्यक है।

१०.१२.३५ :

ज्ञानभिन्न प्राप्ति—अभेद नहीं हो सकती। ज्ञान = देखना। देखते-देखते ही एक हो जाता है। जो देखा जाता है, द्रष्टा में उसका अंश आता है। द्रष्टा का अंश उसमें जाता है। फलस्वरूप, दोनों समान होते हैं। वस्तु का एक देश एक भिन्न angle में देखा जाता है। (ज्ञान और क्रिया का मूल = गति। ज्ञान = annual motion. क्रिया = daily motion. मूल में motion एक ही।) विक्षिप्त दृष्टि का देखना ठीक देखना

नहीं है। दृष्टि एकाग्र होने से और वह एकाग्र दृष्टि वस्तु के चारों ओर ३६०° में पड़ने से वस्तु का बहिरंग साक्षात्कृत होता है। 'मैं' द्रष्टा में रहता है, इसलिए दृश्य से द्रष्टा प्रबल होता है। क्रमशः द्रष्टा दृश्यात्मक होता है, फिर भी द्रष्टा रहता है। चारों ओर जित — दिग्विजय—होने से ऊर्ध्व-अधः को जीतना होता है। अर्थात्, चारों ओर 'जीत' होने से वृत्त — बहिरंग एक रेखा में बदल जाता है—वृत्तभाव नहीं रहता, इसलिए एक सरल रेखा होती है, जिसके दोनों प्रान्त दो मेरु—विसर्ग—दो बिन्दु—उत्तर और दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः। इन दोनों को जीत लेने से अन्तःप्रवेश होता है, तब बाहर का कुछ भी नहीं रह जाता। केन्द्र में स्थिति होती है। तब वह वस्तु 'मैं' हूँ, यह बोध में आता है। यही ज्ञान का फल है।

चतुराम्नाय, षडाम्नाय आदि का यही अर्थ है।

जब किसी वस्तु को देखते हैं, तब ठीक उसे नहीं देखते, उसकी विकीर्ण रश्मियों को देखते हैं। यों समझिए, मानों वृत्ताकार में ३६०° रश्मि क्रमशः एक के बाद एक देखनी होगी। तब तो सबको देखना होगा। हमारी दृष्टि की रश्मियाँ बिखरी हुई हैं— इन्हें एक रश्मि में लाना होगा। नहीं तो एक-एक रश्मि को नहीं देखा जा सकेगा। भीतर भी ३६०° रश्मि लौटना आवश्यक है।

प्रत्येक वस्तु ही किरणजाल से घिरी है। यह सब वर्णमाला है। इनकी समष्टि करने से आवरण (योगमाया) कट जाता है—केन्द्र में प्रवेश होता है। यही षट्चक्र-भेद है—सहस्रार की कर्णिका में प्रवेश।

३०.१२.३५ :

परमपद कल्पनाहीन है, परन्तु वहाँ से निरन्तर कल्पना उठती है, विकल्प उठता है, इच्छा उठती है। उठते ही उतर पड़ती है; क्योंकि वहाँ रहने का उपाय नहीं है। यही अनिच्छा की इच्छा है—निर्विकल्प की कल्पना, निष्काम का काम, विक्षेप।

नीचे से जो उसे सत्य मानकर ग्रहण करता है, वह उससे मुग्ध होता है। आवरण।

जो खेल दिखाता है, अर्थात् जहाँ से खेल चल रहा है, वह आत्मविस्मृत न हो, न उतरे, तो खेल नहीं देख पाता।

और एक बात—गुह्य। पहले मैंने कहा, कल्पना होती है, स्वभावतः। वहाँ अहं लगाने से समझ में आता है, वह कल्पना करता है। अर्थात्, दीप से प्रभा बाहर निकलती है। प्रभा की एक व्यापक सत्ता है, एक रेखा है, एक अणुपुंज का दिक् है।

३०.१२.३५ :

परमपद से सब स्फुरण होता है—स्वभावतः ही होता है। यह स्वभाव= स्वातन्त्र्य। इसका विराम नहीं है। लेकिन, एक ओर से निकल रहा है, दूसरी ओर से

घुस रहा है। यह निरन्तर चलता है। परमपद उसका द्रष्टा है। उनमें इच्छा नहीं। [द्रष्टा का दिक् = चित्; स्फुरण का दिक् = आनन्द। यह चिदानन्दमय आवर्त्तन ही नित्य-लीला है—इच्छा या काम से ऊपर।

जो निकलता है, वह दो भागों में बँट जाता है—एक ओर इच्छा—ज्ञान—क्रियारूप शब्द; दूसरी ओर अर्थ; एक ओर प्रकृति, दूसरी ओर पुरुष।

इच्छा से क्रिया —यही शब्द का विकास है। अर्थ का विकास।

[इच्छा-ज्ञान-क्रिया]	इच्छाकाल में अर्थ व्यक्ति-उन्मुख ज्ञानकाल में अर्थ अर्धव्यक्त। क्रियाकाल में अर्थ व्यक्त।

अर्थात्, शक्ति जब इच्छा, शक्तिमान्, तब व्यक्ति-उन्मुख।

शक्ति जब ज्ञान, शक्तिमान्, तब अर्धव्यक्त।

शक्ति जब क्रिया, शक्तिमान्, तब व्यक्त।

चित् और आनन्द का आवर्त्त = नित्यलीला।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया का आवर्त्त = संसार।

इच्छा से ही सृष्टि। क्रिया से उसकी पूर्णता। क्रिया में आने के समय क्रम पकड़ में नहीं आता। लौटने के समय क्रिया से ज्ञान, ज्ञान से इच्छा। व्यष्टि और समष्टि-भाव से।

व्यष्टिभाव से इच्छा का लय होने से समष्टि-इच्छा के अधीन रहना होता है। समष्टि-इच्छा का लय होने से प्रलय होता है। महासमष्टि-इच्छा का लय होने से महा-प्रलय होता है। उसके बाद नित्यलीला में प्रवेश होता है।

इस तरह से नित्यधाम से एक-एक इच्छा का उदय होता है, फिर लय होता है। इच्छा का स्थितिकाल ही संसार है। यही कल्पकाल है—कल्पना।

६.१.३६ :

मनोहर = जो मन को हरण करता है। विषय का बल जब मन के बल से अधिक होता है, फलस्वरूप विषय जब मन को खींचता है, मन विषय को नहीं खींच सकता, तभी विषय को मनोहर कहा जा सकता है।

असली बात यह है :

मन की एक धारा है। मन कुछ-न-कुछ आत्मशक्ति धारण करता ही है। इसीलिए, मन की स्वाभाविक गति आत्मा की ओर होती है। लेकिन, जो जा नहीं पाता, उसका कारण है, विषय से बाधा पाना।

इसके विपरीत, विषय की स्वाभाविक गति प्रकृति की ओर होती है। कार्यमात्र ही, विकारमात्र ही, अपने कारण में जाकर विश्राम करना चाहता है। परन्तु, प्रकृति से

पुरुष-सम्बन्ध नहीं होने से कार्य नहीं होता। इसीलिए, कार्य में अस्फुट रूप से पुरुष का स्पर्श है। किन्तु, वह कार्य नहीं कर सकता। न भी कर सके, फिर भी उसका थोड़ा प्रभाव रहता ही है। फलतः, विषय भी एकबारगी मूल प्रकृति में सहसा लौट नहीं पाता। विशेषतः, उसमें चित्त-सम्बन्ध —आत्मसम्बन्ध है—यह भी एक कारण है।

मन जिस समय विषय से युक्त होता है, उस समय मन में यदि थोड़ा-सा आत्मबल उद्रिक्त रहे, तो विषय मन को नहीं खींच सकता, मन ही विषय को खींच लेता है। विषय को लेकर ही मन आत्मा में अवगाहन करता है। मन विषय को हजम करके स्वयं उसका आकार धारण करता है। इसे साकार ज्ञान कहते हैं। विषय का आकार-भर रहता है—उपादान शुद्ध हो जाता है। यही सम्प्रज्ञात समाधि-अवस्था है। उसके परिणामस्वरूप, मन और विषय, दोनों ही उस समय चिन्मय हो जाते हैं। बाद में, जब बाहर हो आते हैं, तब मन भी चिन्मय और विषय भी चिन्मय। उस समय विषय की मुक्ति को गई होती है और विषय ब्रह्म हो गया रहता है। इस प्रकार, सारे ही विषय को मुक्ति दे पाने से सारा जगत् ब्रह्ममय हो जायगा। ऐसे में वैराग्य सिद्ध होगा, किसी विषय का आकर्षण नहीं रहेगा। तब समग्र मन ही चिन्मय हो जायगा—अर्थात्, मन में सदा चिज्ज्योति रहेगी।

इसके बाद, मूल प्रकृति का चैतन्य होने से ब्रह्ममय मन और ब्रह्ममय जगत् उसी में लय होता है। केवल एक चैतन्य-सत्ता ही रह जाती है। वह स्वप्रकाश है। वहाँ मन नहीं। सब कुछ आत्मा की ही शक्ति एवं शक्ति अन्तर्लीन।

और, यदि विषय मन को खींच ले, तो फल दूसरा होगा। कुछ समय तक खींचते रहने से सारा मन विषय में डूब जाता है—मन का ज्ञानभाव विषय में लीन हो जाता है। फलस्वरूप, विषय ही रहता है, मन उसके साथ एकाकार होता है, जडभाव प्राप्त होता है। मन यदि समग्र भाव से जडत्व-भाव प्राप्त करे, तो आत्मा अप्रकाश हो पड़ेगी—अ-ज्ञान में मग्न होगी।

आत्मा   जड   अनात्मा
| |
मन ———— विषय

मन यदि विषय को खींच ले, तो आत्मा ज्ञानमय होती है। अनात्मा दुर्बल होती है। विषय यदि मन को खींच ले, तो आत्मा ज्ञानहीन होती है। अनात्मा या जडभाव प्रबल होता है। स्व-प्रकाशभाव नहीं रहता।

१६.१.३६ :

कुछ खाद्य द्रव्य खाने से यदि हजम न हो, तो पेट में वायु होती है, gas होती है; हजम होने से (व्याधि) नहीं होती। खाद्य द्रव्य का सूक्ष्मांश ही वायु है—वह शरीर से एक नहीं होता। यही शरीर को चलाता है।

उसी प्रकार, बाह्य जगत् की कोई भोग्य वस्तु हजम न हो, तो (आधि) भीतर वायु पैदा होती है। यह वायु ही वासनाख्य संस्कार है। यही मन को चलाती है, चंचल करती है।

(क) भोग नहीं रहने से वायु का कोई डर नहीं। जो केवल द्रष्टा है, उदासीन है, उसके वायु नहीं होती। वह स्थिर होता है। इसके विपरीत, जिसके वायु नहीं होती, वही द्रष्टा है, साक्षी। वायु होने से ही भोक्ता होता है—संस्कार आदि भी उत्पन्न होते हैं।

(ख) भोग रहने पर भी यदि हजम हो, तो वायु का डर नहीं। हजम होने का मतलब क्या है ?

बाह्य द्रव्य का एक अंश स्थूल शरीर को पुष्ट करता है, बशर्त्ते कि वह हजम हो।

बाह्य द्रव्य का सूक्ष्म अंश चित्त को पुष्ट करता है—यह चित्तरूप में परिणत होता है।

यदि यह न हो, तो वायु पैदा होती है—यही संस्कार है। अतएव, संस्कार चित्त और भूत की मध्यावस्था है। भूत के मन्थन से जो सारांश अलग होता है, वह चित्त में जाता है—अ-सारांश संस्कार-रूप में लगा रहता है और चित्त को चलाता है।